प्रवचनसार

आचार्य कुन्दकुन्द

14.6

5487

ॐ

आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका सहित
श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

प्रवचनसार

5487

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत
(गाथाओं और कलशों के हिन्दी पद्यानुवाद सहित)
ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी
हिन्दी टीका

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)
फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१ फैक्स : २७०४१२७

प्रथम संस्करण : ८ हजार
(२५ मई, २००८)

लागत मूल्य : ९५ रुपये
विक्रय मूल्य : ५० रुपये

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

समयसार की डॉ. भारिल्ल कृत ज्ञायकभावप्रबोधिनी हिन्दी टीका के प्रकाशनोपरान्त अब यह प्रवचनसार की ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। समयसार की ज्ञायकभावप्रबोधिनी हिन्दी टीका को अध्यात्मप्रेमी समाज ने जिसप्रकार अति उत्साह के साथ अपनाया; उसकी कल्पना भी हमें नहीं थी। २२ माह में १२ हजार प्रतियों के ४ संस्करणों का प्रकाशित होना कोई साधारण बात नहीं है।

मुमुक्षु समाज के उत्साह से प्रेरित होकर मैंने डॉ. भारिल्ल से कहा कि आपका प्रवचनसार पर भी वैसा ही अधिकार है , जैसाकि समयसार पर। ४०८ पृष्ठों का प्रवचनसार का सार और लगभग १३०० पृष्ठों के प्रवचनसार अनुशीलन के तीन भाग आपने लिखें। अत: यदि आप समयसार के समान ही प्रवचनसार की भी हिन्दी भाषा में सरल और सुबोध एक टीका लिखें तो मुमुक्षु समाज का बहुत उपकार होगा। मुझे प्रसन्नता है कि डॉ. भारिल्ल ने मेरे द्वारा बार-बार अनुरोध किये जाने पर प्रवचनसार ग्रंथाधिराज पर हिन्दी टीका लिखना स्वीकार कर लिया; परिणामस्वरूप आज यह ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका आपके करकमलों में प्रस्तुत है।

इस टीका में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं; जो इसे अन्य टीकाओं से पृथक् स्थापित करती हैं और उन टीकाओं के रहते हुए भी इसकी आवश्यकता और उपयोगिता को रेखांकित करती हैं।

ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका की विशेषताएँ इसप्रकार हैं –

१. भाषा सरल, सहज, सुलभ, स्पष्ट भाववाही है।

२. आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका का शब्दश: अनुवाद न देकर भावानुवाद दिया गया है; जिससे विषयवस्तु को समझने में साधारण पाठकों को विशेष लाभ होगा।

३. गाथा एवं कलशों का पद्यानुवाद भी सरस है, पद्य भी गद्य जैसा ही है, अन्वय लगाने की आवश्यकता नहीं है।

४. टीका, गाथा एवं कलशों के भाव को व्यक्त करनेवाला हिन्दी टीकाकार का विशेष स्पष्टीकरण मूल ग्रंथ के प्राणभूत विषय को स्पष्ट करने में पूर्णत: समर्थ है।

५. महत्त्वपूर्ण गाथाओं का भाव विस्तार से सोदाहरण समझाया गया है।

६. आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति में समागत गाथायें, जो तत्त्वप्रदीपिका में नहीं हैं, वे भी इसमें शामिल की गई हैं, उन गाथाओं का गद्य एवं पद्यानुवाद के साथ-साथ तात्पर्यवृत्ति टीका का भाव भी इसमें दिया गया है। हिन्दी-गुजराती-मराठी-कन्नड़ भाषा में प्राप्त अन्य टीकाओं में उक्त गाथायें उपलब्ध नहीं हैं।

७. इस ग्रन्थ की ऐसी कोई हिन्दी, गुजराती, मराठी और कन्नड़ टीका उपलब्ध नहीं है, जिसमें टीकाकार द्वारा ही किया गया गाथाओं और कलशों का पद्यानुवाद दिया गया हो; पर इस टीका में टीकाकार द्वारा ही किया गया गाथाओं और कलशों का हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है।

८. ४७ नयों का विवरण जितना स्पष्ट इस कृति में दिया गया है, उतना इसके पहले की टीकाओं में उपलब्ध नहीं होता।

९. कठिन विषय को स्पष्ट करने के लिए हिन्दी टीकाकार ने अनेक स्थानों पर अपनी ओर से उदाहरण देकर समझाने का सफल प्रयास किया है।

१०. जिन-अध्यात्म का प्राथमिक अध्ययन करनेवाले को भी इस कृति के स्वाध्याय से अध्यात्म के मूल विषय का ज्ञान सहज हो जायेगा।

१२. प्रत्येक अधिकार के आरंभ में उसके पूर्व समागत विषयवस्तु का संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण इस कृति की अपनी अलग विशेषता है; जिसके कारण पाठकों को विषयवस्तु का क्रमिक विकास और तारतम्य सहज ही स्पष्ट होता जाता है।

१३. सरलता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है, जिसके कारण साधारण से साधारण अनभ्यासी पाठकों का भी प्रवेश प्रवचनसार और तत्त्वप्रदीपिका टीका में सहज हो जायेगा।

१४. दातारों के सहयोग से लागत मूल्य ९५/- होने पर भी ५०/- में जितनी चाहे, उतनी संख्या में सर्वत्र सहज उपलब्ध होना भी एक ऐसा कारण है कि जिसके कारण यह कृति प्रत्येक मंदिर में प्रतिदिन के स्वाध्याय में रखी जावेगी और न केवल वक्ता के हाथ में, अपितु प्रत्येक श्रोता के हाथ में भी यह उपलब्ध रहेगी।''

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ और ग्रन्थकार का विस्तृत परिचय भी डॉ. भारिल्ल ने स्वयं लिखा है।

मैं एक छोटी सी बात लिखने में भी गौरव का अनुभव करता हूँ कि मैं डॉ. भारिल्ल की प्रत्येक कृति का अध्ययन प्रकाशन से पूर्व ही कर लेता हूँ। इस प्रवचनसार की ज्ञायज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका को भी मैंने प्रकाशन से पूर्व सूक्ष्मता से अनेक बार स्वयं पढा है।

इस ग्रंथ के बाह्य सौन्दर्य को भी बढाने के लिए भी हमने ७ प्रकार के जिन टाइपों का प्रयोग किया है; वे इसप्रकार हैं – १. मूल गाथा एकदम बड़े-बड़े टाइप में दी है। २. गाथा की संस्कृत छाया का टाइप अलग है। ३. गाथा के अर्थ के लिए बोल्ड-इटैलिक टाइप का प्रयोग किया है। ४. गाथा पद्यानुवाद भिन्न-भिन्न प्रकार के टाइप में है। ५. आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका का टाइप अपने में स्वतंत्र है। ६. तत्त्वप्रदीपिका के संस्कृत गद्य का हिन्दी अनुवाद का टाइप स्वतंत्र है। ७. हिन्दी टीकाकार डॉ. भारिल्ल के विवेचन का टाइप तो अलग है ही, उसमें भी जो भाग अति महत्त्वपूर्ण है, उसे और भी भिन्न तथापि बड़े अक्षरों में देने का प्रयास किया गया है।

इतनी सशक्त, सरल, सुबोध और सार्थक टीका की रचना के लिए हिन्दी टीकाकार डॉ. भारिल्ल; सुन्दरतम प्रकाशन के लिए प्रकाशन विभाग के प्रभारी अखिल बंसल; शुद्ध मुद्रण के लिए इसके प्रूफ देखनेवाले सचिन शास्त्री; कम्पोजिंग और सेटिंग के लिए दिनेश शास्त्री और **लगभग आधी कीमत में उपलब्ध कराने वाले आर्थिक सहयोगियों के हम हृदय से आभारी हैं और सभी को कोटिशः धन्यवाद देते हैं।**

जिनप्रवचन के सार प्रवचनसार का हार्द समझने में यह कृति अत्यन्त उपयोगी है। हमें विश्वास है कि पाठकगण प्रवचनसार की विषयवस्तु को समझने के लिए इस कृति का भरपूर उपयोग अवश्य करेंगे।

१८ अप्रैल २००८ ई. **– ब्र. यशपाल जैन एम.ए.**
(महावीर जन्म दिवस) प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज.)

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

आचार्य कुन्दकुन्द

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ-साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है।

प्रवचन के प्रारम्भ में बोली जानेवाली वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं –

''अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये......विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।''

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को 'आदि' शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं; उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्यपरम्परा समाहित हो जाती है। दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोला जानेवाला छन्द इसप्रकार है –

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा या जिनमूर्ति) पर 'कुन्द-कुन्दान्वय' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बतानेवाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं। कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इसप्रकार हैं –

''कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के – चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।[१]''

---

[१] वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारुचारणकराम्बुजचञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥ (चन्द्रगिरि शिलालेख)

"यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे।[२]"

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकैषणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की विशेषता यही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के संबंध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' में मात्र नाम का उल्लेख है।[३] इसीप्रकार 'बोधपाहुड़' में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदहपूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य लिखा है।[४]

अतः उनके जीवन के संबंध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बाह्य साक्ष्यों में भी उनके जीवन संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने यद्यपि आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया है, शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं।

उक्त उल्लेखों से आपकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है; तथापि उनसे भी आपके जीवन के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

बाह्य साक्ष्य के रूप में उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्ति-पत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोढ़ित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार-संक्षेप कुल मिलाकर इसप्रकार है –

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर, कर्नाटक (अभी आंध्रप्रदेश) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था ? यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम संवत् ४९ में आप नन्दिसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये।[५] कहा जाता है कि वे ३३ वर्ष की उम्र में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि वे विक्रम संवत् ४९ में ३३ वर्ष के थे। अतः उनका जन्म विक्रम संवत् १६ में हुआ होगा।

अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गाँव के नामों या उपनामों से संबोधित करने की वृत्ति भी इसी का

---

[२] ....कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः।।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीषः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः।। (विन्ध्यगिरि शिलालेख)

[३] द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ९०

[४] बोधपाहुड़, गाथा ६१-६२

[५] नन्दिसंघ की पट्टावली

परिणाम है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुति मधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया। यद्यपि 'आचार्य' पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इसप्रकार घुल-मिल गया कि वह नाम का ही अंग हो गया।

इस संदर्भ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेखों मे अनेकों बार समागत निम्नांकित छन्द उल्लेखनीय हैं–

''श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गा श्री गौतमाद्यार्प्रभविष्णवस्ते।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धियुक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव।।३।।
श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारणर्द्धि।।४।।[६]

मुनीन्द्रों में श्रेष्ठ प्रभावशाली महर्द्धिक गौतमादि रत्नों के रत्नाकर, आचार्य परम्परा में नन्दिगण में श्रेष्ठ चारित्र के धनी, चारण ऋद्धिधारी पद्मनन्दी नाम के मुनिराज हुए, जिनका दूसरा नाम – आचार्य शब्द है अंत में जिसके – ऐसा कौण्डकुन्द था अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य था।''

उक्त छन्दों में तीन बिन्दु अत्यन्त स्पष्ट हैं – १. गौतम गणधर के बाद किसी अन्य का उल्लेख न होकर कुन्दकुन्द का ही उल्लेख है, जो दिगम्बर परम्परा में उनके स्थान को सूचित करता है। २. उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। ३. उनका पद्मनन्दी प्रथम नाम था और दूसरा नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।

'आचार्य' शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि **'आचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः'** पद से अत्यन्त स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही प्रचलित हुआ; परन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि मूल नाम भी विस्मृत-सा हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं।[७] इस सन्दर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इसप्रकार है –

''आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपृच्छ इति तन्नाम पञ्चधा।।''[८]

उक्त सभी नामों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। जब उनके मूल नाम पद्मनन्दी को भी बहुत कम लोग जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें ?

कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के भाग्यशाली गुरु कौन थे ? – इस संदर्भ में अन्तर्साक्ष्य के रूप में बोधपाहुड़ की जो गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं, वे इसप्रकार हैं –

''सद्दवियारो भूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स।।६१।।

---

६. जैनशिलालेख संग्रह, पृष्ठ ३४, ४३, ५८ एवं ७१
७. श्रुतसागर सूरि : षट्प्राभृत टीका, प्रत्येक प्राभृत की अंतिम पंक्तियाँ।
८. जैन सिद्धान्त भाग १, किरण ४ (तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ-१०२)

बारस अंगवियाणं चउदस पुवंग दिउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६२॥

जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही भाषासूत्रों में शब्दविकाररूप से परिणमित हुआ है; उसे भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही जाना है और कहा भी वैसा ही है। बारह अंग और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करनेवाले श्रुतज्ञानी गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।''

प्रथम (६१वीं) गाथा में यह बात यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है कि बोधपाहुड़ के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं, तथापि दूसरी (६२वीं) गाथा जहाँ यह बताती है कि भद्रबाहु ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता पंचम श्रुतकेवली ही हैं, वहाँ यह भी बताती है कि वे कुन्दकुन्द के गमकगुरु (परम्परागुरु) हैं, साक्षात् गुरु नहीं।

इस संदर्भ में समयसार की पहली गाथा की दूसरी पंक्ति भी देखी जा सकती है, जो इसप्रकार है–

''वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।''

इसका अर्थ यह है कि श्रुतकेवली द्वारा कथित समयप्राभृत को कहूँगा।

इस संदर्भ में दर्शनसार की निम्न गाथा पर भी ध्यान देना चाहिए–

''जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

यदि सीमंधरस्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते ?''

क्या इस गाथा के आधार पर उन्हें सीमन्धर भगवान का शिष्य कहा जा सकता है ?

यहाँ प्रश्न इस बात का नहीं है कि उन्हें कहाँ-कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ था; वस्तुतः बात यह है कि उनके दीक्षागुरु कौन थे, उन्हें आचार्यपद किससे प्राप्त हुआ था ?

जयसेनाचार्यदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में उन्हें कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है और नन्दिसंघ की पट्टावली[१] में जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है; किन्तु इन कुमारनन्दी और जिनचन्द्र का भी नाममात्र ही ज्ञात है, इनके संबंध में भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

हो सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समान उनके दीक्षागुरु के भी दो नाम रहे हों। नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय बालब्रह्मचारी अवयस्क होने के कारण उनका नाम कुमारनन्दी रखा गया हो, बाद में पट्ट पर आसीन होते समय वे जिनचन्द्राचार्य नाम से विश्रुत हुए हों। पट्टावली में जिनचन्द्र नामोल्लेख होने का यह कारण भी हो सकता है। पट्टावली में माघनन्दी, जिनचन्द्र और पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द) क्रम आता है। नन्दिसंघ में नन्द्यन्त (नन्दी है अन्त में जिनके) नाम होना सहज प्रतीत होता है।

---

[१] जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७८

पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के आरम्भ में समागत जयसेनाचार्य का कथन मूलत: इसप्रकार है –

''अथ श्री कुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ-श्रीसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिमार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिर्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव के शिष्य प्रसिद्धकथान्याय से पूर्वविदेह जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्री सीमन्धर स्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर, उनके मुखकमल से निसृत दिव्यध्वनि के श्रवण से शुद्धात्मादि तत्त्वों के साथ पदार्थों को अवधारण कर, ग्रहण कर समागत श्री पद्मनन्दी आदि हैं अपरनाम जिनके, उन श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व और बहिर्तत्त्व को गौण और मुख्य प्रतिपत्ति के लिए अथवा शिवकुमारमहाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए रचित पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र में अधिकारों के अनुसार यथाक्रम से तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है।''

उक्त उद्धरण में प्रसिद्धकथान्याय के आधार पर कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा भी की गई है, जिससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य जयसेन के समय (विक्रम की बारहवीं शताब्दी में) यह कथा अत्यधिक प्रसिद्ध थी।

विक्रम की दसवीं सदी के आचार्य देवसेन के दर्शनसार में समागत गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की चर्चा की गई है। दर्शनसार के अन्त में लिखा है कि मैंने यह दर्शनसार ग्रन्थ पूर्वाचार्यों की गाथाओं का संकलन करके बनाया है। इस स्थिति में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा करनेवाली गाथा भी दसवीं शताब्दी के बहुत पहले की हो सकती है।

इस सन्दर्भ में श्रुतसागर सूरि का निम्नांकित कथन भी दृष्टव्य है – **''श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य-वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेह-पुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसंबोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे...**

श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य – पंचनामधारी; जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धि के धारी; पूर्वविदेह की पुण्डरीकिणी नगरी में विराजित सीमन्धर अपरनाम स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्राप्त ज्ञान से भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को संबोधित करनेवाले; श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण; कलिकालसर्वज्ञ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में...।''

उक्त कथन में कुन्दकुन्द के पाँच नाम, पूर्वविदेहगमन, आकाशगमन और जिनचन्द्राचार्य के शिष्यत्व के अतिरिक्त उन्हें कलिकालसर्वज्ञ भी कहा गया है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द के संबंध में प्रचलित कथाओं का अवलोकन भी आवश्यक है।

'ज्ञान प्रबोध' में प्राप्त कथा का संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

"मालवदेश वारापुर नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठी नामक एक वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नामक पुत्र भी था। बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठे हुए जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किए और उनके उपदेश को बड़े ही ध्यान से सुना।

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली कुन्दकुन्द को जिनचन्द्राचार्य ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिन्तन में मग्न आचार्य कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर भगवान को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही **'सद्धर्मवृद्धिरस्तु'** प्रस्फुटित हुआ। समवशरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करनेवाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है ? – यह प्रश्न सबके हृदय में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के पूर्वभव के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छि गिर गई, तब उन्होंने गृद्धपृच्छिका से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान की दिव्यध्वनि श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं कि वापस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, पर वह मार्ग में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्मोपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरि-गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मीदेवी ने स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है।

अन्त में अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्यपद प्रदान कर वे स्वर्गवासी हो गये।"

एक कथा **'पुण्यास्रव कथाकोष'** में भी आती है, जिसका सार इसप्रकार है –

"भरतखण्ड के दक्षिणदेश में 'पिडथनाडू' नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत कुरुमई नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ एक ग्वाला रहता था, जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था।

एक दिन जब वह अपने पशुओं को जंगल में ले जा रहा था, उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई।

वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा कि इस आगम ग्रन्थ के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अत: वह उन्हें बड़े आदर से घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर में एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्तिभाव से आहार दिया। उसीसमय उस ग्वाले ने वह आगम उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्ररूप में जन्म लेगा।

तबतक सेठ के कोई पुत्र नहीं था। मुनि के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्ररूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।''

इसके बाद पूर्वविदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

इसी से मिलती-जुलती कथा **'आराधनाकोष'** में प्राप्त होती है।

आचार्य देवसेन, जयसेन एवं भट्टारक श्रुतसागर जैसे दिग्गज आचार्यों एवं विद्वानों के सहस्राधिक वर्ष प्राचीन उल्लेखों एवं उससे भी प्राचीन प्रचलित कथाओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है, विवेक सम्मत भी नहीं कही जा सकती। अत: उक्त उल्लेखों और कथाओं के आधार पर यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर आचार्य परम्परा के चूड़ामणि हैं।

वे विगत दो हजार वर्षों में हुए दिगम्बर आचार्यों, सन्तों, आत्मार्थी विद्वानों एवं आध्यात्मिक साधकों के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं; भगवान महावीर और गौतम गणधर के समान प्रात:स्मरणीय रहे हैं, कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में स्मरण किये जाते रहे हैं। उन्होंने इसी भव में सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमंधर अरहन्त परमात्मा के दर्शन किये थे, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी।

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उससमय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखरप्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह समय श्वेताम्बर मत का आरम्भकाल ही था। इससमय बरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे।

एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम (अध्यात्म-शास्त्र) को लिखितरूप से व्यवस्थित करना और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एवं कठोर कदम उठाना।

दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने बखूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा हो रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अत: उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं – निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके ये महान ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आदर्श रहे हैं, मागदर्शक रहे हैं।

अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासक़रूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि हैं; तथापि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज उनसे अपरिचित-सा ही था। दिगम्बर समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है–

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं।

हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे।

यदि श्री कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।[१०]"

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार है –

१. समयसार (समयपाहुड)
२. प्रवचनसार (पवयणसार)
३. नियमसार (णियमसार)
४. पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंगहो)
५. अष्टपाहुड़ (अट्ठपाहुड)

---

[१०] जैनसन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।[११] उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं।

अष्टपाहुड़ में निम्नलिखित आठ पाहुड़ संगृहीत हैं –

१. दंसणपाहुड
२. सुत्तपाहुड
३. चारित्तपाहुड
४. बोधपाहुड
५. भावपाहुड
६. मोक्खपाहुड
७. लिंगपाहुड एवं
८. सीलपाहुड

समयसार जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद् विवेचन करनेवाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं।

ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नाम क्रमशः 'आत्मख्याति', 'तत्त्वप्रदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुए आचार्य जयसेन द्वारा इन तीनों ग्रन्थों पर लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सरल-सुबोध संस्कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं।

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा में 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सराबोर है, भिन्न प्रकार की अद्भुत टीका है।

अष्टपाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्टारक श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षट्पाहुड़ नाम से प्रकाशित हुई। षट्पाहुड़ कोई स्वतंत्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ ही षट्पाहुड़ नाम से जाने जाते हैं।

यहाँ इन सब पर विस्तृत चर्चा करना न तो संभव है और न आवश्यक ही। यहाँ तो अब प्रस्तुत कृति समयसार के प्रतिपाद्य पर दृष्टिपात करना प्रसंग प्राप्त है।

---

[११] **रयणसार प्रस्तावना**

प्रवचनसार

जिनेन्द्र भगवान के प्रवचन (दिव्यध्वनि) का सार यह कालजयी 'प्रवचनसार' परमागम आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रचलित अद्भुत सशक्त संरचना है। समस्त जगत को ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व (स्व-पर) के रूप में प्रस्तुत करनेवाली यह अमर कृति विगत दो हजार वर्षों से निरन्तर पठन-पाठन में रही है। आज भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसे स्थान प्राप्त है।

यद्यपि आचार्यों में कुन्दकुन्द और उनकी कृतियों में समयसार सर्वोपरि है, तथापि समयसार अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक विषयवस्तु के कारण विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त नहीं कर सका है; पर अपनी विशिष्ठ शैली में वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनसार का प्रवेश सर्वत्र अबाध है।

प्रमाण और प्रमेय व्यवस्था का प्रतिपादक यह ग्रन्थराज आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी प्रौढ़तम कृति है, जिसमें वे आध्यात्मिक संत के साथ-साथ गुरु-गम्भीर दार्शनिक के रूप में प्रस्फुटित हुए हैं, प्रतिष्ठित हुए हैं।

आचार्य जयसेन के अनुसार यदि पंचास्तिकाय की रचना संक्षेप रुचिवाले शिष्यों के लिए हुई थी, तो इस ग्रन्थराज की रचना मध्यम रुचिवाले शिष्यों के लिए हुई है।[१२]

इस ग्रन्थराज की विषयवस्तु को तीन महाअधिकारों में विभाजित किया गया है। 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका में आचार्य अमृतचन्द्र उन्हें ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन एवं चरणानुयोग सूचकचूलिका नाम से अभिहित करते हैं तो 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में आचार्य जयसेन सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार एवं सम्यक्चारित्राधिकार कहते हैं।

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनमहाधिकार

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन या सम्यग्ज्ञानाधिकार नाम के प्रथम श्रुतस्कंध को चार अवान्तर अधिकारों में विभाजित किया गया है, जो इसप्रकार हैं :–

(१) शुद्धोपयोगाधिकार
(२) ज्ञानाधिकार
(३) सुखाधिकार
(४) शुभपरिणामाधिकार

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन की प्रारम्भिक बारह गाथाएँ मंगलाचरण, प्रतिज्ञावाक्य एवं विषय-प्रवेश के रूप में हैं; जिनमें कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानप्रधान चारित्र ही धर्म है और साम्यभावरूप वीतराग चारित्र से परिणत आत्मा ही धर्मात्मा है।

ग्रंथारंभ में ही चारित्र को धर्म घोषित करते हुए आ. कुंदकुंद चारित्र की परिभाषा इसप्रकार देते हैं–

> "चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
> मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।७।।

मोह (दर्शनमोह-मिथ्यात्व) एवं क्षोभ (चारित्रमोह-राग-द्वेष) से रहित आत्मा के परिणाम को साम्य कहते हैं। यह साम्यभाव ही धर्म है, चारित्र है। इसप्रकार चारित्र ही धर्म है।"

---

[१२] (क) प्रवचनसार : तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ २ (ख) पंचास्तिकाय : तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ २

निश्चय से तो शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव ही चारित्र है, पर व्यवहार से शुभोपयोगरूप सरागभाव को भी चारित्र कहते हैं। शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्र से परिणत आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है और शुभोपयोगरूप सराग चारित्र परिणत जीव स्वर्गादि को प्राप्त कर संसार में ही रहते हैं।

इस ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में सर्वप्रथम धर्म और धर्म के फल का सामान्य स्वरूप स्पष्ट कर अब शुद्धोपयोगाधिकार आरम्भ करते हैं।

इस अधिकार में शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्र का स्वरूप एवं फल बताया गया है। आत्मरमणतारूप शुद्धोपयोग का फल अतीन्द्रियज्ञान (अनन्तज्ञान-केवलज्ञान-सर्वज्ञता) एवं अतीन्द्रियानन्द (अनन्तसुख) की प्राप्ति है। इसप्रकार १३वीं गाथा से २०वीं गाथा तक शुद्धोपयोग का स्वरूप और फल बताने के बाद शुद्धोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली सर्वज्ञता और अनंत अतीन्द्रियानन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए क्रमशः ज्ञानाधिकार एवं सुखाधिकार लिखे गये हैं।

आचार्य जयसेन ने ज्ञानाधिकार का नाम 'सर्वज्ञसिद्धि-अधिकार' दिया है। इससे ही प्रतीत होता है कि ज्ञानाधिकार में सर्वज्ञता के स्वरूप पर ही विस्तार से विचार किया गया है। ३२ गाथाओं में फैले इस अधिकार में प्रस्तुत सर्वज्ञता का निरूपण अपने आप में अनुपम है, अद्वितीय है, मूलतः पठनीय है।

अनुत्पन्न (भावी) और विनष्ट (भूतकालीन) पर्यायों को जानने की संभावना से इन्कार करने वालों को आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नांकित कथन पर ध्यान देना चाहिए।

"जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ।।३९।।

यदि अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा?"

५३ से ६८ गाथा तक चलने वाले सुखाधिकार में कहा गया है कि जिसप्रकार इन्द्रियज्ञान हेय और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है; उसीप्रकार इन्द्रियसुख हेय एवं अतीन्द्रियसुख उपादेय है; क्योंकि अतीन्द्रियसुख ही पारमार्थिक सुख है। इन्द्रियसुख तो सुखाभास है, नाममात्र का सुख है।

इन्द्रादिक भी सुखी नहीं हैं। यदि वे सुखी होते तो पंञ्चेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं करते। जिन्हें विषयों में रति है, उन्हें दुःखी ही जानो।

इसके बाद इन्द्रियसुख के कारण के रूप में शुभपरिणामाधिकार आता है, क्योंकि अतीन्द्रियसुख के कारणभूत शुद्धोपयोग का वर्णन तो पहले ही हो चुका है। यह अधिकार ६९वीं गाथा से ९२वीं गाथा तक चलता है।

इस अधिकार में जोर देकर बताया गया है कि पाप भावों से प्राप्त होनेवाली प्रतिकूलताओं में तो दुःख है ही, पुण्यभावों-शुभपरिणामों से प्राप्त होनेवाली लौकिक अनुकूलताओं एवं भोगसामग्री का उपभोग भी दुःख ही है।

शुभ परिणामों से प्राप्त होनेवाले लौकिक सुख का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव लिखते हैं –

"सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

इन्द्रियों से भोगा जानेवाला सुख पराधीन है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बंध का कारण है, विषम है; अतः उसे दुःख ही जानो।"

आचार्यदेव तो यहाँ तक कहते हैं :–

"ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

इसप्रकार जो पुण्य और पाप में अर्थात् उनके फल के उपभोग में समानता नहीं मानता है, उन्हें समानरूप से हेय नहीं मानता है; वह मोह से आच्छन्न प्राणी अपार और संसार में परिभ्रमण करता है।"

मोह की सेना को जीतने का उपाय बताने वाली बहुचर्चित ८०वीं गाथा भी इसी अधिकार में आती है, जो इसप्रकार है –

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से गुणरूप से एवं पर्यायरूप से जानता है; वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है।"

इसके बाद मोह-राग-द्वेष का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनके नाश का उपाय बताया गया है, उनके नाश करने की पावन प्रेरणा दी गई है।

इस सन्मार्गदर्शक पुरुषार्थ प्रेरक ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की टीका लिखते समय आचार्य अमृतचन्द्र का आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ अनेक स्थलों पर तीव्रतम बेग से प्रस्फुटित हुआ है। उनकी टीका की कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

"**अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम्।**[१३] इसलिए मैंने मोहरूपी सेना को जीतने के लिए कमर कस ली है।

"**यद्यैवं लब्धो मया मोहवाहिनी विजयोपायः।**[१४] यदि ऐसा है तो मैंने मोहरूपी सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में अनन्त ज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के एकमात्र हेतु शुद्धोपयोग का एवं उससे उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान (सर्वज्ञता) एवं अतीन्द्रिय आनन्द का तथा सांसारिक सुख और उसके कारणरूप शुभ परिणामों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करते हुए अशुद्धोपयोग रूप शुभाशुभ परिणामों को त्यागकर सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोगरूप वीतराग-चारित्र ग्रहण करने की पावन प्रेरणा दी गई है।

---

[१३] प्रवचनसार गाथा ७९ की तत्त्वप्रदीपिका टीका

[१४] प्रवचनसार गाथा ८० की तत्त्वप्रदीपिका टीका

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

इसके बाद ९३वीं गाथा से २००वीं गाथा तक ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार चलता है। यद्यपि वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक होने से इस महाधिकार में मूलरूप से दो अवान्तर अधिकार ही होने चाहिए – द्रव्यसामान्याधिकार और द्रव्यविशेषाधिकार; तथापि समस्त जिनागम का मूल प्रयोजन तो ज्ञान और ज्ञेय (स्व-पर) के बीच भेदविज्ञान करना ही है। अतः इसमें एक ज्ञान-ज्ञेय विभागाधिकार नामक तीसरा अधिकार भी है। ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन एवं ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन के उपसंहारात्मक इस अंश को ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में ही सम्मिलित कर लिया गया।

इसप्रकार इस महाधिकार में तीन अवान्तर अधिकार हैं – द्रव्यसामान्याधिकार, द्रव्यविशेषाधिकार एवं ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार।

९३ से १२६वीं गाथा तक चलने वाले द्रव्यसामान्याधिकार में समस्त द्रव्यों के सामान्य स्वरूप पर विचार किया गया है। गुण-पर्याय वाले द्रव्यों का लक्षण सत् है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय होता है। अतः इस अधिकार में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु का गहराई से चिन्तन किया गया है।

सत्, सत्ता, अस्तित्व सभी एकार्थवाची हैं। वस्तु की सत्ता या अस्तित्व के सिद्ध हुए बिना उसका विस्तृत विवेचन संभव नहीं है। अतः इसमें सर्वप्रथम सत्ता के स्वरूप पर सतर्क विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो मूलतः पठनीय है।

महासत्ता (सादृश्य-अस्तित्व) एवं अवान्तरसत्ता (स्वरूपास्तित्व) के भेद से सत्ता (अस्तित्व) दो प्रकार की होती है।

यद्यपि सभी द्रव्य सत्‌रूप ही हैं, अस्तित्वमय हैं, सत्तास्वरूप हैं; तथापि प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है। अतः सत्सामान्य की दृष्टि से महासत्ता की अपेक्षा सभी एक होने पर भी सभी का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने से सभी का अस्तित्व स्वतंत्र है। सभी द्रव्यों की एकता सादृश्यास्तित्व पर आधारित होने से समानता के रूप में ही है, अभिन्नता के अर्थ में नहीं।

यह अधिकार जैनदर्शन की रीढ़ हैं, क्योंकि इसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु जैनदर्शन का हार्द है। यद्यपि यह सम्पूर्ण अधिकार गहराई से अनेक बार मूलतः पठनीय है; तथापि इसमें समागत कतिपय महत्वपूर्ण बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लोभ का संवरण कर पाना मुझसे संभव नहीं हो पा रहा है।

दो द्रव्यों के बीच की भिन्नता को पृथकता एवं एक ही द्रव्य के गुण-पर्यायों के बीच की भिन्नता को अन्यता के रूप में इस अधिकार में जिसप्रकार परिभाषित किया है, वह अपने आप में अद्‌भुत है।

विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व का लक्षण है और असद्‌भाव अन्यत्व का लक्षण है। जिन पदार्थों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् कहा जाता है, पर जिनके प्रदेश अभिन्न हैं, ऐसे द्रव्य, गुण, पर्याय परस्पर अन्य-अन्य तो हैं; पर पृथक्-पृथक् नहीं।

जीव और पुद्‌गल पृथक्-पृथक् हैं; अथवा दो जीव भी अभिन्न नहीं, पृथक्-पृथक् ही हैं; पर ज्ञान

और दर्शन पृथक्-पृथक् नहीं, अन्य-अन्य हैं, अथवा रूप और रस भी पृथक्-पृथक् नहीं, अन्य-अन्य हैं। जहाँ रूप है, वहीं रस है; जहाँ रस है, वहीं रूप है; इसीप्रकार जहाँ ज्ञान है, वहाँ दर्शन है; जहाँ दर्शन है, वहाँ ज्ञान है; अतः रूप और रस तथा ज्ञान और दर्शन अन्य-अन्य तो हैं, पर पृथक्-पृथक् नहीं। ध्यान रहे – भिन्न शब्द का प्रयोग अन्यता के अर्थ में भी होता है और पृथकता के अर्थ में भी। अतः भिन्न शब्द का अर्थ करते समय इस बात की सावधानी अत्यन्त आवश्यक है कि भिन्न शब्द सन्दर्भानुसार किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

गुण और गुणी (द्रव्य) के बीच भी अन्यता ही होती है, पृथकता नहीं। अतः सत्ता (गुण) और द्रव्य (गुणी) में कथंचित् अन्यपना है, पृथकपना नहीं। सत्ता द्रव्य से अन्य भी है और अनन्य भी, पर पृथक् नहीं।

यद्यपि इस अधिकार में वस्तु के सामान्यस्वरूप का ही प्रतिपादन है, तथापि प्रयोजनभूत आध्यात्मिक प्रेरणा सर्वत्र विद्यमान है। ग्रन्थ के आरम्भ में – **'पज्जयमूढ़ा हि परसमया**[१५] – पर्यायमूढ़ जीव परसमय है, **'जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा**[१६] – जो जीव पर्यायों में लीन हैं उन्हें परसमय कहा गया है।' – इसप्रकार की पर्यायों पर से दृष्टि हटाने की प्रेरणा देनेवाली सूक्तियाँ दी गई हैं।

इसके बाद १२७वीं गाथा से १४४वीं गाथा तक चलने वाले द्रव्यविशेषाधिकार में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल इन छह द्रव्यों को जीव-अजीव, मूर्त्त-अमूर्त्त, लोक-अलोक, क्रियावान-भाववान, सप्रदेशी-अप्रदेशी आदि युग्मों में विभाजित कर समझाया गया है।

इसके बाद १४५वीं गाथा से ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार आरम्भ होता है, जो २००वीं गाथा पर जाकर समाप्त होता है।

भेदज्ञान की मुख्यता से लिखा गया होने से यह अध्यात्म का अधिकार है। इसमें ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का निरूपण इसप्रकार किया गया है कि जिससे भेदविज्ञान की उत्पत्ति हो। देह क्या है, आत्मा क्या है। – इन दोनों का संबंध कब से है, कैसे है? आदि बातों को विस्तार से समझाते हुए अन्त में कहते हैं कि ज्ञानी तो ऐसा विचारता है –

"णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥
देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं॥
णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स॥[१७]

न मैं देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी ही हूँ; मैं इनका कारण भी नहीं हूँ, कर्त्ता भी नहीं हूँ, करानेवाला भी नहीं हूँ तथा करानेवाले का अनुमोदन करनेवाला भी नहीं हूँ।

देह, मन और वाणी पुद्गल द्रव्यात्मक कहे गये हैं। ये पुद्गलद्रव्य परमाणुओं के पिंड हैं।

---

[१५] प्रवचनसार गाथा ९३

[१६] प्रवचनसार गाथा ९४

[१७] समयसार गाथा १५०

मैं पुद्गलद्रव्यमय नहीं हूँ और वे पुद्गल द्रव्य मेरे द्वारा पिण्डरूप भी नहीं किए गये हैं। अतः मैं देह नहीं हूँ तथा देह का कर्त्ता भी नहीं हूँ।''

इसी अधिकार में वह महत्त्वपूर्ण गाथा भी है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थराजों में पाई जाती है और पर से भिन्न आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली है। वह गाथा इसप्रकार है :–

''अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१७२॥

भगवान आत्मा (जीव) में न रस है, न रूप है, न गंध है, न स्पर्श है, न शब्द है; अतः यह आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द पुद्गल द्रव्य में पाये जाने वाले गुण-पर्याय हैं और जीव उनसे भिन्न हैं; अतः उनका जीव में होना संभव नहीं है। अनिर्दिष्ट संस्थान और चेतना गुणवाले इस अव्यक्त भगवान आत्मा को अलिंगग्रहण जानो।''

यहाँ 'अलिंगग्रहण' शब्द के आचार्य अमृतचन्द्र ने बीस अर्थ किए हैं, जो मूलतः पठनीय हैं। अलिंगग्रहण के बीस अर्थों पर पूज्य श्रीकानजी स्वामी के प्रवचन भी प्रकाशित हुए हैं, वे भी मूलतः स्वाध्याय करने योग्य हैं।

भेदविज्ञान के अभाव में भावकर्म (मोह-राग-द्वेष) द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) एवं नोकर्म (शरीरादि) से बँधे इस आत्मा को बंधन से मुक्ति का मार्ग बतलाते हुए निष्कर्ष के रूप में आचार्य कहते हैं –

''रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥१७९॥

रागी आत्मा कर्म बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। निश्चय से बंध की प्रक्रिया का सार इतना ही है।''

चरणानुयोगसूचकचूलिका

प्रवचनसार की मूल विषयवस्तु ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन एवं ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकारों में ही समाप्त हो जाती है। इस अधिकार की टीका आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

''अथ परेषां चरणानुयोगसूचकचूलिका।

अब दूसरों के लिए चरणानुयोग सूचक चूलिका लिखते हैं।''

इसे वे ग्रन्थ का मूल अंश न मानकर चूलिका मानते हैं। चूलिका शब्द का अर्थ आचार्य जयसेन समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार देते हैं – **''विशेष व्याख्यानं, उक्तानुक्त व्याख्यानं, उक्तानुक्त संकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिका शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।**[१८] विशेष का व्याख्यान, उक्त या अनुक्त व्याख्यान अथवा उक्तानुक्त अर्थ का संक्षिप्त व्याख्यान – इसप्रकार चूलिका शब्द का अर्थ उक्त तीन प्रकार से जानना चाहिए।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि चारित्र के धनी आचार्यदेव सम्यग्दर्शन-ज्ञान की निमित्तभूत वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित कर शिष्यों को चारित्र धारण करने की प्रेरणा देने के लिए

---

[१८] प्रवचनसार गाथा २०१

इस अधिकार की रचना करते हैं। इस बात की पुष्टि इस अधिकार की मंगलाचरण की गाथा से भी होती है। मंगलाचरण की गाथा इसप्रकार है –

“एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।।[१९]

यदि दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धों, जिनवरवृषभ अरहंतों को एवं श्रमणों को नमस्कार कर श्रमणपना अंगीकार करो।”

इसके तत्काल बाद वे श्रामण्य अंगीकार करने की विधि का व्याख्यान करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे गृहस्थ शिष्यों को श्रामण्य अंगीकार कराने के उद्देश्य से ही इस अधिकार की रचना करते हैं।

इस चरणानुयोग सूचक चूलिका में चार अधिकार हैं –

(१) आचरणप्रज्ञापन (२) मोक्षमार्गप्रज्ञापन
(३) शुभोपयोगप्रज्ञापन (४) पंचरत्नप्रज्ञापन

गाथा २०१ से २३१ तक चलनेवाले आचरणप्रज्ञापन नामक इस अधिकार में सर्वप्रथम श्रामण्य (मुनिधर्म) अंगीकार करने की विधि का उल्लेख है, जो मूलतः पठनीय है। इसके पश्चात् श्रमणों के अट्ठाईस मूलगुणों का स्वरूप बताते हुए श्रामण्य के छेद पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

छेद दो प्रकार से होता है – अंतरंग छेद एवं बहिरंग छेद। शुद्धोपयोग का हनन होना अंतरंग छेद है और अपने निमित्त दूसरों के प्राणों का विच्छेद होना बहिरंग छेद है।

इस सन्दर्भ में निम्नांकित गाथाएँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं –

“मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।।[२०]

जीव मरे चाहे न मरे, पर अयत्नाचार प्रवृत्ति वाले के हिंसा होती ही है। यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले के मात्र बाह्य हिंसा से बंध नहीं होता।

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इंदि समणा छड्डिया सव्वं।।[२१]

काय चेष्टापूर्वक जीवों के मरने पर बंध होता है या नहीं होता है, किन्तु उपधि (परिग्रह) से निश्चित बंध होता है। यही कारण है कि श्रमण सर्व परिग्रह त्यागी होते हैं।”

इसके बाद उपधित्याग के सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा की गई है। इसी के अन्तर्गत युक्ताहार-विहार एवं उत्सर्गमार्ग व अपवाद मार्ग की भी चर्चा हुई है। यह सम्पूर्ण प्रकरण मूलतः पठनीय है।

अन्त में उत्सर्गमार्ग एवं अपवाद मार्ग की मैत्री बताते हुए आचार्यदेव लिखते हैं –

“बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि।।[२२]

---

[१९] प्रवचनसार गाथा २१७

[२०] प्रवचनसार, गाथा २१७

[२१] वही, गाथा २१९

[२२] प्रवचनसार, गाथा ३०

बाल, वृद्ध, थके हुए एवं रोगग्रस्त मुनिराज शुद्धोपयोगरूप मूलधर्म का उच्छेद न हो – इस बात का ध्यान रखकर उत्सर्ग या अपवाद जो भी मार्ग पर चलना संभव हो, सहज हो; उसी पर चले।''

तात्पर्य यह है कि वे उत्सर्ग मार्ग का हठ न करें। क्षेत्र-काल एवं अपने देहादिक की स्थिति देखकर आचरण करें, पर इस बात का ध्यान अवश्य रखें कि शुद्धोपयोगरूप मूलधर्म का उच्छेद न हो जावे।

इसप्रकार हम देखते हैं, कि इस अधिकार में जहाँ एक ओर शिथिलाचार के विरुद्ध चेतावनी दी गई है, वहीं अनावश्यक कठोर आचरण के विरुद्ध भी सावधान किया है।

इसके बाद २३२वीं गाथा से २४४वीं गाथा तक चलने वाले मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार में सर्वाधिक बल आगमाभ्यास पर दिया गया है। अधिकार का आरंभ ही **'आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा'** सूक्ति से हुआ है। आचार्यदेव कहते हैं कि एकाग्रता के बिना श्रामण्य नहीं होता और एकाग्रता उसे ही होती है, जिसने आगम के अभ्यास द्वारा पदार्थों का निश्चय किया है। अतः आगम का अभ्यास ही सर्वप्रथम कर्तव्य है।

साधु को आगम चक्षु कहा गया है। आगमरूपी चक्षु के उपयोग बिना स्वपर भेदविज्ञान संभव नहीं। गुणपर्याय सहित सम्पूर्ण पदार्थ आगम से ही जाने जाते हैं। आगमानुसार दृष्टि से सम्पन्न पुरुष ही संयमी होते हैं। इसी अधिकार में वह महत्वपूर्ण गाथा भी आती है, जिसका भावानुवाद पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की निम्नांकित पंक्तियों में किया है –

''कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान विन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।।[२३]

मूल गाथा इसप्रकार है –

''जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण।।२३८।।

जो कर्म अज्ञानीजन लक्षकोटि भवों में खपाता है, वह कर्म ज्ञानी तीन प्रकार से गुप्त होने से उच्छ्वास मात्र में खपा देता है।''

यद्यपि इस अधिकार में आगमज्ञान की अद्भुत महिमा गाई है, तथापि आत्मज्ञान-शून्य आगमज्ञान को निरर्थक भी बताया है। वे लिखते हैं –

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि।।२३९।।

जिसके शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्छा हो, वह यदि सर्वागम का भी धारी हो तो भी वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में आत्मज्ञान सहित आगमज्ञान के ही गीत गाए हैं।

अन्त में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न श्रमणों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं –

---

[२३] छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ५

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।२४१।।

जिसे शत्रु और बंधुवर्ग समान हैं, सुख-दुःख समान हैं, प्रशंसा-निन्दा समान हैं, मिट्टी का ढेला एवं स्वर्ण समान हैं एवं जीवन और मरण भी समान हैं, वही सच्चा श्रमण है।''

इसी गाथा के आधार पर पण्डित दौलतरामजी लिखते हैं –

''अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निन्दन-थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन।।[२४]

गाथा २४५ से शुभोपयोगप्रज्ञापन अधिकार आरंभ होता है, जो २७० गाथा तक चलता है। यद्यपि ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में इस विषय से संबंधित शुभपरिणाम अधिकार आ चुका है, तथापि यहाँ भावलिंगी सन्तों के होनेवाले शुभोपयोग की दृष्टि से निरूपण है। यद्यपि यह शुभोपयोग भी आस्रव का ही कारण है, तथापि यह भावलिंगी सन्तों के भी पाया जाता है।

इस अधिकार में मुख्यतः यही बताया है कि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते रहनेवाले सच्चे भावलिंगी मुनिराजों की भूमिका में किस प्रकार का शुभपरिणाम संभव है और किस प्रकार का शुभ परिणाम संभव नहीं है। मुनिधर्म का सच्चा स्वरूप समझने के इच्छुक महानुभावों को इस प्रकरण का अध्ययन गहराई से करना चाहिए।

आत्मानुभवी वीतरागी सन्तों के भी शुभोपयोग के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणों के रूप में निम्नांकित गाथाएँ दृष्टव्य हैं –

''वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि।।२४७।।

श्रमणों के प्रति वंदन नमस्कार सहित अभ्युस्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति तथा उनका श्रम दूर करने रूप रागचर्या श्रमणों के लिए निन्दित नहीं है।

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।।२५३।।

शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त रोगी, गुरु, बाल या वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से शुद्धात्मपरिणतिशून्य शुभोपयुक्त लौकिकजनों के साथ बातचीत करना निन्दित नहीं है, किन्तु अन्य निमित्त से लौकिकजनों से बातचीत करना निन्दित है।''

तात्पर्य यह है कि ये कार्य शुद्धोपयोगरूप धर्म के समय अभिनन्दनीय अर्थात् उपादेय तो नहीं, पर निन्दनीय भी नहीं है, क्षमा के योग्य अपराध है। वास्तविक धर्म तो शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म ही है, ये तो शुद्धोपयोग के सहचारी होने से व्यवहार धर्म कहे जाते हैं। ये संवर-निर्जरारूप नहीं, आस्रवरूप ही हैं।

लौकिकजनों के सम्पर्क में रहनेवाले श्रमणों के लिए आचार्य कुन्दकुन्द का निम्नांकित आदेश ध्यान देने योग्य है –

---

[२४] छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ६

“णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकषसाओ तवोधिगो चावि।
लौगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवेदि॥२६८॥

जो जिनसूत्रों के मर्म को जानता है, जिसकी कषायें उपसमित हैं, जो तप में भी अधिक है; पर यदि वह लौकिकजनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता है तो वह संयमी नहीं है।”

लौकिकजन की परिभाषा लिखते हुए वे लिखते हैं –

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि॥२६९॥

निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित होने के कारण जो संयम तपयुक्त भी हों, पर यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्तता हो, उसे लौकिक कहते हैं।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में शुद्धोपयोगी भावलिंगी सन्तों के शुभापयोग की क्या मर्यादायें हैं ? – इस पर सर्वाङ्गीण प्रकाश डाला गया है।

२७१ से २७५ गाथा तक की अन्तिम पाँच गाथाएँ पंचरत्न के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें मुनिराजों को संसारतत्त्व एवं मुनिराजों को ही मोक्षतत्त्व और मोक्ष के साधन तत्त्व कहा है। वस्तु के अयथार्थ रूप को ग्रहण करनेवाले अनन्त संसारी श्रमणाभास ही संसारतत्त्व है; तथा वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञाता आत्मानुभवी शुद्धोपयोगी श्रमण ही मोक्षतत्त्व हैं, मोक्ष के साधनतत्त्व हैं।

सर्वान्त में मंगल आशीर्वाद देते हुए आचार्य कहते हैं कि “जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों के सार इस प्रवचनसार ग्रन्थ का भलीभाँति अध्ययन करेगा, वह प्रवचनसार के सार शुद्धात्मा को अवश्य प्राप्त करेगा।”

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार २७५ गाथाओं में समाप्त हो जाता है। इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्र अपनी तत्त्वप्रदीपिका टीका में परिशिष्ट के रूप में ४७ नयों की चर्चा करते हैं, जो मूलत: पठनीय है।

आचार्य अमृतचन्दकृत समयसार की आत्मख्याति नामक टीका के अन्त में समागत ४७ शक्तियों एवं प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका के अन्त में समागत ४७ नयों का निरूपण आचार्य अमृतचन्द्र की अपनी विशेषता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अपनी अभूतपूर्व विषयवस्तु एवं प्रौढ़ प्रतिपादन शैली के कारण यह प्रवचनसार परमागम आज भी अद्वितीय है। मोह और क्षोभ से रहित साम्यभावरूप आत्मपरिणामों की प्राप्ति का मार्गदर्शक यह प्रवचनसार ग्रन्थ मात्र विद्वानों के अध्ययन की ही वस्तु नहीं है, अपितु इसका गहराई से अध्ययन करना प्रत्येक आत्मार्थी का प्राथमिक कर्तव्य है।

जन-जन की वस्तु इस अद्भुत कृति का गहराई से अध्ययन कर मुझ सहित प्रत्येक आत्मार्थीजन आचार्य कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र के समान ही साम्यभाव को प्राप्त हों – इस पावन भावना से विराम लेता हूँ।

●●●

विषयानुक्रमणिका

१. ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार **१-१७५**
(गाथा १ से गाथा ९२ तक)
- शुद्धोपयोगाधिकार
  (गाथा १३ से गाथा २० तक) १८-३१
- ज्ञानाधिकार
  (गाथा २१ से गाथा ५२ तक) ३२-८५
- सुखाधिकार
  (गाथा ५३ से गाथा ६८ तक) ८६-११३
- शुभपरिणामाधिकार
  (गाथा ६९ से गाथा ९२ तक) ११४-१७५

२. ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार **१७६-३८७**
(गाथा ९३ से गाथा २०० तक)
- द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार
  (गाथा ९३ से गाथा १२६ तक) १७८-२६५
- द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार
  (गाथा १२७ से गाथा १४४ तक) २६६-३००
- ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार
  (गाथा १४५ से गाथा २०० तक) ३०१-३८७

३. चरणानुयोगसूचकचूलिका महाधिकार **३८८-५१३**
(गाथा २०१ से गाथा २७५ तक)
- आचरणप्रज्ञापनाधिकार
  (गाथा २०१ से गाथा २३१ तक) ३८९-४५१
- मोक्षमार्गप्रज्ञापनाधिकार
  (गाथा २३२ से गाथा २४४ तक) ४५२-४७६
- शुभोपयोगप्रज्ञापनाधिकार
  (गाथा २४५ से गाथा २७० तक) ४७७-५०५
- पंचरत्न अधिकार
  (गाथा २७१ से गाथा २७५ तक) ५०६-५१३

४. परिशिष्ट

- सैंतालीस नय ५१४-५७७

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका
एवं
डॉ. हुकमचन्द भारिल्लकृत ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका
सहित
श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित

प्रवचनसार

मंगलाचरण

(हरिगीत)

नित्य निज में ही रहें पर जानते सम्पूर्ण जग।
हैं वीतरागी पूर्ण पर सबको बताते मोक्षमग।।
यद्यपि अहिंसक पूर्णत: पर घातियों को घात कर।
जो बन गये अरिहंत जिन उनको नमन कर जोड़कर।।१।।

हैं अष्ट कर्मों से रहित हैं अष्ट गुण मंडित सदा।
हैं ज्ञानतनु तनरहित अमलानन्त सुख विलसत सदा।।
अनुपम अचल सिद्धायतनथित आयतन से रहित जो।
कर जोड़कर हो नमन अगणित गुणों से हैं सहित जो।।२।।

आचार्य पंचाचारयुत जो साधुगण में ज्येष्ठ हैं।
पठन-पाठन निरत पाठक ज्ञानधन में श्रेष्ठ हैं।।
निज आतमा रत साधुगण जो भवजलधि के अन्त हैं।
उन सभी को हो नित नमन जो साधना रत संत हैं।।३।।

(कुण्डलिया)

जिन प्रवचन का सार यह प्रवचनसार महान।
इसके अध्ययन-मनन से प्रगटे आतम ज्ञान।।
प्रगटे आतम ज्ञान भींग जावे निज अन्तर।
निज में ही रम जाय ध्यान जो करे निरन्तर।।
आ जावेगा अन्त अरे उसके भव वन का।
और अधिक क्या कहे सार यह जिन प्रवचन का।।४।।

(रोला)

ज्ञान-ज्ञेय प्रज्ञापन इसमें किया गया है।
और आचरण मार्ग निरूपित किया गया है।।
इन्हें जानकर जीवन इनसे आत्मसात हो।
समझ लीजिए तो निश्चित ही आत्म प्राप्त हो।।५।।

(दोहा)

ज्ञानतत्त्व निज आतमा सब जग जाननहार।
ज्ञेयतत्त्व निज-पर सभी इस जग के आधार।।६।।
इन दोनों के जान लो सब सामान्य-विशेष।
मैं इक आतमराम हूँ पर हैं शेष अशेष।।७।।
इसप्रकार इस जगत से करो भेदविज्ञान।
वस्तुव्यवस्था समझ कर छोड़ो सब अज्ञान।।८।।

(रोला)

यह हितकर उपदेश दिया है कुन्दकुन्द ने।
यह हितकर आदेश दिया है कुन्दकुन्द ने।।
जो पालेगा इसे वही पा लेगा निज को।
पार करेगा वही भयंकर भवसागर को।।९।।
इसकी ही यह टीका जो हिन्दी भाषा में।
तत्त्वप्रबोधिनी लिखी गई है मेरे द्वारा।।
इसमें मेरा नहीं रंच भी निश्चित जानो।
कुन्दकुन्द का माल पूर्णत: इसमें मानो।।१०।।
कुन्दकुन्द के आलोड़न से साम्यभावना।
गहराई से रहे नित्य मेरे जीवन में।।
यही भावना मुख्य परन्तु जिनप्रवचन यह।
गहराई से समा जाय जन-जन के मन में।।११।।

5487

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

(मङ्गलाचरण)

(अनुष्टुप्)

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥१॥
हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥२॥

जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों (दिव्यध्वनि) का सार यह कालजयी प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रचलित अद्भुत सशक्त संरचना है। समस्त जगत को ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के रूप में प्रस्तुत करनेवाली यह अमर कृति विगत दो हजार वर्षों से निरन्तर पठन-पाठन में रही है। आज भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसे स्थान प्राप्त है।

यद्यपि आचार्यों में कुन्दकुन्द और उनकी कृतियों में समयसार सर्वोपरि है; तथापि समयसार अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक विषयवस्तु के कारण विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त नहीं कर सका; पर अपनी विशिष्ट शैली में वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनसार का प्रवेश सर्वत्र अबाध है।

प्रमाण और प्रमेय व्यवस्था का प्रतिपादक यह ग्रन्थराज आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी प्रौढ़तम कृति है कि जिसमें वे आध्यात्मिक संत के साथ-साथ गुरु-गंभीर दार्शनिक के रूप में प्रस्फुटित हुए हैं, प्रतिष्ठित हुए हैं।

आचार्य जयसेन के अनुसार यदि पंचास्तिकाय की रचना संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के लिए हुई थी, तो इस ग्रन्थराज प्रवचनसार की रचना मध्यम रुचिवाले शिष्यों के लिए हुई है।[१]

यद्यपि इस ग्रन्थराज पर अद्यावधि विभिन्न भाषाओं में अनेक टीकायें लिखी गई हैं; तथापि इस ग्रन्थराज की रचना के लगभग एक हजार वर्ष बाद और आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका और उसके लगभग तीन सौ वर्ष बाद आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति संस्कृत भाषा में लिखी गईं ऐसी टीकायें हैं कि जो आज सर्वाधिक प्रचलित हैं, पठन-पाठन में हैं।

---

१. (क) प्रवचनसार : तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ-१ (ख) पंचास्तिकाय : तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ २

(आर्या)

परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम्।।३।।

अथ खलु कश्चिदासन्नसंसारपारावारपारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमित-

---

इस ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में आचार्य कुन्दकुन्द की मूल गाथाओं और उन पर लिखी गई आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका को मुख्य आधार बनाया गया है। आवश्यकतानुसार आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका का भी उपयोग किया गया है।

प्रवचनसार की आचार्य अमृतचंद्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के मंगलाचरण का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

स्वानुभूति से जो प्रगट सर्वव्यापि चिद्रूप।
ज्ञान और आनन्दमय नमो परात्मस्वरूप।।१।।
महामोहतम को करे क्रीड़ा में निस्तेज।
सब जग आलोकित करे अनेकान्तमय तेज।।२।।
प्यासे परमानन्द के भव्यों के हित हेतु।
वृत्ति प्रवचनसार की करता हूँ भवसेतु।।३।।

सर्वव्यापी होने पर भी मात्र एक चैतन्यरूप है स्वरूप जिसका और जो स्वानुभव से प्रसिद्ध होनेवाला है; उस ज्ञानानन्दस्वभावी उत्कृष्ट आत्मा को नमस्कार हो।

जो महामोहरूपी अंधकारसमूह को लीलामात्र में नष्ट करता है और जगत के स्वरूप को प्रकाशित करता है; वह अनेकान्तमय तेज सदा जयवंत वर्तता है।

परमानन्दरूपी अमृत के प्यासे भव्यजीवों के हित के लिए तत्त्व को प्रगट करनेवाली प्रवचनसार की यह टीका (वृत्ति) रची जा रही है।

इसप्रकार मंगलाचरण और टीका लिखने की प्रतिज्ञा करने के उपरान्त अब आचार्य अमृतचन्द्र आचार्य कुन्दकुन्द रचित प्रवचनसार के मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य संबंधी पाँच गाथाओं की उत्थानिका लिखते हैं; जिसका भाव इसप्रकार है –

"जिनके संसारसमुद्र का किनारा अति निकट है, जिन्हें सातिशय विवेकज्योति प्रगट हो गई है, जिनका एकान्तवादरूप समस्त अविद्या का अभिनिवेश (आग्रह) अस्त हो गया है;

समस्तैकान्तवादाविद्याभिनिवेशः पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते।

अथ सूत्रावतारः –

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१।।
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे।।२।।

ऐसे कोई (आचार्य कुन्दकुन्ददेव) पारमेश्वरी अनेकान्त विद्या को प्राप्त करके, समस्त पक्षों का परिग्रह त्याग देने से अत्यन्त मध्यस्थ होकर; समस्त पुरुषार्थों में सारभूत होने से आत्मा के लिए अत्यन्त हिततम, पंचपरमेष्ठियों के प्रसाद से उत्पन्न होनेयोग्य, परमार्थसत्य, अक्षय मोक्षलक्ष्मी को उपादेयरूप से निश्चित करते हुए प्रवर्तमान तीर्थ के नायक श्री वर्द्धमानसहित पंचपरमेष्ठियों को प्रणाम और वंदन से होनेवाले नमस्कार के द्वारा सम्मान करके; सर्वारंभ से मोक्षमार्ग का आश्रय करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं।''

इस उत्थानिका में यह कहा गया है कि आसन्नभव्य, परमविवेकी, अनेकान्तवादी, अपरिग्रही और अनाग्रही आचार्य कुन्दकुन्ददेंव अत्यन्त मध्यस्थ होकर परम हितकारी अक्षय मोक्षलक्ष्मी को उपादेय मानते हुए वर्तमान तीर्थ के नायक होने से सबसे पहले महावीर स्वामी को नमस्कार करके पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करते हुए पूरी शक्ति से मोक्षमार्ग का आश्रय लेते हुए प्रतिज्ञा करते हैं।

अब गाथा सूत्रों का अवतरण होता है; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सुर असुर इन्द्र नरेन्द्र वंदित कर्ममल निर्मलकरन।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन।।१।।
अवशेष तीर्थंकर तथा सब सिद्धगण को कर नमन।
मैं भक्तिपूर्वक नमूँ पंचाचारयुत सब श्रमणजन।।२।।

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।।३।।
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ।।४।।
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ।।५।।(पणगं)

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम्।
प्रणमामि वर्धमानं तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ।।१।।
शेषान् पुनस्तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान्।
श्रमणांश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ।।२।।
तांस्तान् सर्वान् समकं समकं प्रत्येकमेव प्रत्येकम्।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ।।३।।
कृत्वार्हद्भ्यः सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्यः।
अध्यापकवर्गेभ्यः साधुभ्यश्चैव सर्वेभ्यः ।।४।।
तेषां विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं समासाद्य।
उपसंपद्ये साम्यं यतो निर्वाणसंप्राप्तिः ।।५।। (पंचकम्)

उन सभी को युगपत तथा प्रत्येक को प्रत्येक को।
मैं नमूँ विदमान मानस क्षेत्र के अरहंत को ।।३।।
अरहंत सिद्धसमूह गणधरदेवयुत सब सूरिगण।
अर सभी पाठक साधुगण इन सभी को करके नमन ।।४।।
परिशुद्ध दर्शनज्ञानयुत समभाव आश्रम प्राप्त कर।
निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ ।।५।।

जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित हैं तथा जिन्होंने घातिकर्मरूपी मल को धो डाला है; ऐसे तीर्थरूप और धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमान तीर्थंकर को नमस्कार करता हूँ।

विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थंकरों, सर्वसिद्धों और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार से सहित सभी श्रमणों को नमस्कार करता हूँ।

उन सभी को और मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाई द्वीप में सदा विद्यमान रहनेवाले अरहंतों को

एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्माहं सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितत्वात्त्रिलोकैकगुरुं, धौतघातिकर्ममलत्वाज्जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यं, योगिनां तीर्थत्वात्तारणसमर्थं, धर्मकर्तृत्वाच्छुद्धस्वरूपवृत्तिविधातारं, प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ।।१।।

तदनु विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान्, सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात् संभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ।।२।।

तदन्वेतानेव पंचपरमेष्ठिनस्तत्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेहभूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य

समुदायरूप से एकसाथ और व्यक्तिगतरूप से प्रत्येक को अलग-अलग वंदन करता हूँ।

इसप्रकार अरहंतों को, सिद्धों को, गणधरादि आचार्यों को, उपाध्यायों को और सर्व साधुओं को नमस्कार करके उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त करके, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है, उस साम्यभाव को मैं प्राप्त करता हूँ।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष दर्शनज्ञानस्वरूप मैं; जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित होने से तीन लोक के एक (एकमात्र, अनन्य, सर्वोत्कृष्ट) गुरु हैं; जिनमें घातिकर्मरूपी मल को धो डालने से जगत पर अनुग्रह करने में समर्थ अनंत शक्तिरूप परमेश्वरता है; जो तीर्थता के कारण योगियों को तारने में समर्थ हैं और धर्म के कर्ता होने से शुद्धस्वरूप परिणति के कर्ता हैं; उन परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य और जिनका नाम ग्रहण भी अच्छा है; ऐसे श्री वर्द्धमानदेव को प्रवर्तमान तीर्थ की नायकता के कारण प्रथम ही प्रणाम करता हूँ।

उसके बाद विशुद्ध सत्तावाले होने से ताप (अन्तिम ताव) से उत्तीर्ण उत्तम स्वर्ण के समान शुद्धदर्शनज्ञानस्वभाव को प्राप्त शेष अतीत २३ तीर्थंकरों और सर्वसिद्धों को तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार से युक्त होने से जिन्होंने परमशुद्धोपयोग भूमिका को प्राप्त किया है; ऐसे आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं – इसप्रकार सभी श्रमणों को नमस्कार करता हूँ।

उसके बाद इन्हीं पंचपरमेष्ठियों को अर्थात् परमेष्ठी पर्याय में व्याप्त होनेवाले सभी को, वर्तमान में इस क्षेत्र में उत्पन्न तीर्थंकरों का अभाव और महाविदेह क्षेत्र में उनका सद्भाव होने से मनुष्यक्षेत्र (ढाई द्वीप) में प्रवर्तमान वर्तमान काल गोचर तीर्थनायकों सहित सभी परमेष्ठियों

युगपद्युगपत्प्रत्येकं प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमंगलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवंदनाभिधानेन सम्भावयामि ।।३ ।।

अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ।।४ ।।

तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसंपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसंपन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबंधसंप्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसंप्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसंपद्ये। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थ।

एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं संप्रतिपन्नः ।।५ ।।

को वर्तमान के समान विद्यमान मानकर ही समुदायरूप से एकसाथ और व्यक्तिगतरूप से प्रत्येक की अलग-अलग संभावना करता हूँ, आराधना करता हूँ, सम्मान करता हूँ।

प्रश्न – किसप्रकार संभावना करता हूँ ?

उत्तर – मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर समान परम निर्ग्रन्थता की दीक्षा के उत्सव के योग्य मंगलाचरणभूत कृतिकर्मशास्त्रोपदिष्ट वन्दनोच्चार के द्वारा संभावना करता हूँ।

इसप्रकार अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं को प्रणाम और वन्दनोच्चार से प्रवर्तमान द्वैत के द्वारा तथा भाव्य-भावकभाव से बढ़े हुए अत्यन्त गाढ़ इतरेतर मिलन के कारण समस्त स्व-पर का विभाग विलीन हो जाने से प्रवर्तमान अद्वैत के द्वारा नमस्कार करके उन्हीं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं के आश्रम को; जो कि विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधान आश्रम होने से सहज शुद्धदर्शनज्ञानस्वभाववाले आत्मतत्त्व का श्रद्धान और ज्ञान है लक्षण जिसका, ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संपादक है, उसे प्राप्त करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्पन्न होकर, जिसमें कषायकण विद्यमान होने से जीव को जो पुण्यबंध की प्राप्ति का कारण है – ऐसे सरागचारित्र को क्रम से आ पड़ने पर भी उल्लंघन करके जो समस्त कषाय क्लेशरूपी कलंक से भिन्न होने से निर्वाण की प्राप्ति का कारण है – ऐसे वीतराग चारित्र नाम के साम्य को प्राप्त करता हूँ। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप एकाग्रता को मैं प्राप्त करता हूँ – प्रतिज्ञा का यही अर्थ है।

इसप्रकार उन्होंने (आचार्य कुन्दकुन्द ने) साक्षात् मोक्षमार्ग को अंगीकार किया।''

अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति –

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ।।६।।

संपद्यते निर्वाणं देवासुरमनुजराजविभवैः।
जीवस्य चरित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ।।६।।

तात्पर्य यह है कि इन गाथाओं के माध्यम से ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा में ही अपनापन अनुभव करनेवाले आचार्य कुन्दकुन्ददेव पंचपरमेष्ठी को स्मरण करते हुए साम्यभाव को प्राप्त होते हैं, साम्यभाव को प्राप्त होने की प्रतिज्ञा करते हैं।

विशेष बात यह है कि इन गाथाओं में वर्तमान तीर्थ के नायक होने से एकमात्र भगवान महावीर को नामोल्लेखपूर्वक नमस्कार किया गया है; शेष परमेष्ठियों को यद्यपि सामूहिक रूप से ही याद किया गया है; तथापि ऐसा लिखकर कि सभी को सामूहिक रूप से और प्रत्येक को व्यक्तिगतरूप से नमस्कार करता हूँ, उनके प्रति होनेवाली उपेक्षा को कम करते हुए परोक्षरूप से यह भी व्यक्त कर दिया गया है कि सबका नामोल्लेखपूर्वक स्मरण संभव नहीं है।

सदा विद्यमान बीस तीर्थंकरों की विद्यमानता को विशेष महत्त्व देते हुए यद्यपि उन्हें विशेषरूप से याद किया गया है; तथापि नामोल्लेख तो उनका भी असंभव ही था।

इसतरह हम देखते हैं कि मंगलाचरण की इन गाथाओं में न तो अतिसंक्षेप कथन है और न अतिविस्तार; अपितु विवेकपूर्वक मध्यम मार्ग अपनाया गया है ।।१-५।।

मंगलाचरण संबंधी पाँच गाथाओं में से पाँचवीं गाथा में विशुद्धदर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त करके निर्वाण की प्राप्ति के लिए साम्यभाव को प्राप्त होने की बात कही है।

उक्त दर्शनज्ञानप्रधान आश्रम या साम्यभाव सम्यक्चारित्र ही है। अतः अब इस छटवीं गाथा में उक्त चारित्र के फल का निरूपण करते हैं; क्योंकि जबतक हमें यह पता न चले कि जिस कार्य को करने के लिए हमें प्रेरित किया जा रहा है; उसके करने से हमें क्या लाभ होगा; तबतक उस कार्य में हमारी प्रवृत्ति रुचिपूर्वक नहीं होती।

इसलिए इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि वीतरागचारित्र इष्ट फलवाला होने से उपादेय है और सरागचारित्र अनिष्टफलवाला होने से हेय है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

निर्वाण पावैं सुर-असुर-नरराज के वैभव सहित।
यदि ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र सम्यक् प्राप्त हो ।।६।।

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम् ॥६॥

अथ चारित्रस्वरूपं विभावयति –

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

इस जीव को दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्रों के वैभव के साथ-साथ निर्वाण की प्राप्ति होती है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से यदि वह चारित्र वीतरागचारित्र हो तो मोक्ष प्राप्त होता है और यदि वह सरागचारित्र हो तो देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र के वैभवक्लेशरूप बंध की प्राप्ति होती है। इसलिए मुमुक्षुओं को इष्टफलवाला होने से वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य है, उपादेय है और अनिष्टफलवाला होने से सरागचारित्र त्यागने योग्य है, हेय है।"

उक्त कथन का भाव यह है कि साधक की भूमिका में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ आंशिक राग और आंशिक वीतरागता रहती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उसके साथ रहनेवाली वीतरागता तो नियम से मुक्ति का ही कारण है; किन्तु उसके साथ रहनेवाला राग बंध का ही कारण है। उक्त राग के कारण जो बंध होता है; उसके फल में देवेन्द्रादि उच्च पदों की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह राग प्रशस्त होता है।

ध्यान में रखने की मूल बात यह है कि चारित्रवंत ज्ञानी धर्मात्माओं को भी साधकदशा में देवेन्द्रादि पदों को प्राप्त करानेवाला पुण्यबंध होता है; तथापि वह उपादेय नहीं, हेय ही है ॥६॥

छटवीं गाथा में चारित्र के फल का निरूपण करते हुए वीतरागचारित्र को मुक्ति का कारण बताया गया है। अत: यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि आखिर वह वीतरागचारित्र या निश्चयचारित्र क्या है, जिसका फल अनन्तसुखस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है।

यही कारण है कि इस सातवीं गाथा में **निश्चयचारित्र का स्वरूप स्पष्ट करते हैं**। चारित्र का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करनेवाली उक्त गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है।
दृगमोह-क्षोभविहीन निज परिणाम समताभाव है ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यस्तत्साम्यमिति निर्दिष्टम्।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनो हि साम्यम्।।७।।

स्वरूपे चरणं चारित्रं, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।।७।।

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति –

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो।।८।।

वस्तुतः चारित्र ही धर्म है। वह धर्म साम्यभावरूप है – ऐसा कहा गया है। मोह (दर्शनमोह) और क्षोभ (चारित्रमोह – राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"स्वरूप में चरण करना (रमना) चारित्र है। इसका अर्थ (तात्पर्य) स्वसमय में प्रवृत्ति करना है। वस्तु का स्वभाव होने से यही धर्म है और शुद्धचैतन्य का प्रकाशन होना – इसका अर्थ है। यही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है। वह साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह (दर्शनमोह-मिथ्यात्व) और क्षोभ (चारित्रमोह – राग-द्वेष) के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकारी – ऐसा जीव का परिणाम है।"

उक्त कथन में ध्यान देने की बात यह है कि चाहे सराग चारित्र हो चाहे वीतराग चारित्र, पर होगा तो वह नियम से जीव का परिणाम ही; वह देह की क्रियारूप नहीं हो सकता, वह जड़ की क्रियारूप नहीं हो सकता।

हमें आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि हम जिस देह की क्रिया को चारित्र मान रहे हैं; क्या वह जीव का परिणाम है? यदि वह देह की क्रिया जीव का परिणाम नहीं है तो वह न तो सरागचारित्र होगी और न वीतराग चारित्र; **क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित वीतरागी परिणाम को वीतराग चारित्र कहते हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित शुभभाव को सरागचारित्र कहते हैं।।७।।**

विगत गाथा में यह कहा गया था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित वीतरागभाव ही चारित्र है और अब इस आठवीं गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मा जिस समय जिस भावरूप से परिणमित होता है; उस समय उसी भावमय होता है। अतः धर्मभाव से परिणमित आत्मा ही धर्म है अर्थात् **चारित्ररूप धर्म में परिणमित आत्मा ही चारित्र है।**

परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम्।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः।।८।।

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवत्तन्मयं भवति। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम्।।८।।

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति –

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो।।९।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिसकाल में जो दरव जिस परिणाम से हो परिणमित।
हो उसीमय वह धर्मपरिणत आतमा ही धर्म है।।८।।

जो द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमित होता है, वह द्रव्य उस समय उसीमय होता है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इसलिए धर्म परिणत आत्मा ही धर्म है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“जिसप्रकार उष्णतारूप परिणमित लोहे का गोला उस समय उष्ण ही है; उसीप्रकार जो द्रव्य जिस समय जिस भावरूप से परिणमित होता है; उस समय उसी भावरूप होता है।

इसी नियम के अनुसार धर्मभाव से परिणमित आत्मा स्वयं धर्मरूप ही है। इसप्रकार आत्मा स्वयं चारित्र है – यह बात सिद्ध होती है।”

ध्यान देने की बात यह है कि इस गाथा में द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता स्पष्ट की गई है। इस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग द्रव्य और पर्याय को सर्वथा भिन्न प्ररूपित करने लगते हैं। उन्हें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि **यहाँ आचार्यदेव शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म से परिणमित आत्मा को ही धर्म कह रहे हैं** ।।८।।

बात यहाँ तक ही नहीं है कि धर्मपर्यायरूप परिणमित आत्मा धर्म है; अपितु आगामी गाथा में तो यहाँ तक कह रहे हैं कि **शुद्धभावरूप परिणमित आत्मा शुद्ध है, शुभभावरूप परिणमित आत्मा शुभ है और अशुभभावरूप परिणमित आत्मा अशुभ है। इसप्रकार जीव ही शुभ है, जीव ही अशुभ है और जीव ही शुद्ध है – ऐसा निश्चित करते हैं।**

जीवः परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभः।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभावः।।९।।

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपातापिच्छरागपरिणतस्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति।

यदा पुनः शुद्धेनारागभावेन परिणमति तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभावः सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम्।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्वभाव से परिणाममय जिय अशुभ परिणत हो अशुभ।
शुभभाव परिणत शुभ तथा शुधभाव परिणत शुद्ध है।।९।।

जीव परिणामस्वभावी होने से जब वह शुभ या अशुभभावरूप परिणमित होता है, तब स्वयं भी शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है, तब शुद्ध होता है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार लाल जपाकुसुम और काले तमालपुष्प के संयोग से स्फटिकमणि उनके रंगरूप परिणमित होता देखा जाता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा जब शुभ या अशुभावरूप परिणमित होता है; तब परिणामस्वभावी होने से स्वयं ही शुभ या अशुभरूप होता है और जब यह भगवान आत्मा शुद्धभाव अर्थात् अरागभाव से परिणमित होता है; तब शुद्ध अराग (रंगरहित) परिणमित स्फटिक की भांति परिणामस्वभावी होने से स्वयं ही शुद्ध होता है।

इसप्रकार जीव का शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होता है।"

जपापुष्प लाल होता है और तमाल पुष्प काला होता है। ध्यान रहे यहाँ लाल पुष्प को पुण्य का और काले पुष्प को पाप का प्रतीक मानकर बात की है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में यही बताया गया है कि द्रव्य और पर्याय अभिन्न ही हैं; क्योंकि द्रव्य और पर्याय में क्षणिकतादात्म्य संबंध है। द्रव्य और पर्याय में तादात्म्य संबंध होने से यहाँ प्रतिपादित द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता की बात निश्चयनय का कथन है। यह कथन तो व्यवहार का है – ऐसा कहकर उक्त कथन की उपेक्षा करना उचित नहीं है।

विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ जिस आत्मा की बात चल रही है; वह आत्मा दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा नहीं है; अपितु वर्तमान पर्याय से परिणमित आत्मा ही

अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति –

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ।।१०।।

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणामः।
द्रव्य-गुण-पर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः ।।१०।।

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते। वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्निःपरिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणामविरोधाच्च।

अन्तरेण वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते। स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽभावे निराश्रयस्य परिणामस्य शून्यत्वप्रसंगात्।

है; क्योंकि जब दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा की बात चलती है, तब द्रव्य और पर्याय की भिन्नता की बात मुख्य रहती है ।।९।।

सातवीं गाथा में कहा गया था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्य है, चारित्र है, धर्म है। आठवीं गाथा में कहा गया कि धर्म से परिणमित आत्मा ही धर्म है और नौवी गाथा में कहा गया कि आत्मा परिणामस्वभावी है। इसी क्रम में दशवीं गाथा में अब यह कहा जा रहा है कि **परिणाम वस्तु का स्वभाव ही है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परिणाम बिन ना अर्थ है अर अर्थ बिन परिणाम ना।
अस्तित्वमय यह अर्थ है बस द्रव्यगुणपर्यायमय ।।१०।।

इस लोक में परिणाम के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है; पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय में रहनेवाला और अस्तित्व से निर्मित है।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व को धारण नहीं करती; क्योंकि वस्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के द्वारा परिणाम से भिन्न देखने में नहीं आती। परिणाम से रहित वस्तु गधे के सींग के समान है, उसका दिखाई देनेवाले गोरस (दूध-दही-घी) इत्यादि के परिणामों के साथ विरोध आता है।

इसीप्रकार वस्तु के बिना परिणाम भी अस्तित्व को धारण नहीं करता; क्योंकि स्वाश्रयभूत वस्तु के अभाव में निराश्रय परिणाम को शून्यता का प्रसंग आता है।

वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितनिर्वृत्तिमच्च।

अतः परिणामस्वभावमेव ।।१०।।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कसम्भवतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति–

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ।।११।।

वस्तु तो ऊर्ध्वतासामान्यस्वरूप द्रव्य में, सहभावी विशेषस्वरूप गुणों में तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायों में रही हुई और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्व से बनी हुई है।

इसलिए परिणामस्वभावी ही है।''

विशेषकर दृष्टि के विषय के सन्दर्भ में अध्यात्म के जोर में आत्मवस्तु को पर्याय (परिणाम) से भिन्न बताया जाता है; किन्तु यहाँ जोर देकर यह बताया जा रहा है कि परिणाम वस्तु से अभिन्न होता है। परिणमन को आत्मा से सर्वथा भिन्न मानने पर आत्मा एकान्त से नित्य सिद्ध होगा और सर्वथा अभिन्न मानने पर एकान्त से अनित्य सिद्ध होगा। इसप्रकार या तो नित्यैकान्त का प्रसंग आयेगा या फिर अनित्यैकान्त का प्रसंग आयेगा। तात्पर्य यह है कि परिणाम और परिणामी द्रव्य में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद होता है।

वस्तुतः बात यह है कि जब दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा की बात चलती है, तब आत्मा को परिणाम अर्थात् पर्याय से भिन्न बताया जाता है; किन्तु जब धर्मात्मा, पुण्यात्मा या पापात्मा की बात चलती है, तब आत्मा को वर्तमान पर्याय से तन्मय बताया जाता है।

यहाँ वर्तमान पर्याय से तन्मय आत्मा की बात चल रही है; अतः यहाँ द्रव्य और पर्याय के अभेद की मुख्यता है ।।१०।।

विगत गाथा में यह कहा है कि पर्याय के बिना पदार्थ नहीं होता और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं होती। अब इस ११ वीं गाथा में यह कहा जा रहा है कि शुद्धोपयोगरूप पर्याय से परिणमित आत्मा मुक्ति प्राप्त करते हैं और शुभोपयोगरूप पर्याय से परिणमित आत्मा स्वर्गादि को प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ चारित्र परिणाम के साथ रहनेवाले ग्रहण करने योग्य शुद्धपरिणाम और त्याग करने योग्य शुभ परिणामों का फल बताया जा रहा है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा।
पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आतमा ।।११।।

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तः च स्वर्गसुखम्।।११।।

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति।

अतः शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः।।११।।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति –

असुहोदएण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिद्दुदो भमदि अच्चंतं।।१२।।

धर्मरूप परिणमित आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग से युक्त हो तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“जब यह धर्मपरिणत स्वभाववाला आत्मा शुद्धोपयोग परिणति को धारण करता है, तब विरोधी शक्ति से रहित होने के कारण अपना कार्य करने में समर्थ चारित्रवान होने से साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है और जब धर्मपरिणत स्वभाववाला होने पर भी शुभोपयोग परिणति से युक्त होता है, तब विरोधी शक्ति सहित होने से स्वकार्य करने में असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाले चारित्र से युक्त होने से अग्नि से गर्म किये गये घी को किसी मनुष्य पर डाल देने पर जिसप्रकार वह मनुष्य उसकी जलन से दुःखी होता है; उसीप्रकार आत्मा भी स्वर्गसुख के बंध को प्राप्त होता है।

इसलिए शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।”

संक्षेप में बात यही है कि साक्षात् मुक्ति का मार्ग तो एकमात्र शुद्धोपयोग या शुद्धपरिणतिरूप वीतरागचारित्र ही है, शुभोपयोग या शुभभावरूप सरागचारित्र नहीं।

यद्यपि व्यवहार से शुभोपयोग या सरागचारित्र को भी धर्म कहा जाता है, मुक्तिमार्ग कहा जाता है; अतः व्यवहार से सराग चारित्रवाले शुभोपयोगियों को धर्मात्मा भी कहा ही जाता है, मुक्तिमार्गी कहा जाता है; तथापि निश्चय से तो वीतरागभाव ही धर्म है, वीतरागभाव ही मुक्ति का मार्ग है।।११।।

अशुभोदयेनात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिकः।
दुःखसहस्रैः सदा अभिद्रुतो भ्रमत्यत्यन्तम् ।।१२।।

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणितमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति।

ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति ।।१२।।

---

११ वीं गाथा में शुद्धोपयोग और शुभोपयोग के फल की चर्चा करने के उपरान्त अब १२वीं गाथा में अशुभोपयोग के फल के संबंध में चर्चा करते हैं। इस गाथा की उत्थानिका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि **जिसका चारित्र परिणाम के साथ सम्पर्क असंभव होने से जो अत्यन्त हेय है, अब उस अशुभ परिणाम के फल को स्पष्ट करते हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

अशुभोपयोगी आतमा हो नारकी तिर्यग कुनर।
संसार में रुलता रहे अर सहस्रों दुख भोगता ।।१२।।

अशुभोपयोग से यह आत्मा कुनर, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखों से पीड़ित संसार में सदा ही परिभ्रमण करता रहता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जब यह आत्मा किंचित्मात्र भी धर्मपरिणति प्राप्त न करता हुआ अशुभोपयोग परिणति का अवलंबन करता है; तब वह कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकी के रूप में परिभ्रमण करता हुआ हजारों दुःखों के बंधन का अनुभव करता है।

अतः अशुभोपयोग में लेशमात्र भी चारित्र न होने से वह अत्यन्त हेय ही है।"

उक्त कथन का सार यह है कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है; क्योंकि वह पापपरिणतिरूप है। वह स्वयं तो धर्मरूप है ही नहीं, उसके रहते हुए धर्मप्राप्ति का अवसर भी नहीं हैं।

अतः आत्मार्थियों को वह सर्वथा छोड़ने योग्य है।।१२।।

शुभाशुभभावस्वरूप अशुद्धोपयोग हेय है और शुद्धोपयोग उपादेय है। अतः आगामी अधिकार में शुद्धोपयोग की चर्चा आरंभ करते हैं।

●●●

शुद्धोपयोगाधिकार

(गाथा १३ से गाथा २० तक)

एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगवृत्तिमात्मसात्कुर्वाणः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते। तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति –

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ।।१३।।

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम्।
अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ।।१३।।

आसंसारापूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विष-

मंगलाचरण

(दोहा)

ज्ञानानन्द अनंत दृग वीरज अपरंपार।
संपादक ज्ञायक सुभग शुद्धोपयोग अधिकार ।।

अब इस समस्त शुभोपयोगरूप और अशुभोपयोगरूप वृत्ति को निरस्त कर, तिरस्कृत कर शुद्धोपयोगरूप वृत्ति को आत्मसात करते हुए शुद्धोपयोगाधिकार आरंभ करते हैं।

इस अधिकार में सबसे पहले शुद्धोपयोग को प्रोत्साहन देने के लिए उससे प्राप्त होनेवाले सुख का स्वरूप बताते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी जीव के है अनूपम आत्मोत्थसुख।
है नंत अतिशयवंत विषयातीत अर अविछिन्न है ।।१३।।

आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाले शुद्धोपयोग से सम्पन्न आत्माओं का सुख अतिशय, अनुपम, अनंत, अविच्छन्न और विषयातीत है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाला सुख अनादि संसार से कभी भी अनुभव में नहीं आने से अपूर्व एवं परम अद्भुत आल्हादरूप होने से सातिशय है; अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने से आत्मोत्पन्न है; पराश्रय से निरपेक्ष होने से अर्थात् स्पर्शादि विषयों से निरपेक्ष होने से विषयातीत है; अत्यन्त विलक्षण होने से अर्थात् लौकिक सुखों से भिन्न होने से, भिन्न जाति का होने से अनुपम है; अनन्त आगामी काल में कभी भी नाश को प्राप्त न होने से अनंत और

यातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं च शुद्धोपयोगनिष्पन्नानां सुखमतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम्।।१३।।

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति –

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।।१४।।

सुविदितपदार्थसूत्रः संयमतपःसंयुतो विगतरागः।
श्रमणः समसुखदुःखो भणितः शुद्धोपयोग इति।।१४।।

बिना अन्तर के अर्थात् निरन्तर प्रवर्तमान होने से अविच्छिन्न होता है; इसलिए यह सुख सर्वथा प्रार्थनीय है, परम उपादेय है।''

उक्त कथन का सार यह है कि शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाला अतीन्द्रिय आनन्द ही वास्तविक सुख है। पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा स्पर्शादि विषयों से प्राप्त होनेवाला सुख तो मात्र नाम का सुख है। वस्तुतः वह सुख सुख नहीं, दुःख ही है; क्योंकि वह पराधीन है, आकुलतारूप है, समय पाकर नष्ट हो जानेवाला है; अतः हेय है, छोड़ने योग्य है और शुद्धोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाला परमार्थ सुख अतीन्द्रिय है, विषयातीत है, स्वाधीन है, कभी भी नष्ट नहीं होता और निरन्तर रहता है तथा अनाकुल है; अतः उपादेय है, ग्रहण करनेयोग्य है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि शुद्धोपयोग तो अरहंत अवस्था के पहले भी होता है; तथापि यहाँ शुद्धोपयोगियों से तात्पर्य शुद्धोपयोग की पूर्णता को प्राप्त अरहंत और सिद्धों से ही है।

यद्यपि गाथा और तत्त्वप्रदीपिका टीका में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है; तथापि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते हैं तथा यहाँ दिये गये शुद्धोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाले सुख के विशेषणों से भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ शुद्धोपयोगियों से आशय अरहंत और सिद्धों से ही है।।१३।।

शुद्धोपयोगाधिकार आरंभ करते हुए विगत गाथा में कहा गया है कि शुद्धोपयोगियों को प्राप्त सुख ही सच्चा सुख है और अब इस आगामी गाथा में यह बता रहे हैं कि जिनके ऐसा परमानन्द है, अनंत आनंद है; वे शुद्धोपयोगी कौन हैं और वे कैसे होते हैं ?

इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **अब शुद्धोपयोग परिणत आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

हो वीतरागी संयमी तपयुक्त अर सूत्रार्थ विद्।
शुद्धोपयोगी श्रमण के समभाव भवसुख-दुक्ख में।।१४।।

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः; सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पंचेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्ध स्वरूपे संयमनात्, स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च संयमतपसंयुतः; सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः; परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुखदुःखजनितपरिणामवैषम्यत्वात्समसुखदुःखः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥१४॥

जिन्होंने जीवादि पदार्थों और उनके प्रतिपादक सूत्रों को भलीभांति जान लिया है, जो संयम और तप से संयुक्त हैं, जो वीतरागी हैं, जिन्हें सांसारिक सुख-दुःख समान हैं – ऐसे श्रमणों को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"स्व-पर के प्रतिपादक जिनसूत्रों के बल से स्वद्रव्य और परद्रव्य के विभाग के परिज्ञान में, श्रद्धान में और आचरण में समर्थ होने से जो सूत्रार्थ के जानकार हैं; छह काय के सभी जीवों की हिंसा के विकल्प से और पाँचों इन्द्रियों की अभिलाषा के विकल्प से आत्मा को व्यावृत्त करके आत्मा के शुद्धस्वरूप में संस्थापित करने से संयमयुक्त और स्वरूप में विश्रान्त, विकल्प तरंगों से रहित तथा चैतन्य में प्रतपन होने से तपयुक्त हैं – इसप्रकार संयम और तप से युक्त हैं; सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के विपाक से उत्पन्न मोह-राग-द्वेष भावों से भिन्नता की उत्कृष्ट भावना से निर्विकारी आत्मस्वरूप को प्रगट करने से जो विगतराग हैं अर्थात् वीतराग हैं; परमकला के अवलोकन के कारण साता-असाता वेदनीय के विपाक से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखजनित परिणामों की विषमता का अनुभव नहीं होने से जो सांसारिकसुख और दुःखों के प्रति समानभाव रखनेवाले हैं, समसुख-दुःख हैं – ऐसे श्रमणों को शुद्धोपयोगी कहते हैं।"

तेरहवीं गाथा में शुद्धोपयोग के प्रसाद से प्राप्त होनेवाले अनंत सुख का वर्णन था और यहाँ चौदहवीं गाथा में शुद्धोपयोगी मुनिराजों के स्वरूप का वर्णन है।

इसीप्रकार तेरहवीं गाथा में अरहंत और सिद्धों के शुद्धोपयोग का वर्णन था और यहाँ चौदहवीं गाथा में अरहंत अवस्था प्राप्त करने के पूर्व जो शुद्धोपयोगदशा होती है, उसका निरूपण है; क्योंकि यहाँ शुद्धात्मा आदि तत्त्वार्थों के प्रतिपादक सूत्रों के जानकार श्रुतज्ञानी शुद्धोपयोगियों की बात है और वहाँ १३ वीं गाथा में अव्याबाध अनंतसुख के धारक केवलज्ञानी शुद्धोपयोगियों की बात है।

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति –

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं॥१५॥

उपयोगविशुद्धो यो विगतावरणान्तरायमोहरजाः।
भूतः स्वयमेवात्मा याति पारं ज्ञेयभूतानाम्॥१५॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रंथितयात्यंतनिर्विकार-

---

यद्यपि आचार्य जयसेन १३ वीं गाथा से शुद्धोपयोगाधिकार का आरंभ स्वीकार करते हैं, क्योंकि १३ वीं गाथा की उत्थानिका में शुद्धोपयोगाधिकार आरंभ होने की बात वे कह चुके हैं; तथापि १४ वीं गाथा तक पीठिका मानते हैं। वे लिखते हैं कि इसप्रकार यहाँ चौदह गाथाओं और पाँच स्थलों में विभक्त पीठिका नामक प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ॥१४॥

चौदहवीं गाथा में सूत्रार्थवेदी, संयमी, तपस्वी, शुद्धोपयोगी श्रमणों की चर्चा की है और अब इस पन्द्रहवीं गाथा में शुद्धोपयोग के फल में तत्काल प्राप्त होनेवाले शुद्धात्मस्वभाव के लाभ का अभिनन्दन करते हैं, केवलज्ञान प्राप्त होने की बात करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी जीव जग में घात घातीकर्मरज।
स्वयं ही सर्वज्ञ हो सब ज्ञेय को हैं जानते॥१५॥

जो विशुद्ध उपयोगवाला शुद्धोपयोगी है; वह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहरूप रज से स्वयमेव रहित होता हुआ समस्त ज्ञेयपदार्थों के पार को प्राप्त करता है अर्थात् केवलज्ञानी हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"चैतन्यपरिणामरूप उपयोग के द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तनेवाला; पद-पद पर विशिष्ट विशुद्धशक्ति प्रगट होते जाने से अनादि संसार से बद्ध दृढ़तर मोहग्रन्थि छूट जाने से अत्यन्त निर्विकार चैतन्यवाला और समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के नष्ट हो

चैतन्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भितात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति।

इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो, ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं; ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥१५॥

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षतयाऽत्यन्तमात्मायतत्त्वं द्योतयति –

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो॥१६॥

जाने से निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान होता हुआ भगवान आत्मा ज्ञेयों के अन्त को पा लेता है, सभी ज्ञेयों को जान लेता है।

यहाँ यह कहा है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और ज्ञान ज्ञेयमात्र (ज्ञेय प्रमाण) है; इसलिए समस्त ज्ञेयान्तरवर्ती ज्ञानस्वभावी आत्मा को यह आत्मा शुद्धोपयोग के प्रसाद से प्राप्त करता है; जानता है, अनुभवता है, आत्मतल्लीन होता है।''

उक्त कथन का मूल तात्पर्य यह है कि जब इस आत्मा का स्वभाव जानना ही है और चार घातिया कर्मों के अभाव से समस्त प्रतिबंध समाप्त हो गये हैं तो यह भगवान आत्मा समस्त ज्ञेयों को क्यों नहीं जानेगा ? समस्त ज्ञेयों में अपना भगवान आत्मा भी है; अतः उसे भी क्यों नहीं जानेगा ?

इसप्रकार यह भगवान आत्मा स्व और पर सभी ज्ञेयों को जान लेता है, शुद्धोपयोग के प्रताप से केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, सर्वज्ञ हो जाता है।

इसप्रकार तेरहवीं गाथा में यह बताया कि शुद्धोपयोग से अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त होता है और यहाँ इस पन्द्रहवीं गाथा में यह बताया कि उसी शुद्धोपयोग से अतीन्द्रिय अनंतज्ञान प्रगट होता है।

अनंत अतीन्द्रियज्ञान और अनंत अतीन्द्रियसुख – दोनों एकमात्र शुद्धोपयोग के फल हैं; इसलिए उन्हें प्राप्त करने की भावनावाले भव्यजीवों को एकमात्र निज भगवान आत्मा की आराधना करना ही उपादेय है; अन्य बाह्य विकल्पों में उलझने से कोई लाभ नहीं है ॥१५॥

विगत गाथाओं में यह बात आ गई है कि अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनंतवीर्य ही एकमात्र शुद्धोपयोग के फल हैं, शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाली निधियाँ हैं।

तथा स लब्धस्वभाव: सर्वज्ञ: सर्वलोकपतिमहित:।
भूत: स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्ट:।।१६।।

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतंत्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकारः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमन स्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमन स्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वंदधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमन समये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः;

शुद्धोपयोग आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाला वीतरागी परिणाम है।

अत: यह सहजसिद्ध है कि **यह भगवान आत्मा अपनी निधियों को पर के सहयोग के बिना स्वयं ही प्राप्त करता है; अत: स्वयंभू है।** इस गाथा में यही बात समझाई जा रही है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

त्रैलोक्य अधिपति पूज्य लब्धस्वभाव अर सर्वज्ञ जिन।
स्वयं ही हो गये तातैं स्वयम्भू सब जन कहें।।१६।।

इसप्रकार वह आत्मा स्वभाव को प्राप्त, सर्वज्ञ और सर्वलोक के अधिपतियों से पूजित स्वयमेव हुआ होने से स्वयंभू है – ऐसा कहा गया है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों के नष्ट हो जाने से जिसने शुद्ध अनन्त शक्तिवान चैतन्यस्वभाव प्राप्त किया है – ऐसा यह पूर्वोक्त आत्मा (१) शुद्ध अनंत शक्तियुक्त ज्ञायकस्वभाव के कारण स्वतंत्र होने से जिसने कर्तृत्व के अधिकार को ग्रहण किया है – ऐसा, (२) शुद्ध अनंतशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही प्राप्य होने से कर्मत्व का अनुभव करता हुआ, (३) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव से स्वयं साधकतम होने से करणत्व को धारण करता हुआ, (४) शुद्ध अनंतशक्तियुक्त ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होने से सम्प्रदानत्व को धारण करता हुआ, (५) शुद्ध अनंतशक्तिरूप ज्ञानरूप से परिणमित होने के समय पूर्व में प्रवर्तमान विकल ज्ञानस्वभाव का नाश होने पर भी सहज ज्ञानस्वभाव से स्वयं ही ध्रुवता का अवलम्बन करने से अपादानत्व को धारण करता हुआ और (६) शुद्ध

स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपज़ायमान:, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते।

अतो न निश्चयत: परेण सहात्मन: कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति; यत: शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतंत्रैर्भूयते।।१६।।

अनंतशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से अधिकरणत्व को आत्मसात करता हुआ स्वयमेव छह कारकरूप होने से अथवा उत्पत्ति अपेक्षा से द्रव्य घातिकर्मों और भाव घातिकर्मों के भेदभावों को दूर करके स्वयमेव आविर्भूत होने से स्वयंभू कहलाता है।

अत: निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का संबंध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मलाभ की प्राप्ति के लिए बाह्यसामग्री ढूंढने की व्यग्रता से जीव व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं।''

गाथा में तो मात्र इतना ही कहा गया है कि यह भगवान आत्मा स्वयं ही स्वभाव को प्राप्त कर सर्वज्ञ और सर्वलोक पूजित होता है; इसकारण स्वयंभू है। षट्कारकों की चर्चा गाथा में नहीं है।

पर के सहयोग के बिना जो स्वयं के बल पर प्रतिष्ठित होता है, कुछ कर दिखाता है; उसे लोक में स्वयंभू कहा जाता है। अत: यहाँ स्वयंभू की व्याख्या में स्वाधीन षट्कारकों की चर्चा की है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में विकारी पर्याय भी आत्मा स्वाधीनपने ही प्रगट करता है – यह बताते हुए विकारी पर्याय संबंधी अभिन्न षट्कारकों की चर्चा की है और यहाँ प्रवचनसार की १६वीं गाथा में अनंतसुख और सर्वज्ञतारूप निर्मल पर्याय संबंधी अभिन्न षट्कारकों की बात की गई है।

मूल बात यह है कि यह आत्मा स्वभाव से तो भगवान है ही, पर्याय में भी भगवान स्वयं ही बनता है, स्वाधीनपने ही बनता है, पर के सहयोग के बिना ही बनता है; अत: सर्वज्ञ भगवान स्वयंभू हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से भगवान है और उसमें पर्याय में भगवान बनने की सामर्थ्य है। काललब्धि आने पर सम्पूर्ण जगत से दृष्टि हटाकर अपने त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा का अनुभव कर, उसमें अपनापन स्थापित कर, उसे ही निजरूप जानकर, उसमें ही जम-रमकर जब यह आत्मा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होता है; तब पर्याय में भी परमात्मा बन जाता है।

अथ स्वायम्भुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथंचिदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति –

भंगविहूणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ ।।१७।।

भङ्गविहीनश्च भवः संभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः ।।१७।।

अस्य खल्वात्मनः शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भवः स पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भङ्गविहीनः। यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाशः स पुनरुत्पादाभावात्संभवपरि-

---

यहाँ प्रदर्शित निश्चयषट्कारक की प्रक्रिया यह बताती है कि इस आत्मा को पर्याय में परमात्मा बनने के लिए पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। यह भगवान आत्मा स्वयं ही कर्ता होकर शुद्धोपयोगरूप परिणमित होता है, स्वयं ही शुद्धोपयोगरूप कर्म (कार्य) को प्राप्त करता है, यह सब प्रक्रिया स्वयं के साधन से सम्पन्न होती है और यह सबकुछ स्वयं के लिए, स्वयं में से, स्वयं के आधार से ही होता है।।१६।।

१६ वीं गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि सर्वज्ञता को प्राप्त भगवान आत्मा स्वयं स्वयंभू है, स्वयं के पुरुषार्थ से ही इस स्थिति में पहुँचा है; अब यह बताते हैं कि **उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त इस अविनाशी स्वयंभू भगवान आत्मा ने व्यय से विहीन उत्पाद और उत्पाद रहित व्यय करने का महान कमाल कर दिखाया है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

यद्यपि उत्पाद बिन व्यय व्यय बिना उत्पाद है।
तथापि उत्पाद-व्यय-थिति का सहज समवाय है ।।१७।।

शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त भगवान आत्मा के विनाशरहित उत्पाद और उत्पादरहित विनाश है तथा उसी के स्थिति, उत्पाद और विनाश का समवाय भी विद्यमान है।

तात्पर्य यह है कि विनाशरहित उत्पाद और उत्पादरहित विनाश होने पर भी उस आत्मा के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यपना भी एकसाथ विद्यमान हैं।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"शुद्धोपयोग के प्रसाद से इस आत्मा के शुद्धात्मस्वभावरूप केवलज्ञान का उत्पाद, प्रलय का अभाव होने से विनाशरहित है और अशुद्धात्मस्वभावरूप मोह-राग-द्वेष का विनाश पुनः उत्पत्ति का अभाव होने से उत्पादरहित है। इससे यह कहा गया है कि उक्त आत्मा के

वर्जितः। अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम्। एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रतिषिध्यते, भङ्गरहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण च समवेतत्वात्।।१७।।

सिद्धरूप से अविनाशीपना है। – ऐसा होने पर भी उस आत्मा के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समवाय विरोध को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि विनाशरहित उत्पाद के साथ, उत्पादरहित विनाश के साथ और उन दोनों के आधारभूत द्रव्य के साथ वह आत्मा समवेत है, तन्मयता से युक्त है, एकमेक है।''

जिनागम में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है कि व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता और उत्पाद के बिना व्यय नहीं होता; तथापि यहाँ विरोधाभास अलंकार के माध्यम से यह कहा गया है कि हे स्वयंभू भगवान! आपने तो ऐसा गजब किया है कि व्यय के बिना उत्पाद और उत्पाद के बिना व्यय करके दिखा दिया है और सबसे बड़ी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त होती है – इस जगतप्रसिद्ध नियम को भी कायम रखा है।

उक्त गाथा के माध्यम से आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि शुद्धोपयोग के प्रताप से स्वयं सर्वज्ञता को प्राप्त स्वयंभू भगवान ने ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त किया कि जिसका अब अनंतकाल तक अभाव नहीं होगा और मोह-राग-द्वेष का ऐसा अभाव किया कि अब अनंतकाल तक उसका कभी उत्पाद नहीं होगा – ऐसा होने पर भी स्वयंभू भगवान में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की संयुक्तता सतत विद्यमान है।

वस्तुतः बात यह है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय परिणमित होती रहती है; अतः उसमें प्रति समय उत्पाद-विनाश भी होता ही रहता है। सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो केवलज्ञान पर्याय भी प्रतिसमय नष्ट होती है और प्रतिसमय नई-नई उत्पन्न होती है; तथापि स्थूलदृष्टि से देखने पर अगले समय उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञान भी पहले समय के केवलज्ञान जैसा ही होता है। अतः समानता के आधार पर यह कहा जाता है कि केवलज्ञान का नाश नहीं हुआ।

इसीप्रकार वीतरागी पर्याय का भी प्रतिसमय अभाव होता है; किन्तु अगली पर्याय भी वैसी ही वीतरागी होती है। अतः यह कहा जाता है कि राग-द्वेष का ऐसा नाश किया कि उसका फिर कभी उत्पाद नहीं होगा।

इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर यहाँ यह बात कही गई है कि राग का ऐसा नाश किया कि जिसका कभी उत्पाद नहीं होगा और सर्वज्ञता का ऐसा उत्पाद किया कि जिसका कभी नाश नहीं होगा तथा उसमें निरन्तर होनेवाला उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो विद्यमान ही है।।१७।।

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यंभावीति विभावयति –

उप्पादो ण विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो॥१८॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूतः॥१८॥

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा; पूर्वव्यवस्थितांगुलीयकादिपर्यायेण च विनाशः, पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम्; एवमखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम्।

अतः शुद्धात्मनोऽप्युत्पादादित्रयरूपं द्रव्यलक्षणभूतमस्तित्वमवश्यंभावि॥१८॥

अब १८ वीं गाथा में यह बताते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो प्रत्येक वस्तु का सहज स्वभाव है; इसलिए वह शुद्धात्मा में भी अवश्य होगा ही। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सभी द्रव्यों में सदा ही हो रहे उत्पाद-व्यय।
ध्रुव भी रहे प्रत्येक वस्तु रे किसी पर्याय से॥१८॥

सभी पदार्थों के किसी पर्याय से उत्पाद और किसी पर्याय से विनाश होता है तथा किसी पर्याय से सभी पदार्थ सद्भूत हैं, ध्रुव हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

“जिसप्रकार स्वर्ण की उत्तरपर्यायरूप बाजूबंद पर्याय से उत्पत्ति दिखाई देती है और पूर्वपर्यायरूप अंगूठी पर्याय से विनाश देखा जाता है तथा बाजूबंद और अंगूठी – दोनों ही पर्यायों में उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त नहीं होने से पीलापन पर्याय का ध्रुवत्व देखा जाता है।

उसीप्रकार सभी द्रव्यों के किसी पर्याय से उत्पाद, किसी पर्याय से व्यय और किसी पर्याय से ध्रौव्य होता है – ऐसा जानना चाहिए। उक्त कथन से यह प्रतिपादित हुआ कि शुद्ध आत्मा के भी द्रव्य का लक्षणभूत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप अस्तित्व अवश्यंभावी है।”

उक्त गाथा में वस्तु के उस स्वभाव का निरूपण है, जो प्रत्येक वस्तु का सहज स्वभाव है, मूलभूत स्वभाव है; क्योंकि सत् द्रव्य का लक्षण है और वह सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है।

एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ गुण और पर्याय – इन दोनों को ही पर्याय शब्द से अभिहित किया गया है। यद्यपि आगम में भी इसप्रकार के कथन आते ही हैं; तथापि आजकल इसप्रकार के प्रयोग कम ही होते हैं।

गुणों को सहभावी पर्याय और पर्यायों को क्रमभावी पर्याय आगम में कहा ही है। उसी को यहाँ मुख्य किया गया है। यही कारण है कि यहाँ इसप्रकार का प्रयोग हुआ है कि किसी पर्याय से वस्तु उत्पाद-व्ययरूप है और किसी पर्याय से ध्रुवरूप। **तात्पर्य यह है कि क्रमभावी पर्याय से वस्तु उत्पाद-व्ययरूप है और सहभावी पर्याय अर्थात् गुणों की अपेक्षा ध्रुव है।**

सब कुछ मिलाकर इस प्रकरण में यही कहा गया है कि सभी द्रव्यों के समान सिद्ध आत्मा भी, सर्वज्ञ आत्मा भी यद्यपि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त हैं; तथापि वे सदाकाल सिद्ध ही रहेंगे, संसारी कभी नहीं होंगे।।१८।।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसके बाद एक गाथा ऐसी प्राप्त होती है कि जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका में उपलब्ध नहीं होती। वह गाथा इसप्रकार है –

तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति।।१।।

(हरिगीत)

असुरेन्द्र और सुरेन्द्र को जो इष्ट सर्व वरिष्ठ हैं।
उन सिद्ध के श्रद्धालुओं के सर्व कष्ट विनष्ट हों।।१।।

जो सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ तथा देवेन्द्र और असुरेन्द्रों के इष्ट हैं; उन सिद्ध भगवान की श्रद्धा जो जीव करते हैं; उनके सभी दुःखों का क्षय हो जाता है।

उक्त गाथा में तो मात्र यही कहा गया है कि जिन सर्वज्ञ भगवान की, सिद्ध भगवान की यहाँ चर्चा चल रही है; वे सर्वश्रेष्ठ हैं, देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों को भी इष्ट हैं और जो व्यक्ति उनके स्वरूप को सही रूप में जानकर-पहिचान कर उनकी श्रद्धा करते हैं; उनके सभी कष्ट नष्ट हो जाते हैं।।१।।

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह स्वयंभू भगवान आत्मा शुद्धोपयोग के प्रभाव से इन्द्रियातीत हो गया है, उसके ज्ञान और आनन्द भी अतीन्द्रिय हो गये हैं। वह अनन्तज्ञान और अनन्तसुख से सम्पन्न हो गया है।

अथास्यात्मनः शुद्धोपयोगानुभावात्स्वयंभुवो भूतस्य कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति संदेहमुदस्यति। अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखदुःखं नास्तीति विभावयति।

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि।।१९।।

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं।।२०।।

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजाः।
जातोऽतीन्द्रियः स ज्ञानं सौख्यं च परिणमति।।१९।।
सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम्।
यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात्तु तज्ज्ञेयम्।।२०।।

ऐसी स्थिति में इन्द्रियों से ही ज्ञान और आनन्द की उत्पत्ति माननेवाले अज्ञानीजनों को यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि शुद्धोपयोग के प्रभाव से स्वयंभू हुए इस भगवान आत्मा को बिना इन्द्रियों के ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

इन गाथाओं में उक्त आशंका का सतर्क समाधान करते हुए अतीन्द्रिय होने से शुद्धात्मा में शारीरिक सुख-दुःख नहीं हैं – यह बताया गया है।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अतीन्द्रिय हो गये जिनके ज्ञान सुख वे स्वयंभू।
जिन क्षीणघातिकर्म तेज महान उत्तम वीर्य हैं।।१९।।
अतीन्द्रिय हो गये हैं जिन स्वयंभू बस इसलिए।
केवली के देहगत सुख-दुःख नहीं परमार्थ से।।२०।।

जिनके घातिकर्म क्षय हो चुके हैं; जो अतीन्द्रिय हो गये हैं, जिनका तेज अधिक और वीर्य उत्तम है; ऐसे वे स्वयंभू भगवान आत्मा ज्ञान और सुखरूप परिणमन करते हैं।

१९वीं गाथा का अर्थ ऐसा भी किया जा सकता है कि *जिनके घातिकर्म क्षय हो चुके हैं, जिनका तेज अधिक और वीर्य उत्तम है; उन स्वयंभू भगवान के ज्ञान और सुख अतीन्द्रिय हो गये हैं।*

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनासंपृक्तत्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः, कृत्स्नज्ञानदर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजाः, समस्तमोहनीयाभावादत्यन्तनिर्विकारचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन् स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते। एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव। स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ संभवतः ।।१९।।

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस एव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरम्परास्थानीयं शरीरगतं सुखदुःखं न स्यात् ।।२०।।

केवलज्ञानी के शरीर संबंधी सुख-दुःख नहीं होते; क्योंकि उनके ज्ञान और आनन्द में अतीन्द्रियता उत्पन्न हो गई है।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से जिसके घातिकर्म क्षय हो गये हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन के साथ असंपृक्त (सम्पर्क रहित) होने से जो अतीन्द्रिय हो गया है, समस्त अन्तराय का क्षय होने से जिसका उत्तम वीर्य है और समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण का प्रलय हो जाने से जिसका केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक तेज अधिक है; ऐसा यह स्वयंभू आत्मा समस्त मोहनीय कर्म के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वभाववाले आत्मा का अनुभव करता हुआ स्वयमेव स्वपरप्रकाशकता लक्षण ज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुखरूप होकर परिणमित होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान और आनन्द आत्मा का स्वभाव ही हैं। चूँकि स्वभाव पर से निरपेक्ष होता है; इसलिए आत्मा के ज्ञान और आनन्द भी निरपेक्ष ही होते हैं, उन्हें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है, देह की अपेक्षा नहीं है; वे पूर्णतः स्वाधीन हैं। आत्मा को सुखरूप और ज्ञानरूप परिणमित होने के लिए पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है, आवश्यकता नहीं है।

जिसप्रकार तप्त लोहपिण्ड के विलास से अग्नि भिन्न ही है; उसीप्रकार शुद्ध आत्मा के इन्द्रियाँ नहीं हैं, शरीर नहीं है। इसलिए जिसप्रकार लोहे के गोले से भिन्न अग्नि को घन के घात नहीं सहने पड़ते; उसीप्रकार शुद्ध आत्मा के शरीर संबंधी सुख-दुःख नहीं होते।"

१९वीं गाथा में घातिया कर्मों के अभाव में उत्पन्न होनेवाले अनन्त चतुष्टय की चर्चा की गई है और २०वीं गाथा में यह कहा गया है कि सर्वज्ञ भगवान के देहगत अर्थात् इन्द्रियजनित सुख-दुःख नहीं होते; क्योंकि वे अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमित हो गये हैं।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए यहाँ टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के अभाव से अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन के अभाव से अथवा

इन्द्रियज्ञान-दर्शन के अभाव से केवलज्ञानी व केवलदर्शनी अथवा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन वाला तथा अन्तराय कर्म के अभाव से अनंतवीर्य का धनी यह स्वयंभू भगवान आत्मा मोहनीय कर्म के अभाव के कारण निज चैतन्य तत्त्व का अनुभव करता हुआ स्वयं स्वभाव से ही स्वपरप्रकाशक ज्ञान और अनाकुललक्षण सुखरूप परिणमित होता है। अत: वह निरपेक्षभाव से अनन्तज्ञान और अनन्तसुखमय है। अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि **स्वभाव ही उसे कहते हैं कि जिसमें पर की अपेक्षा न हो। यही कारण है कि शुद्धोपयोग से घातिकर्मों के अभाव होते ही यह आत्मा इन्द्रियों के बिना ही स्वाभाविकरूप से स्वयं ही ज्ञान और आनन्दरूप से परिणमित हो जाता है।**

अब यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि यह कैसे हो सकता है; क्योंकि अरहंत भगवान के देह विद्यमान है, इन्द्रियाँ विद्यमान हैं; इसकारण उनके देहगत इन्द्रिय सुख-दुःख तो होना ही चाहिए ? इसी प्रश्न के उत्तर में २०वीं गाथा लिखी गई है। इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य अमृतचन्द्र ने अग्नि से तप्त लोहपिण्ड से भिन्न अग्नि का उदाहरण दिया है।

अग्नि से संतप्त लोहा यद्यपि अग्निमय दिखाई देता है, तथापि उस तप्तलोहे में लोहा और अग्नि अपने-अपने स्वभाव से भिन्न-भिन्न ही हैं, जिसप्रकार घन के घात पड़ने से लोहा तुड़-मुड़ जाता है, किन्तु अग्नि को कुछ नहीं होता। उसीप्रकार अरहंत अवस्था में देह और आत्मा एक क्षेत्रावगाही होने पर भी स्वभाव से भिन्न-भिन्न ही हैं। यही कारण है कि अरहंत भगवान को देहजन्य सुख-दुख नहीं होते।

ये शुद्धोपयोगाधिकार की अंतिम गाथायें हैं। इसके उपरान्त अब क्रमश: ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार आरंभ होंगे। आगामी अधिकारों की विषयवस्तु का संकेत इन गाथाओं में आ गया है। इन गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि अरहंत भगवान के चार घातिया कर्मों के नाश हो जाने से उनके ज्ञान और सुख अतीन्द्रियपने को प्राप्त हो गये हैं; इसकारण उनके पुण्य-पाप के उदय में होनेवाले देहगत सुख-दुःख नहीं होते।

वे स्वयंभू सर्वज्ञ भगवान अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द और क्षायिकभावरूप अनंतज्ञान के धारी हो गये हैं। उनका वह अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुख कैसा है ? इस बात का विशेष वर्णन आगामी अधिकारों में स्वतंत्ररूप से किया जायेगा।

ज्ञानाधिकार में अतीन्द्रियज्ञान (सर्वज्ञता) और सुखाधिकार में अतीन्द्रिय अनंतसुख का निरूपण विस्तार से किया जायेगा॥१९-२०॥

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अंतर्गत शुद्धोपयोगाधिकार समाप्त होता है।

* * *

ज्ञानाधिकार

(गाथा २१ से गाथा ५२ तक)

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वयेनाभिदधाति।
तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति विभावयति।
अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति –

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणादि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ।।२१।।
णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ।।२२।।

परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षाः सर्वद्रव्यपर्यायाः।
स नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः ।।२१।।

मंगलाचरण

(दोहा)

सभी द्रव्य झलकें सदा मनहु आँवला हाथ।
अरे अतीन्द्रियज्ञान में गुण-पर्यय के साथ ।।

शुद्धोपयोगाधिकार के अन्त में जिस अनन्तज्ञान और अनन्तसुख की बात की है अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख की बात की है; उनके संदर्भ में विस्तार से समझने के लिए अब क्रमशः ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार की बात करते हैं।

यद्यपि इन अधिकारों का नाम तो ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार ही है; तथापि इनमें ज्ञान और सुख गुणों की चर्चा न होकर अतीन्द्रिय ज्ञान (केवलज्ञान-सर्वज्ञता) और अतीन्द्रिय सुख (अनंतसुख) की चर्चा है।

पहले ज्ञान अधिकार आरंभ करते हुए सर्वप्रथम २१वीं और २२वीं गाथाओं के माध्यम से यह बताते हैं कि केवली भगवान के ज्ञान में सभी पदार्थ प्रत्यक्षरूप से ज्ञात होते हैं, उनके कुछ भी परोक्ष नहीं है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

केवली भगवान के सब द्रव्य गुण-पर्याययुत।
प्रत्यक्ष हैं अवग्रहादिपूर्वक वे उन्हें नहीं जानते ।।२१।।
सर्वात्मगुण से सहित हैं अर जो अतीन्द्रिय हो गये।
परोक्ष कुछ भी है नहीं उन केवली भगवान के ।।२२।।

नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य।
अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ।।२२।।

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ।।२१।।

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधानहेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षममनश्वरं लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ।।२२।।

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति –

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।।२३।।

ज्ञानरूप से परिणमित हुए केवली भगवान के सर्वद्रव्य और उनकी सभी पर्यायें प्रत्यक्ष हैं; वे उन्हें अवग्रहादि क्रियाओं से नहीं जानते। जो सदा इन्द्रियातीत हैं, सर्व ओर से सर्वात्मगुणों से समृद्ध हैं और स्वयमेव ज्ञानरूप हुए हैं; उन केवली भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"केवली भगवान इन्द्रियों के आलम्बन से अवग्रह-ईहा-अवायपूर्वक क्रम से नहीं जानते; अपितु समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही अनादि-अनंत, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानरूप होकर परिणमित होते हैं; इसलिए उनके समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों का अक्रमिक ग्रहण होने से प्रत्यक्षज्ञान की आलम्बनभूत समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही जो भगवान सांसारिक ज्ञान को उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में हेतुभूत ऐसी जो अपने-अपने निश्चित विषयों को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों से अतीत हुए हैं; जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के ज्ञानरूप सर्व इन्द्रियगुणों से सर्व ओर से समरसरूप से समृद्ध हैं अर्थात् सभी स्पर्शादि को सर्वात्मप्रदेशों से जानते हैं और जो स्वयमेव समस्तरूप से स्वपर का प्रकाशन करने में समर्थ, अविनाशी, लोकोत्तर ज्ञानरूप हुए हैं; ऐसे इन केवली भगवान को समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अक्रमिक ग्रहण होने से कुछ भी परोक्ष नहीं है।"

आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम्।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम्।।२३।।

आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणः, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं; ज्ञेयं तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोत्पादध्रौव्या षड्द्रव्यी सर्वमिति यावत्।

ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोकालोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात् ज्ञानं सर्वगतम्।।२३।।

उक्त गाथाओं का मूल वजन इस बात पर है कि केवलज्ञानी भगवान स्व और पर सभी पदार्थों को, उनकी भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों के साथ एक समय में वर्तमानवत् ही प्रत्यक्ष जानते हैं; क्योंकि स्वयं के आत्मा के आश्रय से उत्पन्न उनका स्वपरप्रकाशक केवलज्ञान इन्द्रियाधीन नहीं है, परोक्ष नहीं है; अतीन्द्रिय है और पूर्णतः स्वाधीन है।।२१-२२।।

ज्ञानाधिकार की आरंभिक २१ एवं २२वीं गाथाओं में यह कहा गया है कि केवलज्ञानी सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं और अब यह कहा जा रहा है कि **आत्मा ज्ञानप्रमाण है और लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान सर्वगत है; क्योंकि ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है।
हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है।।२३।।

आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोक और अलोक हैं; इसलिए ज्ञान सर्वगत (सर्वव्यापक) है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"समगुणपर्यायं द्रव्यं अर्थात् युगपद् सभी गुण और पर्यायें ही द्रव्य हैं – इस वचन के अनुसार ज्ञान से हीनाधिकता रहित रूप से परिणमित होने के कारण आत्मा ज्ञानप्रमाण है और दाह्यनिष्ट दहन (अग्नि) के समान ज्ञेयनिष्ट होने से ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। अनन्त पर्यायमाला से आलिंगित स्वरूप से सूचित, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, षट्द्रव्यमयी लोक और अलोक के विभाग से विभक्त सभी कुछ ज्ञेय है।

इसलिए सम्पूर्ण आवरण के क्षय के क्षण ही लोक और अलोक के विभाग से विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करने के कारण इसीप्रकार अच्युत रूप से रहने से ज्ञान सर्वगत है।"

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति –

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ।।२४।।
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं जाणादि ।।२५।।

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा।
हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ।।२४।।
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतनं न जानाति।
अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथं जानाति ।।२५।।

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि ज्ञान सबकुछ जानता है; अत: ज्ञान सर्वगत है। इसी बात को ऐसे भी कहा जा सकता है कि सभी जगत ज्ञानगत है; क्योंकि वह ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। लोकालोक को जानने से ज्ञान लोकालोक में पहुँच गया – ऐसा कहो या लोकालोक ज्ञान में आ गया – ऐसा कहो, दोनों एक-सी ही बातें हैं।

ज्ञेय-ज्ञायकरूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से उक्त कथन व्यवहारनय का ही कथन है। परमार्थ से देखें तो न तो ज्ञान ज्ञेयों के पास जाता है और न ज्ञेय ज्ञान के पास आते हैं।

दोनों अपनी-अपनी जगह पर रहते हुए ही ज्ञान ज्ञेयों को जान लेता है और ज्ञेय ज्ञान के जानने में आ जाते हैं। वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है ।।२३।।

विगत गाथा में आत्मा को ज्ञानप्रमाण और ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण बताया गया है। अब इन २४ और २५ वीं गाथाओं में उसी बात को युक्ति से सिद्ध करते हैं। **आत्मा को ज्ञानप्रमाण न मानने में दो पक्ष प्रस्तुत कर उक्त मान्यता का निराकरण करते हैं।**

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अरे जिनकी मान्यता में आत्म ज्ञानप्रमाण ना।
तो ज्ञान से वह हीन अथवा अधिक होना चाहिए ।।२४।।
ज्ञान से हो हीन अचेतन ज्ञान जाने किसतरह।
ज्ञान से हो अधिक जिय किसतरह जाने ज्ञान बिन ।।२५।।

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदात्मनोऽतिरिच्यमानं ज्ञानं स्वाश्रयभूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति।

यदि पुनर्ज्ञानादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादिस्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति।

ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्यः ॥२४-२५॥

इस जगत में जिसके मत में आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं है; उसके मत में वह आत्मा अवश्य ही या तो ज्ञान से हीन (छोटा) होगा या फिर ज्ञान से अधिक (बड़ा) होगा।

यदि वह आत्मा ज्ञान से हीन (छोटा) हो तो वह ज्ञान अचेतन होने से जान नहीं सकेगा और अधिक (बड़ा) हुआ तो वह आत्मा, ज्ञान के बिना कैसे जानेगा ?

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यदि यह स्वीकार किया जाय कि आत्मा ज्ञान से हीन है तो आत्मा से आगे बढ़ जानेवाला ज्ञान अपने आश्रयभूत चेतनद्रव्य का समवाय (संबंध) न रहने से अचेतन होता हुआ रूपादि गुणों जैसा अचेतन होने से नहीं जानेगा।

यदि ऐसा पक्ष स्वीकार किया जावे कि यह आत्मा ज्ञान से अधिक है तो ज्ञान से आगे बढ़ जाने से ज्ञान से रहित होता हुआ आत्मा, घट-पटादि जैसा होने से ज्ञान के बिना नहीं जानेगा।

इसलिए यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना योग्य है।''

सीधी-सी बात है कि यदि आत्मा ज्ञान के बराबर नहीं है तो या तो वह ज्ञान छोटा होगा या फिर बड़ा होगा। छोटा होने की स्थिति में ज्ञान का वह अंश कि जिसको चेतन आत्मा का आश्रय प्राप्त नहीं है, उसे अचेतनत्व का प्रसंग आयेगा। उक्त ज्ञानांश को अचेतन मानने पर वह जानेगा कैसे ? क्योंकि जानना तो चेतन द्रव्य का ही काम है।

यदि आत्मा ज्ञान से बड़ा होगा तो फिर आत्मा का जो अंश ज्ञान से रहित होगा, वह जानने का काम कैसे करेगा? अतः यही उचित है कि आत्मा को ज्ञानप्रमाण ही स्वीकार किया जाये।

सबकुछ मिलाकर इन गाथाओं में यही कहा गया है कि सभी द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों का क्षेत्र एक ही होता है, एक जैसा ही होता हैं, बराबर ही होता है। आत्मा भी एक द्रव्य है; अतः वह, उसका ज्ञानगुण और उसकी केवलज्ञान पर्याय का क्षेत्र भी एक ही है, समान ही है, बराबर ही है। आत्मा के ज्ञानगुण की केवलज्ञान पर्याय लोकालोक को जानती है; इसकारण उसे सर्वगत कहा गया है। जब वह सर्वगत है तो उसका आधारभूत ज्ञानगुण और आत्मद्रव्य भी सर्वगत ही होना चाहिए। इसी आधार पर यह कहा गया है कि आत्मद्रव्य, उसका ज्ञानगुण और उसकी केवलज्ञानपर्याय सर्वगत है।

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति –

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ।।२६।।

सर्वगतो जिनवृषभः सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्थाः।
ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिताः ।।२६।।

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव। एवं सर्वगतज्ञानविषयात्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति।

तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञान-

---

उक्त स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अलोकाकाश में आत्मा जाता ही नहीं है; जा ही नहीं सकता है तो फिर ज्ञान को सर्वगत कैसे माना जा सकता है ?

इसी के उत्तर में यह स्पष्ट किया गया है कि निश्चय से तो ज्ञान आत्मगत ही है, किन्तु व्यवहार से लोकालोक को जानने के कारण उसे सर्वगत भी कहा जाता है ।।२४-२५ ।।

विगत गाथाओं में युक्ति और आगम से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है; इसलिए ज्ञान सर्वगत है और अब इस गाथा में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि **ज्ञान के समान आत्मा भी सर्वगत है, जिनवरदेव भी सर्वगत हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

हैं सर्वगत जिन और सर्व पदार्थ जिनवरगत कहे।
जिन ज्ञानमय बस इसलिए सब ज्ञेय जिनके विषय हैं ।।२६।।

जिनवर सर्वगत हैं और जगत के सर्वपदार्थ जिनवरगत हैं; क्योंकि जिन ज्ञानमय हैं और वे सभी पदार्थ ज्ञान के विषय होने से जिन के विषय कहे गये हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"त्रिकाल के सर्व द्रव्य-पर्यायरूप प्रवर्तमान समस्त ज्ञेयाकारों को जानने के कारण ज्ञान को सर्वगत कहा गया है और सर्वगत ज्ञानमय होने से भगवान भी सर्वगत हैं। सर्वपदार्थ सर्वगत ज्ञान के विषय होने से वे सर्वगत ज्ञान से अभिन्न भगवान के विषय हैं – ऐसा शास्त्रों में कहा है; इसलिए सर्वपदार्थ भगवानगत ही हैं। इसप्रकार भगवान सर्वगत हैं और सर्व पदार्थ भगवानगत हैं।

स्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते। तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात्।

अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ।।२६।।

निश्चयनय से अनाकुलतालक्षण सुख के संवेदन के अधिष्ठानरूप आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्व है। तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ सुख का संवेदन है, वहाँ-वहाँ ही ज्ञान है। ज्ञान और आनन्द का अधिष्ठान एक ही आत्मा है। उक्त निजस्वरूप आत्मप्रमाण ज्ञान को छोड़े बिना और समस्त ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना भगवान सर्व पदार्थों को जानते हैं।

निश्चयनय से ऐसा होने पर भी व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि भगवान सर्वगत हैं और नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारों को आत्मस्थ देखकर ऐसा उपचार से कहा जाता है कि सर्व पदार्थ आत्मगत हैं; परन्तु परमार्थतः उनका एक-दूसरे में गमन नहीं होता; क्योंकि सर्व द्रव्य स्वरूपनिष्ठ हैं, अपने-अपने में निश्चल अस्खलित हैं।

यही क्रम ज्ञान में भी निश्चित करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार आत्मा और ज्ञेयों के संबंध में निश्चय-व्यवहार से कहा गया है; उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञेयों पर भी घटित कर लेना चाहिए।''

वस्तुतः बात यह है कि ज्ञान आत्मा के असंख्य प्रदेशों के बाहर नहीं जाता और आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों के साथ संसारावस्था में प्राप्त देह के आकार में ही रहता है और सिद्धावस्था में किंचित्न्यून अंतिम देह के आकार में रहता है।

ज्ञेय सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं और अलोकाकाश भी ज्ञेय है। उक्त सभी ज्ञेयों को सर्वज्ञ भगवान जानते हैं। इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान या सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान देहप्रमाण सीमा में रहकर भी सारे लोकालोक के ज्ञेयों को सहजभाव से जानता है और सभी ज्ञेय उनके ज्ञान में सहजभाव से झलकते हैं, जाने जाते हैं।

आत्मवस्तु का, उसके ज्ञानस्वभाव का, उसकी ज्ञानपर्याय का और सम्पूर्ण ज्ञेयों का ऐसा ही सहज स्वभाव है कि आत्मा, ज्ञान या उसकी ज्ञानपर्याय अपने में सीमित रहकर भी दूरस्थ सभी ज्ञेयों को जान लेती है और दूरस्थ ज्ञेय भी स्वस्थान को छोड़े बिना ही ज्ञान के विषय बन जाते हैं।

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति –

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा।।२७।।

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम्।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा।।२७।।

यतः शेषसमस्तचेतनाचेतनवस्तुसमवायसम्बन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसम्बन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति,

---

इसी स्थिति को नयों की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि **निश्चयनय से आत्मा व ज्ञान आत्मगत है और व्यवहारनय से सर्वगत है। इसीप्रकार निश्चयनय से सभी ज्ञेय स्वगत (ज्ञेयगत) हैं और व्यवहारनय से ज्ञानगत हैं, आत्मगत हैं।**

इसप्रकार भगवान आत्मा और लोकालोक में सहज ही ज्ञाता-ज्ञेयरूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध है और निमित्त-नैमित्तिक संबंधी जो भी कथन होता है, वह सभी असद्भूतव्यवहारनय के विषय में आता है।।२६।।

विगत गाथा में यह कहा गया है कि जिनवर अर्थात् आत्मा सर्वगत है और सर्वपदार्थ जिनवरगत अर्थात् आत्मगत हैं; क्योंकि सभी पदार्थ आत्मा के द्वारा जाने जाते हैं।

अब इस २७ वीं गाथा में **आत्मा और ज्ञान में कथंचित् एकत्व है और कथंचित् अन्यत्व है; यह सिद्ध करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

रे आतमा के बिना जग में ज्ञान हो सकता नहीं।
है ज्ञान आतम किन्तु आतम ज्ञान भी है अन्य भी।।२७।।

ज्ञान आत्मा है – ऐसा जिनवरदेव का मत है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में ज्ञान नहीं होता; इसलिए ज्ञान आत्मा है। ज्ञान तो आत्मा है, परन्तु आत्मा मात्र ज्ञान नहीं है; अपितु ज्ञानगुण द्वारा ज्ञान है और सुखादि अन्य गुणों द्वारा अन्य भी है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"शेष समस्त चेतन और अचेतन वस्तुओं के साथ समवाय (तादात्म्य) संबंध नहीं होने से और आत्मा के साथ अनादि-अनंत स्वभावसिद्ध समवाय संबंध होने से, आत्मा का अति

ततो ज्ञानमात्मैव स्यात्। आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात्।

किं चानेकान्तोऽत्र बलवान्। एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात्। सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात्॥२७॥

निकटता से अवलम्बन करके प्रवर्तमान होने से और आत्मा के बिना अपना अस्तित्व ही नहीं रख पाने के कारण ज्ञान आत्मा ही है तथा आत्मा तो अनंत धर्मों का अधिष्ठान होने से ज्ञान धर्म द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्मों द्वारा अन्य भी है।

दूसरी बात यह है कि यहाँ अनेकान्त बलवान है; क्योंकि यदि ऐसा माना जाय कि एकान्त से ज्ञान ही आत्मा है तो ज्ञानगुण और आत्मद्रव्य एक हो जाने से ज्ञानगुण का अभाव हो जायेगा, इसकारण आत्मा अचेतन हो जावेगा अथवा विशेषगुण का अभाव होने से आत्मा का ही अभाव हो जावेगा।

यदि यह माना जाय कि आत्मा सर्वथा ज्ञान है तो आत्मद्रव्य के एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से ज्ञान का कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में निराश्रयता के कारण ज्ञान का अभाव हो जावेगा अथवा आत्मद्रव्य के एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से आत्मा की शेष पर्यायों (सुख-वीर्यादिगुणों) का अभाव हो जायेगा और उनके साथ अविनाभावी संबंधवाले आत्मा का भी अभाव हो जायेगा।''

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण का सार यही है कि आत्मा ज्ञानादि अनंतगुणों का अखण्डपिण्ड है, अनंतगुणमय अभेद वस्तु है। आत्मा के अनन्तगुणों में ज्ञान भी एक गुण है; इसकारण यह कहा जाता है कि ज्ञान आत्मा है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि सुख आत्मा है, श्रद्धा आत्मा है, चारित्र आत्मा है; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा ज्ञान है, क्योंकि आत्मा अकेला ज्ञान ही नहीं है, सुखादिरूप भी है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञानरूप तो है; किन्तु आत्मा ज्ञानरूप ही नहीं है, सुखरूप भी है, श्रद्धारूप भी है, दर्शनरूप भी है, चारित्ररूप भी है; अनन्त गुणोंरूप है।

इसप्रकार एक अपेक्षा से ज्ञान और आत्मा एक ही हैं और दूसरी अपेक्षा से ज्ञान आत्मा का एक गुण है और आत्मा ज्ञान जैसे अन्य सुखादि अनन्त गुणों का अखण्डपिण्ड है।

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति। अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्योतयति –

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति॥२८॥

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं॥२९॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः।
रूपाणीव चक्षुषोः नैवान्योन्येषु वर्तन्ते॥२८॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम्॥२९॥

इसप्रकार आत्मा और ज्ञान अन्य-अन्य भी हैं और अनन्य भी हैं॥२७॥

विगत २७ वीं गाथा में यह समझाया गया है कि ज्ञान और आत्मा कथंचित् अनन्य हैं और कथंचित् अन्य-अन्य हैं। अब २८वीं गाथा में यह समझाया जा रहा है कि ज्ञान ज्ञेयों में प्रवेश नहीं करता और ज्ञेय भी ज्ञान में नहीं आते। २९वीं गाथा में उस शक्तिवैचित्र्य को स्पष्ट करते हैं कि जिसके कारण आत्मा में अप्रवृत्त परपदार्थों का प्रवृत्त होना सिद्ध होता है।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

रूप को ज्यों चक्षु जाने परस्पर अप्रविष्ठ रह।
त्यों आत्म ज्ञानस्वभाव अन्य पदार्थ उसके ज्ञेय हैं॥२८॥

प्रविष्ठ रह अप्रविष्ठ रह ज्यों चक्षु जाने रूप को।
त्यों अतीन्द्रिय आतमा भी जानता सम्पूर्ण जग॥२९॥

जिसप्रकार रूपी पदार्थ नेत्रों के ज्ञेय हैं; उसीप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा के सभी पदार्थ ज्ञेय हैं; फिर भी वे ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करते।

जिसप्रकार चक्षु रूप में अप्रविष्ट रहकर और अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है; उसीप्रकार आत्मा इन्द्रियातीत होता हुआ सम्पूर्ण जगत को उसमें अप्रविष्ट रहकर और अप्रविष्ट न रहकर निरन्तर जानता-देखता है।

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति, किंतु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसम्बन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षुरूपवत्। यथा हि चक्षूंषि तद्विषयभूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ।।२८।।

यथा हि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्टं परिच्छेद्यमाकरमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति पश्यति च; एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्नप्रविष्टः शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो पश्यति च। एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ।।२९।।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"यद्यपि आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्व के कारण एक-दूसरे में प्रवृत्त नहीं होते; तथापि उनके नेत्र और रूपी पदार्थ की भांति ज्ञान-ज्ञेय स्वभावसंबंध से होनेवाली एक-दूसरे में प्रवृत्ति पाई जाती है।

जिसप्रकार नेत्र और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही ज्ञेयाकारों को ग्रहण और समर्पण करने के स्वभाववाले हैं; उसीप्रकार आत्मा और पदार्थ एक-दूसरे में प्रविष्ठ हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने और समर्पण करने के स्वभाववाले हैं।

जिसप्रकार चक्षु रूपी द्रव्यों को स्वप्रदेशों के द्वारा अस्पर्श करती हुई अप्रविष्ठ रहकर तथा ज्ञेय आकारों को आत्मसात करते हुए अप्रविष्ठ न रहकर जानती-देखती है; उसीप्रकार आत्मा भी इन्द्रियातीतता के कारण प्राप्यकारिता की विचारगोचरता से दूर होता हुआ (प्राप्यकारी नहीं होने पर) ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओं को स्वप्रदेशों से अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ठ रहकर तथा शक्तिवैचित्र्य के कारण वस्तु में वर्तते समस्त ज्ञेयाकारों को मानो मूल से ही उखाड़कर ग्रास कर लेने से अप्रविष्ठ न रहकर जानता-देखता है। इसप्रकार इस विचित्रशक्तिवाले आत्मा के पदार्थों में अप्रवेश की भांति प्रवेश भी सिद्ध होता है।।"

उक्त गाथाओं में मात्र यही कहा गया है कि जिसप्रकार जब हम आँखों से देखते-जानते हैं, तब न तो आँखों को रूपी पदार्थों के पास जाना पड़ता है और न पदार्थों को ही आँखों में प्रवेश करना पड़ता है; आँखें और पदार्थ दोनों अपनी-अपनी जगह रहते हुए भी हम आँखों से पदार्थों को देख लेते हैं, जान लेते हैं और पदार्थ भी हमारे देखने-जानने में आ जाते हैं।

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति। अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति –

रयणमिह इन्दणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्ठेसु।।३०।।
जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा।।३१।।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अग्नि को जानने से आँखें जलती नहीं हैं।

इसीप्रकार की स्थिति ज्ञान की भी है। ज्ञेय पदार्थों को जानने के लिए ज्ञान को न तो किन्हीं ज्ञेय पदार्थों के पास जाना पड़ता है और न वे ज्ञेय पदार्थ ही ज्ञान में प्रविष्ठ होते हैं; दोनों के अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहने पर भी ज्ञान ज्ञेय पदार्थों को जान लेता है और ज्ञेय पदार्थ ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि ज्ञेयों को जानने से ज्ञान में कुछ भी विकृति उत्पन्न नहीं होती तथा ज्ञेयों पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।।२८-२९ ।।

विगत २८ व २९वीं गाथाओं में यह कहा गया है कि यद्यपि निश्चयनय से ज्ञान (आत्मा) अपने असंख्यात प्रदेशों में ही रहता है; तथापि वह व्यवहारनय से सर्वगत भी है।

इसीप्रकार यह भी कहा गया है कि यद्यपि निश्चयनय से ज्ञेय ज्ञेयगत ही हैं; तथापि व्यवहारनय से वे ज्ञानगत भी हैं; आत्मगत भी हैं।

अब इन ३० व ३१वीं गाथाओं में उसी बात को अर्थात् ज्ञान ज्ञेयों में और ज्ञेय ज्ञान में वर्तते हैं – इसी बात को सयुक्ति सिद्ध करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्यों दूध में है व्याप्त नीलम रत्न अपनी प्रभा से।
त्यों ज्ञान भी है व्याप्त रे निश्शेष ज्ञेय पदार्थ में।।३०।।
वे अर्थ ना हों ज्ञान में तो ज्ञान न हो सर्वगत।
ज्ञान है यदि सर्वगत तो क्यों न हों वे ज्ञानगत।।३१।।

जिसप्रकार इस जगत में दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा से उस दूध में व्याप्त होकर वर्तता है; उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयपदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है। यदि वे पदार्थ ज्ञान में न हों तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता और यदि ज्ञान सर्वगत है तो पदार्थ ज्ञानगत कैसे नहीं हैं ?

रत्नमिहेन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा।
अभिभूय तदपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु।।३०।।
यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने ज्ञानं न भवति सर्वगतम्।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिता अर्थाः।।३१।।

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारनभिव्याप्य वर्तमानं, कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते।।३०।।

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णाः सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत। अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम् तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमिकावतीर्ण (प्रति) बिम्बस्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि परम्परया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते।।३१।।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसप्रकार दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा से दूध में व्याप्त दिखाई देता है; उसीप्रकार संवेदन अर्थात् ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होने से कर्ता अंश से आत्मा को प्राप्त होता हुआ ज्ञानरूप करण अंश के द्वारा कारणभूत पदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों में व्याप्त हुआ वर्तता है; इसलिए कार्य में कारण का (ज्ञेयाकारों में पदार्थों का) उपचार करके यह कहने में कोई विरोध नहीं आता कि ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।

यदि समस्त स्वज्ञेयाकारों के समर्पण द्वारा ज्ञान में अवतरित होते हुए समस्त पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जा सकता। यदि वह ज्ञान सर्वगत माना जाता है तो फिर साक्षात् ज्ञानदर्पण में अवतरित प्रतिबिम्ब की भांति अपने-अपने ज्ञेयाकारों के कारण होने से और परम्परा से प्रतिबिंब के समान ज्ञेयाकारों के कारण होने से पदार्थ ज्ञानस्थित निश्चित कैसे नहीं होते अर्थात् पदार्थ ज्ञानस्थित हैं ही।"

यहाँ आत्मा को कर्ता और ज्ञान को करणरूप में प्रस्तुत किया गया है तथा आत्मा और ज्ञान – दोनों को ही पदार्थों में व्याप्त कहा गया है अर्थात् उन्हें सर्वगत कहा गया है।

आत्मा ज्ञान द्वारा पदार्थों को जानता है; इसे ही 'आत्मा सर्वगत है और ज्ञान सर्वगत है' – ऐसा कहा जाता है। कर्ता की अपेक्षा आत्मा को सर्वगत कहा जाता है और करण की अपेक्षा ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है।

इस बात को यहाँ दूध में पड़े हुए इन्द्रनील रत्न का उदाहरण देकर समझाया गया है।

इन्द्रनील रत्न नीले रंग का होता है। उसका ऐसा स्वभाव है कि यदि उसे दूध में डाल दें तो उसकी प्रभा से सम्पूर्ण दूध नीला दिखाई देने लगता है। इसे ही ऐसा कहा जाता है कि दूध नीला हो गया। गहराई से देखें तो दूध नीला नहीं हुआ है, दूध तो सफेद ही है; क्योंकि यदि दूध में से रत्न को निकाल लिया जाय तो दूध सफेद ही दिखाई देगा।

इसका तात्पर्य यही है कि इन्द्रनील रत्न के डूबे होने पर भी दूध तो सफेद ही था; फिर भी लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण दूध नीला हो गया है।

रत्न रत्न में है और दूध दूध में है तथा रत्न और दूध – दोनों ही संयोग के काल में भी अविकृत (अपने-अपने रूप) ही रहे हैं; तथापि रत्न की प्रभा से दूध रत्न के समान नीला दिखाई देता है। इसकारण व्यवहारनय से दूध को नीला कह दिया जाता है और उस रत्न की प्रभा सम्पूर्ण दूध में फैल गई कही जाती है।

इसीप्रकार ज्ञान में ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं तो ज्ञान ज्ञेयाकार दिखाई देने लगता है। यद्यपि ज्ञेयों को जानते समय भी ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है, ज्ञेयरूप नहीं होता और ज्ञेय ज्ञेयरूप रहते हैं, ज्ञानरूप नहीं होते; तथापि ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं; इसकारण ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है और वे ज्ञेय ज्ञान में आ गये कहे जाते हैं।

पदार्थों का स्वयं का स्वरूप है बिंब और दर्पण में झलकता हुआ उनका रूप है प्रतिबिम्ब। प्रतिबिम्ब का निमित्त तो बिम्ब है, पर उपादान तो दर्पण ही है; क्योंकि दर्पण में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब दर्पण की अवस्थाएँ हैं।

इसीप्रकार ज्ञेय पदार्थों का जो भी स्वरूप है, वह तो उनका स्वयं का ही है; परन्तु ज्ञान दर्पण में जानने में आनेवाला ज्ञेयों का प्रतिबिम्ब ज्ञान की रचना है। यद्यपि उनका (प्रतिबिम्ब रूप ज्ञेयाकारों का) ज्ञेयरूप निमित्त ज्ञेय पदार्थ ही हैं, तथापि उन ज्ञेयाकाररूप ज्ञेयों को जाननेवाली उन ज्ञानाकाररूप ज्ञान पर्यायों का उपादान तो ज्ञान ही है, आत्मा ही है।

इसप्रकार वे ज्ञेयाकार वास्तव में तो ज्ञानाकाररूप ज्ञान ही हैं, आत्मा ही हैं।

सम्पूर्ण विश्लेषण का सार यही है कि यद्यपि निश्चय से आत्मा अपने में ही रहता है; तथापि समस्त ज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा और ज्ञान सर्वगत हैं और समस्त ज्ञेय आत्मा में प्रतिबिम्बित हो जाने के कारण वे सभी ज्ञेय ज्ञानगत हैं, आत्मगत हैं।। ३०-३१ ।।

विगत गाथाओं में सबको देखने-जानने के कारण आत्मा को सर्वगत सिद्ध किया गया है।

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति –

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ।।३२।।

गृह्णाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमति केवली भगवान्।
पश्यति समन्ततः स जानाति सर्वं निरवशेषम् ।।३२।।

अयं खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि संचेतयते। अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थकसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणलक्षणक्रियाविरामः प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव ।।३२।।

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि सबको देखते-जानते हुए भी यह आत्मा बाह्य ज्ञेय पदार्थों से भिन्न ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

केवली भगवान पर ना ग्रहे छोड़े परिणमें।
चहुं ओर से सम्पूर्णतः निरवशेष वे सब जानते ।।३२।।

केवली भगवान पर को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं, पररूप परिणमित नहीं होते; परन्तु निरवशेषरूप से सम्पूर्ण आत्मा को या सभी ज्ञेय पदार्थों को सर्व ओर से देखते-जानते हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"स्वभाव से ही परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का तथा परद्रव्यरूप परिणमित होने का अभाव होने से यह आत्मा स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूप से परिणमित होकर, निष्कंप ज्योतिवाले मणि के समान जिसके सर्वात्मप्रदेशों से दर्शन-ज्ञान-शक्ति स्फुरित है और जो परिपूर्ण आत्मा को आत्मा से सम्पूर्णतः अनुभव करता है अथवा एक साथ ही सर्वपदार्थों के समूह का साक्षात्कार करने के कारण ज्ञप्तिपरिवर्तन का अभाव होने से ग्रहण-त्याग क्रिया से विराम को प्राप्त पहले से ही समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित होने से, पररूप से नहीं परिणमित होता हुआ सर्वप्रकार से सर्व विश्व को मात्र देखता-जानता है।

इसप्रकार दोनों रूप में आत्मा का पर-पदार्थों से अत्यन्त भिन्नत्व ही है।"

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति –

जो हि सुदेण विजाणादि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।३३।।

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः।।३३।।

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि **सबको जानते-देखते हुए भी सर्वज्ञ भगवान सबरूप नहीं होते, ज्ञानरूप ही रहते हैं, ज्ञेयपदार्थों से भिन्न ही रहते हैं।।३२।।**

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि केवलज्ञान में लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है, पर केवलज्ञानी लोकालोकरूप नहीं होते, लोकालोक भी उनरूप नहीं होता; वे ज्ञेयरूप लोकालोक से भिन्न ही रहते हैं, निर्लिप्त ही रहते हैं।

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि **केवलज्ञानी के समान श्रुतज्ञानी भी सबको जानते हुए सबसे भिन्न ही रहते हैं, निर्लिप्त ही रहते हैं। इसप्रकार से केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है।** ऐसा कहकर आचार्यदेव विशेष जानने की आकांक्षा से उत्पन्न क्षोभ का क्षय करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

श्रुतज्ञान से जो जानते ज्ञायकस्वभावी आतमा।
श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के।।३३।।

जो वास्तव में श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ज्ञायक आत्मा को जानता है, उसे लोक के प्रकाशक ऋषिगण श्रुतकेवली कहते हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण, स्वसंवेद्यमान और चैतन्य सामान्य महिमा के धारक चेतनस्वभाव से एकत्व होने से जिसप्रकार भगवान युगपत् परिणमित समस्त चैतन्यविशेषयुक्त केवलज्ञान के द्वारा केवल आत्मा का आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली हैं; उसीप्रकार अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण और स्वसंवेद्यमान चैतन्य

श्रुतज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् श्रुतकेवली।

अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवास्थीयते ।।३३।।

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति –

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ।।३४।।

सामान्य महिमा के धारक चेतनस्वभाव से एकत्व होने से हम भी क्रमशः परिणमित कतिपय चैतन्य विशेषों से युक्त श्रुतज्ञान द्वारा केवल आत्मा का आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली हैं।

इसलिए विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो, हम तो स्वरूपनिश्चल ही रहते हैं।''

मूल गाथा में निश्चय श्रुतकेवली का स्वरूप समझाया गया है। कहा गया है कि जो श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञायकस्वभावी आत्मा को जानता है, उसे श्रुतकेवली कहते हैं।

उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए, टीका में निश्चय केवली से निश्चय श्रुतकेवली की तुलना की गई है और कहा गया है कि जिसप्रकार निश्चय से केवली भगवान केवलज्ञान के द्वारा केवल आत्मा को जानने के कारण केवली हैं; उसीप्रकार श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के द्वारा केवल आत्मा को जानने के कारण श्रुतकेवली हैं। जब दोनों ही केवल आत्मा को जानने के कारण केवली व श्रुतकेवली हैं तो फिर अधिक जानने की आकुलता से क्या लाभ है ?

आत्मा के कल्याण के लिए तो स्वरूप में निश्चल रहना ही पर्याप्त है।

टीका में जिस आत्मा के अनुभव की चर्चा है, उसके संबंध में केवली और श्रुतकेवली दोनों ही प्रकरणों में एक समान विशेषणों का उपयोग किया गया है; दोनों में ही अनुभवगम्य आत्मा को अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण, स्वसंवेद्यमान, चैतन्य सामान्य महिमावान और चेतनस्वभावी बताया गया है; किन्तु केवलज्ञान और श्रुतज्ञान संबंधी विशेषणों में कहा गया है कि केवलज्ञान युगपत् परिणमित है और श्रुतज्ञान क्रमशः परिणमित है, केवलज्ञान समस्त सामान्य चैतन्य विशेषों से युक्त है और श्रुतज्ञान कतिपय चैतन्य विशेषों से युक्त है। ऐसा होने पर भी चेतनस्वभावी आत्मा में एकत्व केवली और श्रुतकेवली में समान है, दोनों का जानना भी समान है; अतः उक्त अन्तर होते हुए भी दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।।३३।।

विगत गाथाओं में विस्तार से यह बताया गया है कि आत्मा को जाननेवाला ही केवली है और श्रुतकेवली है; इसलिए केवली और श्रुतकेवली में कोई अन्तर नहीं है।

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ।।३४।।

श्रुतं हि तावत्सूत्रम्। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव। एवं सति सूत्रस्य ज्ञप्तिः श्रुतज्ञानमित्यायाति। अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते। सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैव इति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ।।३४।।

अब इस ३४ वीं गाथा में कहते हैं कि यदि श्रुत की उपाधि की उपेक्षा करें तो श्रुतज्ञान भी तो ज्ञान ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिनवर कथित पुद्गल वचन ही सूत्र उसकी ज्ञप्ति ही।
है ज्ञान उसको केवली जिनसूत्र की ज्ञप्ति कहें।।३४।।

पुद्गलद्रव्यात्मक वचनों के रूप में जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप के ज्ञान को सूत्र की ज्ञप्ति अर्थात् श्रुतज्ञान कहा गया है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसप्रकार स्पष्ट किया है –

“प्रथम तो श्रुत ही सूत्र है और वह सूत्र भगवान अरहंत सर्वज्ञ द्वारा स्वयं जानकर उपदिष्ट, स्यात्कार चिह्नयुक्त, पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। उस शब्दब्रह्म की ज्ञप्ति (जानना) ज्ञान है।

उस ज्ञान का कारण होने से उक्त सूत्ररूप श्रुत को उपचार से ज्ञान कहा जाता है। इसप्रकार यह फलित हुआ कि सूत्र की ज्ञप्ति ही श्रुतज्ञान है।

अब यदि उपाधि होने से सूत्र का आदर न किया जाय तो सूत्रज्ञप्ति में से ज्ञप्ति ही शेष रह जाती है और वह ज्ञप्ति केवली और श्रुतकेवली के आत्मानुभवन में समान ही है। इसलिए ज्ञान में श्रुतोपाधिकृत भेद नहीं है।”

इस गाथा में द्रव्यश्रुत को केवली उपदिष्ट पौद्गलिक वचनात्मक कहा है और उसके आश्रय से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है।

इसकी व्याख्या करते हुए टीका में यह कहा गया है कि श्रुत अर्थात् निमित्तरूप द्रव्यश्रुत को गौण कर दें तो श्रुतज्ञान भी तो ज्ञान ही है।

केवलज्ञान भी ज्ञान है और श्रुतज्ञान भी ज्ञान है। इसप्रकार केवलज्ञान से आत्मा को जानना

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति –

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।।३५।।

यो जानाति स ज्ञानं न भवति ज्ञानेन ज्ञायक आत्मा।
ज्ञानं परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिताः सर्वे।।३५।।

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतंत्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत्। न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा ज्ञानेन ज्ञायको भवत्यात्मा।

भी ज्ञान से जानना है और श्रुतज्ञान से आत्मा को जानना भी ज्ञान से ही जानना है। केवली और श्रुतकेवली – दोनों ही अपने आत्मा को ज्ञान से ही जानते हैं; अतः उन दोनों के आत्मा को जानने में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि ज्ञान में श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है।।३४।।

विगत गाथा में श्रुतज्ञान में श्रुतोपाधि का निषेध किया, द्रव्यश्रुत का निषेध किया, द्रव्यश्रुतरूप निमित्त का निषेध किया; अब इस ३५वीं गाथा में आत्मा और ज्ञान में कर्ता-करण संबंधी भेद का भी निषेध करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो जानता सो ज्ञान आतम ज्ञान से ज्ञायक नहीं।
स्वयं परिणत ज्ञान में सब अर्थ थिति धारण करें।।३५।।

जो जानता है, वह ज्ञान है, ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञायक है – ऐसा नहीं है। वह आत्मा स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमित है और सर्व पदार्थ ज्ञानस्थित हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"साधकतम उष्णत्वशक्ति अन्तर्लीन है जिसमें, ऐसी अग्नि के जिसप्रकार स्वतंत्ररूप से दहन क्रिया की प्रसिद्धि होने से उष्णता सिद्ध है; उसीप्रकार अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्व की शक्तिरूप परमैश्वर्यवान होने से जो आत्मा स्वयमेव जानता है, वही ज्ञान है।

परन्तु ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार पृथग्वर्ती हांसिये से देवदत्त काटनेवाला कहलाता है; उसीप्रकार ज्ञान से आत्मा जाननेवाला है।

तथा सत्युभयोरेचेतनत्वमचेतनयो: संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः। पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदाभ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिप्रभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात्।

किंच – स्वतोऽव्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति, किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया ।।३५।।

अथ किं ज्ञानं कि ज्ञेयमिति व्यनक्ति –

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ।।३६।।

यदि ऐसा हो तो दोनों में अचेतनता आ जावेगी और दो अचेतनों का संयोग होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होगी। आत्मा और ज्ञान के पृथग्वर्ती होने पर भी यदि आत्मा को ज्ञप्ति होना माना जाय तो पर (एक व्यक्ति) के ज्ञान द्वारा पर (दूसरे व्यक्ति) को ज्ञप्ति हो जावेगी और इसप्रकार राख आदि के भी ज्ञप्ति का उद्भव निरकुंश हो जावेगा।

दूसरी बात यह है कि अपने से अभिन्न समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित ज्ञानरूप स्वयं परिणमित होनेवाले को, कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों के कारणभूत समस्त पदार्थ कथंचित् ज्ञानवर्ती ही हैं; इसलिए ज्ञाता और ज्ञान के विभाग की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है ?''

टीका में अत्यन्त स्पष्टरूप से इस बात का उल्लेख है कि आत्मा और ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानने पर दोनों ही अचेतन हो जायेंगे और यह तो सुनिश्चित ही है कि दो अचेतन मिलकर भी जानने का काम नहीं कर सकते; क्योंकि ज्ञानचेतना से रहित आत्मा तो अचेतन होगा ही तथा अचेतन द्रव्य के आश्रय में रहने के कारण ज्ञानगुण अचेतन सिद्ध होगा।

दूसरी बात यह है कि जब आत्मा और ज्ञान सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं तो फिर ज्ञान आत्मा से ही क्यों जुड़े, अन्य अजीव पदार्थों से क्यों नहीं ? वह राख आदि जड़-पदार्थों से भी जुड़ सकता है। यदि ऐसा हुआ तो राख आदि पदार्थ भी जानने-देखने लग जावेंगे; पर ऐसा होता नहीं है।

अत: आत्मा कर्ता और ज्ञान करण – ऐसा विभाग करने से भी क्या लाभ है ? 'आत्मा ज्ञान से जानता है' के स्थान पर 'ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं से जानता है' यही ठीक है अथवा आत्मा जानता है – इतना ही पर्याप्त है ।।३५।।

तस्मात् ज्ञानं जीवो ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम्।
द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसंबद्धः ।।३६।।

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतंत्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तुं चाशक्तेः। ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्यायपरम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं। तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरविकल्पात्। इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वादवबोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम्।

ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम्। का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः। क्रिया ह्यत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा।

आत्मा और ज्ञान में कर्ता-करण संबंध के निषेध पूर्वक दोनों में अभेदत्व स्थापित करने के उपरान्त अब ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या हैं ? यह समझाते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

हरिगीत)

जीव ही है ज्ञान ज्ञेय त्रिधावर्णित द्रव्य हैं।
वे द्रव्य आतम और पर परिणाम से संबद्ध हैं।।३६।।

यह जीव ज्ञान है और ज्ञेय तीन प्रकार से वर्णित त्रिकालस्पर्शी द्रव्य हैं। वे ज्ञेयभूत परिणामस्वभावी द्रव्य स्व और पर हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

“विगत गाथा में की गई प्ररूपणा के अनुसार यह जीव स्वयं ही ज्ञानरूप से परिणमित होकर स्वतंत्रतया ही जानता है; इसलिए यह जीव ही ज्ञान है; क्योंकि अन्य द्रव्य इसप्रकार ज्ञानरूप परिणमित होने और जानने में असमर्थ हैं।

जो द्रव्य; वर्त चुकीं, वर्त रहीं और भविष्य में वर्तनेवाली विचित्र (विभिन्न प्रकार की) पर्यायों की परम्परा के प्रकार से त्रिविध कालकोटि को स्पर्श करते होने से अनादि-अनंत हैं; वे सभी द्रव्य ज्ञेय हैं। वे ज्ञेयभूत द्रव्य स्व और पर के भेद से दो प्रकार के हैं। ज्ञान स्व-पर ज्ञायक है; इसकारण ज्ञेय की इसप्रकार द्विविधता मानी जाती है।

प्रश्न – अपने में क्रिया के हो सकने का विरोध है; इसलिए आत्मा की स्वज्ञायकता किसप्रकार घटित होती है ?

उत्तर – कौनसी क्रिया है और किसप्रकार का विरोध है? जो यहाँ प्रश्न में विरोधी क्रिया कही गई है, वह उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप ?

उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव। ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययेव प्रत्यवस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतार:।

यथा हि प्रकाशकस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्यतामापन्नं प्रकाशयत: स्वस्मिन् प्रकाश्ये न प्रकाशकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव प्रकाशनक्रियाया: समुपलम्भात्।

तथा परिच्छेदकस्यात्मन: परं परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दत: स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव परिच्छेदनक्रियाया: समुपलम्भात्।

ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च ?

परिणामसंबन्धत्वात्। यत: खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामै: सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रतपति ।।३६।।

उत्पत्तिरूप क्रिया तो 'नैकं स्वस्मात्प्रजायते – एक स्वयं से उत्पन्न नहीं हो सकता' – इस आगम वाक्य से विरुद्ध ही है; परन्तु ज्ञप्तिरूप क्रिया में विरोध नहीं आता; क्योंकि वह प्रकाशनक्रिया की भांति उत्पत्तिक्रिया से विरुद्ध अर्थात् भिन्नप्रकार की होती है।

जो पर को प्रकाशित करता है – ऐसे प्रकाशक दीपक को स्व को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाशक (दीपक) की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि उसे स्वयमेव प्रकाशनक्रिया की प्राप्ति है। उसीप्रकार पर ज्ञेयों को जाननेवाले आत्मा को स्व ज्ञेय को जानने के लिए अन्य ज्ञायक की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि उसे स्वयमेव ज्ञानक्रिया की प्राप्ति है।

इससे यह सहज ही सिद्ध है कि ज्ञान स्वयं को जान सकता है।

प्रश्न – आत्मा को द्रव्यों की ज्ञानरूपता और द्रव्यों को आत्मा की ज्ञेयरूपता किसप्रकार है? तात्पर्य यह है कि आत्मा द्रव्यों को जानता है और द्रव्य आत्मा के जानने में आते हैं – यह बात किसप्रकार घटित होती है?

उत्तर – आत्मा सहित सभी द्रव्यों के परिणमनस्वभावी होने से यह सब सहज ही घटित हो जाता है। ज्ञेय द्रव्यों के ज्ञानरूप परिणमित आत्मा के और द्रव्यों के ज्ञान के अवलम्बन से ज्ञेयाकाररूप परिणमित होने में कोई बाधा नहीं है।''

इस गाथा की टीका में पहली बात तो यह बताई गई है कि सभी द्रव्यों की त्रिकालवर्ती पर्यायें ज्ञेय हैं अर्थात् जानी जा सकती हैं। दूसरी बात ज्ञान अर्थात् आत्मा स्व-परप्रकाशक हैं। यदि आत्मा स्व-परप्रकाशक नहीं होता तो फिर ज्ञेय के स्व और पर – ऐसे भेद नहीं किये जा सकते थे। तात्पर्य यह है कि परपदार्थ तो ज्ञेय हैं ही, उन्हें जाननेवाला अपना आत्मा भी ज्ञेय है।

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्योतयति –

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ।।३७।।

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम्।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ।।३७।।

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपद:

अपने आत्मा को छोड़कर अन्य सभी परपदार्थ अपने लिए मात्र ज्ञेय ही हैं; किन्तु अपना आत्मा स्वयं ज्ञायक है और ज्ञेय भी है। इसतरह 'स्व' में अर्थात् अपने आत्मा में ज्ञेय और ज्ञायक – ये दोनों विशेषताएँ हैं और पर-पदार्थ अपने लिए मात्र ज्ञेय ही हैं। यही कारण है कि स्व और पर – ज्ञेय के ऐसे दो भेद किए गए हैं।

तीसरी बात यह कही है कि भले ही ज्ञानपर्याय स्वयं से उत्पन्न न होती हो, पर वह पर के साथ-साथ स्वयं को जानती अवश्य है; क्योंकि वह स्व-परप्रकाशक है ।।३६।।

विगत गाथा में यह कहा गया है कि सभी द्रव्यों की भूतकाल में हो गईं; वर्तमान में हो रहीं और भविष्य में होनेवाली पर्यायें ज्ञेय हैं। उसी बात को आगे बढ़ाते हुए इस गाथा में कहते हैं कि **सभी द्रव्यों की अतीत और अनागत पर्यायें भी वर्तमान पर्याय के समान ही ज्ञान में विद्यमान हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

असद्भूत हों सद्भूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब।
सद्ज्ञान में वर्तमानवत् ही हैं सदा वर्तमान सब ।।३७।।

उन जीवादि द्रव्यजातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भांति विशिष्टतापूर्वक ज्ञान में वर्तती हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जीवादि समस्त द्रव्यजातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा तीनों काल की मर्यादा जितनी होने से, उनकी क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूपसंपदा वाली विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं; वे सब तात्कालिक पर्यायों की भांति अत्यन्त

सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरेणाप्यवधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवावबोधसौधस्थितिमवतरन्ति।

न खल्वेतदयुक्तं – दृष्टाविरोधात्; दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः।

किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः; यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि।

किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकत्वाविरोधात्; यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति ।।३७।।

मिश्रित होने पर भी सब पर्यायों के विशिष्ट लक्षण ज्ञात हों; इसप्रकार एक क्षण में ही ज्ञानमंदिर में स्थिति को प्राप्त होती हैं।

यह अयुक्त नहीं है; क्योंकि उसका दृष्ट के साथ अविरोध है। जगत में दिखाई देता है कि छद्मस्थ के भी जिसप्रकार वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है; उसीप्रकार भूत और भविष्यत वस्तु का चिन्तवन करते हुए भी ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान चित्रपट के समान है। जिसप्रकार चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं; उसीप्रकार ज्ञानरूपी भित्ति में भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं।

तीसरी बात यह है कि सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता अविरुद्ध है। जिसप्रकार नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं; उसीप्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार भी वर्तमान ही हैं।''

उक्त गाथा और उसकी टीका में जो प्रमेय उपस्थित किया गया है, उसमें निम्नांकित बिन्दु विशेष ध्यान देने योग्य हैं –

सर्वप्रथम तो यह बात कही गई है कि भूतकालीन पर्यायें भले ही विनष्ट हो गईं हों और भविष्यकालीन पर्यायें अभी उत्पन्न ही न हुईं हों; फिर भी केवलज्ञान में तो वे वर्तमान पर्यायों के समान ही विद्यमान हैं।

दूसरे, ज्ञान का उन्हें जानना – यह ज्ञान की स्वरूपसंपदा है और उन पर्यायों का ज्ञान में झलकना उक्त पर्यायों की स्वरूपसंपदा है।

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति। अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढ़यति –

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥
जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥३९॥

तात्पर्य यह है कि उनको जानना ज्ञान की मजबूरी नहीं है और उनका ज्ञान में झलकना भी उन ज्ञेयों के लिए कोई विपत्ति नहीं है। ज्ञान का जानना और ज्ञेयों का जानने में आना दोनों का सहज स्वभाव है, उनकी स्वरूपसम्पदा है।

ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर कि जब वे अभी हैं ही नहीं, तब उनको जानना कैसे संभव है?

इसके उत्तर में कहा गया है कि **जब हमारे क्षयोपशमज्ञान में भूत और भविष्य की बातें जान ली जाती हैं तो फिर केवलज्ञान में जान लेने पर क्या आपत्ति हो सकती है ? आत्मा की ज्ञानशक्ति और पदार्थों की ज्ञेयत्वशक्ति का ही यह कमाल है।**

यहाँ चित्रपट के उदाहरण से ज्ञानशक्ति और आलेख्याकारों के उदाहरण से ज्ञेयत्वशक्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है ॥३७॥

विगत ३७ वीं गाथा में यह कहा है कि केवलज्ञान में सभी द्रव्यों की अतीत और भावी पर्यायें भी वर्तमान पर्यायों के समान ही झलकती हैं और अब ३८ व ३९वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि **सभी द्रव्यों की भूत और भावी असद्भूत पर्यायें ज्ञान में विद्यमान ही हैं; इसलिए वे कथंचित् सद्भूत भी हैं तथा जिस ज्ञान में भूत और भावी असद्भूत पर्यायें ज्ञात न हों, उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं।
असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञानप्रत्यक्ष हैं ॥३८॥
पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो।
फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो ॥३९॥

जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं या उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं; वे सभी अविद्यमान पर्यायें ज्ञान में तो प्रत्यक्ष ही हैं, विद्यमान ही हैं। यदि अनुत्पन्न तथा नष्ट पर्यायें ज्ञान (केवलज्ञान) में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः।
ते भवन्ति असद्भूताः पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः॥३८॥
यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य।
न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति॥३९॥

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववद-प्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति॥३८॥

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डितप्रताप-प्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्यक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात्।

अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम्॥३९॥

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जो पर्यायें अभीतक उत्पन्न नहीं हुईं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं; वे पर्यायें अविद्यमान होने पर भी ज्ञान के प्रति नियत होने से ज्ञान में प्रत्यक्ष वर्तती हुई पाषाण स्तम्भ में उत्कीर्ण भूत और भावी तीर्थंकर देवों की भांति अपने स्वरूप को ज्ञान में अर्पित करती हुई विद्यमान ही हैं।

जिन्होंने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया और जिन्होंने अस्तित्व का अनुभव कर लिया है; ऐसी अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायों को यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न, अखंडित प्रतापयुक्त प्रभुशक्ति से बलात् प्राप्त करे तथा वे पर्यायें अपने स्वरूप सर्वस्व को अक्रम से अर्पित करें – इसप्रकार उन्हें अपने प्रति नियत न करें, उन्हें प्रत्यक्ष न जाने; तो उस ज्ञान की दिव्यता क्या है ?

इसकारण यह कहा गया है कि पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञान के लिए यह सब योग्य है।''

इन गाथाओं में न केवल केवलज्ञान की महिमा बताई गई है; अपितु केवलज्ञान का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है।

यद्यपि इन गाथाओं में बताई गई बात हाथ पर रखे हुए आंवले के समान स्पष्ट है; तथापि कुछ लोग शंकायें-आशंकायें व्यक्त करते हैं। उन्हें लगता है कि इसे मान लेने पर तो 'सब कुछ निश्चित है' – यह सिद्ध हो जावेगा। ऐसी स्थिति में हमारे हाथ में तो कुछ रहेगा ही नहीं।

उक्त संदर्भ में मैंने **क्रमबद्धपर्याय** नामक कृति में विस्तार से चर्चा की है। जिज्ञासु पाठक उसका स्वाध्याय गहराई से अवश्य करें॥३८-३९॥

अथेन्द्रियज्ञानस्यैव प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति। अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति –

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं।।४०।।
अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं।।४१।।

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैर्ये विजानन्ति।
तेषां परोक्षभूतं ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम्।।४०।।
अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्।
प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम्।।४१।।

विगत गाथाओं में यह समझाया गया है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान से सभी द्रव्यों की तीन काल संबंधी सभी पर्यायें एक साथ एक समय में जान ली जाती हैं। अब इन ४० व ४१वीं गाथा में इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान की तुलना करते हुए यह बता रहे हैं कि इन्द्रियज्ञान के लिए सभी पदार्थों की त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों को जानना शक्य नहीं है; क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान है; जबकि अतीन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षज्ञान होने से मूर्त-अमूर्त, सप्रदेशी-अप्रदेशी सभी द्रव्यों की अजात और प्रलय को प्राप्त सभी पर्यायों को एक समय में एकसाथ जानता है।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

जो इन्द्रियगोचर अर्थ को ईहादिपूर्वक जानते।
वे परोक्ष पदार्थ को जाने नहीं जिनवर कहें।।४०।।
सप्रदेशी अप्रदेशी मूर्त और अमूर्त को।
अनुत्पन्न विनष्ट को जाने अतीन्द्रिय ज्ञान ही।।४१।।

जो इन्द्रियगोचर पदार्थों को ईहादि पूर्वक जानते हैं; उनके लिए परोक्षभूत पदार्थ का जानना अशक्य है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

जो ज्ञान अप्रदेश को, सप्रदेश को, मूर्त को, अमूर्त को, अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायों को जानता है; वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है।

ये खलु विषयविषयिसन्निपातलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वकालमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबंधस्यासंभवतः परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ।।४०।।

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते; प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यति स्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम्; मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम्; वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च।

यत्तु पुनरनावरणमतीन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ।।४१।।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''विषय और विषयी के सन्निपात (मिलाप) लक्षणवाले इन्द्रियों और पदार्थों के सन्निकर्ष को प्राप्त करके जो अनुक्रम से उत्पन्न ईहादिक के क्रम से जानते हैं; वे उन्हें नहीं जान सकते, जिनका स्व-अस्तित्वकाल बीत गया है और जिनका अस्तित्वकाल उपस्थित नहीं हुआ है; क्योंकि अतीत-अनागत पदार्थों और इन्द्रियों के ग्राह्य-ग्राहक संबंध असंभव है।

उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ आदि बहिरंग विरूपकारणता और क्षयोपशमरूप उपलब्धि व संस्कार आदि अंतरंग स्वरूपकारणता से ग्रहण करके प्रवृत्त होता हुआ इन्द्रियज्ञान सप्रदेश को ही जानता है, अप्रदेश को नहीं जानता; क्योंकि वह स्थूल को जाननेवाला है, सूक्ष्म को नहीं; वह मूर्त को ही जानता है, अमूर्त को नहीं; क्योंकि उसका संबंध मूर्तिक के साथ ही होता है, अमूर्तिक के साथ नहीं; वह वर्तमान को ही जानता है, भूत और भविष्य को नहीं; क्योंकि उसका वर्तमान के साथ ही विषय-विषयी का सन्निपात होता है, भूत-भविष्यत के साथ नहीं।

परन्तु जो अनावरण अतीन्द्रियज्ञान है; वह सप्रदेश-अप्रदेश, मूर्त-अमूर्त, अनुत्पन्न-व्यतीत सभी को जानता है; क्योंकि वे सभी ज्ञेय हैं, ज्ञेयता का उल्लंघन नहीं करते। जिसप्रकार अनेकप्रकार का ईंधन दाह्य होने से, दाह्यता का उल्लंघन नहीं करने से प्रज्वलित अग्नि के लिए दाह्य (जलाने योग्य) ही हैं; अतः वह सभी को जला देती है; उसीप्रकार उक्त सभी ज्ञेय हैं, ज्ञेयता का उल्लंघन नहीं करते; इसकारण अतीन्द्रियज्ञान उन सभी को जान लेता है।''

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति –

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता।।४२।।

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिकं तस्य।
ज्ञानमिति तं जिनेन्द्राः क्षपयन्तं कर्मैवोक्तवन्तः।।४२।।

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षक्षयप्रवृत्तस्वाभाविक-

---

उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि परोक्षज्ञान में इन्द्रियों का पदार्थों के साथ जबतक संबंध न हो, तबतक जानना नहीं होता। इसलिए इन्द्रियज्ञान भूत-भावी पर्यायों को नहीं जान सकता, दूरवर्ती वर्तमान पर्यायों को भी नहीं जान सकता; अतः इन्द्रियज्ञान पराधीन है, हीन है, हेय है।

अतीन्द्रियज्ञान किसी पर की सहायता से प्रवृत्त नहीं होता; इसलिए वह सभी ज्ञेयपदार्थों को उनकी वर्तमान, भूत और भावी पर्यायों के साथ अत्यन्त स्पष्टरूप से एकसमय में एकसाथ जान लेता है। सभी को जानने में उसे कोई श्रम नहीं होता; क्योंकि सबको जानना उसका सहजस्वभाव है।

जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट हो जाता है, उसके अतीन्द्रिय सुख भी नियम से प्रगट होता है; इसकारण अतीन्द्रियज्ञान परम उपादेय है।।४०-४१।।

विगत गाथाओं में इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान का स्वरूप समझाते हुए यह कहा गया है कि इन्द्रियज्ञान हेय है और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है। अब इस ४२वीं गाथा में यह बता रहे हैं **कि ज्ञेयार्थपरिणमन है लक्षण जिसका – ऐसी क्रिया ज्ञान से उत्पन्न नहीं होती।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्ञेयार्थमय जो परिणमे ना उसे क्षायिक ज्ञान हो।
कहें जिनवरदेव कि वह कर्म का ही अनुभवी।।४२।।

ज्ञाता यदि ज्ञेयपदार्थरूप परिणमित होता हो तो उसके क्षायिकज्ञान होता ही नहीं। जिनेन्द्रदेवों ने उसे कर्म को ही अनुभव करनेवाला कहा है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"यदि ज्ञाता ज्ञेयपदार्थरूप परिणमित होता है तो उसे सम्पूर्ण कर्मकक्ष के क्षय से प्रवर्तमान

परिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य; यत: प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभारसंभावनाकरणमानस: सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जान: स जिनेन्द्रैरुद्गीत: ।।४२।।

स्वाभाविक जानपने का कारणभूत क्षायिकज्ञान नहीं है अथवा उसे ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की परिणति के द्वारा मृगतृष्णा में जलसमूह की कल्पना करने की भावनावाला वह आत्मा अत्यन्त दु:सह कर्मभार को ही भोगता है – ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।''

गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि ज्ञेयार्थपरिणमन है लक्षण जिसका – ऐसी क्रिया ज्ञान से नहीं होती। यहाँ **ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया** से क्या आशय है ? यह बात गहराई से जानने योग्य है।

आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा की उत्थानिका लिखते हुए कहा गया है कि जिसके कर्मबंध के कारणभूत हितकारी-अहितकारी विकल्परूप से जानने योग्य विषयों का परिणमन है, उसके क्षायिकज्ञान नहीं है।

टीका में लिखा है कि 'यह नीला है, यह पीला है' इत्यादि विकल्परूप से ज्ञेयपदार्थों के प्रति परिणमन करता है तो उस आत्मा को क्षायिकज्ञान नहीं है अथवा ज्ञान ही नहीं है।

उक्त कथन से एक ही बात स्पष्ट होती है कि ज्ञेयों को जानते समय जो उनमें ही अटक जाते हैं, उनमें एकत्व-ममत्व स्थापित करते हैं, कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्थापित करते हैं; उनके लक्ष्य से अथवा उन्हें आधार बनाकर राग-द्वेषरूप परिणमित होते हैं; वे सभी ज्ञेयार्थपरिणमनस्वभाव वाले हैं।

यह ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के परज्ञेयों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धिपूर्वक होती है और सविकल्प सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों के चारित्र मोहजन्य राग-द्वेषरूप और हर्ष-विषादरूप विकल्पात्मक होती है तथा वीतराग छद्मस्थों में अस्थिरतारूप होती है।

तात्पर्य यह है कि क्षयोपशमज्ञान में जाने गये ज्ञेय पदार्थों में एकत्व-ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व और उनके लक्ष्य से राग-द्वेषरूप परिणमन ही ज्ञेयार्थपरिणमन है।

ऐसा ज्ञेयार्थपरिणमन न तो केवलज्ञानियों को होता है और न इसप्रकार परिणमन करनेवालों को केवलज्ञान होता है; क्योंकि वे लोग तो कर्म का ही अनुभव करनेवाले हैं।

अत: जिन्हें अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख की कामना हो; वे ज्ञेयार्थपरिणमन से विरक्त हो निजभगवान आत्मा में रमण करें।।४२।।

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति –

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि।।४३।।

उदयगता: कर्मांशा जिनवरवृषभै: नियत्या भणिता:।
तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति।।४३।।

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगता: पुद्गलकर्मांशा: सन्त्येव। अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते। तत एव च क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति। अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले, न तु ज्ञानात्।।४३।।

विगत गाथा में यह कहा गया है कि ज्ञेयार्थपरिणमनक्रियावालों को केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञानी के ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया नहीं होती।

अब इस ४३ वीं गाथा में यह बताया जा रहा है कि यदि ऐसा है तो फिर इस **ज्ञेयार्थपरिणमन और उसके फलरूप क्रिया का कारण क्या है ? आखिर यह होती कैसे है ?**

ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया का कारण बतानेवाली ४३वीं गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिनवर कहें उसके नियम से उदयगत कर्मांश हैं।
वह राग-द्वेष-विमोह बस नित बंध का अनुभव करे।।४३।।

जिनवरों में श्रेष्ठ तीर्थंकरों ने संसारी जीवों के ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय प्राप्त कर्मांश नियम से होते हैं – ऐसा कहा। उन उदय प्राप्त कर्मांशों के होने पर यह जीव मोही, रागी और द्वेषी होता हुआ बंध का अनुभव करता है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"संसारी जीवों के उदयगत पुद्गलकर्मांश नियम से होते ही हैं। उन उदयगत पुद्गलकर्मांशों के होने पर यह जीव उनमें ही चेतते हुए, अनुभव करते हुए मोह-राग-द्वेषरूप में परिणमित होने से ज्ञेयार्थपरिणमनरूपक्रिया से युक्त होता है और इसीकारण क्रिया के फलभूत बंध का अनुभव करता है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि मोह के उदय से ही क्रिया और क्रियाफल होता है, ज्ञान से नहीं।"

आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ मात्र इतना ही कहते हैं कि **ज्ञान बंध का कारण नहीं है, मोह-**

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफलं न साधयतीत्यनुशास्ति –

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं।।४४।।

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम्।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम्।।४४।।

राग-द्वेष ही बंध के कारण हैं। आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में कहते हैं कि **न ज्ञान बंध का कारण है और न कर्मोदय बंध का कारण है; बंध के कारण तो मोह-राग-द्वेषभाव ही हैं।**

वे उत्थानिका में ही लिख देते हैं कि अनंत पदार्थों के जाननेरूप परिणमित होते हुए भी न तो ज्ञान बंध का कारण है और न रागादि रहित कर्मोदय ही बंध का कारण है – अब यह निश्चित करते हैं।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा निरूपित और सुविचारित कथन यह है कि प्रत्येक संसारी जीव के ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय सदा ही रहता है। उक्त उदयजन्य कर्मांशों के होने पर, उनमें ही चेतते हुए जो मोह-राग-द्वेषभाव होते हैं; उन मोह-राग-द्वेषरूप भावों से परिणमित होने से ही यह जीव ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया से युक्त होता है और इसीकारण उसके फल में प्राप्त होनेवाले बंध का अनुभव करता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया और क्रियाफलरूप बंध न तो ज्ञान से होता है, न जड़कर्म से और न कर्मोदय से प्राप्त संयोगों से ही होता है। बंध तो एकमात्र पर में एकत्वबुद्धिरूप मोह एवं राग-द्वेष से ही होता है।।४३।।

४३वीं गाथा में यह कहा गया है कि मोह-राग-द्वेषरूप भावों से परिणमित होने से ही यह जीव ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया से युक्त होता है और इसीकारण उसके फल में प्राप्त होनेवाले बंध का अनुभव करता है।

अब इस ४४वीं गाथा में यह बता रहे हैं कि **यद्यपि केवली भगवान के भी विहारादि क्रियायें देखी जाती हैं; तथापि उन्हें उनसे बंध नहीं होता।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों।
हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरहंत के।।४४।।

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यता सद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते।

अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्‌गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते। अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति।।४४।।

उन अरहंत भगवंतों के उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश करना आदि क्रियायें स्त्रियों के मायाचार की भांति स्वाभाविक ही हैं, प्रयत्न बिना ही होती हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

“जिसप्रकार महिलाओं के प्रयत्न बिना ही उसप्रकार की योग्यता का सद्‌भाव होने से माया के ढक्कन से ढंका हुआ व्यवहार स्वभावभूत ही प्रवर्तता है; उसीप्रकार केवली भगवान के प्रयत्न बिना ही उसप्रकार की योग्यता का सद्‌भाव होने से खड़ा रहना, बैठना, विहार करना और उपदेश देना आदि क्रियायें स्वभावभूत ही प्रवर्तती हैं।

यह बात बादल के दृष्टान्त से भी समझी जा सकती है; क्योंकि बादल के उदाहरण के साथ भी इसका कोई विरोध भासित नहीं होता।

जिसप्रकार बादल के आकाररूप परिणमित पुद्‌गलों का गमन, स्थिरता, गर्जन और बरसना आदि क्रियायें पुरुष के प्रयत्न बिना ही देखी जाती हैं; उसीप्रकार केवली भगवान के खड़े रहना, चलना, दिव्यध्वनि आदि क्रियायें अबुद्धिपूर्वक बिना इच्छा के ही देखी जाती हैं। केवली भगवान की ये क्रियायें मोहोदयपूर्वक न होने से क्रिया के फल में होनेवाले बंध के कारण नहीं हैं।”

वस्तुत: बात यह है कि बाह्य क्रियायें तो बंध का कारण हैं ही नहीं; क्योंकि यह आत्मा निश्चय से उनका कर्ता-धर्ता ही नहीं है। ये क्रियायें पूर्वबद्ध कर्म के उदय के निमित्त से होती हैं; उनके होने में आत्मा निमित्त भी नहीं है; इसीलिए उन क्रियाओं को औदयिकी क्रियायें कहते हैं।

उक्त क्रियाओं के लक्ष्य से जब यह आत्मा मोह-राग-द्वेष करता है, उनमें एकत्व-ममत्व करता है, कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप से जुड़ता है; तब बंध होता है। अत: बंध के कारण तो ये

एकत्व-ममत्व हैं, कर्तृत्व-भोक्तृत्व हैं, राग-द्वेष हैं। केवली भगवान के होनेवाली इन क्रियाओं में उनका न तो एकत्व-ममत्व है, न कर्तृत्व-भोक्तृत्व है और न उन्हें उनके प्रति राग-द्वेष हैं; यही कारण है कि उन्हें इनसे बंध नहीं होता।

वस्तुत: बात यह है कि अरहंत भगवान के विहार आदि शरीरसंबंधी क्रियायें तो आहार वर्गणा के कार्य हैं और दिव्यध्वनि का खिरना भाषावर्गणा का कार्य है। इन क्रियाओं का उपादानकारण तो आहारवर्गणा और भाषावर्गणा हैं और अंतरंग निमित्तकारण तत्संबंधी कर्मों का उदय है। अरहंत भगवान का आत्मा न तो इनका उपादान कारण ही है और न अंतरंग निमित्तकारण ही। जब अरहंत भगवान इसके कर्ता ही नहीं हैं; उनका इनमें एकत्व-ममत्व भी नहीं है तो फिर उन्हें बंध भी क्यों हो ?

बंध के कारण तो मोह-राग-द्वेषरूप भाव हैं। इन मोह-राग-द्वेषरूप भावों से केवली भगवान सर्वथा रहित हैं; अत: संयोग में उक्त क्रियायें होने पर भी संयोगी भावों के अभाव के कारण उन्हें बंध नहीं होता।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि भाषावर्गणाओं की तत्समय संबंधी उपादानगत योग्यता और संबंधित कर्मों का उदय ही दिव्यध्वनि के कारण हैं; अरहंत केवली का दिव्यध्वनि से कोई भी संबंध नहीं है तो फिर दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता का आधार क्या है ?

अरे भाई ! उपादान-उपादेय संबंध नहीं है और अंतरंगनिमित्त की अपेक्षा निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी नहीं है; फिर भी बहिरंग निमित्त की अपेक्षा सूर्य के उदय और कमल के खिलने के समान अरहंत भगवान और उनकी दिव्यध्वनि में सहज निमित्त-नैमित्तिकभाव तो है ही; दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता का आधार भी यही है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि दिव्यध्वनि में वस्तु का स्वरूप जैसा प्रतिपादित हुआ है; वस्तु भी ठीक उसीप्रकार की है। प्रामाणिकता के लिए इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है ?

कुछ लोग इस गाथा में समागत **मायाचारो व्व इत्थीणं** पद पर बहुत नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उनका कहना है कि **स्त्रियों में मायाचार स्वभावगत है** – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने महिलाओं का अपमान किया है। कुछ लोग तो यहाँ तक आगे बढ़ते हैं कि इस पद को बदल देना चाहिए। उनकी सलाह के अनुसार **मायाचार** के स्थान पर **मातृकाचार** कर देना चाहिए।

पर भाई, इसमें किसी की निन्दा-प्रशंसा की बात ही कहाँ है ? आचार्यदेव की माँ-बहिन

अथैवं सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति –

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा ।।४५।।

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ।।४५।।

भी तो महिलायें ही थीं। तीर्थंकरों की मातायें भी तो महिलायें ही होती हैं। उक्त कथन को स्त्रीनिन्दा के रूप में देखना समझदारी का काम नहीं है। यह स्त्री पर्याय में सहजभाव से होनेवाले भाव की बात है। महिलाओं के स्वभावगत मायाचार की तुलना भी तो अरहंत केवली के विहारादि कायिक क्रियाओं और केवली की दिव्यध्वनि से की है।

क्या आचार्यदेव दिव्यध्वनि की भी निन्दा करना चाहते हैं ?

दूसरे किसी भी आचार्य की कृति में फेरफार करने का अधिकार भी हमें कहाँ है ? जब आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन, सहजानन्दजी वर्णी, पाण्डे हेमराजजी, कविवर वृन्दावनदासजी एवं आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी आदि सभी को यह सहजभाव से स्वीकार है और इसमें उन्हें महिलाओं का अपमान नहीं दिखाई देता है तो फिर हमें ऐसा विकल्प क्यों आता है ? विगत दो हजार वर्षों में किसी को भी ऐसा भाव नहीं आया; पर आज यह सब हो रहा है। अरे भाई ! व्यर्थ के विकल्पों में उलझे बिना उक्त कथन में व्यक्त किये गये भावों को समझने में शक्ति लगाना ही श्रेयस्कर है ।।४४।।

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि यद्यपि भव्यों के भाग्य और अरहंत भगवान के पूर्व पुण्योदय के अनुसार दिव्यध्वनि प्रसारण व विहारादि कार्य देखे जाते हैं; तथापि मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण उन्हें बंध नहीं होता।

अब इस गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हुए यह कह रहे हैं कि तीर्थंकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पुण्यफल अरहंत जिन की क्रिया औदयिकी कही।
मोहादि विरहित इसलिए वह क्षायिकी मानी गई ।।४५।।

अरहंत भगवान पुण्य फलवाले हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है, किन्तु मोहादि रहित है; इसकारण वह औदयिकी क्रिया भी क्षायिकी मानी गई है।

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति। क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव।

अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहराग-द्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्य-भूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत। अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय।।४५।।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार करते हैं –

"जिनके पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभांति पक गये हैं; उन अरहंत भगवान की जो भी क्रिया है, वह सब पुण्य के उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी ही है। ऐसा होने पर भी, महामोह राजा की समस्त सेना के क्षय से उत्पन्न होने से, मोह-राग-द्वेषरूपी उपरंजकों के अभाव के कारण से वह औदयिकी क्रिया भी चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती। इसकारण उक्त औदयिकी क्रिया को कार्यभूत बंध की अकारणता और कार्यभूत मोक्ष की कारणता के कारण क्षायिकी ही क्यों न मानी जाय?

जब वह क्षायिकी ही है तो फिर उन अरहंतों के कर्मविपाक भी स्वभाव-विघात का कारण नहीं होता – ऐसा निश्चित होता है।"

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं; तथापि उक्त तथ्य की सिद्धि के लिए वे भावमोह से रहित संसारियों का उदाहरण देते हैं। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

"प्रश्न – उक्त स्थिति में 'औदयिकभाव बंध के कारण हैं' – यह आगमवचन व्यर्थ ही सिद्ध होगा ?

उत्तर – यद्यपि औदयिकभाव बंध के कारण हैं; तथापि मोह के उदय से सहित औदयिक भाव ही बंध के कारण हैं; अन्य नहीं। द्रव्यमोह के उदय होने पर भी यदि यह जीव शुद्धात्मभावना के बल से भावमोहरूप परिणमन नहीं करता है तो बंध नहीं होता।

यदि कर्मोदयमात्र से ही बंध होता हो तो फिर संसारियों के सदैव कर्मोदय की विद्यमानता होने से सदैव-सर्वदा बंध ही होगा, मोक्ष कभी भी हो ही नहीं सकेगा।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि अरहंत भगवान के पूर्वपुण्य के उदय में समवशरण आदि विभूति होती है, विहार होता है, दिव्यध्वनि भी खिरती है; तथापि इन

सबकी न तो उन्हें कोई इच्छा है और न उनका इनमें एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही है। यह सब सहजभाव से ही होता रहता है। इसकारण इन क्रियाओं के होने पर भी उन्हें किसी भी प्रकार का बंध नहीं होता। इसकारण ये क्रियायें उनके लिए निष्फल ही हैं; इसीलिए उत्थानिका में कहा गया है कि पुण्य का विपाक अरहंत भगवान के लिए निष्फल ही है, अकिंचित्कर ही है।

जगत में कहा जाता है और आगम में भी कहा गया है कि औदयिक क्रिया बंध का कारण है; किन्तु मोहादिभावरूप औदयिक भावों के अभाव में औदयिक क्रिया भी बंध करने में समर्थ नहीं होती; यही कारण है कि अरहंत भगवान के विद्यमान उक्त औदयिक क्रियाओं को क्षायिकी क्रिया माना गया है; क्योंकि उनके मोह का पूर्णत: अभाव हो चुका है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि दिव्यध्वनि जैसे महान कार्य को अकिंचित्कर कहना, निष्फल कहना तो अच्छा नहीं लगता; क्योंकि दिव्यध्वनि से तो भव्यजीवों का अनंत उपकार होता है, जिनशास्त्रों का मूल आधार तो दिव्यध्वनि ही है।

अरे भाई ! भव्य श्रोताओं और पाठकों को अर्थात् हमारे और आपके लिए तो वह दिव्यध्वनि पूर्णत: कार्यकारी है, सफल है, सार्थक है; पर, यहाँ बात हमारी-तुम्हारी नहीं, अरहंत भगवान की है, उनके बंध की है। तात्पर्य यह है कि **अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि उनके लिए कर्मबंध करने में अकिंचित्कर है, निष्फल है। उन्हें उसके कारण किसी भी प्रकार का कर्मबंध नहीं होता – यही अकिंचित्कर का अर्थ है।**

प्रश्न – यहाँ तो साफ-साफ लिखा है कि **पुण्यफला अरहंता** अर्थात् पुण्य के फल में अरहंत होते हैं और आप कह रहे हैं कि............... ?

उत्तर – अरे भाई ! पुण्यफला अरहंता का अर्थ पुण्य के फल में अरिहंत होते हैं – यह नहीं है। इसका अर्थ तो यह है कि **अरहंत भगवान के पुण्य के उदय में जो क्रियायें होती हैं; वे पुण्य का फल हैं अर्थात् औदयिकी हैं; उनमें अरहंत भगवान का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।**

इसलिए यहाँ यह कहा गया है कि उक्त औदयिकी क्रियाओं के विद्यमान होने पर भी उनके कारण अरहंत भगवान को बंध नहीं होता; अत: उन क्रियाओं को (बन्ध की अकारणता और मोक्ष की कारणता सिद्ध होने से) क्षायिकी ही क्यों न मानी जाँय ?॥४५॥

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति –

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ।।४६।।

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन।
संसारोऽपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम् ।।४६।।

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैवावतिष्ठते। तथा च सर्व एव भूतग्रामाः समस्तबन्धसाधनशून्यत्वा-

---

४५ वीं गाथा में यह कहा है कि केवली भगवान की विहारादि क्रियायें औदयिकी होने पर भी क्षायिकी के समान ही हैं; क्योंकि रागादि भावों के अभाव में उन क्रियाओं के कारण उन्हें बंध नहीं होता।

अब इस ४६ वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि **उक्त कथन के आधार पर यदि कोई ऐसा मान ले कि केवली भगवान के समान अन्य सभी संसारी जीवों के भी स्वभाव के विघात का अभाव है तो उसका यह मानना ठीक नहीं है; क्योंकि संसारी जीव तो स्वयं शुभाशुभभावरूप परिणमित होते हैं और इसकारण उन्हें बंध भी होता है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यदि जीव स्वयं स्वभाव से शुभ-अशुभरूप न परिणमें।
तो सर्व जीवनिकाय के संसार भी ना सिद्ध हो ।।४६।।

यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा स्वयं स्वभाव से अर्थात् अपने भाव से शुभ या अशुभभावरूप परिणमित नहीं होता तो सभी जीवों के संसार का अभाव सिद्ध होगा।

उक्त गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यदि एकान्त से ऐसा माना जाय कि शुभाशुभभावरूप स्वभाव में (अपने भाव में) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता तो यह सिद्ध होगा कि वह सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्ध स्वभाव से अवस्थित है। इसप्रकार समस्त जीवसमूह समस्त बंध कारणों से रहित सिद्ध होने से संसार के अभावरूप स्वभाव के कारण नित्यमुक्तता को प्राप्त हो जावेंगे; किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्फटिक मणि के जपाकुसुम और तमालपुष्प के रंगरूप (परिणमित हो जाने के) स्वभावपने की तरह आत्मा के परिणामधर्मपना होने से शुभाशुभस्वभावयुक्तता प्रकाशित होती है।

दाजवंजवाभावस्वभावतो नित्यमुक्ततां प्रतिपद्येरन्। तच्च नाभ्युपगम्यते; आत्मनः परिणाम-धर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभावत्ववत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात्।।४६।।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार स्फटिक मणि लाल और काले फूल के निमित्त से लाल और काले स्वभावरूप परिणमित होता दिखाई देता है; उसीप्रकार आत्मा कर्मोपाधि के निमित्त से शुभाशुभभावरूप परिणमित होता दिखाई देता है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को नयविवक्षा से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सांख्यों जैसी मान्यतावाला कोई शिष्य यदि ऐसा कहे कि जिसप्रकार आत्मा शुद्धनय से शुभाशुभभावरूप परिणमित नहीं होता; उसीप्रकार अशुद्धनय से भी शुभाशुभभावरूप परिणमित नहीं होता हो तो व्यवहारनय से भी समस्त जीवों के संसार का अभाव हो जाये और सभी जीव सदा मुक्त ही सिद्ध हो जायेंगे।

इस पर वह सांख्यमतानुयायी शिष्य कहता है कि संसार का अभाव होता है तो हो जाने दो, वह तो हमारे लिए भूषण है, दूषण नहीं। उससे कहते हैं कि यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध बात है; क्योंकि संसारी जीवों के शुभाशुभभाव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में मूलरूप से यही कहा गया है कि केवली भगवान के जो दिव्यध्वनि का खिरना, विहार होना आदि क्रियायें पाई जाती हैं; उनके कारण उन्हें रंचमात्र भी बंध नहीं होता; क्योंकि केवली भगवान के मोह-राग-द्वेष का पूर्णतः अभाव हो गया है।

उक्त कथन के आधार पर कोई अज्ञानी यह कहने लगे कि जब केवली भगवान के चलने-फिरने और बोलते रहने पर भी बंध नहीं होता तो फिर हमें भी चलने-फिरने और बोलने के काल में बंध नहीं होना चाहिए।

उसके समाधान में इस गाथा में कहा गया है कि बंध तो मोह-राग-द्वेष से होता है, शारीरिक क्रियाओं से नहीं। केवली भगवान के मोह-राग-द्वेष नहीं है; अतः उन्हें उक्त क्रियाओं के सद्भाव में भी बंध नहीं होता और संसारी जीवों के मोह-राग-द्वेष होने से बंध होता है।

केवली भगवान के समान यदि संसारी जीवों के भी औदयिकी क्रियाओं के काल में बंध का अभाव माना जायेगा तो फिर संसार ही नहीं रहेगा; क्योंकि बंधदशा का नाम ही संसार है।।४६।।

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञानं सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति –

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं।।४७।।

यत्तात्कालिकमितरं जानाति युगपत्समन्ततः सर्वम्।
अर्थं विचित्रविषमं तत् ज्ञानं क्षायिकं भणितम्।।४७।।

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिकं चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजातं, पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरोधधापितासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्यं क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात्।

तस्य हि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकं वाप्यर्थजातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत। सर्वतो विशुद्धस्य

अब इस ४७वीं गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि प्रकरणगत विषय का अनुसरण करते हुए एक बार फिर अतीन्द्रियज्ञान का सर्वज्ञता के रूप में अभिनन्दन करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो तात्कालिक अतात्कालिक विचित्र विषमपदार्थ को।
चहुं ओर से इक साथ जाने वही क्षायिक ज्ञान है।।४७।।

जो ज्ञान तात्कालिक, अतात्कालिक, विचित्र और विषम – सभी प्रकार के समस्त पदार्थों को सर्वात्मप्रदेशों से जानता है, उस ज्ञान को क्षायिक ज्ञान कहा गया है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार समझाते हैं –

''वस्तुतः जिनमें पृथक्रूप से वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण विचित्रता प्रगट हुई है और परस्पर विरोध से उत्पन्न होनेवाली असमानजातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है; ऐसे भूत, भविष्य और वर्तमान में वर्तते समस्त पदार्थों को वह क्षायिकज्ञान सर्वात्मप्रदेशों से एक समय में ही जान लेता है।

वह क्षायिकज्ञान, क्रमप्रवृत्ति के हेतुभूत क्षयोपशम अवस्था में रहनेवाले ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलों का अत्यन्त अभाव होने से तात्कालिक-अतात्कालिक पदार्थ समूह को समकाल में ही प्रकाशित करता है।

प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत। सर्वावरणक्षयाद्देशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत।

सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विविचित्रमपि प्रकाशेत। असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत।

अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात्।।४७।।

वह सर्वविशुद्ध क्षायिकज्ञान, प्रतिनियत प्रदेशों की विशुद्धि का सर्वविशुद्धि में डूब जाने से सभी पदार्थों को सर्वात्मप्रदेशों से प्रकाशित करता है और सर्व आवरणों का क्षय होने से व देश आवरण का क्षयोपशम न रहने से भी सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है।

ज्ञानावरण के सर्वप्रकार क्षय हो जाने से और असर्वप्रकार के ज्ञानावरण के क्षयोपशम के विलय को प्राप्त हो जाने से वह अतीन्द्रियज्ञान विचित्र अर्थात् अनेकप्रकार के पदार्थों को प्रकाशित करता है।

असमानजातीय ज्ञानावरण के क्षय हो जाने से और समानजातीय ज्ञानावरण के क्षयोपशम के नष्ट हो जाने से वह विषम अर्थात् असमानजातीय पदार्थों को भी प्रकाशित करता है।

अथवा अतिविस्तार से क्या लाभ है ? इतना ही पर्याप्त है कि जिसका अनिवारित फैलाव है – ऐसा वह प्रकाशमान क्षायिकज्ञान अवश्यमेव सर्वत्र सर्व पदार्थों को सर्वथा और सदा जानता ही है।''

इस गाथा में अतीन्द्रियज्ञान की सर्वज्ञता सिद्ध की गई है। कहा गया है कि अतीन्द्रियज्ञान पर की सहायता बिना स्वयं के सर्वात्मप्रदेशों से जानता है, अक्रम से जानता है, सभी को जानता है और भूत, भविष्य और वर्तमान – तीनों कालों में घटित होनेवाली घटनाओं-पर्यायों को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष जानता है; क्योंकि क्रमपूर्वक जानना, नियत आत्मप्रदेशों से ही जानना, अमुक को ही जानना आदि मर्यादायें क्षायोपशमिकज्ञान में ही होती हैं। अतीन्द्रियज्ञान अर्थात् केवलज्ञान में ऐसी कोई मर्यादा नहीं होती।

ज्ञान की सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय में आशंकायें व्यक्त करनेवालों को इस गाथा के भाव को गंभीरता से जानने का प्रयास करना चाहिए।।४७।।

विगत गाथा में यह बताया गया है कि अतीन्द्रियज्ञान, क्षायिकज्ञान, केवलज्ञान; तात्कालिक, अतात्कालिक, विचित्र और विषम – सभी प्रकार के पदार्थों को सर्वात्मप्रदेशों से एकसाथ जानता है।

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति –

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।।४८।।

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा।।४८।।

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकंधर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसंख्येयानि कालद्रव्याण्यनन्तानि जीवद्रव्याणि। ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि। तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमान-भेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ताः पर्यायाः। एवमेतत्समस्तमपि समुदितं ज्ञेयम्। इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ।

अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहनः समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणत-

---

अब इस ४८ वीं गाथा में उसी बात को सिद्ध करते हुए यह कहा जा रहा है कि जो ज्ञान सबको नहीं जानता; वह ज्ञान एक अपने आत्मा को भी सम्पूर्णतः नहीं जान सकता।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जाने नहीं युगपद् त्रिकालिक अर्थ जो त्रैलोक्य के।
वह जान सकता है नहीं पर्यय सहित इक द्रव्य को ।।४८।।

जो तीन काल और तीन लोक के सभी पदार्थों को एक ही साथ नहीं जानता; वह पर्यायों सहित एक द्रव्य को भी नहीं जान सकता।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इस विश्व में एक आकाशद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्य कालद्रव्य, अनंत जीवद्रव्य और जीवद्रव्यों से भी अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं। उन सभी द्रव्यों की अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की अतीत, अनागत और वर्तमान भेदवाली निरवधि (अनादि-अनन्त) वृत्तिप्रवाह के भीतर पड़नेवाली अनन्त पर्यायें हैं। यह समस्त द्रव्य और पर्यायों का समुदाय ज्ञेय है और इन्हीं सब में से एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है।

अब यहाँ जिसप्रकार समस्त दाह्य (ईंधन) को जलाती हुई अग्नि, समस्त दाह्य जिसका निमित्त है – ऐसे समस्त दाह्याकार पर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार

सकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्त-ज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति। एवं किल द्रव्यस्वभावः।

यस्तु समस्तं ज्ञेयं न जानाति स समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकार-पर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरि-णतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति।

एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति ।।४८।।

(स्वरूप) है – ऐसे एक अपनेरूप (अग्निरूप) परिणमित होती है; उसीप्रकार समस्त ज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञाता आत्मा समस्त ज्ञेय जिसका निमित्त है – ऐसे समस्त ज्ञेयाकार पर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है – ऐसे निजरूप से जो चेतनता के कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष है – उसरूप परिणमित होता है। वस्तुतः द्रव्य का ऐसा स्वभाव है।

किन्तु जो समस्त ज्ञेय को नहीं जानता, वह आत्मा; जिसप्रकार समस्त दाह्य को नहीं जलाती हुई अग्नि समस्त दाह्यहेतुक समस्त दाह्याकार-पर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है , ऐसे अपनेरूप में परिणमित नहीं होती; उसीप्रकार समस्त ज्ञेयहेतुक समस्त ज्ञेयाकार पर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार है; ऐसे अपने रूप में – स्वयं चेतनता के कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष होने पर भी – परिणमित नहीं होता अर्थात् अपने को परिपूर्णतया अनुभव नहीं करता, नहीं जानता।

इसप्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता, वह अपने आत्मा को भी नहीं जानता।''

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि 'इन्हीं सबमें से एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है' – ऐसा कहकर यहाँ क्या कहना चाहते हैं; क्या सभी जीवद्रव्य ज्ञाता नहीं हैं ?

अरे भाई ! ज्ञाता तो सभी जीव हैं, किन्तु सभी जीवद्रव्य ज्ञेय भी हैं। जब एक जीवद्रव्य जानने का काम करता है, जानता है, सभी को जानता है; तब वह अकेला स्वयं ज्ञाता होता है और अन्य अजीव द्रव्यों के साथ-साथ उससे भिन्न शेष जीवद्रव्य भी ज्ञेय ही होते हैं।

इसप्रकार प्रत्येक जीव स्वयं के लिए ज्ञाता और ज्ञेय – दोनों है; किन्तु अन्यजीव उसके लिए अजीवद्रव्यों के समान ज्ञेय ही हैं। यही कारण है कि यहाँ ऐसा लिखा गया है कि इन्हीं सब में से एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है।

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका का तो अनुसरण करते ही हैं; तथापि वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि सभी पदार्थ ज्ञेय हैं और उनमें से विवक्षित एक जीवद्रव्य ज्ञाता है।

समस्त ईंधन को जलानेवाली अग्नि का उदाहरण तो वे तत्त्वप्रदीपिका के समान ही देते हैं; किन्तु साथ ही अन्य उदाहरण भी देते हैं; जो इसप्रकार हैं –

"जिसप्रकार कोई अन्धा व्यक्ति सूर्य से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ सूर्य को नहीं देखने के समान; दीपक से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ दीपक को नहीं देखने के समान; दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब को नहीं देखते हुए दर्पण को नहीं देखने के समान; अपनी दृष्टि से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ हाथ-पैर आदि अंगोंरूप से परिणत अपने शरीराकार स्वयं को अपनी दृष्टि से नहीं देखता; उसीप्रकार यह विवक्षित आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशित पदार्थों को नहीं जानता हुआ सम्पूर्ण अखण्ड एक केवलज्ञानरूप आत्मा को भी नहीं जानता। इससे यह निश्चित हुआ कि जो सबको नहीं जानता, वह अपने को भी नहीं जानता।"

उक्त उदाहरणों से यह बात पूरी तरह साफ हो गई है कि जिसप्रकार सूर्य व दीपक के प्रकाश में और दर्पण में प्रकाशित पदार्थों को नहीं जाननेवाला अंधा व्यक्ति सूर्य, दीपक और दर्पण को भी नहीं जानता; उसीप्रकार अतीन्द्रियज्ञान, केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित पदार्थों को नहीं जाननेवाला आत्मा अतीन्द्रिय केवलज्ञान और केवलज्ञानी आत्मा को भी नहीं जान सकता।

इसप्रकार विविध उदाहरणों के माध्यम से इस गाथा और इसकी टीकाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान का स्वभाव कुछ ज्ञेयों को जानना नहीं है; अपितु सभी पदार्थों, उनके गुणों और उनकी पर्यायों को एकसाथ एक समय में ही जानना है, जाननेरूप परिणमना है।

जो ज्ञाता अभी समस्त गुण-पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों के जाननेरूप नहीं परिणम रहा है; वह अभी सम्पूर्ण गुण-पर्यायों सहित अपने आत्मा को भी नहीं जान रहा है।

तात्पर्य यह है कि जो सर्व गुण-पर्यायों सहित सबको नहीं जानता; वह सर्व गुण-पर्यायों सहित स्वयं को भी नहीं जान सकता। इसीप्रकार जो सर्व गुण-पर्यायों सहित स्वयं को नहीं जानता; वह सर्व गुण-पर्यायों सहित पर को भी नहीं जान सकता; क्योंकि स्व-पर को सर्व गुण-पर्यायों सहित जानना एकसाथ ही होता है, केवलज्ञान में ही होता है।

अत: यह सुनिश्चित ही है कि केवलज्ञान में अपने आत्मा सहित सभी पदार्थ अपने-अपने अनंत गुण और उनकी अनन्त पर्यायों सहित प्रतिसमय एकसाथ जानने में आते हैं।

वस्तुत: बात यह है कि यह भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, सबको देखने-जानने के स्वभाववाला है। **कुछ को जानना और कुछ को नहीं जानना आत्मा का स्वभाव नहीं; अपितु**

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति –

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ।।४९।।

द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ।।४९।।

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव। ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम्। तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि। ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबंधनाः।

विभाव है। यही कारण है कि नियमसार की गाथा ११-१२ में मतिज्ञानादि क्षयोपशम ज्ञानों को विभाव कहा है।।४८।।

४८वीं गाथा में यह कहा गया है कि जो तीन लोक और तीन काल के सभी पदार्थों को एकसाथ नहीं जानता, वह सम्पूर्ण पर्यायों सहित अपने आत्मा को भी नहीं जान सकता।

अब इस ४९वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि जो **एक अपने आत्मा को भी पूर्णतः नहीं जानता है, वह सबको सम्पूर्णतः कैसे जान सकता है ?** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इक द्रव्य को पर्यय सहित यदि नहीं जाने जीव तो।
फिर जान कैसे सकेगा इक साथ द्रव्यसमूह को ।।४९।।

जो पुरुष अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्य (आत्मद्रव्य) को और अनन्त द्रव्यसमूह को एकसाथ नहीं जानता; वह पुरुष एक ही साथ सबको कैसे जान सकता है ?

इस गाथा का अर्थ प्रकारान्तर से इसप्रकार भी किया जाता है –

यदि अनंत पर्यायवाले एक द्रव्य को, आत्मद्रव्य को जो पुरुष नहीं जानता है; तो वह पुरुष एकसाथ सबको अर्थात् अनंत द्रव्यसमूह को कैसे जान सकता है ?

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“प्रथम तो यह आत्मा ज्ञानमय होने से ज्ञातृत्व के कारण वस्तुतः ज्ञान ही है और वह ज्ञान प्रत्येक आत्मा में रहता हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है। वह प्रतिभासमय महासामान्य, प्रतिभासमय अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाला है और उन विशेषों के निमित्त सभी द्रव्य और उनकी सभी पर्यायें हैं।

अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभासमयानन्तविशेषनिबन्धनभूतसर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात्। एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति। अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते।

एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति। यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत्।।४९।।

अब जो आत्मा; सभी द्रव्य और उनकी सभी पर्यायें जिनके निमित्त हैं – ऐसे अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्मा का स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता; वह प्रतिभासमय महासामान्य के द्वारा व्याप्य प्रतिभासमय अनंत विशेषों के निमित्तभूत सभी द्रव्यों और उनकी सभी पर्यायों को प्रत्यक्ष कैसे कर सकेगा? इससे यही फलित होता है कि जो आत्मा को नहीं जानता; वह सबको भी नहीं जानता। इससे यह निश्चित होता है कि सब के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान और आत्मा के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है।

ऐसा होने पर आत्मा ज्ञानमयता के कारण स्वसंचेतक होने से, ज्ञाता और ज्ञेय का वस्तुरूप से अन्यत्व होने पर भी प्रतिभास और प्रतिभासमान इन दोनों का स्व-अवस्था में अन्योन्य मिलन होने के कारण उनमें भेदभाव करना अत्यन्त अशक्य होने से सर्व पदार्थसमूह आत्मा में प्रविष्ट हो गये हों की भांति प्रतिभासित होता है, ज्ञात होता है।

यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेतन का अभाव होने से परिपूर्ण एक आत्मा का भी ज्ञान सिद्ध नहीं होगा।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में इस गाथा का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका के समान ही करते हैं; तथापि वे स्वयं शंका उपस्थित कर उसका समाधान इसप्रकार करते हैं –

''अब यहाँ शिष्य कहता है कि आत्मा का ज्ञान होने पर सब का ज्ञान होता है – ऐसा यहाँ कहा गया है; किन्तु विगत गाथा में कहा गया था कि सबका ज्ञान होने पर आत्मा का ज्ञान होता है। यदि ऐसा है तो छद्मस्थों को तो सबका ज्ञान नहीं होता, उन्हें आत्मज्ञान कैसे होगा? आत्मज्ञान के अभाव में आत्मभावना भी कैसे हो सकती है ? आत्मज्ञान और आत्मभावना के अभाव में केवलज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है।

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्ध्यतीति निश्चिनोति। अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्ध्यतीति व्यवतिष्ठते –

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥
तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥५१॥

उक्त आशंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि परोक्षप्रमाणभूत श्रुतज्ञान के द्वारा सभी पदार्थ जाने जाते हैं। यदि कोई कहे कि परोक्षप्रमाणभूत श्रुतज्ञान द्वारा सभी पदार्थ कैसे जाने जाते हैं तो उससे कहते हैं कि छद्मस्थों के भी व्याप्तिज्ञान द्वारा, अनुमान प्रमाणज्ञान द्वारा लोकालोक का ज्ञान होता देखा जाता है।

केवलज्ञान संबंधी विषय को ग्रहण करनेवाला वह व्याप्तिज्ञान परोक्षरूप से कथंचित् आत्मा ही कहा गया है अथवा स्वसंवेदनज्ञान से आत्मा जाना जाता है और उसी से आत्मभावना की जाती है और उस रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप आत्मभावना से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इसप्रकार उक्त कथनों में कोई दोष नहीं है।''

अनन्त गुण-पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जानने की सहज प्रक्रिया यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्यायों सहित केवलज्ञानी आत्मा के केवलज्ञान में एकसाथ झलकते हैं, प्रतिबिम्बित होते हैं, ज्ञात होते हैं, जाने जाते हैं। इससे यह सहज ही सिद्ध होता है कि जिस केवलज्ञानी पुरुष ने अपनी केवलज्ञानपर्याय को जाना, उसके ज्ञान में केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित पदार्थ भी सहजभाव से जाने ही गये हैं। अतः यह कहना उचित ही है कि जो व्यक्ति सम्पूर्ण गुण-पर्यायों सहित स्वयं को जानता है; वह सभी पदार्थों को गुण-पर्यायों सहित जानता ही है और जो व्यक्ति स्वयं को सम्पूर्ण गुण-पर्यायों सहित नहीं जानता, वह अन्य सभी पदार्थों को भी नहीं जान सकता ॥४९॥

जो सबको नहीं जानता, वह सर्वपर्यायों सहित स्वयं को भी नहीं जान सकता और जो स्वयं को नहीं जानता, वह सर्व गुण-पर्यायों सहित पर को भी नहीं जान सकता।

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि क्रम-क्रम से जाननेवाला ज्ञान नित्य, क्षायिक और सर्वगत नहीं होता; किन्तु जिनदेव का नित्य रहनेवाला क्षायिक ज्ञान सभी को अक्रम (युगपद्) से जानता है; इसलिए सर्वगत है।

उत्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः।
तन्नैव भवति नित्यं न क्षायिकं नैव सर्वगतम्।।५०।।
त्रैकाल्यनित्यविषमं सकलं सर्वत्रसंभवं चित्रम्।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम्।।५१।।

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात् प्रलीयमानं नित्यमसत्तथा कर्मोदयादेकां व्यक्तिं प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमानं क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगतं न स्यात्।।५०।।

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्यं। यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्त-

उक्त तथ्य को स्पष्ट करनेवाली गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पदार्थ का अवलम्ब ले जो ज्ञान क्रमशः जानता।
वह सर्वगत अर नित्य क्षायिक कभी हो सकता नहीं।।५०।।
सर्वज्ञ जिन के ज्ञान का माहात्म्य तीनों काल के।
जाने सदा सब अर्थ युगपद् विषम विविध प्रकार के।।५१।।

यदि ज्ञानी का ज्ञान पदार्थों का अवलम्बन लेकर क्रमशः उत्पन्न होता हो तो वह ज्ञान नित्य नहीं है; क्षायिक नहीं है और सर्वगत भी नहीं है।

सब क्षेत्रों के अनेकप्रकार के सभी विषम पदार्थों को जिनदेव का ज्ञान सदा एकसाथ जानता है। अहो! क्षायिकज्ञान का माहात्म्य अपार है।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जो ज्ञान क्रमशः एक-एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है; वह ज्ञान एक पदार्थ के अवलम्बन से उत्पन्न होकर दूसरे पदार्थ के अवलम्बन से नष्ट हो जाने से नित्य नहीं होता हुआ; कर्मोदय के कारण एक व्यक्तता को प्राप्त करके फिर अन्य व्यक्तता को प्राप्त करता है, इसलिए क्षायिक नहीं होता हुआ; अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त होने में असमर्थ होने से सर्वगत नहीं है।

वस्तुतः सर्वोत्कृष्टता का स्थानभूत क्षायिकज्ञान उत्कृष्ट महिमावंत है। जो ज्ञान एक साथ ही समस्त पदार्थों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तता है; टंकोत्कीर्ण न्याय से अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार स्थित होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है और समस्त व्यक्तता को प्राप्त कर लेने

व्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभावं त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यां परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्यं सर्वगतमेव स्यात् ॥५१॥

से जिसने स्वभावप्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है; वह ज्ञान विषम रहनेवाले अर्थात् असमानजाति रूप से परिणमित होनेवाले और अनंत प्रकारों के कारण विचित्रता को प्राप्त सम्पूर्ण पदार्थों के समूह को त्रिकाल में सदा जानते हुए, अक्रम से अनंत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त होने से जिसने अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है – ऐसा सर्वगत है।''

तात्पर्य यह है कि पदार्थों को क्रम-क्रम से जाननेवाले क्षयोपशम ज्ञानी सर्वज्ञ नहीं हैं; अपितु सम्पूर्ण गुण-पर्यायों सहित सभी पदार्थों को एकसाथ जाननेवाले क्षायिकज्ञानी ही सर्वज्ञ हैं। यह सर्वज्ञता ही ज्ञान का स्वभाव है, स्वभाव परिणमन है, सदा रहनेवाली है; क्षयोपशम ज्ञानरूप अल्पज्ञता न तो सदा एक सी रहनेवाली ही है और न एकसाथ सबको जान ही सकती है।

इसप्रकार यहाँ क्षायिकज्ञानरूप सर्वज्ञता की महिमा बताई गई है और क्षयोपशमज्ञानरूप अल्पज्ञता की अनित्यता, असारता स्पष्ट की गई है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का निष्कर्ष निकालते हुए स्वयं प्रश्न उठाकर उत्तर देते हुए इसप्रकार मार्गदर्शन देते हैं –

''प्रश्न – एकसाथ सम्पूर्ण पदार्थों को जाननेवाले ज्ञान से सर्वज्ञ होते हैं – ऐसा जानकर क्या करना चाहिए?

उत्तर – अज्ञानी जीवों के चित्त को चमत्कृत करने के कारण परमात्मभावना को नष्ट करनेवाले जो ज्योतिष, मंत्रवाद, रससिद्धि आदि एकदेशज्ञानरूप क्षयोपशमज्ञान है; तत्संबंधी आग्रह छोड़कर तीन लोक तीन कालवर्ती सम्पूर्ण वस्तुओं को एकसाथ प्रकाशित करनेवाले अविनश्वर, अखण्ड, एक प्रतिभासमय सर्वज्ञता की उत्पत्ति का कारणभूत, सम्पूर्ण रागादि विकल्प-जालरहित सहज शुद्धात्मा से अभेदरूप ज्ञान की भावना करनी चाहिए। – यह तात्पर्य है।''

इन गाथाओं में क्षायोपशमिक ज्ञान की कमजोरियों को उजागर करते हुए उसके आश्रय से होनेवाले अहंकार का परिहार कर क्षायिक ज्ञान की महिमा बताई गई है; क्योंकि अनंत अतीन्द्रिय सुख की पूर्णतः प्राप्ति एकमात्र क्षायिकज्ञानवालों को ही होती है।

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति –

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्टेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।।५२।।

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्तः।।५२।।

यहाँ क्षयोपशम ज्ञान संबंधी तीन कमजोरियों को उजागर किया गया है। कहा गया है कि केवलज्ञान के समान वह नित्य नहीं है, क्षायिक नहीं है और सर्वगत भी नहीं है; इसलिए वह सभी को नहीं जान सकता, सम्पूर्ण पर्यायों सहित अपने को भी नहीं जान सकता। अनित्य होने से आज जितना ज्ञान हमें है; कल भी उतना ही रहेगा; इसकी कोई गारंटी नहीं।

क्षायिक ज्ञान की तुलना में यह क्षयोपशम ज्ञान अत्यन्त अल्प है, अस्पष्ट है, परोक्ष और नाशवान है। क्षायिक ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को उनके गुण-पर्यायों सहित एक समय में एक साथ जाननेवाला है, अत्यन्त स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है, नित्य एकरूप ही रहनेवाला है; अतः प्राप्त करने की दृष्टि से परम उपादेय है।

इसप्रकार इन गाथाओं में क्षायोपशमिक ज्ञान की लघुता और क्षायिकज्ञान की महानता बताई गई है।।५०-५१।।

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञान क्षायोपशमिक होने से अनित्य है और क्रमिक ज्ञानवाला पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता; किन्तु अक्रम से प्रवर्तमान ज्ञान क्षायिक होने से नित्य है और अक्रमिक ज्ञानवाला पुरुष ही सर्वज्ञ हो सकता है।

अब ज्ञानाधिकार की इस अन्तिम गाथा में उपसंहार करते हुए कहते हैं कि **केवलज्ञानी के ज्ञप्तिक्रिया के सद्भाव होने पर भी उन्हें क्रिया से होनेवाला बंध नहीं होता।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है।

(हरिगीत)

सवार्थ जाने जीव पर उनरूप न परिणमित हो।
बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो।।५२।।

केवलज्ञानी आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उनरूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न भी नहीं होता; इसलिए उसे अबंधक कहा है।

इह खलु –

'उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढ़ो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि।।४३।।'

इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूतं बंधमनुभवति, न तु ज्ञानादिति।

प्रथममेवार्थपरिणमनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात्, तथा –

'गेण्हदि णेव ण मुञ्जदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।।३२।।'

इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपितत्वाच्चार्थानपरिणमतोऽगृह्णतस्तेष्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बंधः सिद्ध्येत्।।५२।।

आचार्य अमृतचन्द्र ज्ञानाधिकार के उपसंहार की इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यहाँ– जिनवर कहें उसके नियम से उदयगत कर्मांश हैं।
वह राग-द्वेष-विमोह बस नित बंध का अनुभव करे।।४३।।

जिनवरवृषभों ने कहा है कि संसारी जीवों के उदयगत कर्मांश नियम से होते हैं। उन कर्मांशों के होने पर जीव मोही, रागी और द्वेषी होता हुआ बंध का अनुभव करता है।

इसी प्रवचनसार की उक्त ४३ वीं गाथा में कहा है कि उदयगत पुद्गलकर्म के अंशों के अस्तित्व में चेतित होने पर, जानने पर, अनुभव करने पर मोह-राग-द्वेषरूप में परिणत होने से ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया के साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफलभूत बंध का अनुभव करता है; किन्तु ज्ञान से बंध नहीं होता।

इसप्रकार प्रथम ही अर्थपरिणमन क्रिया के फलरूप से बंध का समर्थन किया गया है।

तथा– केवली भगवान पर न ग्रहे छोड़े परिणमें।
चहुं ओर से सम्पूर्णतः निरवशेष वे सब जानते।।३२।।

केवली भगवान पर-पदार्थों को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं और न पररूप परिणमित ही होते हैं; वे तो निरवशेषरूप से सबको सर्व ओर से देखते-जानते हैं।

इसी प्रवचनसार की उक्त ३२वीं गाथा में शुद्धात्मा के अर्थपरिणमनादि क्रियाओं का अभाव बताया गया है; इसलिए जो आत्मा परपदार्थरूप से परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उनरूप उत्पन्न नहीं होता; उस आत्मा के ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होने पर भी क्रियाफलभूत बंध सिद्ध नहीं होता।"

(स्रग्धरा)

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका के समान ही निरूपण करते हुए अन्त में स्वसंवेदनज्ञान की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं कि **रागादि रहित ज्ञान बंध का कारण नहीं है – ऐसा जानकर रागादि रहित निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान की ही भावना करनी चाहिए।**

वस्तुत: इस गाथा में सम्पूर्ण ज्ञानाधिकार में प्रतिपादित विषयवस्तु का ही उपसंहार है; नया प्रमेय कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि केवली भगवान ज्ञान को ही ग्रहण करते हैं, ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं और ज्ञानरूप में ही उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार केवली भगवान के प्राप्य, विकार्य और निर्वृर्त्य – तीनों कर्म ज्ञान ही हैं, ज्ञानरूप ही हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान ही केवली भगवान का कर्म है और ज्ञप्ति ही केवली भगवान की क्रिया है।

ज्ञप्तिक्रिया बंध का कारण नहीं है, अपितु ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया अर्थात् ज्ञेयपदार्थों के सम्मुख वृत्ति होना ही बंध का कारण है। केवली भगवान के ज्ञप्तिक्रिया होने पर भी ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया नहीं है; इसकारण उन्हें बंध नहीं होता।

इसप्रकार उक्त गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि वीतरागभावपूर्वक सहजभाव से होनेवाला पर-पदार्थों का ज्ञान बंध का कारण नहीं है; क्योंकि स्वपर को जानना तो आत्मा का सहजस्वभाव है; अत: किसी को भी जानना बंध का कारण कैसे हो सकता है ?

वस्तुत: बंध का कारण तो रागभाव है; इसकारण ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया के कर्ता रागी-द्वेषी-मोही जीव बंध को प्राप्त होते हैं; किन्तु जिन वीतरागी भगवन्तों के ज्ञान में वीतरागभाव से सहज जानना होता रहता है; उनका वह ज्ञान बंध का कारण नहीं है। यही कारण है कि केवली भगवान को बंध नहीं होता॥५२॥

इस अधिकार के अन्त में तत्त्वप्रदीपिका टीका के कर्ता आचार्य अमृतचन्द्रदेव एक महत्त्वपूर्ण काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(मनहरण कवित्त)

जिसने किये हैं निर्मूल घातिकर्म सब।
अनंत सुख वीर्य दर्श ज्ञान धारी आतमा॥
भूत भावी वर्तमान पर्याय युक्त सब।
द्रव्य जाने एक ही समय में शुद्धातमा॥

तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपांत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ।।४।।

—इति ज्ञानाधिकारः ।।

मोह का अभाव पररूप परिणमें नहीं।
सभी ज्ञेय पीके बैठा ज्ञानमूर्ति आतमा ।।
पृथक्-पृथक् सब जानते हुए भी ये।
सदा मुक्त रहें अरहंत परमातमा ।।४।।

जिसने कर्मों को छेद डाला है – ऐसा यह आत्मा विश्व के समस्त पदार्थों को उनकी भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों के साथ एकसाथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता; इसलिए अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी डाला है समस्त ज्ञेयाकारों को जिसने – ऐसा यह ज्ञानमूर्ति आत्मा तीनों लोकों के सभी पदार्थों के ज्ञेयाकारों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ कर्मबंधन से मुक्त ही रहता है।

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि लोकालोक को जाननेवाला यह ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण सबको सहजभाव से जानते हुए भी कर्मबंध को प्राप्त नहीं होता।

इसप्रकार यहाँ ज्ञानाधिकार समाप्त होता है।

वैसे तो आचार्य जयसेन भी 'ज्ञानाधिकार यहीं समाप्त हो गया है' – यह स्वीकार कर लेते हैं। इसका उल्लेख भी वे तात्पर्यवृत्ति टीका में स्पष्टरूप से करते हैं; तथापि अन्त में एक गाथा और जोड़ देते हैं; जो आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है।

इस गाथा में कोई नया प्रमेय उपस्थित नहीं किया गया है; अपितु यह गाथा एकप्रकार से अधिकार के अन्त में होनेवाले मंगलाचरणरूप गाथा ही है; क्योंकि तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त इसकी उत्थानिका में स्पष्ट उल्लेख है कि **ज्ञानप्रपंच के व्याख्यान के उपरान्त अब ज्ञान के आधारभूत सर्वज्ञदेव को नमस्कार करते हैं।**

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो।
भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं।।२।।

(हरिगीत)

नमन करते जिन्हें नरपति सुर-असुरपति भक्तगण।
मैं भी उन्हीं सर्वज्ञजिन के चरण में करता नमन ॥२॥

जिन सर्वज्ञदेव को देवेन्द्र, असुरेन्द्र और बड़े-बड़े नरेन्द्र आदि भक्तगण सदा नमस्कार करते हैं; मैं भी उपयोग लगाकर भक्तिभाव से उन्हें नमस्कार करता हूँ।

इसकी टीका में आचार्य जयसेन कुछ विशेष न लिखकर सामान्यार्थ ही कर देते हैं।

इसप्रकार यह **ज्ञानाधिकार यहाँ समाप्त होता है।**

इस ज्ञानाधिकार में शुद्धोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान अर्थात् क्षायिकज्ञान – केवलज्ञान का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है।

इस अधिकार में न केवल अतीन्द्रिय अनंतसुख के साथ प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान के गीत गाये गये हैं, इसकी महिमा का गुणगान किया गया है; अपितु सर्वज्ञता के स्वरूप पर गहराई से चिन्तन किया गया है, विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें ज्ञान के स्वपरप्रकाशक स्वभाव पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अत: जिन्हें सर्वज्ञता पर भरोसा नहीं है; किसी आत्मा का पर को जानना इष्ट नहीं है; अत: सर्वज्ञता भी इष्ट नहीं है; उन्हें इस प्रकरण का गइराई से मंथन करना चाहिए।

सर्वज्ञता के ज्ञान और उस पर होनेवाली दृढ़ आस्था से पदार्थों के सुनिश्चित परिणमन की श्रद्धा भी जागृत होती है; जिसके फलस्वरूप अनंत आकुलता एक क्षण में समाप्त हो जाती है।

पदार्थों के क्रमनियमित परिणमन को गहराई से समझने के लिए भी सर्वज्ञता एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो, उसे ही सच्चा देव कहते हैं तथा सर्वज्ञोपदिष्ट जिनवाणी ही शास्त्र है। सर्वज्ञोपदिष्ट जिनवाणी के अनुसार आचरण करनेवाले ज्ञान-ध्यानी आत्मानुभूति सम्पन्न वीतरागी सन्त ही सच्चे गुरु हैं। इसलिए जो प्रतिदिन देव-शाास्त्र-गुरु की भक्ति करते हैं, पूजन करते हैं; उन्हें भी सर्वज्ञता का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसप्रकार सर्वज्ञता को समर्पित यह क्रान्तिकारी अधिकार अत्यधिक उपयोगी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अंतर्गत ज्ञानाधिकार समाप्त होता है।

●●●

सुखाधिकार

(गाथा ५३ से गाथा ६८ तक)

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति –

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु।
ज्ञानं च तथा सौख्यं यत्तेषु परं च तत् ज्ञेयम् ॥५३॥

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति। इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति। तत्र यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम्।

तत्राद्यं मूर्ताभिः क्षायोपशमिकीभिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कं, क्रमकृतप्रवृत्ति सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम्।

मंगलाचरण

(दोहा)

इन्द्रिय सुख तो सुख नहीं भाषी श्री भगवान।
अरे अतीन्द्रिय सुक्ख ही सचमुच सुख की खान ॥

प्रवचनसार परमागम के प्रथम महाधिकार ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन के अन्तर्गत आनेवाले शुद्धोपयोगाधिकार एवं ज्ञानाधिकार की चर्चा के उपरान्त अब सुखाधिकार की चर्चा आरंभ करते हैं। प्रवचनसार की ५३वीं गाथा एवं सुखाधिकार की प्रथम गाथा में **ज्ञान से अभिन्न सुख का स्वरूप बताते हुए ज्ञान तथा सुख की हेयोपादेयता बताते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

मूर्त और अमूर्त इन्द्रिय अर अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख।
इनमें अमूर्त अतीन्द्रियी ही ज्ञान-सुख उपादेय हैं ॥५३॥

पदार्थों में प्रवृत्त ज्ञान अमूर्त व मूर्त तथा अतीन्द्रिय व ऐन्द्रिय होता है। इसीप्रकार सुख भी अमूर्त-मूर्त और अतीन्द्रिय-ऐन्द्रिय होता है। इनमें जो प्रधान हैं; वे उपादेय हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"एक प्रकार के ज्ञान व सुख मूर्त व इन्द्रियज होते हैं और दूसरे प्रकार के ज्ञान व सुख अमूर्त व अतीन्द्रिय होते हैं। इनमें अमूर्त व अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख प्रधान होने से उपादेय हैं।

इसमें पहले (इन्द्रियजन्य) ज्ञान व सुख क्षायोपशमिक उपयोग शक्तियों से उस-उसप्रकार

इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्यः समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम् ।।५३।।

की मूर्त इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होते हुए पराधीन होने से कादाचित्क, क्रमशः प्रवृत्त होनेवाले, सप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धि सहित हैं; इसलिए गौण हैं और इसीकारण हेय हैं, छोड़नेयोग्य हैं।

दूसरे (अतीन्द्रिय) ज्ञान व सुख चैतन्यानुविधायी एकाकार आत्मपरिणाम शक्तियों से तथाविध अमूर्त अतीन्द्रिय स्वाभाविक चिदाकार परिणामों के द्वारा उत्पन्न होते हुए अत्यन्त आत्माधीन होने से नित्य, युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धि रहित हैं; इसलिए मुख्य हैं और इसीकारण उपादेय हैं, ग्रहण करनेयोग्य हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव का विवरण इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

''अमूर्त, क्षायिकी, अतीन्द्रिय, चिदानन्देकलक्षणवाली शुद्धात्म शक्तियों से उत्पन्न होने के कारण स्वाधीन और अविनश्वर होने से अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख उपादेय हैं और पूर्वोक्त अमूर्त शुद्धात्मशक्तियों से विरुद्ध लक्षणवाली क्षायोपशमिक इन्द्रियशक्तियों से उत्पन्न होने के कारण पराधीन और विनश्वर होने से इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख हेय हैं।''

गाथा और उसकी टीकाओं में इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख को हेय तथा अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख को उपादेय सिद्ध किया गया है। अपने इस सफल प्रयास में उन्होंने अनेक हेतु प्रस्तुत किए हैं।

इन्द्रियज्ञान व इन्द्रियसुख पराधीन हैं; क्योंकि इन्द्रियज्ञान को कर्मों के क्षयोपशम की व प्रकाशादि की अधीनता है और इन्द्रियसुख को भोगसामग्री की पराधीनता है। अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख पूर्णतः स्वाधीन हैं; क्योंकि अतीन्द्रियज्ञान में इन्द्रियों और प्रकाशादि की पराधीनता नहीं है और अतीन्द्रियसुख में भोगसामग्री संबंधी पराधीनता नहीं है।

इसीप्रकार इन्द्रियज्ञान व इन्द्रियसुख कभी-कभी होते हैं, क्रमशः होते हैं; इसलिए अनित्य हैं तथा प्रतिपक्ष और हानि-वृद्धि सहित हैं; किन्तु अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रियसुख सदा रहने से नित्य हैं, एकसाथ प्रवृत्त होते हैं तथा प्रतिपक्ष और हानि-वृद्धि से रहित हैं। यही कारण है कि इन्द्रियज्ञान व इन्द्रियसुख हेय हैं और अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रियसुख उपादेय हैं।।५३।।

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति –

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं।।५४।।

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम्।
सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम्।।५४।।

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पांतःपाति प्रेक्षत एव।

तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु, द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु, क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टुत्वं, प्रत्यक्षत्वात्।

विगत ५३वीं गाथा में यह कहा गया है कि ज्ञान और सुख मूर्त भी होते हैं और अमूर्त भी होते हैं तथा वे ज्ञान व सुख ऐन्द्रिय भी होते हैं और अतीन्द्रिय भी होते हैं। इनमें मूर्त व ऐन्द्रिय ज्ञान और सुख हेय हैं और अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख उपादेय हैं।

अब इस ५४वीं गाथा में अतीन्द्रियसुख के साधनभूत अतीन्द्रियज्ञान के स्वरूप और उसके उपादेयत्व को स्पष्ट करते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

अमूर्त को अर मूर्त में भी अतीन्द्रिय प्रच्छन्न को।
स्व-पर को सर्वार्थ को जाने वही प्रत्यक्ष है।।५४।।

देखनेवाले आत्मा का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय पदार्थों को और प्रच्छन्न पदार्थों को तथा स्व और पर – सभी को देखता है, जानता है; वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"स्व-पर में समाहित अमूर्त पदार्थ, मूर्त में अतीन्द्रिय पदार्थ और प्रच्छन्न (गुप्त) पदार्थों को अतीन्द्रियज्ञान अवश्य ही देखता-जानता है।

अमूर्त में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि; मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय परमाणु आदि; प्रच्छन्नों में – द्रव्य से प्रच्छन्न कालद्रव्यादि, क्षेत्र से प्रच्छन्न अलोकाकाश के प्रदेश आदि, काल से प्रच्छन्न भूतकाल व भविष्यकालीन पर्यायें तथा भाव से प्रच्छन्न में स्थूल पर्यायों में अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें – ये सब जो कि स्व और पर में विभक्त हैं; इन सबको अतीन्द्रियज्ञान जानता है; क्योंकि वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान है।

प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबंधमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत।

अतस्तदुपादेयम्।।५४।।

जिसे अनंतशुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ – ऐसे चैतन्य सामान्य के साथ अनादिसिद्ध संबंधवाले एक ही अक्ष अर्थात् आत्मा के प्रति जो नियत है, अन्य इन्द्रियादि सामग्री को नहीं खोजता और अनंतशक्ति के सद्भाव के कारण अनन्तता को प्राप्त है; उस प्रत्यक्षज्ञान को उपर्युक्त समस्त पदार्थों को जानते हुए कौन रोक सकता है ? जिसप्रकार दाह्याकार, दहन (अग्नि) का अतिक्रमण नहीं करते; उसीप्रकार ज्ञेयाकार, ज्ञान का अतिक्रमण नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि सभी ज्ञेय अतीन्द्रियज्ञान में प्रत्यक्ष ही हैं।

इसलिए वह अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है।''

यद्यपि आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि वे इस गाथा की टीका में एक ऐसा प्रश्न उपस्थित करते हैं; जो प्राय: सभी पाठकों के हृदय में सहजभाव से उत्पन्न होता है।

वह प्रश्न यह है कि जब ज्ञानाधिकार समाप्त हो गया और सुखाधिकार आरंभ हो गया तो फिर यहाँ ज्ञान की चर्चा क्यों की जा रही है ? यहाँ तो सुख की चर्चा की जानी चाहिए।

मेरे चित्त में भी यह प्रश्न अनेकबार उपस्थित हुआ है और बहुत कुछ मंथन के उपरान्त मैं इसी निर्णय पर पहुँचा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने मूल ग्रंथ में तो अधिकारों का वर्गीकरण किया नहीं; अधिकारों का वर्गीकरण तो टीकाकारों ने किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द तो सहजभाव से एक धारा में ही प्रतिपादन करते गये हैं; अत: उनके चित्त में ऐसा प्रश्न उपस्थित ही नहीं हुआ कि सुखाधिकार में ज्ञान की चर्चा क्यों ?

आचार्य जयसेन को आचार्य अमृतचन्द्रकृत वर्गीकरण उपलब्ध था और उन्होंने भी थोड़े-बहुत फेरफार के साथ लगभग उसी वर्गीकरण को स्वीकार कर लिया; पर इस गाथा की टीका में उक्त प्रश्न उठाकर आचार्य जयसेन ने जो समाधान प्रस्तुत किया है; वह इसप्रकार है –

''यहाँ शिष्य कहता है कि ज्ञानाधिकार तो पहले ही समाप्त हो गया, यह तो सुखाधिकार चल रहा है, इसमें तो सुख की ही चर्चा करना चाहिए; फिर भी यहाँ ज्ञान की चर्चा क्यों की जा रही है ?

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेय प्रणिन्दति। अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति –

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि॥५५॥

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति॥५६॥

जीव: स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम्।
अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति॥५५॥
स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्ण: शब्दश्च पुद्गला भवन्ति।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति॥५६॥

शिष्य की शंका का समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो अतीन्द्रियज्ञान पहले कहा गया है, वही अभेदनय से सुख है – ऐसा बताने के लिए यहाँ ज्ञान की बात की है।

अथवा ज्ञानाधिकार में ज्ञान की मुख्यता होने से हेयोपादेय का विचार नहीं किया था; अत: ज्ञान व सुख में हेयोपादेय बताने के लिए यहाँ सुख के साथ ज्ञान की भी चर्चा कर रहे हैं।''

उक्त गाथा में कही गई मूल बात तो यही है कि अतीन्द्रियज्ञान (केवलज्ञान) में सभी स्व-पर और मूर्त-अमूर्त पदार्थ अपनी सभी स्थूल-सूक्ष्म पर्यायों के साथ एक समय में ही प्रत्यक्ष जानने में आते हैं॥५४॥

विगत गाथा में यह बताया गया था कि अतीन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रियसुख का साधन है; अत: उपादेय है और अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियसुख का साधन है और अपने विषयों में भी एकसाथ प्रवृत्ति नहीं करता है; इसलिए हेय है।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मूर्ततनगत अमूर्त जिय मूर्तार्थ जाने मूर्त से।
अवग्रहादिकपूर्वक अर कभी जाने भी नहीं॥५५॥
पौद्गलिक स्पर्श रस गंध वर्ण अर शब्दादि को।
भी इन्द्रियाँ इक साथ देखो ग्रहण कर सकती नहीं॥५६॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्यं च। तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पंचेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्त स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलभ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तसंभवान्नावगच्छति, परोक्षत्वात्।

परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबंधस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यंतविसंष्ठुलत्वमवलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति। अतस्तद्धेयम्।।५५।।

स्वयं अमूर्त होकर भी यह जीव मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ, उस मूर्त शरीर के द्वारा जाननेयोग्य मूर्त पदार्थों को अवग्रहादि पूर्वक जानता है अथवा नहीं जानता है। तात्पर्य यह है कि शरीरधारी जीव मूर्त पदार्थों को अवग्रहादि पूर्वक कभी जानता है और कभी नहीं जानता है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द पुद्गल हैं। वे इन्द्रियों के विषय हैं; परन्तु वे इन्द्रियाँ उन्हें भी एक साथ ग्रहण नहीं करतीं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के विषय भी इन्द्रियों द्वारा एकसाथ जानने में नहीं आते।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

''इन्द्रियज्ञान में उपलम्भक (जानने में सहयोगी इन्द्रियाँ) भी मूर्त हैं और उपलभ्य (जानने में आनेवाले पदार्थ) भी मूर्त हैं।

स्वयं अमूर्त होने पर भी यह इन्द्रियज्ञानवाला जीव पंचेन्द्रियात्मक मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ, जानने में निमित्तभूत उपलम्भक मूर्त शरीर के द्वारा जाननेयोग्य स्पर्शादिवान मूर्त वस्तुओं को अवग्रहरूप जानता है, उससे आगे शुद्धि के सद्भावानुसार कदाचित् ईहादिरूप भी जानता है और कदाचित् शुद्धि के अभाव में नहीं जानता; क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्ष है।

परोक्षज्ञान परमार्थतः अज्ञान में गिने जानेयोग्य है; क्योंकि आत्मा का चैतन्यसामान्य के साथ अनादिसिद्धसंबंध होने पर भी अतिदृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रंथि द्वारा आवृत्त आत्मा पदार्थों को स्वयं जानने में असमर्थ होने से प्राप्त और अप्राप्त परपदार्थरूप सामग्री को खोजने की व्यग्रता से अत्यन्त चंचल व अस्थिर होता हुआ और अनंतशक्ति से च्युत होने से घबराया हुआ, महामोहमल्ल के जीवित होने से पर को परिणमित करने के अभिप्राय से पद-पद पर ठगाया जाता है। अतः परोक्षज्ञान हेय है।

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः। अथेन्द्रियैर्युगपत्तेऽपि न गृह्यन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात्। इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः परिच्छेत्र्याः शक्तेरन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वात्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्ध्येत्, परोक्षत्वात्।।५६।।

यद्यपि स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले पुद्गल इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करनेयोग्य हैं; तथापि वे इन्द्रियों द्वारा एकसाथ ग्रहण नहीं किये जा सकते; क्योंकि क्षयोपशम की उसप्रकार की शक्ति नहीं है। इन्द्रियों की क्षायोपशमिक अंतरंग ज्ञातृशक्ति कौवे की पुतली के समान क्रमिक प्रवृत्तिवाली होने से एक ही साथ अनेक विषयों को जानने में असमर्थ है; इसलिए द्रव्येन्द्रियों के विद्यमान होने पर भी इन्द्रियों के विषयों का समस्त ज्ञान एक साथ नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान है।”

वस्तुतः बात यह है कि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान है; उसके जानने में बहुत-सी मर्यादायें हैं। एक तो वह अपने क्षयोपशम के अनुसार ही जान सकता है; दूसरे वह एक समय एक इन्द्रिय के विषय में ही प्रवृत्त होता है। यद्यपि हमें ऐसा लगता है कि हम सभी इन्द्रियों के विषयों को एकसाथ जान रहे हैं; तथापि ऐसा होता नहीं है। इस बात को समझाने के लिए यहाँ कौए की आँख की पुतली का उदाहरण दिया है।

कौए की आँखें तो दो होती हैं; किन्तु पुतली उन दोनों आँखों में मिलाकर एक ही होती है। वह एक पुतली दोनों आँखों में आती-जाती रहती है, उसका आना-जाना इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें पता ही नहीं चलता कि पुतली एक है या दो। इसीप्रकार इन्द्रियों के विषयों में हमारा उपयोग इतनी शीघ्रता से घूमता रहता है कि हमें ऐसा लगता है कि हम सभी इन्द्रियों से एक साथ जान रहे हैं। वस्तुतः होता यह है कि हम एक-एक इन्द्रियों के विषयों में क्रमशः ही प्रवृत्त होते हैं।

परोक्षभूत इन्द्रियज्ञान एक प्रकार से पराधीन ज्ञान है; क्योंकि इसे प्रकाश आदि बाह्यसामग्री के सहयोग की आवश्यकता होती है; इसकारण परोक्षज्ञानियों को व्यग्रता बनी रहती है, उनका उपयोग चंचल और अस्थिर बना रहता है; अल्पशक्तिवान होने से वे खेदखिन्न होते रहते हैं तथा पर-पदार्थों को अपनी इच्छानुसार परिणमाने के अभिप्राय से पद-पद पर ठगाये जाते हैं।

इसलिए इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान ही है; इसीकारण हेय भी है।।५५-५६।।

विगत गाथाओं में यह कहा है कि इन्द्रियसुख का साधन होने से और अपने विषयों में भी एक साथ प्रवृत्त न होने से इन्द्रियज्ञान हेय है और अब इन गाथाओं में **इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षज्ञान नहीं है, परोक्षज्ञान है – यह बताते हुए परोक्षज्ञान-और प्रत्यक्षज्ञान का स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं।**

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति। अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति –

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि।।५७।।
जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।।५८।।

परद्रव्यं तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि।
उपलब्धं तैः कथं प्रत्यक्षमात्मनो भवति।।५७।।
यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु।
यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम्।।५८।।

आत्मानमेव केवलं प्रति नियतं किल प्रत्यक्षं। इदं तु व्यक्तिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं न नामात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति।।५७।।

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इन्द्रियाँ परद्रव्य उनको आतमस्वभाव नहीं कहा।
अर जो उन्हीं से ज्ञात वह प्रत्यक्ष कैसे हो सके ?।।५७।।
जो दूसरों से ज्ञात हो बस वह परोक्ष कहा गया।
केवल स्वयं से ज्ञात जो वह ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।।५८।।

वे इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं। उन्हें आत्मस्वभावरूप नहीं कहा है। उनके द्वारा ज्ञात ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

पर के द्वारा होनेवाला जो पदार्थों का ज्ञान है, वह परोक्ष कहा गया है। जो मात्र जीव के द्वारा ही जाना जाय, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''वस्तुतः वह ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है, जो केवल आत्मा के प्रति नियत हो। यह इन्द्रियज्ञान तो आत्मस्वभाव का किंचित् भी स्पर्श नहीं करनेवाली आत्मा से भिन्न अस्तित्ववाली परद्रव्यरूप इन्द्रियों द्वारा होता है; इसलिए यह इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते।

यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभामेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते।

इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिप्रेतमिति ।।५८।।

निमित्तभूत परद्रव्यरूप इन्द्रियाँ, मन, परोपदेश, उपलब्धि (ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम), संस्कार या प्रकाश आदि के द्वारा होनेवाला स्व-विषयभूत पदार्थों का ज्ञान पर के द्वारा होने से परोक्ष कहा जाता है।

अंतःकरण, इन्द्रियाँ, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार या प्रकाश आदि सभी परद्रव्यों की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके सभी द्रव्य और उनकी सभी पर्यायों में एक समय में ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष कहा जाता है।

यहाँ इस गाथा में यही अभिप्रेत है कि सहजसुख का साधनभूत यह महाप्रत्यक्षज्ञान (केवलज्ञान) ही उपादेय है।''

यहाँ महाप्रत्यक्ष शब्द प्रयोग सकल प्रत्यक्ष अर्थात् सर्वदेश प्रत्यक्ष के अर्थ में ही किया गया है। शास्त्रों में अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना गया है; पर ये दोनों ज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं, मात्र रूपी पदार्थ को ही जानते हैं, पुद्गल को ही जानते हैं, आत्मा को नहीं जानते। अतः ये देशप्रत्यक्षज्ञान सहजसुख के साधन नहीं हैं।

पर के सहयोग बिना आत्मा सहित लोकालोक को जाननेवाला केवलज्ञान ही सहजसुख का साधन है। यह बताने के लिए ही यहाँ महाप्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है।

इन गाथाओं में सबकुछ मिलाकर मात्र इतना ही कहा गया है कि इन्द्रियाँ, प्रकाश, क्षयोपशमरूप लब्धि, संस्कार आदि परद्रव्यों के सहयोग से होनेवाला ज्ञान परोक्षज्ञान है और पर के सहयोग बिना सीधा आत्मा से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है।

पराधीनता का सूचक परोक्षज्ञान अतीन्द्रिय सुख का कारण नहीं हो सकता; अतीन्द्रियसुख का कारण तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान ही है।।५७-५८।।

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति –

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं ।।५९।।

जातं स्वयं समंतं ज्ञानमनन्तार्थविस्तृतं विमलम्।
रहितं त्ववग्रहादिभिः सुखमिति ऐकान्तिकं भणितम् ।।५९।।

स्वयं जातत्वात्, समन्तत्वात्, अनन्तार्थविस्तृतत्वात्, विमलत्वात्, अवग्रहादिरहितत्वाच्च प्रत्यक्षं ज्ञानं सुखमैकान्तिकमिति निश्चीयते, अनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सौख्यस्य।

यतो हि परतो जायमानं पराधीनतया, असमंतमितरद्वारावरणेन, कतिपयार्थप्रवृत्तमितरार्थबुभुत्सया, समलमसम्यगवबोधेन, अवग्रहादिसहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्षं ज्ञानमत्यन्तमाकुलं भवति। ततो न तत् परमार्थतः सौख्यम्।

विगत गाथा में परोक्षज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान का स्वरूप बताया गया है और इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि **परमार्थ सुख की प्राप्ति तो प्रत्यक्षज्ञान वाले को ही होती है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्वयं से सर्वांग से सर्वार्थग्राही मलरहित।
अवग्रहादि विरहित ज्ञान ही सुख कहा जिनवरदेव ने ।।५९।।

सर्वात्मप्रदेशों से, अपने आप ही उत्पन्न, अनंत पदार्थों में विस्तृत, विमल और अवग्रहादि से रहित ज्ञान एकान्ततः सुख है – ऐसा कहा गया है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"चारों ओर से, स्वयं उत्पन्न होने से, अनंत पदार्थों में विस्तृत होने से, विमल होने से, अवग्रहादि से रहित होने से प्रत्यक्षज्ञान एकान्तिक सुख है – यह निश्चित होता है; क्योंकि एकमात्र अनाकुलता ही सुख का लक्षण है।

पर से उत्पन्न होने से पराधीनता के कारण, असमंत होने से अन्य द्वारों से आवरित होने के कारण, मात्र कुछ पदार्थों को जानने से अन्य पदार्थों को जानने की इच्छा के कारण, समल होने से असम्यक् अवबोध के कारण और अवग्रहादि सहित होने से क्रमशः होनेवाले पदार्थ ग्रहण के खेद के कारण परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुल है; इसलिए वह परमार्थ सुख नहीं है।

इदं तु पुनरनादिज्ञानसामान्यस्वभावस्योपरि महाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वयं जायमानमात्माधीनतया, समन्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोपयोगीभूताभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीयसमस्तवस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनंतार्थविस्तृतम् समस्तार्थाबुभुत्सया सकलशक्तिप्रतिबंधककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाशभास्वरं स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वाद्विमलम् सम्यगवबोधेने, युगपत्समर्पितत्रैसमयिकात्मस्वरूपं लोकालोकमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितम् क्रमकृतार्थग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्षं ज्ञानमनाकुलं भवति।

ततस्तत्पारमार्थिकं खलु सौख्यम्।।५९।।

यह प्रत्यक्षज्ञान पूर्णतः अनाकुल है; क्योंकि यह प्रत्यक्षज्ञान अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर महाविकास से व्याप्त होकर स्वतः स्वयं से उत्पन्न होने से स्वाधीन है; समस्त आत्मप्रदेशों से प्रत्यक्ष ज्ञानोपयोगरूप होकर व्याप्त होने से इसके सभी द्वार खुले रहते हैं; समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से परम विविधता में व्याप्त रहने से अनंत पदार्थों में विस्तृत है, इसलिए सर्व पदार्थों को जानने की इच्छा का अभाव है; सकलशक्ति को रोकनेवाले कर्मसामान्य के निकल जाने से अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश से प्रकाशमान स्वभाव में व्याप्त होने से विमल है; इसकारण सबको सम्यक्रूप से जानता है तथा जिन्होंने अपने त्रैकालिक स्वरूप को युगपत् समर्पित किया है – ऐसे लोकालोक में व्याप्त होकर रहने से अवग्रहादि से रहित है, इसलिए होनेवाले पदार्थग्रहण के खेद से रहित है।

इसप्रकार उपर्युक्त पाँच कारणों से प्रत्यक्षज्ञान अनाकुल है और इसीकारण प्रत्यक्षज्ञान पारमार्थिक सुखस्वरूप है।''

प्रथम तो वह अतीन्द्रियज्ञान स्वाधीन है, इसकारण अनाकुल है; दूसरे उसके जानने के सम्पूर्ण द्वार खुले हुए हैं, इसकारण अनाकुल है; तीसरे सभी पदार्थों को जान लेने से किसी को भी जानने की इच्छा न रहने से अनाकुल है; चौथे सभी को संशयादि रहित जानने के कारण विमल होने से अनाकुल है और पाँचवें सभी को एकसाथ जान लेने के कारण क्रमशः होनेवाले पदार्थों के ग्रहण से होनेवाले खेद से रहित होने के कारण अनाकुल है। इसप्रकार उक्त पाँच कारणों से अनाकुल होने के कारण प्रत्यक्षज्ञान परमार्थतः सुखस्वरूप ही है।

इसके विरुद्ध परोक्षज्ञान पराधीन होने से आकुलतामय है, अन्य द्वारों के अवरुद्ध होने के कारण आकुलतामय है, पूर्णज्ञान न होने से शेष पदार्थों को जानने की इच्छा के कारण आकुलित है, समल होने से संशयादि के कारण आकुलित है और अवग्रहादि पूर्वक जानने के

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे –

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ।।६०।।

यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं परिणामश्च स चैव।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षयं जातानि ।।६०।।

अत्र को हि नाम खेदः, कश्च परिणामः, कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात्।

कारण क्रमशः जानने के खेद से आकुलित है। इसप्रकार उक्त पाँच कारणों से परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुलित होने से सुखस्वरूप नहीं है।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान अर्थात् केवलज्ञान अतीन्द्रिय सुख स्वरूप होने से उपादेय है और इन्द्रियज्ञानरूप परोक्षज्ञान सुखस्वरूप नहीं होने से हेय है ।।५९।।

विगत गाथा में जोर देकर यह कहा है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान अर्थात् केवलज्ञान पारमार्थिक सुखस्वरूप है और अब इस गाथा में उक्त कथन में आशंका व्यक्त करनेवालों का समाधान कर रहे हैं। इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव स्वयं लिखते हैं कि **'केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा खेद हो सकता है; इसकारण केवलज्ञान एकान्तिकसुख नहीं है' – अब इस मान्यता का खण्डन करते हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अरे केवलज्ञान सुख परिणाममय जिनवर कहा।
क्षय हो गये हैं घातिया रे खेद भी उसके नहीं ।।६०।।

जो केवल नाम का ज्ञान है अर्थात् केवलज्ञान है, वह सुख है, परिणाम भी वही है और उसे खेद नहीं कहा है; क्योंकि घातिकर्म क्षय को प्राप्त हो गये हैं।

तत्त्वप्रदीपिका टीका में उक्त गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं–

''यहाँ केवलज्ञान के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि खेद क्या है, परिणाम क्या है तथा केवलज्ञान और सुख में व्यतिरेक (भेद) क्या है कि जिसके कारण केवलज्ञान को एकान्तिक सुखत्व न हो?

खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम्। घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते। तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः।

यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः।

यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरकुङ्शानन्तशक्तितया सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलतां सौख्यलक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम्, ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यतिरेकः। अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम्॥६०॥

प्रथम तो खेद के आयतन घातिकर्म हैं, केवल परिणाम नहीं। घातिकर्म महामोह के उत्पादक होने से धतूरे की भाँति अतत् में तत्बुद्धि धारण कराके आत्मा को ज्ञेयपदार्थों के प्रति परिणमन कराते हैं, ज्ञेयार्थपरिणमन कराते हैं; इसकारण वे घातिकर्म प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो-होकर थकनेवाले आत्मा के लिए खेद के कारण होते हैं। घातिकर्मों का अभाव होने से केवलज्ञान में खेद कहाँ से होगा ?

दूसरे चित्रित दीवार की भाँति त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञेयाकाररूप अनन्तस्वरूप स्वयमेव परिणमित होने से केवलज्ञान स्वयं ही परिणाम है; इसकारण अन्य परिणाम कहाँ है कि जिससे खेद की उत्पत्ति हो ?

तीसरे वह केवलज्ञान समस्त स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण निरंकुश अनंतशक्ति के उल्लसित होने से समस्त त्रैकालिक लोकालोक के आकार में व्याप्त होकर कूटस्थतया अत्यंत निष्कंप है; इसकारण आत्मा से अभिन्न सुखलक्षणभूत अनाकुलता को धारण करता हुआ केवलज्ञान स्वयं ही सुख है; इसलिए केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक कहाँ है ?

इसलिए यह सर्वथा अनुमोदन करनेयोग्य है कि केवलज्ञान एकान्तिक सुख है।''

केवलज्ञानी सुखी कैसे हो सकते हैं; क्योंकि उन्हें तो अनंत पदार्थों को जानने का काम करना है ? केवलज्ञान भी परिणाम है; अतः वह एक समय बाद स्वयं नाश को प्राप्त होगा। अगले समय होनेवाले केवलज्ञान को फिर सभी पदार्थों को जानना होगा। इसप्रकार प्रतिसमय

अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति। अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति –

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं।।६१।।
णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।।६२।।

निरंतर सबको जानने का काम करनेवाला केवलज्ञानी निराकुल कैसे हो सकता है ? इतना काम करनेवाले को थकान भी तो हो सकती है।

केवलज्ञान का स्वरूप न समझनेवाले और मतिश्रुतज्ञान के समान ही केवलज्ञान को माननेवालों के चित्त में उक्तप्रकार की आशंकायें सहज ही उत्पन्न हो सकती हैं।

उक्त आशंकाओं का निराकरण करते हुए इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि– मात्र परिणमन थकावट या दुख का कारण नहीं है; किन्तु घातिकर्मों के निमित्त से होनेवाला परोन्मुखपरिणमन – ज्ञेयार्थपरिणमन थकावट या दुख का कारण है। घातिकर्मों का अभाव होने से केवलज्ञानी को थकावट या दुख नहीं है। अनंतशक्ति के धारक केवलज्ञानी को थकावट का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता।

परिणमन केवलज्ञान का स्वभाव है, स्वरूप है; विकार नहीं, उपाधि नहीं। परिणमन-स्वभाव का अभाव होने पर तो केवलज्ञान की सत्ता ही संभव नहीं है। इसप्रकार परिणाम (परिणमन) केवलज्ञान का सहजस्वरूप होने से उसे परिणाम के द्वारा खेद नहीं हो सकता।

त्रैकालिक लोकालोक को, समस्त ज्ञेयसमूह को सदा अडोलरूप से जानता हुआ अत्यन्त निष्कंप केवलज्ञान पूर्णत: अनाकुल होने से अनंतसुखस्वरूप है। इसप्रकार केवलज्ञान और अनाकुलता भिन्न-भिन्न न होने से केवलज्ञान और सुख अभिन्न ही हैं।

इसप्रकार घातिकर्मों के अभाव के कारण, परिणाम उपाधि न होने के कारण और अनन्तशक्ति सम्पन्न निष्कंप होने के कारण केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है।।६०।।

विगत गाथाओं में यह कहते आ रहे हैं कि अतीन्द्रियज्ञान अर्थात् केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है, अतीन्द्रियसुखस्वरूप ही है; अब इन गाथाओं में उसी बात का उपसंहार करते हुए उसकी श्रद्धा करने की प्रेरणा देते हैं।

ज्ञानमर्थान्तगतं लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः।
नष्टमनिष्टं सर्वमिष्टं पुनर्यत्तु तल्लब्धम्।।६१।।
न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम्।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति।।६२।।

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्। आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः। ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम्।

किंच केवलं सौख्यमेव; सर्वानिष्टप्रहाणात्, सर्वेष्टोपलम्भाच्च।

यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायेत, ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन।।६१।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है।
हैं नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं।।६१।।
घातियों से रहित सुख ही परमसुख यह श्रवण कर।
भी न करें श्रद्धा अभवि भवि भाव से श्रद्धा करें।।६२।।

केवलज्ञानी का ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है, दर्शन लोकालोक में विस्तृत है, सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुके हैं और जो इष्ट हैं, वे सब प्राप्त हो गये हैं; इसकारण केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है। जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं; उनका सुख परमोत्कृष्ट है – ऐसा वचन सुनकर भी अभव्य श्रद्धा नहीं करते और भव्य उक्त बात को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“स्वभाव प्रतिघात का अभाव ही सुख का कारण है। आत्मा का स्वभाव दर्शन-ज्ञान है। केवलज्ञानी के उनके प्रतिघात का अभाव है; क्योंकि दर्शन लोकालोक में विस्तृत होने से और ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त होने से दर्शन-ज्ञान स्वच्छन्दतापूर्वक विकसित हैं। इसप्रकार स्वभाव के प्रतिघात के अभाव के कारण सुख अभेद विवक्षा से केवलज्ञान का स्वरूप है।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान सुख ही है; क्योंकि सर्व अनिष्टों का नाश हो गया है और सम्पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो चुकी है।

5487

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढि:। केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघ्नताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम्।

न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्या: पश्यन्ति। ये पुनरिदमिदानीमेव वच: प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्या: भवन्ति। ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति ।।६२।।

केवलज्ञान की अवस्था में सुखप्राप्ति के विरोधी दुखों के साधनभूत अज्ञान का सम्पूर्णतया नाश और सुख के साधनभूत पूर्णज्ञान का उत्पाद इस बात को प्रमाणित करते हैं कि केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है। अधिक विस्तार से क्या लाभ है ?

इस लोक में मोहनीय आदि कर्मजालवालों के स्वभाव प्रतिघात के कारण और आकुलता के कारण सुखाभास होने पर भी उस सुखाभास को सुख कहने की अपारमार्थिक रूढ़ि है। जिनके घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं; उन केवली भगवान के स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण और अनाकुलता के कारण सुख के वास्तविक कारण और लक्षण का सद्‌भाव होने से पारमार्थिक सुख है – ऐसी श्रद्धा करनेयोग्य है।

जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है; वे मोक्षसुख से दूर रहनेवाले अभव्य मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते हैं; अनुभव करते हैं और जो उक्त वचनों को तत्काल स्वीकार करते हैं; वे मोक्षलक्ष्मी के पात्र आसन्नभव्य हैं और जो आगे जाकर दूर भविष्य में स्वीकार करेंगे, वे दूरभव्य हैं।''

आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रवचनसार की सरोज भास्कर टीका में ६१वीं गाथा की टीका करते हुए लिखा है कि अन्तराय और मोहनीय अनिष्ट हैं और अनंतवीर्य और अनंतसुख इष्ट हैं।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में ६१वीं गाथा का अर्थ तो तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं; किन्तु उन्हें ६२वीं गाथा की टीका के अर्थ में कुछ विशेष स्पष्टीकरण अभीष्ट है; क्योंकि यह कैसे संभव है कि जो लोग अभी उक्त कथन पर श्रद्धा नहीं करते, वे भविष्य में भी श्रद्धा नहीं करेंगे। अत: अभी श्रद्धा न करनेवालों को मिथ्यादृष्टि तो कहा जा सकता है, पर अभव्य कहना संभव नहीं है।

वस्तुत: स्थिति यह है कि जो अभी श्रद्धा नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि हैं और जो न तो अभी श्रद्धा करते हैं और न कभी भी श्रद्धा करेंगे, वे अभव्य हैं।

गाथा और तत्त्वप्रदीपिका टीका का भी यही भाव है और उसी का विशेष स्पष्टीकरण आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार करते हैं–

“वे जीव वर्तमान समय में सम्यक्त्वरूपी भव्यत्व की प्रगटता का अभाव होने से अभव्य कहे ज़ाते हैं; वे सर्वथा अभव्य नहीं हैं।

जो जीव वर्तमान काल में सम्यक्त्वरूप भव्यत्व की प्रगटतारूप से परिणमित हैं; वे भव्य उस अनन्तसुख की अभी श्रद्धा करते हैं और जो जीव सम्यक्त्वरूप भव्यत्व की प्रकटतारूप से भविष्य में परिणमित होंगे; वे दूरभव्य आगे श्रद्धान करेंगे।

जिसप्रकार कोतवाल द्वारा जान से मारने के लिए पकड़े गये चोर को मरण अच्छा नहीं लगता; उसीप्रकार सराग सम्यग्दृष्टि को इन्द्रियसुख इष्ट नहीं है; तथापि कोतवालरूपी चारित्र मोहनीय के उदय से मोहित होता हुआ आत्मनिन्दा आदिरूप से परिणत वह सराग सम्यग्दृष्टि राग रहित अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सुख को प्राप्त नहीं करता हुआ हेयरूप से उक्त परिणति का अनुभव करता है और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि शुद्धोपयोगी हैं, उनको मछलियों का भूमि पर आने के समान अथवा अग्निप्रवेश के समान निर्विकार शुद्धात्मसुख से च्युत होना भी दुख प्रतीत होता है।

कहा भी है कि जिसप्रकार मछलियों को जब भूमि ही जलाती है, तो फिर अंगारों की बात ही क्या करना; वे तो जलावेंगे ही; उसीप्रकार समतासुख का अनुभव करनेवाले मनुष्य को समता से च्युत होना ही अच्छा नहीं लगता है तो फिर पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की तो बात ही क्या है; वे उनमें कैसे रम सकते हैं ?”

६१वीं गाथा में मात्र यह कहा गया है कि केवलज्ञानी के सर्व अनिष्ट नष्ट हो गये हैं और लोकालोक को देखने-जानने की सामर्थ्य प्रगट हो चुकी है; इसकारण वे पूर्णसुखी, अनन्तसुखी हैं और ६२वीं गाथा का भाव यह है कि उक्त अनंतसुखी केवलज्ञानी की श्रद्धा अभव्यों को नहीं होती, नहीं हो सकती तथा दूरभव्यों को भी इसकी श्रद्धा कम से कम अभी होना तो संभव नहीं है; किन्तु जो निकटभव्य हैं; उन्हें सर्वज्ञ भगवान की श्रद्धा अभी तत्काल या अल्पकाल में ही होगी। तात्पर्य यह है कि जिन्हें सर्वज्ञ भगवान की श्रद्धा है; वे तो निकटभव्य हैं ही ।।६१-६२।।

अबतक यह बताते आ रहे हैं कि केवलज्ञानी के स्वाभाविक सुख है, अतीन्द्रिय आनन्द है; वे अनंतसुखी हैं और अब आगामी गाथाओं में यह बता रहे हैं कि **परोक्षज्ञानियों के अपारमार्थिक इन्द्रिय सुख होता है और जबतक इन्द्रियाँ हैं, तबतक जीव स्वभावत: ही दु:खी है।**

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति। अथ यावदिन्द्रियाणां तावत्स्वभावादेव दुःखमेवं वितर्कयति –

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इन्दिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु।।६३।।
जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं।।६४।।

मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु।।६३।।
येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम्।।६४।।

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते। अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

नरपती सुरपति असुरपति इन्द्रियविषयदवदाह से।
पीड़ित रहें सह सके ना रमणीक विषयों में रमें।।६३।।
जो विषयसुख में लीन हैं वे हैं स्वभाविक दुःखीजन।
दुःख के बिना विषविषय में व्यापार हो सकता नहीं।।६४।।

चक्रवर्ती, असुरेन्द्र और सुरेन्द्र सहज इन्द्रियों से पीड़ित रहते हुए उन दुखों को सहन न कर पाने से रम्य विषयों में रमण करते हैं।

जिन्हें विषयों में रति है; उन्हें दुख स्वाभाविक जानो; क्योंकि यदि वे दुखी न हों तो उनका विषयों में व्यापार न हो।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचंद्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“प्रत्यक्षज्ञान के अभाव में परोक्षज्ञान का आश्रय लेनेवाले इन प्राणियों को परोक्षज्ञान की सामग्रीरूप इन्द्रियों के प्रति निजरस से ही मैत्री देखी जाती है।

इन्द्रियों के प्रति मैत्री को प्राप्त उन प्राणियों को उदयप्राप्त महामोहरूपी कालाग्नि ने ग्रास बना लिया है; इसलिए उन्हें तप्त लोहे के गोले की भाँति अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हुई है; उस दुख

तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते। ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम्।।६३।।

येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्, किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेवलोकनात्। अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः।

यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशांतशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णमिव, विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्येत चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः।।६४।।

के वेग को सहन न कर सकने के कारण उन्हें व्याधि के प्रतिकार के समान रम्य विषयों में रति उत्पन्न होती है; इसलिए इन्द्रियाँ व्याधि के समान और विषय व्याधि के प्रतिकार के समान होने से छद्मस्थों के पारमार्थिक सुख नहीं है।

जिनकी हत (निकृष्ट) इन्द्रियाँ जीवित हैं, उन्हें उपाधि के कारण दुख नहीं है (संयोगों के कारण दुख नहीं है); अपितु उनका दुख स्वाभाविक ही है; क्योंकि उनकी विषयों में रति देखी जाती है। जिसप्रकार हाथी हथिनीरूपी कुट्टनी के शरीर के स्पर्श की ओर, मछली बंसी में फंसे हुए मांस के स्वाद की ओर, भ्रमर बन्द हो जानेवाले कमल की गंध की ओर, पतंगे दीपक की ज्योति के रूप की ओर तथा हिरन शिकारी के संगीत के स्वर की ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं; उसीप्रकार दुर्निवार इन्द्रियवेदना के वशीभूत होते हुए, यद्यपि विषयों का नाश अति निकट है; तथापि वे विषयों की ओर दौड़ते दिखाई देते हैं।

यदि 'उनका दुख स्वाभाविक है' – ऐसा स्वीकार न किया जाय तो जिसप्रकार जिसका शीतज्वर उपशान्त हो गया है, वह पसीना लाने के लिए उपचार करता; जिसका दाहज्वर उतर गया है, वह कांजी से शरीर के ताप को उतारता, जिसकी आँख का दुख दूर हो गया है, वह वटाचूर्ण आँजता; जिसका कर्ण शूल नष्ट हो गया है, वह कान में बकरे का मूत्र डालता और जिसका घाव भर गया है, वह लेप करता दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार इन्द्रियसुखवालों के दुख नहीं हो तो उनके इन्द्रियविषयों में व्यापार देखने में नहीं आना चाहिए; किन्तु उनके विषय प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं; ऐसे परोक्षज्ञानियों के दुख स्वाभाविक ही है।''

उक्त गाथाओं और उसकी टीका में यह बात सिद्ध की गई है कि पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले विषय-भोगों में रंचमात्र भी सुख नहीं है; अपितु वे दुखरूप ही हैं। गाथा में तो यहाँ तक लिखा है कि अपार भोग-सामग्री से सम्पन्न चक्रवर्ती, असुरेन्द्र और सुरेन्द्र भी दुखी हैं; क्योंकि वे अपने दुखों को दूर करने के लिए रमणीक विषयों में रमण करते हैं।

यदि वे दुखी नहीं होते तो उनकी विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती। यहाँ पाँच इन्द्रियों संबंधी पाँच उदाहरण देकर यह बताया गया है कि जब एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर प्राणी इतने दुख उठाते हैं तो फिर जो पाँचों इन्द्रियों के आधीन हैं; उनके दुखों की तो बात ही क्या करना ?

हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर कुट्टनी हथिनी के पीछे भागता हुआ गड्ढे में गिरकर जीवनभर को गुलाम बन जाता है, मछली रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर अपना कंठ छिदाकर मरण को प्राप्त होती है, गंध का लोभी भौंरा कमल में बंद होकर जान गंवा देता है, रूप के लोभी पतंगे दीपक की ज्योति पर जल मरते हैं और संगीत के लोभी हिरण शिकारी द्वारा मार दिये जाते हैं। इसप्रकार एक-एक इन्द्रियों के आधीन प्राणियों की दुर्दशा देखकर यह विचार करना चाहिए कि पाँचों इन्द्रियों के गुलामों को सुखी कैसे कहा जा सकता है ?

दूसरे उदाहरणों से भी यह सिद्ध किया गया है कि वे दुखी ही हैं।

कहा जाता है कि बकरे की पेशाब कान में डालने से कान का दर्द ठीक हो जाता है। यह तो आप जानते ही हैं कि जो वस्तु कान में डाली जाती है, वह गले के माध्यम से मुँह में भी आ जाती है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा कि जो महानिंद्य मल-मूत्र को अपने कान में डालेगा; किन्तु जब कान में भयंकर दर्द होता है तो अशुद्धता का विचार किये बिना लोग ऐसा भी करते देखे जाते हैं। जिसप्रकार बकरे की पेशाब को कान में डलवाना इस बात का प्रतीक है कि उसे भयंकर पीड़ा हो रही है; उसीप्रकार पंचेन्द्रिय विषयों की गंदी से गंदी क्रियायें इस बात की प्रमाण हैं कि पंचेन्द्रिय विषयों को भोगनेवाले महादुखी हैं।

ये पंचेन्द्रियों के भोग दुखी होने की निशानी हैं, सुखी होने की नहीं।

इसीप्रकार जैसे शीतज्वरवालों को पसीना लाने का उपचार, दाहज्वरवालों का कांजी से ताप उतारने का उपचार और दुखती आँख में वटाचूर्ण आँजने का उपचार कराते हुए व्यक्ति सुखी नहीं, दुखी है। ये उपचार उनके दुखी होने की निशानी है।

ठीक वैसे ही पंचेन्द्रिय विषयों की रमणता इन्द्रादिक के दुखी होने के ही प्रमाण हैं, सुखी होने के नहीं।

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति। अथैतदेव दृढयति –

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ।।६५।।
एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ।।६६।।

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः।।६५।।
एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा।
विषयवशेन तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा।।६६।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार मात्र इतना ही है कि बड़े-बड़े पुण्यवान मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में देवेन्द्र और असुरों में असुरेन्द्र सभी दुखी हैं, सुखी कोई भी नहीं। वस्तुतः बात यह है कि संसार में सुख है ही नहीं। जिसे संसार में सुख कहा जाता है; वह सुख नहीं, दुख ही है और जिसे हम सुखसामग्री कहते हैं; वह सुखसामग्री नहीं, भोगसामग्री ही है, दुखसामग्री ही है।

यदि चक्रवर्ती आदि दुखी नहीं होते तो विषय भोगों में क्यों उलझते, क्यों रमते? अतः यह सुनिश्चित ही है कि परोक्षज्ञानी सुखी नहीं हैं; सुखी तो प्रत्यक्षज्ञानी केवलज्ञानी ही हैं।।६३-६४।।

विगत गाथाओं में यह समझाया है कि परोक्षज्ञानियों को सच्चा सुख प्राप्त नहीं है; वस्तुतः वे दुखी ही हैं; यही कारण है कि वे रम्य इन्द्रिय विषयों में रमते हैं।

अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि पंचेन्द्रियों के समुदायरूप शरीर संसारियों को भी सुख का कारण नहीं है; क्योंकि यह जीव अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण सुख-दुखरूप स्वयं ही परिणमित होता है। इन गाथाओं की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **सिद्धजीव ही सुखी है – यह समझाने के लिए दृढ़तापूर्वक यह कहते हैं कि शरीर सुख का साधन नहीं है।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इन्द्रिय विषय को प्राप्त कर यह जीव स्वयं स्वभाव से।
सुखरूप हो पर देह तो सुखरूप होती ही नहीं।।६५।।
स्वर्ग में भी नियम से यह देह देही जीव को।
सुख नहीं दे यह जीव ही बस स्वयं सुख-दुखरूप हो ।।६६।।

अस्य खल्वात्मनः सशरीरावस्थायामपि न शरीरं सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदपि पीतोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण विषयानभिपतद्भिसमीचीनवृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारणतामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्वयमेवायमात्मा सुखतामापद्यते। शरीरं त्वचेतनत्वादेव सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपगच्छन्न जातु सुखतामुपढौकत इति ॥६५॥

अयमत्र सिद्धांतो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुःखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥६६॥

स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ जिनका आश्रय लेती हैं, ऐसे इष्ट विषयों को पाकर अपने स्वभाव से ही परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं ही इन्द्रियसुखरूप होता है, देह सुखरूप नहीं होती।

यह बात सुनिश्चित ही है कि स्वर्ग में भी शरीर शरीरी (शरीरधारी जीव) को सुख नहीं देता; परन्तु आत्मा विषयों के वश में सुखरूप अथवा दुखरूप स्वयं ही होता है।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''वस्तुतः इस आत्मा को सशरीर अवस्था में भी शरीर सुख का साधन हो – ऐसा हमें दिखाई नहीं देता; क्योंकि तब भी, मानो उन्मादजनक मदिरा का पान किया हो ऐसी, प्रबल मोह के वश वर्तनेवाली, 'यह विषय हमें इष्ट है' – इसप्रकार विषयों की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों के द्वारा असमीचीन परिणति का अनुभव करने से, जिसकी शक्ति की उत्कृष्टता (परमशुद्धता) रुक गई है – ऐसे निश्चयकारणरूप अपने ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक स्वभाव में परिणमन करता हुआ यह आत्मा स्वयमेव सुखी होता है। शरीर तो अचेतन होने से सुख का निश्चयकारण नहीं है; इसलिए वह सुखरूप नहीं होता।

यहाँ यह सिद्धान्त है कि शरीर दिव्य वैक्रियक ही क्यों न हो; तथापि वह सुख नहीं दे सकता; अतः यह आत्मा इष्ट अथवा अनिष्ट विषयों के वश होकर स्वयं ही सुख अथवा दुखरूप होता है।''

यदि शरीर सुख का कारण होता तो सिद्ध भगवान सुखी नहीं होते; क्योंकि उनके शरीर नहीं है। शरीर न होने पर भी सिद्ध भगवान सुखी हैं; इससे सिद्ध होता है कि शरीर सुख का कारण नहीं है।

आचार्य जयसेन तो तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में ६५वीं गाथा की टीका की उत्थानिका में

ही लिखते हैं कि सिद्धों के शरीर के अभाव में भी सुख है – यह बताने के लिए ही शरीर सुख का कारण नहीं है – यह व्यक्त करते हैं।

टीका के अन्त में गाथा के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि **संसारी जीवों को जो इन्द्रियसुख है; उसका भी उपादान कारण जीव ही है, शरीर नहीं और सिद्धों के अतीन्द्रियसुख का उपादान तो आत्मा है ही।**

इस पर यदि कोई कहे कि मनुष्य-तिर्यंचों का शरीर अनेक व्याधियों से भरा है; अत: वह सुख का कारण नहीं होगा; किन्तु देवों का शरीर तो वैक्रियक होता है, दिव्य होता है, व्याधियों से रहित होता है; वह तो सुख का कारण होगा ही ?

उसको समझाते हुए कहते हैं कि वह दिव्य शरीर भी सुख का कारण नहीं है। अतीन्द्रिय सुख का कारण तो शरीर है ही नहीं, इन्द्रियसुख-दुख का कारण भी शरीर नहीं, आत्मा का अशुद्ध उपादान ही है। इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अतीन्द्रिय सुख का कारण आत्मा का शुद्धोपादान है और इन्द्रियसुख-दुख का कारण आत्मा का अशुद्धोपादान है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि शरीरादि संयोग न तो सुख के कारण हैं और न दुःख के कारण हैं; क्योंकि वे तो अपने आत्मा के लिए परद्रव्य हैं। परद्रव्य न तो हमें सुख ही देता है और न दुख देता है। हमारे सुख-दुख के कारण हममें ही विद्यमान हैं।

हम अपनी पर्यायस्वभावगत योग्यता के कारण ही जब पर-पदार्थों में अपनापन करते हैं, उनके लक्ष्य से राग-द्वेष करते हैं, उन्हें सुख-दुख का कारण मानते हैं तो स्वयं सुखी-दुखी होते हैं।

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रियसुख तो शरीरादि संयोगों के कारण होता ही नहीं है; किन्तु लौकिक सुख-दुख – इन्द्रियजन्य सुख-दुख भी देहादि संयोगों के कारण नहीं होते। तात्पर्य यह है कि देह की क्रिया से न धर्म होता है, न पुण्य और न पाप। ये सभी भाव आत्मा से ही होते हैं ।।६५-६६ ।।

विगत गाथाओं में जोर देकर यह कहते आ रहे हैं कि शरीरधारी प्राणियों को सुख-दुःख का कारण शरीर नहीं है; अपितु उनका आत्मा ही स्वयं अपनी उपादानगत योग्यता से अथवा अपने अशुद्ध-उपादान से स्वयं सांसारिक सुख-दुखरूप परिणमित होता है।

अब आगामी गाथाओं में यह कह रहे हैं कि न केवल देह ही, अपितु पाँच इन्द्रियों के

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति। अथात्मनः सुखस्वभावत्वं दृष्टान्तेन दृढयति –

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति॥६७॥

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो॥६८॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम्।
तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषयाः किं तत्र कुर्वन्ति॥६७॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः॥६८॥

विषय भी संसारी जीवों को सुख-दुख में कारण नहीं है। वस्तुतः बात यह है कि संसारी जीव अपनी अशुद्धोपादानगत योग्यता के कारण सुखी-दुःखी हैं और सिद्ध भगवान अपनी शुद्धोपादानगत योग्यता के कारण अनंतसुखी हैं।

इन गाथाओं की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **आत्मा स्वयं सुखपरिणाम की शक्ति से सम्पन्न है; अतः उसे पंचेन्द्रियों के विषय अकिंचित्कर हैं। आत्मा का सुख परिणामत्व दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

तिमिरहर हो दृष्टि जिसकी उसे दीपक क्या करे।
जब जिय स्वयं सुखरूप हो इन्द्रिय विषय तब क्या करें॥६७॥

जिसतरह आकाश में रवि उष्ण तेजरु देव है।
बस उसतरह ही सिद्धगण सब ज्ञान सुख अर देव हैं॥६८॥

यदि किसी की दृष्टि अन्धकारनाशक हो तो उसे दीपक की आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार जब आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित होता है, तब विषय क्या कर सकते हैं, विषयों का क्या काम है ?

जिसप्रकार आकाश में सूर्य स्वयं से ही तेज, उष्ण और देव है; उसीप्रकार लोक में सिद्ध भगवान भी स्वयं से ही ज्ञान, सुख और देव हैं।

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ।।६७।।

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभास्वरस्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितया तेजः, यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्णः, यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः, तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिसमुपजातपरिनिर्वृत्तिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुतियोगिदिव्यात्मस्वरूपन्वाद्देवः।

अतोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयैः पर्याप्तम् ।।६८।।

ये सुखाधिकार के उपसंहार की गाथाएँ हैं। इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार उल्लू-बिल्ली आदि नक्तंचरों (रात्रि में विचरण करनेवालों) के नेत्र स्वयमेव ही तिमिरनाशक होते हैं; इसकारण उन्हें अन्धकार को नष्ट करनेवाले दीपकादि की कोई आवश्यकता नहीं होती; उसीप्रकार संसार में या मुक्ति में स्वयमेव सुखरूप परिणमित इस आत्मा को विषयों की क्या आवश्यकता है ? फिर भी अज्ञानी जीव 'विषय सुख के साधन हैं' – ऐसी मान्यता से व्यर्थ ही विषयों का अध्यास करते हैं, आश्रय करते हैं, सेवन करते हैं; तथापि संसार में या मुक्ति में स्वयमेव सुखरूप परिणमित इस आत्मा का विषय क्या कर सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि सुख की प्राप्ति में इन्द्रियविषय अकिंचित्कर हैं।

जिसप्रकार आकाश में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य स्वयमेव अत्यधिक प्रभासमूह से चमकते हुए स्वरूप के द्वारा विलसित प्रकाशयुक्त होने से तेज है, उष्णतारूप परिणमित गोले के भांति सदा उष्णता परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है और देवगति नामक नामकर्म के उदय से स्वभाव से ही देव है; उसीप्रकार लोक में अन्यकारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान आत्मा (सिद्ध भगवान) स्वयमेव ही स्व-पर को प्रकाशित करने में समर्थ अनंतशक्ति युक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है, आत्मतृप्ति से उत्पन्न होनेवाली उत्कृष्ट अनाकुलता में स्थित होने के कारण सुख है और आत्मतत्त्व की उपलब्धि सम्पन्न बुधजनों के मनरूपी शिलास्तम्भ में जिनकी अतिशय दिव्यता और स्तुति उत्कीर्ण है, ऐसे दिव्य आत्मस्वरूपवान होने से देव है।

इसलिए इस आत्मा को सुखसाधनाभासरूप विषयों से बस हो। तात्पर्य यह है कि इस आत्मा को विषयों में सुखबुद्धि तत्काल छोड़ देनी चाहिए।

इति आनन्दप्रपञ्चः।

इसप्रकार अब आनन्द का विस्तार से विवेचन करनेवाला सुखाधिकार समाप्त होता है।''

यहाँ ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि गाथा में तो स्पष्टरूप से यह लिखा है कि जिसप्रकार सूर्य स्वभाव से तेज, उष्ण और देव है; उसीप्रकार सिद्ध भगवान भी स्वभाव से ज्ञान, सुख व देव हैं; जबकि तत्त्वप्रदीपिका टीका में **सिद्ध भगवान** के स्थान पर **भगवान आत्मा** शब्द का उपयोग किया गया है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि यहाँ सिद्धपर्याय अपेक्षित है या त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा अपेक्षित है ?

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में सिद्ध भगवान ही अर्थ करते हैं। कविवर वृन्दावनदासजी परमातम शब्द का प्रयोग करते हैं; जो सिद्ध भगवान की ओर ही इंगित करता है। आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी भी इस प्रकरण पर व्याख्यान करते हुए सिद्ध भगवान का ही स्मरण करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा भी ज्ञान, सुख व देव के लिए जिन विशेषणों का उपयोग किया गया है; उनमें सिद्ध भगवान ही प्रतिबिम्बित होते हैं। अत: यही लगता है कि आचार्य अमृतचन्द्र को भी यहाँ सिद्ध भगवान ही अभीष्ट हैं; तथापि उन्होंने अध्यात्म के जोर में भगवान आत्मा शब्द का प्रयोग किया है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जिसप्रकार बिल्ली को तिमिरनाशक दृष्टि प्राप्त होने से अंधकार में देखने के लिए दीपक की आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार सुखस्वभावी भगवान आत्मा को सुख प्राप्त करने के लिए पंचेन्द्रियों के विषयों की आवश्यकता नहीं।

जिसका स्वभाव ही ज्ञान और आनन्द हो, उसे ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने के लिए पर के सहयोग की क्या आवश्यकता है ? जिसप्रकार स्वभाव से उष्ण तेजवंत सूर्य को उष्ण व तेजवंत होने के लिए अग्नि की आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार स्वभाव से ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को या सिद्ध भगवान को ज्ञानी और सुखी होने के लिए पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है ।।६७-६८।।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका में सुखाधिकार यहीं समाप्त हो गया है; तथापि आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के उपरान्त भी दो गाथायें प्राप्त होती हैं; जो तत्त्वप्रदीपिका में नहीं हैं।

उक्त दोनों गाथाओं में क्रमश: अरिहंत और सिद्ध भगवान की स्तुति की गई है। अत: यह कहा जा सकता है कि वे अधिकार के अन्त में होनेवाले मंगलाचरणरूप गाथायें ही हैं।

इसप्रकार की एक गाथा ज्ञानाधिकार के अन्त में भी प्राप्त होती है; जिसकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। उक्त गाथा को ज्ञानाधिकार के अन्त में आनेवाला मंगलाचरण या फिर सुखाधिकार के आरंभ में आनेवाला मंगलाचरण भी कह सकते हैं।

इसीप्रकार इन गाथाओं को भी सुखाधिकार के अन्त में आनेवाला मंगलाचरण या शुभपरिणामाधिकार के आरंभ में आनेवाला मंगलाचरण कह सकते हैं।

इन गाथाओं की संगति दोनों ओर से मिलती है; क्योंकि इनके पहले आनेवाली गाथा में भी सिद्धों की चर्चा है और शुभपरिणाम अधिकार की आरंभिक गाथाओं में भी देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति की चर्चा की गई है।

एक गाथा शुद्धोपयोगाधिकार के मध्य में भी आई है। भाग्य से उसमें भी सिद्धों का ही स्मरण किया गया है। उसे हम मध्य में होनेवाले मंगलाचरण के रूप में देख सकते हैं।

इसप्रकार अबतक कुल चार गाथायें ऐसी प्राप्त हुई हैं; जो तत्त्वप्रदीपिका में नहीं हैं, पर तात्पर्यवृत्ति में पायी जाती हैं। वे सभी गाथाएँ मंगलाचरणरूप गाथाएँ ही हैं; इसकारण उनके न होने पर भी विषय प्रतिपादन में कोई व्यवधान नहीं आता।

६८वीं गाथा के उपरान्त प्राप्त होनेवाली वे दो गाथाएँ इसप्रकार हैं –

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो।।५।।
तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं।।६।।

(हरिगीत)

प्राधान्य है त्रैलोक्य में ऐश्वर्य ऋद्धि सहित हैं।
तेज दर्शन ज्ञान सुख युत पूज्य श्री अरहंत हैं।।५।।
हो नमन बारम्बार सुरनरनाथ पद से रहित जो।
अपुनर्भावी सिद्धगण गुण से अधिक भव रहित जो।।६।।

जिनका तेज, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अतीन्द्रियसुख, देवत्व और जिनकी ईश्वरता, ऋद्धियाँ, तीन लोक में प्रधानपना और विशेष महिमा है; वे भगवान अरहंत हैं।

जो अरहंतों की अपेक्षा भी गुणों से अधिक हैं, मनुष्यों और देवों के स्वामित्व से रहित हैं,

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव परिवर्तनों से रहित जो मोक्षपद, उससे सहित हैं; ऐसे सिद्धों को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

इन गाथाओं की व्याख्या करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं कि तेज अर्थात् प्रभामण्डल, तीन लोक और तीन कालवर्ती सम्पूर्ण वस्तुओं के सामान्य अस्तित्व को एक साथ ग्रहण करनेवाला केवलदर्शन, सभी पदार्थों के विशेष अस्तित्व को ग्रहण करनेवाला केवलज्ञान, ऋद्धि शब्द से समवशरणादि विभूति, अव्याबाध अनंतसुख, अरहंतपद के अभिलाषी इन्द्रादि की भृत्यता – इसप्रकार की ईश्वरता और तीन लोक के राजाओं की वल्लभता-भक्ति जिनको प्राप्त है, इसप्रकार की महिमा जिनकी है; वे अरहंत भगवान हैं।

जो गुण अरहंतों में भी नहीं हैं, ऐसे अव्याबाध आदि गुणों के धारक, समवशरणादि विभूति से रहित होने से इन्द्रादि की सेवा से रहित, पंच परावर्तनों से रहित मोक्ष को प्राप्त सिद्ध भगवंतों को बारम्बार नमस्कार हो।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि सिद्ध भगवान की महिमा सूचक जो विशेषण यहाँ दिये गये हैं; उनमें एक अविच्छदं मणुवदेवपदिभावं भी है, जिसका अर्थ होता है कि मनुष्य और देवों के स्वामित्व से रहित हैं। इस विशेषण के माध्यम से आचार्य यह कहना चाहते हैं कि अरहंत अवस्था में समवशरण के मध्य विराजमान होकर जो दिव्यध्वनि खिरती है; उसमें इन्द्रादि उपस्थित रहते हैं और सभी प्रकार की व्यवस्था करते हैं; किन्तु सिद्धों के इसप्रकार प्रसंग नहीं होने से वे इन्द्रादि की सेवा से रहित हैं।

इसप्रकार इन दो गाथाओं में अरिहंत और सिद्ध भगवन्तों को उनके गुणानुवादपूर्वक स्मरण किया गया है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अंतर्गत सुखाधिकार समाप्त होता है।

● ● ●

शुभपरिणामाधिकार

(गाथा ६९ से गाथा ९२ तक)

अथ शुभपरिणामधिकारप्रारम्भः। अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधन स्वरूपमुपन्यस्यति। अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति –

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ।।६९।।
जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ।।७०।।

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु।
उपवासादिषु रक्तः शुभोपयोगात्मक आत्मा ।।६९।।
युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा।
भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधं ।।७०।।

मंगलाचरण

(दोहा)

शुभ परिणामों से मिले केवल इन्द्रिय सुक्ख।
किन्तु वह सुख सुख नहीं वह है केवल दुक्ख ।।

प्रवचनसार परमागम के प्रथम महाधिकार ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन के अन्तर्गत आनेवाले शुद्धोपयोगाधिकार, ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार की चर्चा के उपरान्त अब अन्त में शुभपरिणामाधिकार की चर्चा आरंभ करते हैं।

प्रवचनसार की इन ६९-७०वीं और शुभपरिणामाधिकार की पहली-दूसरी गाथाओं में इन्द्रियसुख के साधनरूप शुभपरिणाम का स्वरूप और फल दिखाते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

देव-गुरु-यति अर्चना अर दान उपवासादि में।
अर शील में जो लीन शुभ उपयोगमय वह आतमा ।।६९।।
अरे शुभ उपयोग से जो युक्त वह तिर्यग्गति।
अर देव मानुष गति में रह प्राप्त करता विषयसुख ।।७०।।

देव, गुरु और यतियों की पूजा में, दान में, सुशीलों और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगी है।

यदायमात्मा दु:खस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत ।।६९ ।।

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुषदेवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति ।।७० ।।

शुभोपयोग से युक्त आत्मा तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक अनेक प्रकार के इन्द्रियसुख प्राप्त करता है।

यहाँ नरक गति को छोड़कर शेष तीन गतियाँ ली हैं; क्योंकि नरक गति शुभपरिणाम का फल नहीं है; किन्तु तिर्यंच गति को शुभ माना गया है।

मनुष्य गति के समान तिर्यंच गति के जीव भी मरना नहीं चाहते। यदि उन्हें मारने की कोशिश करें तो वे जान बचाने के लिए भागते हैं। इससे आशय यह है कि वे उसे अच्छा मानते हैं; अत: तिर्यंच होना शुभ है, शुभ का फल है; इसप्रकार शुभ के फल में तीन गतियाँ ली हैं; नरकगति नहीं ली।

तिर्यंच गति के जीव भी शुभोपयोग के फल में सुख प्राप्त करते हैं। मनुष्यों की भांति तिर्यंच भी भोगभूमियाँ होते हैं; पर नारकी भोगभूमियाँ नहीं होते।

अमेरिका में कुत्ते और बिल्लियों को रहने के लिए एयर कंडीशन घर एवं घूमने के लिए कारें उपलब्ध हैं। उनके भी ऐसे पुण्य का उदय है; परन्तु ऐसे पुण्य का उदय नारकी के नहीं है; इसलिए यहाँ तिर्यंच को तो शुभोपयोग के फल में शामिल किया, पर नारकी को शामिल नहीं किया।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''जब यह आत्मा दुख की साधनभूत द्वेषरूप तथा इन्द्रियविषय की अनुरागरूप अशुभोपयोग भूमिका का उल्लंघन करके देव-गुरु-यति की पूजा, दान, शील और उपवासादि के प्रीतिस्वरूप धर्मानुराग को अंगीकार करता है; तब वह इन्द्रियसुख की साधनभूत शुभोपयोग भूमिका में आरूढ़ कहलाता है।

यह आत्मा इन्द्रियसुख के साधनभूत शुभोपयोग की सामर्थ्य से उसके अधिष्ठानभूत (इन्द्रियसुख के आधारभूत) तिर्यंच, मनुष्य और देवत्व की भूमिकाओं में से किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक उस गति में रहता है; उतने समय तक अनेक प्रकार के इन्द्रियसुख प्राप्त करता है।''

यद्यपि तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही करते हैं; तथापि वे एकार्थवाची से लगनेवाले गुरु और यति शब्दों का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **इन्द्रियजय से शुद्धात्मस्वरूपलीनता में प्रयत्नशील साधु यति हैं और स्वयं भेदाभेदरत्नत्रय के आराधक तथा उस रत्नत्रय के अभिलाषी भव्यों को जिनदीक्षा देनेवाले साधु गुरु हैं।**

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि देव-गुरु-यति की पूजा, आहार दानादि चार दान, आचार शास्त्रों में कहे गये शीलव्रत और उपवासादि में प्रीति होना धर्मानुराग है।

जो व्यक्ति द्वेष और विषयानुरागरूप अशुभभाव को पार करके उक्त धर्मानुराग अंगीकार करता है, वह शुभोपयोगी है।

उक्त शुभोपयोग या शुभभाव के फल में जीव को अनुकूलता से युक्त तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति की प्राप्ति होती है और इन गतियों में आयुकर्म की स्थिति के अनुसार रहना होता है। इसप्रकार यह जीव सुनिश्चित अल्पकाल तक अनेकप्रकार के इन्द्रियसुखों को प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग या शुभभाव के फल में इन्द्रियसुख अर्थात् भोगों की प्राप्ति होती है। **भोग भोगने का भाव तो पापबंध का ही कारण है। यदि उपलब्ध भोगों को भोगते हैं, भोगने का भाव करते हैं तो पाप का बंध होता है।** इसप्रकार सुख-सा दिखनेवाला इन्द्रिय सुख वस्तुतः दुःख ही है, दुख का ही कारण है।

उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण आचार्यदेव स्वयं आगामी गाथाओं में विस्तार से करेंगे। अतः यहाँ विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इन गाथाओं और उनकी टीकाओं में यह साफ-साफ लिखा है कि शुभोपयोग से इन्द्रियसुखों की प्राप्ति होती है; किन्तु इसी शुभोपयोग से धर्मानुकूल सामग्री भी तो प्राप्त होती है; उसकी चर्चा क्यों नहीं की ?

पहली बात तो यही कि **बंध का कारणभूत शुभोपयोग धर्म नहीं है; वास्तविक धर्म तो कर्मबंधन से मुक्ति का कारणरूप शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति ही है। अतः शुभ और अशुभरूप अशुद्धोपयोग से विरक्त करने के लिए उसी बात पर बल देना आवश्यक था।**

दूसरी बात यह भी तो है कि इन्द्रियसुखों की प्राप्ति की तुलना में धर्मानुकूलता की प्राप्ति नगण्य-सी ही है। अनंत जीवों को तो भोग सामग्री ही उपलब्ध होती है; यदि उन्हें कदाचित् **धर्मसामग्री भी उपलब्ध हो जावे तो उसका भी भोग के रूप में ही उपयोग करते हैं।**

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दुःखत्वे प्रक्षिपति –

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ।।७१।।

अभव्य अज्ञानियों के संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि – **धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तम्**[1] – अभव्यों का शुभभावरूप धर्म भोगों का निमित्त है, कर्मों के क्षय का निमित्त नहीं है।

मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कृत नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में समागत ५९वें कलश में कहा गया है कि **सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं** – समस्त शुभ कर्म भोगियों के भोग का मूल है। इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि अधिकांश शुभभाव भोग सामग्री प्राप्त करानेवाले पुण्य को ही बाँधते हैं।

भगवान की देशना के अतिरिक्त कोई धर्मसामग्री नहीं है; क्योंकि एक देशनालब्धि को ही सम्यग्दर्शन का निमित्तरूप कारण माना गया है।

अतः ६ माह और ८ समय में अनंत जीवों में ६०८ जीव ही ऐसे रहे कि जिन्हें शुभोपयोग के फल में देशनालब्धि प्राप्त होती है; शेष को तो मिली न मिली बराबर ही है।

आखिर उसे ही तो धर्मसामग्री कहा जायेगा कि जिससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की प्राप्ति हो। जिससे उक्त धर्म की प्राप्ति ही न हो और जो हमारे मानादिक के पोषण का निमित्त बने; उसे धर्मसामग्री भी तो कैसे कहा जा सकता है ?

तीसरी बात यह है कि वास्तविक धर्म की प्राप्ति के लिए पुण्योदय से प्राप्त होनेवाली सामग्री की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति में पर के सहयोग की आवश्यकता नहीं; अपितु पर का त्याग ही अभीष्ट है। यह तो सुनिश्चित ही है कि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति आत्मा के आश्रय से ही होती है, पर के आश्रय से भी नहीं, तो पर के सहयोग की बात ही कहाँ है ? ।।६९-७०।।

६९ और ७०वीं गाथा में शुभभाव से इन्द्रियसुखों की प्राप्ति होती है – यह कहने के उपरान्त इस ७१वीं गाथा में यह बताते हैं कि शुभोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाली देवगति में भी स्वाभाविक सुख नहीं है। **'वहाँ जो इन्द्रिय सुख है, वह सुख नहीं, दुख ही है।'** – अब यह सिद्ध करते हैं।

---

[1] समयसार, गाथा २७५

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु।।७१।।

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकसः। तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति, प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते, यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया परवशा भृगुप्रपातस्थानीयन्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति।।७१।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उपदेश से है सिद्ध देवों के नहीं है स्वभावसुख।
तनवेदना से दुखी वे रमणीक विषयों में रमे।।७१।।

जिनेन्द्रदेव के उपदेश से यह सिद्ध ही है कि देवों के भी स्वभावसिद्ध सुख नहीं है; क्योंकि वे देव पंचेन्द्रियमय देह की वेदना से पीड़ित होने से रमणीक विषयों में रमते हैं।

तात्पर्य यह है कि यदि वे स्वाभाविक सुखी होते, दुखी नहीं होते; तो रमणीक विषयों में रमण संभव नहीं था। रमणीक विषयों में रमण इस बात का प्रमाण है कि देव भी दुःखी ही हैं।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इन्द्रियसुखभाजनों में देवगति के देव प्रधान हैं; वस्तुतः उनके भी स्वाभाविक सुख नहीं है; अपितु उनके स्वाभाविक दुख ही देखा जाता है; क्योंकि पंचेन्द्रियात्मक शरीररूपी पिशाच की पीड़ा से परवश होने से वे भृगुप्रपात के समान मनोज्ञ विषयों की ओर दौड़ते हैं।"

भृगु माने पर्वत का निराधार उच्च शिखर और प्रपात माने गिरना। इसप्रकार भृगुप्रपात का अर्थ होता दुखों से घबड़ा कर आत्महत्या करने के लिए पर्वत के निराधार उच्च शिखर से गिरना। इसप्रकार देव भी पंचेन्द्रिय विषयों की अभिलाषा की पीड़ा सहन न कर पाने से भृगुप्रपात के समान इन्द्रिय विषयों की ओर दौड़ते हैं। **तात्पर्य यह है कि सुखी से दिखनेवाले देव भी वस्तुतः दुखी ही हैं।**

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथा के भाव को निम्नांकित प्रसिद्ध उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हैं –

एक व्यक्ति अतिविस्तीर्ण भयंकर वन में भ्रमित होकर अर्द्धविक्षिप्त हाथी के पीछे पड़ जाने से अंधे कुएँ में गिरते समय उसके किनारे पर स्थित वृक्ष की एक शाखा को पकड़ कर लटक जाता है। उक्त वृक्ष की जड़ों को दो चूहे काट रहे हैं। उस वृक्ष पर एक मधुमक्खियों का छत्ता

लगा है और उस वृक्ष को वह विक्षिप्त हाथी क्रोधित होकर झकझोर रहा है; जिसके कारण मधुमक्खियाँ उड़कर उक्त पुरुष को काटने लगी हैं; पर छत्ते के हिलने से उसमें से मधु (शहद) की एक-एक बूँद टपक रही है; जो भाग्य से शाखा से लटके उक्त पुरुष के मुख में गिर रही है; जिसे वह बड़े चाव से चाट रहा है।

नीचे कुएँ में विशाल अजगर पड़ा है; जो उक्त व्यक्ति को निगल जाने को आतुर है और अनेक अन्य सर्प भी उसे डसने को तैयार हैं। मृत्यु के मुख में पड़े हुए उक्त पुरुष को उक्त अनेक दुःखों के बीच मात्र मधुबिन्दु को चाटने के समान ही सुख है।

उक्त परिस्थितियों में फंसे हुए मरणोन्मुख उक्त पुरुष पर करुणा करके कोई देवता उसे बचाने के लिए हाथ बढ़ाता है और आग्रह करता है कि 'तुम मेरा हाथ कसकर पकड़ लो, मैं तुम्हें अभी इस महासंकट से बचा लेता हूँ; परन्तु वह अभागा पुरुष कहता है कि इस मधुर मधु की एक बूँद और चाट लूँ।

इसप्रकार वह एक-एक बूँद मधु के लोभ में तबतक वहीं लटका रहता है कि जबतक वह वृक्ष उखड़ नहीं जाता, उसकी डालियाँ टूट नहीं जातीं, वह पुरुष गिरकर विकराल अजगर के मुख में समा नहीं जाता, साँपों द्वारा डसा नहीं जाता; यहाँ तक कि महामृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाता।

मधुबिन्दु के समान सांसारिक सुखों के लोभ में यह मनुष्य संसाररूपी भयंकर वन में मिथ्यात्वरूपी कुमार्ग में भटकता हुआ मृत्युरूपी हाथी के भय से शरीररूपी अंधे कुएँ में गिर गया है। जिस आयुकर्मरूप वृक्ष की जड़ शुक्ल और कृष्ण पक्षरूपी चूहे काट रहे हैं – ऐसी आयुकर्मरूपी वृक्ष की शाखा पर लटक गया है।

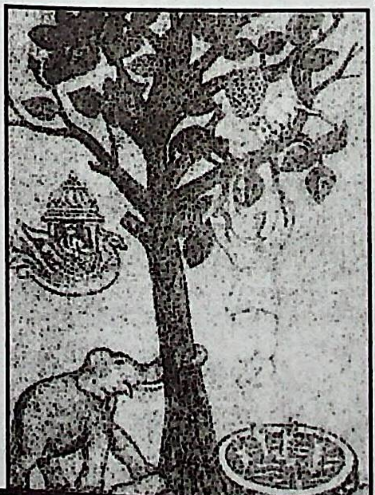

शरीररूपी अंधे कुएँ के नीचे भाग में सशरीर निगल जाने को तैयार मिथ्यात्वरूपी अजगर और डस जाने को तैयार कषायोंरूपी सर्प हैं। मृत्युरूपी हाथी वृक्ष और उसकी शाखाओं को नष्ट करने के लिए जोर से झकझोर रहा है; जिससे जीवनांत होने का खतरा बढ़ गया है।

फिर भी वह मनुष्य विषय-सुखरूपी मधुबिन्दु के स्वाद

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्यनिर्वर्तक-शुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति –

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ।।७२।।

में सुख मानता हुआ उसे चाट रहा है, विषयों को भोग रहा है। सद्गुरुरूपी देवता उसे बचाने के लिए हाथ बढ़ाते हैं, पर वह विषयसुखरूपी मधु के लोभ में फंसकर वहाँ से निकलना ही नहीं चाहता। सांसारिक सुख की यही स्थिति है; मोक्षसुख इससे विलक्षण है, विपरीत है।

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि शुभभाव के फल में पुण्यबंध होता है और उससे तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में प्राप्त होनेवाला विषयसुख प्राप्त होता है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि शुभभाव के फल में प्राप्त होनेवाला सुख वास्तव में सुख ही नहीं है, वह तो दुख ही है।

इस बात को सिद्ध करते हुए यह कह रहे हैं कि तिर्यंच, मनुष्य और देवों में सबसे अधिक सुखी देव माने जाते हैं; जब वे भी सुखी नहीं हैं, दुखी ही हैं तो फिर तिर्यंच और मनुष्यों की बात ही क्या करना ? वे तो हमें भी दुखी दिखाई देते हैं।

देवों को दुखी सिद्ध करने में सबसे बड़ी युक्ति यह है कि वे पंचेन्द्रियों की ओर दौड़ते देखे जाते हैं, उनमें रमते देखे जाते हैं। **यदि वे दुखी नहीं हैं तो फिर विषयों में रमण क्यों करते हैं ? क्योंकि विषयों की रमणता तो दुख दूर करने के लिए ही होती है। इसप्रकार यह सहज ही सिद्ध है कि नित्य विषयों में रमनेवाले तिर्यंच, मनुष्य और देव दुखी ही हैं ।।७१।।**

विषयों में रमनेवाले देव भी दुखी ही हैं – विगत गाथा में यह स्पष्ट हो जाने पर अब इस गाथा में यह कहते हैं कि जब पुण्योदयवाले देव भी दुखी ही हैं तो फिर पुण्य और पाप में क्या अन्तर रहा ? इसीप्रकार पुण्य और पाप के कारणरूप शुभ और अशुभभावों में भी क्या अन्तर रहा ? इसप्रकार हम देखते हैं कि शुभोपयोग और अशुभोपयोग में कोई अन्तर नहीं है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

नर नारकी तिर्यंच सुर यदि देहसंभव दुःख को।
अनुभव करें तो फिर कहो उपयोग कैसे शुभ-अशुभ? ।।७२।।

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दु:खं।
कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम्।।७२।।

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दु:खमेवानुभवन्ति। ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्थानावतिष्ठते।।७२।।

मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव – यदि ये सब ही देहजन्य दुख को अनुभव करते हैं तो फिर जीवों का वह उपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार का कैसे है ?

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्तिवाले देवादिक और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पाप की विपत्तिवाले नारकादिक – दोनों ही स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेषरूप से पंचेन्द्रियात्मक शरीर संबंधी दु:ख का अनुभव करते हैं, तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक् व्यवस्था नहीं रहती।''

आचार्य जयसेन भी इस गाथा का भाव नयविभाग से इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं – **''व्यवहारनय से शुभ और अशुभ में भेद होने पर भी दोनों के शुद्धोपयोग से विलक्षण अशुद्धोपयोगरूप होने से निश्चयनय से उनमें भिन्नत्व कैसे हो सकता है ?**

तात्पर्य यह है कि निश्चयनय से दोनों समान ही हैं।''

इस गाथा में यह कहा गया है कि पुण्योदयवाले देवादिक और पापोदयवाले नारकी आदि समानरूप से दुख का ही अनुभव करते हैं; अत: दोनों समान हैं, इनमें कोई अन्तर नहीं है।

यह बात जगत के गले आसानी से नहीं उतरती; क्योंकि जगत में पुण्योदयवाले अनुकूल संयोगों को और पापोदयवाले प्रतिकूल संयोगों को भोगते दिखाई देते हैं।

यदि ऊपर-ऊपर से देखेंगे तो ऐसा ही दिखेगा; किन्तु गहराई में जाकर देखते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि पुण्योदयवाले सुखी होते, आकुलित नहीं होते तो अत्यन्त गंदे, ग्लानि उत्पन्न करनेवाले विषयों को बड़ी बेशर्मी से भोगते दिखाई नहीं देते।

पंचेन्द्रियों के विषय मलिन हैं; आदि, मध्य और अन्त में ताप उत्पन्न करनेवाले हैं; पापबंध के कारण हैं – ऐसा जानते हुए भी उन्हीं में रत रहना दुखी होने की ही निशानी है, सुखी होने की नहीं।

यह बात तो अत्यन्त स्पष्ट ही है कि पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन पापरूप है, सेवन करने का भाव पापभाव है और पापबंध का कारण है।

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति। अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति –

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा।।७३।।
जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं।।७४।।

इसप्रकार आद्योपान्त पापरूप होने से विषयों का सेवन करनेवाले पापी दुःखी हैं।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पंचेन्द्रिय विषयों की उपलब्धि में पुण्य का उदय निमित्त है। मात्र इतने से पापभावों का सेवन करनेवाले सुखी नहीं हो जाते। वे सुखी जैसे दिखाई देते हैं; पर सुखी नहीं हैं; परमार्थ से वे दुखी ही हैं। इस गाथा में यही बात समझाई गई है।।७२।।

७२वीं गाथा में शुभ और अशुभ उपयोग समान ही हैं – यह सिद्ध करने के उपरान्त अब इन ७३-७४वीं गाथाओं में यह समझाते हैं कि **इन्द्र और नरेन्द्रों के वैभव को देखकर यह तो मानना ही पड़ता है कि शुभभावजन्य पुण्य की भी सत्ता है; तथापि वे पुण्य पुण्यवालों को विषय तृष्णा ही उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार स्वीकार किये गये पुण्य दुख के बीज हैं – यह सिद्ध करते हैं।**

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

वज्रधर अर चक्रधर सब पुण्यफल को भोगते।
देहादि की वृद्धि करें पर सुखी हों ऐसे लगे।।७३।।
शुभभाव से उत्पन्न विध-विध पुण्य यदि विद्यमान हैं।
तो वे सभी सुरलोक में विषयेषणा पैदा करें।।७४।।

वज्रधारी इन्द्र और चक्रधारी नरेन्द्र शुभोपयोगमूलक पुण्यों के फलरूप भोगों के द्वारा देहादिक की पुष्टि करते हैं। इसप्रकार भोगों में वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं; इसलिए पुण्य विद्यमान अवश्य है।

यदि शुभोपयोगरूप परिणाम से उत्पन्न होनेवाले विविध पुण्य विद्यमान हैं तो वे देवों तक के जीवों को विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं।

आप ही सोचें कि आपको यदि पुण्योदय से सरस स्वादिष्ट भोजन की प्राप्ति हुई हो तो उसे

कुलिशायुधचक्रधरा: शुभोपयोगात्मकै: भोगै:।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरता।।७३।।
यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि।
जनयन्ति विषयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम्।।७४।।

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगै: शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ता: सुखिता इव प्रतिभासन्ते, तत: शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते।।७३।।

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यंत इत्यभ्युपगम्यते, तदा तानि सुधाशनानप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव समुत्पा-

---

देखकर, उसे खाने की ही इच्छा होगी न। इसीप्रकार पुण्योदय से अनुकूल सेवाभावी सुन्दरतम पत्नी प्राप्त हो गई तो उसे देखकर आपको विषयेषणा के अलावा और क्या होनेवाला है ?

यह इच्छा और विषयेषणा आकुलता ही तो है, दुख ही तो है।

निरन्तर सामने रहनेवाली भोगसामग्री विषयेषणा तो पैदा करती ही है; साथ में उसे निरन्तर सामने रखने की भावना रखना और उसके लिए व्यवस्था जुटाना भी तो यही सिद्ध करता है कि हम उसे निरंतर भोगना चाहते हैं। इसप्रकार वह भोग सामग्री न केवल भोगने के भाव का निमित्तकारण है, अपितु भोगने की तीव्र आकांक्षा का परिणाम भी है, प्रतीक भी है और अन्तर की भोगाकांक्षा को उजागर भी करती है।

यही बात यहाँ कही गई है कि यदि इन्द्रादि दुखी नहीं होते तो वे अतिगृद्धतापूर्वक विषयों में निरन्तर क्यों रमते ?

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''इन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को पुष्ट करते हुए; जिसप्रकार जोंक दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है; उसीप्रकार उन भोगों में अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए इंद्र और चक्रवर्ती सुखी जैसे भासित होते हैं; इसलिए शुभोपयोगजन्य पुण्य दिखाई देते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रादि को देखकर यह तो प्रतीत होता ही है कि पुण्य का अस्तित्व है।

इसप्रकार शुभोपयोगपरिणामजन्य अनेकप्रकार के पुण्य विद्यमान हैं; यदि यह स्वीकार किया है तो वे पुण्य देवों तक के समस्त संसारियों को विषय तृष्णा अवश्य उत्पन्न करते हैं–

दयन्ति। न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्यते। अवलोक्यते च सा। ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ॥७४॥

यह भी स्वीकार करना होगा; क्योंकि जिसप्रकार तृष्णा के बिना जोंक को दूषित रक्त में प्रवृत्ति करते नहीं देखा जाता; उसीप्रकार तृष्णा के बिना समस्त संसारियों को विषयों में प्रवृत्ति करते दिखाई नहीं देना चाहिए; किन्तु संसारियों की विषयों में प्रवृत्ति तो दिखाई देती है। इसलिए पुण्यों की तृष्णायतनता अबाधित ही है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य तृष्णा के घर हैं – यह बात सहज ही सिद्ध होती है।''

आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही आचार्य जयसेन भी इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में जोंक के उदाहरण से ही स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं कि **यदि जोंक को अति आसक्ति नहीं होती, अति तृष्णा नहीं होती तो वह मौत की कीमत पर भी रोगी का गंदा खून क्यों पीती ? उसीप्रकार देवों को भी यदि अति आसक्ति नहीं होती, अति तृष्णा नहीं होती तो वे मृत्युपर्यन्त मलिन भोगों को क्यों भोगते रहते ?**

जिसप्रकार जोंक गंदे खून को पीने के लिए चिपट जाती है, यदि उसे छुड़ाने की कोशिश करो तो भी वह मरने तक छूटती नहीं है। संसी (संडासी) से पकड़कर उसे खींचना चाहो तो भी हम उसे जिन्दा नहीं निकाल सकते। जब वह पूरा खून पी लेगी और उसका पेट भर जाएगा; तभी वह उसे छोड़ेगी, हम उसे बीच में से नहीं हटा सकते।

मरणपर्यन्त से आशय मरते दमतक नहीं है; अपितु मौत की कीमत पर – ऐसा है। स्वयं का मरण न भी हो तो भोग के भाव का तो मरण होता ही है।

जैसे खाना खा रहे हो और पेट भर जाये, फिर भी लड्डू खाना नहीं छोड़ते। मरणपर्यन्त से तात्पर्य यह है कि जीवन के अन्तिम समय तक पंचेन्द्रिय के विषयों को भोगना चाहते हैं; लेकिन रोजाना मरणपर्यन्त अर्थात् जबतक वह भाव जीवित है, पेट नहीं भर गया है, अब और अंदर जाता नहीं; तबतक यह खाता रहता है।

एक ऐसे व्यक्ति को मैंने देखा है जो बाजार में चाट वगैरह खाता था। जब उसका पेट भर जाता तो वह मुँह में ऊँगलियाँ डालकर वोमेटिंग (उल्टी) करता था और फिर चाट, कचौड़ी, पकौड़ी खा लेता था।

पचास बीमारियाँ है, डायबिटीज है; फिर भी इसे मिश्री-मावा चाहिए। यह कहता है कि- 'देख लूँगा, ज्यादा होगा तो दो इन्जेक्शन और लगवा लूँगा।' इसप्रकार प्राणी मरणपर्यन्त अर्थात् मृत्यु की कीमत पर भी इन विषयों को भोगते हैं। वास्तव में यह दुःख ही है, सुख नहीं है।

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोषयति –

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७५॥

इन गाथाओं और उनकी टीका में गंदे खून पीनेवाली जोंक का उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि पंचेन्द्रियों को निरन्तर भोगनेवाले इन्द्र और चक्रवर्ती भी दुखी ही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि इस जगत में पुण्य की सत्ता है; किन्तु पुण्यवाले भी सुखी नहीं हैं। **वस्तुत: बात यह है कि सच्चा सुख तो आत्मा में ही है और आत्मा के आश्रय से ही प्राप्त होता है। आत्मा का आश्रयरूप धर्म शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोगरूप है; शुभभावरूप नहीं।**

शुभभाव पुण्यबंध का कारण है और पुण्योदय से पंचेन्द्रियों के विषयों की उपलब्धि होती है। विषयों का भोग, दुखरूप होने से सुखी से दिखनेवाले भोगीजन वस्तुत: दुखी ही हैं। यह बात ही इन गाथाओं में स्पष्ट की गई है।

जिनके पाप का उदय है; वे दुखी हैं – यह तो सारा जगत कहता है; किन्तु यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि जिनके पुण्य का उदय विद्यमान है; वे भी सुखी नहीं हैं, दुखी ही हैं; क्योंकि वे भी विषयों में रमे हैं। दुख के बिना विषयों में रमणता संभव नहीं है ॥७३-७४॥

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि यद्यपि पुण्यभाव विद्यमान हैं; तथापि वे तृष्णा के ही उत्पादक हैं। हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि कभी-कभी तो हमें बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती और कभी-कभी अत्यल्प प्रयत्न से या बिना प्रयत्न के ही सफलता प्राप्त हो जाती है; इसकारण यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि जगत में पुण्यतत्त्व की भी सत्ता है; क्योंकि अनायास सफलता मिलने का कारण पुण्योदय ही है।

इसीप्रकार यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट है कि पुण्योदय से प्राप्त होनेवाली भोगसामग्री को देखकर या प्राप्त कर विषय-वासना ही उत्पन्न होती है; भोग के भाव ही भड़कते हैं।

अत: अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि **पुण्य में दु:खों के बीज की विजय है। तात्पर्य यह है कि पुण्य में तृष्णारूपी बीज दु:खरूप वृक्ष की वृद्धि को प्राप्त होता है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

अरे जिनकी उदित तृष्णा दु:ख से संतप्त वे।
हैं दुखी फिर भी आमरण वे विषयसुख ही चाहते ॥७५॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णाः दुःखितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दुःखसंतप्ताः ।।७५।।

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति। तद्दुःखसंतापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति।

यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते, एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते।

अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः ।।७५।।

जिनकी तृष्णा उदित है; वे जीव तृष्णाओं के द्वारा दुःखी होते हुए मरणपर्यन्त विषयसुखों को चाहते हैं और दुःखों से संतप्त होते हुए, दुखदाह को सहन न कर पाने से उन्हें भोगते हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"उदित तृष्णावाले देवों सहित समस्त संसारी जीव तृष्णा दुख का बीज होने से पुण्यजनित तृष्णाओं द्वारा भी अत्यन्त दुखी होते हुए मृगतृष्णा में से जल की भांति विषयों में से सुख चाहते हैं और उस दुख संताप के वेग को सहन न कर पाने से जोंक (गोंच) के समान विषयों को तबतक भोगते हैं; जबतक कि विनाश (मरण) को प्राप्त नहीं होते।

जिसप्रकार जोंक तृष्णाबीज से वृद्धि को प्राप्त होते हुए दुखांकुरों से क्रमशः आक्रान्त होने से दूषित रक्त को चाहती है और उसी को भोगती हुई मरणपर्यन्त दुखी होती है, क्लेश को पाती है; उसीप्रकार पुण्यात्मा जीव भी पापियों के समान ही तृष्णा बीज से वृद्धि को प्राप्त होते हुए दुखांकुरों से क्रमशः आक्रान्त होने से विषयों को चाहते हुए और उन्हीं को भोगते हुए मरणपर्यन्त दुख पाते हैं, क्लेश पाते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि पुण्य सुखाभासरूप दुख का ही साधन है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव सामान्यतः आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं; परन्तु निष्कर्ष के रूप में अन्त में लिखते हैं कि इससे यह निश्चित हुआ कि तृष्णारूपी रोग को उत्पन्न करनेवाला होने से पुण्य वास्तव में दुख का ही कारण है।

इसप्रकार इस गाथा में अनेकप्रकार से यही स्पष्ट किया गया है कि जिनके तृष्णा है; वे

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्योतयति –

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
तं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।।७६।।

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम्।
यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा ।।७६।।

दुखी ही हैं। पाप के उदयवाले प्रतिकूल संयोगों से अथवा अनुकूल संयोगों के न होने से दुखी हैं और पुण्य के उदयवाले तृष्णा के कारण भोगों को भोगते हुए भी आकुलित हैं, दुखी हैं।

इस संसार में सुखी कोई नहीं है। वैराग्यभावना में भी कहा गया है कि –

जो संसारविषैं सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागें।
काहे को शिवसाधन करते संयम सौं अनुरागें।।

यदि संसार में सुख होता तो सर्वानुकूल संयोगों के धनी महापुण्यवान तीर्थंकर इस संसार का परित्याग करके दीक्षा क्यों लेते ? शान्तिनाथ भगवान तो तीर्थंकर होने के साथ-साथ चक्रवर्ती और कामदेव भी थे। उनसे अधिक पुण्यवान और कौन हो सकता है; पर पुण्योदय से प्राप्त समस्त अनुकूलताओं को छोड़कर नग्न दिगम्बर दीक्षा लेकर वे आत्मतल्लीन हो गये; क्योंकि सच्चा सुख आत्मरमणता में है; अनुकूल भोगों के भोगने में नहीं।।७५।।

विगत गाथाओं में यह बात विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है कि जिन्हें हम लोक में पुण्यवान कहते हैं, सुखी कहते हैं; वस्तुतः वे लोग भी दुखी हैं; क्योंकि उनके तृष्णा विद्यमान है।

वस्तुतः बात यह है कि 'पाप के समान ही पुण्य भी हेय है' – इस बात को विविधप्रकार से स्पष्ट कर देने पर भी अज्ञानी की पुण्य में उपादेयबुद्धि बनी ही रहती है। अतः अब पुण्योदय से प्राप्त होनेवाला सुख भी कितना असार है – यह समझाने के लिए एक बार पुनः गाथा में पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले इन्द्रियसुख का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि इन्द्रियसुख सुख नहीं, वस्तुतः अनेक प्रकार से दुख ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है।
है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ।।७६।।

जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है; वह सुख परसंबंधयुक्त है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बंध का कारण है और विषम है; इसप्रकार वह इन्द्रियसुख दुख ही है।

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बंधकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात्।

सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सदशनायोदन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बंधकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंष्ठुलतया च दुःखमेव भवति।

अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम्।।७६।।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''परसंबंधयुक्त होने से, बाधासहित होने से, विच्छिन्न होने से, बंध का कारण होने से और विषम होने से वह इन्द्रियसुख पुण्यजन्य होने पर भी दुख ही है।

इन्द्रियसुख पर के संबंधवाला होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीन है; बाधासहित होता हुआ खाने, पीने और मैथुन की इच्छा इत्यादि तृष्णा की व्यक्तियों से युक्त होने से अत्यन्त आकुल है; विच्छिन्न होता हुआ असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है – ऐसे सातावेदनीय के उदय से प्रवर्तमान होता हुआ अनुभव में आता है, इसलिए विपक्ष की उत्पत्तिवाला है; बंध का कारण होता हुआ विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार कर्मरज के घनपटल का संबंध होने के कारण परिणाम से दुःसह है और विषम होता हुआ हानि-वृद्धि में परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिर है; इसलिए वह इन्द्रियसुख दुख ही है।

इसप्रकार यदि इन्द्रियसुख दुख ही है तो फिर पाप की भाँति पुण्य भी दुख का ही साधन है – यह सहज ही प्रतिफलित हो जाता है।''

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन्द्रियसुख का स्वरूप तो आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं; किन्तु साथ में इन्द्रियसुख के प्रतिपक्षी अतीन्द्रियसुख का स्वरूप भी स्पष्ट करते हैं। इसप्रकार वे इन्द्रियसुख और अतीन्द्रियसुख की तुलना प्रस्तुत कर देते हैं।

वे कहते हैं कि इन्द्रियसुख पराधीन है तो अतीन्द्रियसुख स्वाधीन है, इन्द्रियसुख बाधासहित है तो अतीन्द्रियसुख अव्याबाध है, इन्द्रियसुख खण्डित हो जानेवाला है तो अतीन्द्रियसुख अखण्ड है, इन्द्रियसुख बंध का कारण है तो अतीन्द्रियसुख बंध का कारण नहीं है और

इन्द्रियसुख विषम अर्थात् हानि-वृद्धि सहित है तो अतीन्द्रियसुख सम अर्थात् हानि-वृद्धि रहित है। उक्त पाँच विशेषताओं के कारण इन्द्रियसुख हेय और अतीन्द्रिय सुख उपादेय है।

यह एक दिशाबोधक सरल सुबोध गाथा है; जिसमें सांसारिक सुख की दुखरूपता को अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसमें कहा गया है कि यह अज्ञानी जगत जिस विषयसुख की कामना करता है,जिसके लिए आकाश-पाताल एक कर देता है, सागर में गोता लगाता है, आकाश में गुलाचें भरता है और जमीन को फोड़कर पाताल में जाने को तैयार रहता है, इसप्रकार इस बेशकीमती नरभव को दाव पर लगा देता है; आखिर उस सुख में ऐसा है ही क्या? वस्तुतः यह इन्द्रियसुख सुख ही नहीं है। यह तो आकुलतारूप होने से दुःख ही है।

इस गाथा में इसे दुःखरूप सिद्ध करने के लिए पाँच कारण दिए हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि यह पराधीन है। यह तो जगत में प्रसिद्ध ही है कि **पराधीन सपनेहु सुख नाहीं** – पराधीन व्यक्ति को स्वप्न में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। यह संसारी प्राणी इन्द्रियों के आधीन है। यदि इन्द्रियाँ भोगने के काबिल नहीं हुईं तो प्राप्त भोग्य सामग्री और अधिक संताप देती है। दूसरे भोग्य सामग्री भी तो पर है; अतः उसकी उपलब्धता भी सदा सहज नहीं है।

जब दांत थे, तब चने नहीं मिले और जब चने उपलब्ध हुए, तबतक दांत गायब हो चुके थे। मान लो दांत भी हैं और चना भी हैं, पर भूख ही न हो तो, खाने का भाव ही न हो तो फिर क्या हो ? इसीप्रकार भोगसामग्री भी हो और भोगने में इन्द्रियाँ भी सबल हों; पर भोगने के भाव बिना भोगा जा सकना संभव नहीं है।

दूसरे इन्द्रियसुख में बाधाएँ भी कम नहीं हैं। इन्द्रियाँ सबल हों, भोग सामग्री भी हो और भोगने के भाव भी प्रबल हों; पर कोई पूज्य पुरुष आ जाये, मित्र आ जाये या फिर शत्रु ही क्यों न आ जाय; सब बाधाएँ ही हैं; क्योंकि उक्त परिस्थिति में उपभोग संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले भोग कभी भी विघट सकते हैं; क्योंकि पुण्योदय न जाने कब समाप्त हो जाय। पापोदय भी तो कभी भी आ सकता है। इसप्रकार ये भोग कभी भी विघटित हो जानेवाले होने से विच्छिन्न हैं।

चौथी बात यह है कि ये बंध के कारण हैं; क्योंकि भोगने के भाव पापभाव हैं और पापभाव पापबंध का ही कारण होता है। इसप्रकार इन्द्रियसुख अभी तो दुखरूप है ही, भविष्य में भी दुख देनेवाला ही है।

पाँचवीं बात यह है कि ये विषम हैं, अस्थिर हैं, घटते-बढ़ते रहते हैं।

इसप्रकार यह इन्द्रियसुख सर्वथा त्यागनेयोग्य है; एकमात्र अतीन्द्रिय आनन्द ही प्राप्त करनेयोग्य है, उपादेय है।

मूलत: बात यह है कि जबतक इन्द्रियसुख दुखरूप भासित नहीं होगा; तबतक पुण्य में उपादेयबुद्धि बनी ही रहेगी। अत: यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि इन्द्रिय सुख भी दुख ही है तथा पुण्य भी पाप के समान ही हेय है, त्यागनेयोग्य है।

पुराने जमाने में उपभोग की सभी वस्तुओं को छुपाकर रखा जाता था, उनका उपभोग भी एकान्त में होता था; पर आज सबकुछ सामने आ गया है। पहले खाने की सभी सामग्री रसोईघर में रहती थी; पर आज सभी कुछ भोजन की टेबल पर पारदर्शक बर्तनों में सजा रहता है; जो हमें खाने के लिए उत्तेजित करता है। पहले जो थाली में आ गया, खा लिया; पर आज अपने हाथ से उठा-उठाकर सबकुछ लिया जाता है। पुराने जमाने में महिलायें भी पर्दे में रहती थीं, पर आज तो सब कुछ बेपर्दा हो गया है। टी.वी. आदि सभी उत्तेजक सामग्री बेडरूम में आ गई है और सत्साहित्य वहाँ से यह कहकर हटा दिया गया है कि यहाँ इसकी अविनय होगी।

अरे भाई ! वैराग्यमय चित्र और वैराग्योत्पादक साहित्य घर में रखो, उसे पढ़ते-पढ़ते सोवोगे तो स्वप्न भी सात्त्विक आयेंगे।

ये उत्तेजक सामग्री न केवल हमारी वासनाओं को भड़काती है, उत्तेजित करती है; अपितु हमारी कुत्सित वृत्ति की प्रतीक भी है, परिणाम भी है। हमारी वृत्ति ही खोटी है; इसीकारण इन भड़काऊ चीजों का प्रवेश हमारे बेडरूम में हुआ है।

इसप्रकार ये भोग सामग्री हमारी उत्तेजित वासनाओं का परिणाम है और हमारी वासनाओं को भड़कानेवाली भी हैं; अत: इन्हें गुप्त रखना ही ठीक है। ये प्रदर्शन की वस्तुएँ नहीं हैं। ये भोगायतन हैं; इनसे हमारा घर भी भोगायतन ही बनेगा।

यदि हमें अपने घर को धर्मायतन बनाना है तो वैराग्यपोषक चित्र और सत्साहित्य घर में बसाना चाहिए। न केवल बसाना चाहिए, अपितु उसका अध्ययन भी नित्य करना चाहिए। स्वयं करना चाहिए और घरवालों को भी कराना चाहिए।

जिस घर में सत्साहित्य नहीं, वह घर घर नहीं, श्मसान है। यदि अपने घर को श्मशान नहीं बनाना है, मन्दिर बनाना है तो जिनवाणी को घर में बसाओ, उसका बहिष्कार मत करो, सत्कार करो, स्वाध्याय करो।।७६।।

विगत गाथाओं में अनेक तर्क और युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि इन्द्रियसुख सुख

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति –

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।७७।।

न हि मन्यते य एवं नास्ति विशेष इति पुण्यपापयोः।
हिण्डति घोरमपारं संसारं मोहसंछन्नः ।।७७।।

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलुः परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात्।

यस्तु पुनरनयोः कल्याणकालायसनिगडयोरिवाहङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्र-

---

नहीं है, दुख ही है। अब इस गाथा में यह समझा रहे हैं कि जब पाप के उदय में प्राप्त होनेवाले दुख के समान ही पुण्य के उदय में प्राप्त होनेवाला इन्द्रियसुख भी दुख ही है तो फिर पुण्य-पाप में अन्तर ही क्या रहा ? यह इस प्रकरण के उपसंहार की गाथा है। यही कारण है कि इसकी उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि अब पुण्य-पाप की समानता का निश्चय करते हुए उपसंहार करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है–जो न माने बात ये।
संसार-सागर में भ्रमें मद-मोह से आच्छन्न वे।।७७।।

इसप्रकार जो व्यक्ति 'पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है' – ऐसा नहीं मानता है अर्थात् उन्हें समानरूप से हेय नहीं मानता है; वह मोह से आच्छन्न प्राणी अपार घोर संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"विगत गाथाओं में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप के अनुसार जब परमार्थ से शुभाशुभ उपयोग में और सांसारिक सुख-दुःख में द्वैत नहीं ठहरता; तब पुण्य और पाप में द्वैत कैसे ठहर सकता है ? क्योंकि पुण्य और पाप – दोनों में ही अनात्मधर्मत्व समान है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य और पाप – दोनों ही आत्मा के धर्म नहीं; इसलिए आत्मधर्म के आराधकों को दोनों ही समानरूप से अधर्म हैं।

ऐसा होने पर भी जो जीव उन दोनों में सुवर्ण और लोहे की बेड़ी की भाँति अन्तर मानता हुआ अहमिन्द्रपदादि सम्पदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर अत्यंत निर्भररूप से अवलम्बित है;

पदादिसंपदा निदानमिति निर्भरतरं धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृत-शुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति ।।७७।।

कर्मोपाधि से विकृत चित्तवाले उस जीव ने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है; इसलिए वह जीव संसारपर्यन्त (जबतक संसार है, तबतक) शारीरिक दुख का ही अनुभव करता है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप में भेद है, अन्तर है; अशुद्ध निश्चयनय से भावपुण्य और भावपाप और उनके फलस्वरूप होनेवाले सुख-दुख में भेद है, अन्तर है; किन्तु शुद्धनिश्चयनय से शुद्धात्मा से भिन्न होने के कारण इनमें भेद नहीं है, अन्तर नहीं है।

इसप्रकार शुद्धनिश्चयनय से पुण्य और पाप में जो व्यक्ति अभेद नहीं मानता है; वह देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, कामदेव आदि पदों के निमित्त से निदानबंधरूप से पुण्य को चाहता हुआ निर्मोह शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत दर्शनमोह-चारित्रमोह से आच्छादित होता हुआ, सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के समान पुण्य और पाप – दोनों से बंधा हुआ संसाररहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार में भ्रमण करता है – यह अर्थ है।''

समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन पुण्य-पापाधिकार की समाप्ति पर ऐसा लिखते हैं कि इसप्रकार यह **पापाधिकार** समाप्त हुआ।

फिर स्वयं प्रश्न उठा कर इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं कि **निश्चय नय से पाप के समान पुण्य भी स्वभाव से पतित करनेवाला होने के कारण पाप ही है; इसकारण एक अपेक्षा से यह अधिकार पापाधिकार ही है।**

वैसे तो आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन – दोनों ने इस गाथा का अर्थ समान ही किया है; दोनों ही एक स्वर से यह स्वीकार कर रहे हैं कि जो अज्ञानी जीव 'पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है' – इस बात को स्वीकार नहीं करता; वह संसारी प्राणी अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है।

फिर भी आचार्य जयसेन को ऐसा लगा कि यह गाथा विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है। यही कारण है कि उन्होंने उक्त तथ्य को निश्चय-व्यवहारनयों के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है।

'वह अपार घोर संसार में परिभ्रमण करेगा' यह पद भी विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। अपार घोर संसार का अर्थ अनन्तकाल तक भयंकर संसार में भ्रमण करना भी किया जा सकता है; तथापि **आशय यही है कि जबतक वह अपनी इस भूल को सुधारेगा नहीं,**

तबतक संसार में रुलेगा। भूल सुधार लेने पर वह अल्पकाल में भी मोक्ष जा सकता है। यही कारण है कि आचार्य जयसेन इसमें अभव्य की अपेक्षा लगा देते हैं।

वे कहते हैं कि पुण्य और पाप को समान नहीं माननेवाला अभव्य जीव अनंतकाल तक घोर संसार में परिभ्रमण करेगा।

उक्त सम्पूर्ण कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि भले ही व्यवहारनय या अशुद्धनिश्चयनय से पुण्य-पापकर्म, पुण्य-पापभाव और उनके फल में प्राप्त होनेवाले सुख-दुख में अन्तर बताया गया हो; तथापि निश्चय से परमसत्य बात तो यही है कि जो व्यक्ति पंचेन्द्रिय विषयों में सुख मानता हुआ जबतक पुण्य में उपादेय बुद्धि रखेगा, उसे पाप के समान ही बंध का कारण नहीं मानेगा; तबतक वह जीव इस मिथ्या मान्यता के कारण संसार में ही परिभ्रमण करेगा।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ जिस पुण्यभाव को पापभाव के समान हेय बताया जा रहा है; वह अज्ञानी गृहस्थों के होनेवाले शुभभावरूप पुण्य नहीं है; अपितु जिस पुण्य से अहमिन्द्रादि पदों की प्राप्ति होती है, ऐसे चौथे काल के मुनिराजों को होनेवाले पुण्य की बात है; क्योंकि गृहस्थ तो अहमिन्द्रादि पद प्राप्त ही नहीं करते हैं। गृहस्थ तो सोलहवें स्वर्ग के ऊपर जाते ही नहीं हैं; वे कल्पोपपन्न ही होते हैं; कल्पातीत नहीं।

इसीप्रकार पंचमकाल में भी कोई अहमिन्द्र पद प्राप्त नहीं करता, इसलिए यह बात चौथे काल के मुनिराजों के शुभभाव की ही है। तात्पर्य यह है कि यहाँ चौथे काल के मुनिराजों के पुण्यभाव को भी पापभाव के समान हेय बताया गया है तथा इस बात को स्वीकार नहीं करनेवालों को अनन्तकाल तक भवभ्रमण करना होगा – यह कहा गया है।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ टीका में ऐसा लिखा है कि जो पुण्य-पाप में अहंकारिक अन्तर मानता है, मदमोह से आच्छन्न वह अज्ञानी अनंत संसार में भ्रमण करता है। अहंकारिक अन्तर का भाव यह है कि पुण्योदय से प्राप्त सामग्री में जो अहंकार (एकत्व) ममकार (ममत्व) करता है; वह अहंकारिक अन्तर माननेवाला अज्ञानी है और वह अनंतकाल तक भवभ्रमण करेगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पुण्य-पाप में अन्तर माननेरूप छोटे से अपराध की इतनी बड़ी सजा कि वह अनंत कालतक संसार में भ्रमण करेगा। यह ककड़ी के चोर को कटार मारने जैसा अन्याय नहीं है क्या ?

अरे भाई ! पुण्य और पाप में अन्तर माननेवाला ककड़ी का चोर नहीं है, छोटा-मोटा

दोषी नहीं है; अपितु सात तत्त्व संबंधी भूल करनेवाला बड़ा अपराधी है, मिथ्यात्वी है और मिथ्यात्व का फल तो अनंत संसार है ही।

हिंसादि पाप करनेवाला नरक में जाता है, पशु-पक्षी होता है और अहिंसादि पुण्यभावों को करनेवाला मनुष्य होता, देव होता है; इसप्रकार हिंसादि पापभावों का फल नरकादि व पुण्यभावों का फल स्वर्गादि है; किन्तु मिथ्यात्वादि का फल निगोद है और सम्यक्त्वादि का फल मोक्ष है।

पुण्य में उपादेयबुद्धि, सुखबुद्धि तत्त्वसंबंधी भूल होने से मिथ्यात्व का महा भयंकर पाप है; यही कारण है कि इसप्रकार की भूल करनेवाले तबतक संसार में परिभ्रमण करते हैं, जबतक कि वे अपनी इस भूल को सुधार नहीं लेते।

अतः हम सबका भला इसी में है कि हम अपनी भूल सुधार कर इस महापाप से बचें। इसे छोटी-मोटी भूल समझ कर उपेक्षा न करें।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिसे नयों के माध्यम से वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान नहीं है और जिनवाणी में कथित व्यवहारवचनों का सहारा लेकर विषयसुख प्राप्त करानेवाले पुण्य को भला मानता हुआ, शुभभावों को धर्मरूप जानता हुआ अतिगृद्धता से विषयों में रत रहता है, उन्हें प्राप्त करानेवाले पुण्य परिणामों में धर्म मानकर उसी में संतुष्ट रहता है; ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव जबतक अपनी मिथ्यामान्यता को नहीं छोड़ता, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सच्चे धर्म को नहीं जानता; तबतक सांसारिक सुख-दुखरूप दुख को भोगता हुआ संसार में ही भटकता रहेगा। यदि यह आत्मा समय पर नहीं चेता तो यह काल अनंत भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि वह अनन्त कालतक अनन्त दुख उठाता रहेगा।

अतः भला इसी में है कि हम पंचेन्द्रिय के विषय प्रदान करनेवाले पुण्य को पाप के समान ही बंध का कारण जानकर पाप के समान ही हेय माने, हेय जाने; और उससे विरत हों। धर्म तो एकमात्र शुद्धोपयोग है, शुद्धपरिणति है, वीतराग परिणति है, वीतरागभाव है; वही उपादेय है, वही धारण करनेयोग्य है। अधिक क्या कहें – इस जीव को शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव ही एकमात्र शरण है ।।७७।।

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि पुण्य-पापकर्म, पुण्य-पापभाव और उसके फल में प्राप्त होनेवाले लौकिक सुख-दुख एक समान ही हेय हैं, दुखरूप हैं, दुख के कारण हैं; इस बात को स्वीकार नहीं करनेवाले अपार घोर संसार में परिभ्रमण करते हैं; अब इस गाथा में

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति –

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं।।७८।।

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा।
उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भवं दुःखम्।।७८।।

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति स किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायःपिण्डादननुष्ठितायःसारः प्रचण्ड-

---

यह बता रहे हैं कि ज्ञानीजन इस बात को अच्छी तरह जानते हैं; इसलिए वे अनंतसुख के कारणरूप शुद्धोपयोग को अंगीकार करते हैं, अनंतसुख को प्राप्त करते हैं और देहोत्पन्न दुखों का क्षय करते हैं। इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **इसप्रकार यह आत्मा शुभ और अशुभ उपयोग की समानता सुनिश्चित करके समस्त राग-द्वेष के द्वैत को दूर करते हुए सम्पूर्ण दुखों का क्षय करने का निश्चय करके शुद्धोपयोग में निवास करता है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

विदितार्थजन परद्रव्य में जो राग-द्वेष नहीं करें।
शुद्धोपयोगी जीव वे तनजनित दुःख का क्षय करें।।७८।।

इसप्रकार वस्तुस्वरूप को जानकर जो द्रव्यों के प्रति राग व द्वेष को प्राप्त नहीं होता; वह उपयोग विशुद्ध होता हुआ देहोत्पन्न दुख का क्षय करता है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"जो जीव शुभ और अशुभभावों के अविशेष दर्शन (समानता की श्रद्धा) से वस्तुस्वरूप को भलीभाँति जानता है और स्व और पर – ऐसे दो विभागों में रहनेवाली समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों के प्रति राग और द्वेष सम्पूर्णतः छोड़ता है; वह जीव एकान्त से उपयोग विशुद्ध (शुद्धोपयोगी) होने से, जिसने परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ दिया है; ऐसा वर्तता हुआ – लोहे

घनघातस्थानीयं शारीरं दुःखं क्षपयति। ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ॥७८॥

के गोले में से लोहे के सार का अनुसरण न करनेवाली अग्नि के समान – प्रचण्ड घन के आघात समान शारीरिक दुख का क्षय करता है। इसलिए यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है।''

देखो, यह शुभपरिणामाधिकार चल रहा है और आचार्यदेव कह रहे हैं कि मेरे तो एक शुद्धोपयोग की ही शरण है।

लोग समझते हैं कि यह शुभपरिणामाधिकार है; अतः इसमें तो शुभभाव करने की प्रेरणा दी होगी, शुभभाव की महिमा बताई होगी, शुभभाव के ही गीत गाये होंगे; किन्तु यहाँ तो शुभभावों को अशुभभावों के समान ही हेय बताया जा रहा है, पुण्य को पाप के समान ही हेय बताया जा रहा है; यहाँ तक कि सांसारिक सुख को भी दुख बताया जा रहा है; दुख के समान नहीं, अपितु साक्षात् दुख ही कहा जा रहा है।

आचार्यदेव ने मंगलाचरण के उपरान्त आरंभ से ही शुद्धोपयोग के गीत गाये हैं। शुद्धोपयोग और उसके फल के रूप में प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख को समझाने के लिए शुद्धोपयोग अधिकार के तत्काल बाद ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार लिखे।

जब यह प्रश्न खड़ा हुआ कि अकेला अतीन्द्रियसुख ही सुख थोड़े है, इन्द्रियसुख भी तो सुख है। इसीप्रकार अकेला शुद्धोपयोग ही तो उपयोग नहीं है, शुभोपयोग और अशुभोपयोग भी तो उपयोग हैं। उनका भी तो प्रतिपादन होना चाहिए।

इसी प्रश्न के उत्तर में शुभपरिणामाधिकार लिखा गया है; जिसमें यह बताया गया है कि शुभपरिणाम के फल में पुण्यबंध होता है और पुण्योदय होने पर इन्द्रियसुख की प्राप्ति होती है, भोगसामग्री उपलब्ध होती है। भोगसामग्री के उपभोग का भाव पापभाव है और वह पापबंध का कारण है। इसप्रकार यह शुभभाव भी तो अशुभभाव के निमित्तों को ही जुटाता है।

अन्ततोगत्वा अनेक आगम प्रमाणों, अनेक प्रबल युक्तियों और सशक्त उदाहरणों के माध्यम से यह समझाया गया है कि यह इन्द्रियसुख भी सुख नहीं, दुख ही है; इसकारण न तो पुण्य और पाप में द्वैत (भिन्नता) ठहरता है और न शुभाशुभभावों में द्वैत सिद्ध होता है।

शुभ और अशुभ – दोनों ही भाव अशुद्धभाव हैं और इन अशुद्धभावों से कर्मों का बंधन ही होता है, कर्मबंधन छूटता नहीं है, टूटता नहीं है।

इसप्रकार शुभाशुभभाव बंध के कारण हैं; आस्रव हैं। पुण्य-पाप तो आस्रव-बंध ही हैं।

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि; ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते –

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ।।७९।।

त्यक्त्वा पापारम्भं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मकं शुद्धम् ।।७९।।

कहा भी जाता है – पुण्यास्रव और पापास्रव, पुण्यबंध और पापबंध। इसप्रकार पुण्य और पाप आस्रव-बंध के ही रूप हैं।

यही कारण है कि आचार्य शुभपरिणामाधिकार में भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आत्मा **का हित चाहनेवालों को एकमात्र शुद्धोपयोग ही शरण है।**

यह शुभपरिणामाधिकार शुभपरिणामों की महिमा बताने के लिए नहीं, अपितु उसका सही रूप दिखाकर उसके प्रति होनेवाले आकर्षण को तोड़ने के लिए लिखा गया है ।।७८।।

विगत गाथाओं के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाने पर कि एकमात्र शुद्धोपयोग ही शरण है; अब इस गाथा में कहते हैं कि अब मैं इस शुद्धोपयोग के द्वारा मोह को जड़मूल से उखाड़ फैंकने के लिए कमर कस के तैयार हूँ।

आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा की उत्थानिका इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

"सर्व सावद्ययोग के त्याग पूर्वक चारित्र अंगीकार किये जाने पर भी यदि मैं शुभोपयोग परिणति के वश होकर मोहादि का उन्मूलन न करूँ तो मुझे शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होगी ? इसप्रकार विचार करके ज्ञानी मोहादि के उन्मूलन के प्रति सर्वारंभ पूर्वक कटिबद्ध होता है।" गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सब छोड़ पापारंभ शुभचारित्र में उद्यत रहें।
पर नहीं छोड़े मोह तो शुद्धातमा को ना लहें ।।७९।।

पापारंभ को छोड़कर शुभ चारित्र में उद्यत होने पर भी यदि जीव मोहादिक को नहीं छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता।

य: खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिकं नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापि शुभोपयोगवृत्त्या बकाभिसारिकयेवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादु:खसङ्कट: कथमात्मानमविप्लुतं लभते।

अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम्।।७९।।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''जो जीव या जो मुनिराज समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप परमसामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका (नायिका – संकेत के अनुसार अपने प्रेमी से मिलने जानेवाली स्त्री) की भाँति शुभोपयोगपरिणाति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ अर्थात् शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फंसता हुआ मोह की सेना के वशवर्तनपने को दूर नहीं कर डालता, जिसके महादुख संकट निकट है – ऐसा वह शुद्ध आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

इसलिए मेरे द्वारा मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए कमर कस ली गई है।''

अरे देखो, यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ आचार्यदेव शुभोपयोगरूप परिणति की तुलना धूर्त अभिसारिका से कर रहे हैं; एक प्रकार से उसे धूर्त अभिसारिका ही बता रहे हैं।

साहित्य में समागत नायिकाभेदों में अभिसारिका नामक भी एक भेद है। अभिसारिका वह नायिका है, जो अपने पति को बताये बिना, उसकी अनुमति बिना ही पहले से सुनिश्चित संकेत के अनुसार छुपकर अपने प्रेमी से मिलने जाती है। एक तो यह अभिसार ही खोटा काम है, दूसरे वह प्रेमिका मात्र अभिसारिका ही नहीं है, अपितु धूर्त भी है।

इसप्रकार यहाँ शुभोपयोग परिणति को धूर्त अभिसारिका कहा गया है।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति शादी में सात फेरे लेते समय तो अपनी धर्मपत्नी को जीवनभर न त्यागने का वचन देता है और बाद में उसकी उपेक्षा कर धूर्त अभिसारिका के चंगुल में फंस जाता है, ऐसे व्यक्ति के महादुख संकट निकट है; उसीप्रकार जिन मुनिराजों ने दीक्षा लेते समय तो शुद्धोपयोग में रहने का संकल्प किया था, प्रतिज्ञा ली थी और अब धूर्त अभिसारिका के समान शुभोपयोग परिणति में उलझ कर रह गये हैं, उसी में लीन हो गये हैं; ऐसे मुनिराजों के महादुख संकट निकट है।

तात्पर्य यह है कि एकाध स्वर्गादिक के भव को प्राप्त कर फिर उनकी अनंतकाल तक के लिए निगोद में जाने की तैयारी है। निगोद को छोड़कर और कौन-सी पर्याय है कि जिसमें महादुख संकट हो ?

इसप्रकार इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि जो जीव अशुभभावों को छोड़ और शुभभावों में लीन रहकर अपने को धर्मात्मा मानते हैं और ऐसा समझते हैं कि हमारा कल्याण शुभभावों से ही हो जायेगा तो वे बड़े धोखे में हैं। यदि वे शुभभाव में पड़े रहे तो एकाध भव स्वर्गादिक का प्राप्त कर फिर अनंतकाल तक के लिए निगोद में जानेवाले हैं। इस बात का संकेत आचार्यदेव ने इन शब्दों में दिया है कि उनके महादुख संकट निकट है।।७९।।

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में दो गाथाएँ प्राप्त होती हैं; जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत की तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है। वे गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं –

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो।।५।।
तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति।।६।।

(हरिगीत)

हो स्वर्ग अर अपवर्ग पथदर्शक जिनेश्वर आप ही।
लोकाग्रथित तपसंयमी सुर-असुर वंदित आप ही।।५।।
देवेन्द्रों के देव यतिवरवृषभ तुम त्रैलोक्यगुरु।
जो नमें तुमको वे मनुज सुख संपदा अक्षय लहें।।६।।

तप और संयम से सिद्ध हुए अठारह दोषों से रहित वे देव, स्वर्ग तथा मोक्षमार्ग के प्रदर्शक, देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों से पूजित तथा लोक के शिखर पर स्थित हैं।

जो देवों के भी देव हैं, देवाधिदेव हैं, मुनिवरों में श्रेष्ठ हैं और तीन लोक के गुरु हैं; उनको जो मनुष्य नमस्कार करते हैं, वे अक्षयसुख को प्राप्त करते हैं।

ये वही गाथाएँ हैं; जिनकी टीका में आचार्य जयसेन ने संयम और तप की अत्यन्त मार्मिक परिभाषाएँ दी हैं; जो इसप्रकार हैं –

''सम्पूर्ण रागादि परभावों की इच्छा के त्याग से स्वस्वरूप में प्रतपन-विजयन तप है और बाह्य में इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम के बल से शुद्धात्मा में संयमनपूर्वक समरसी भाव से परिणमन संयम है।''

इन गाथाओं में ऐसे विशेषणों का प्रयोग है, जिनमें कुछ विशेषण अरहंतों में, कुछ विशेषण सिद्धों में और कुछ विशेषण दोनों में ही पाये जाते हैं। स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग के

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति –

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।८०।।

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः।
स जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ।।८०।।

उपदेशक – यह अरहंत का विशेषण है और लोकशिखर पर स्थित – यह सिद्धों का विशेषण है; इसप्रकार इन गाथाओं में सामान्यरूप से अरहंत और सिद्ध – दोनों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है।

दूसरी गाथा का प्रथम पद भी ध्यान देने योग्य है। वह है **देवदेवदेवं**। देवदेव माने देवों के देव अर्थात् इन्द्र-देवेन्द्र और देवदेवदेव माने देवों के देव देवेन्द्र, उनके भी देव जिनेन्द्रदेव। इसप्रकार देवदेवदेव का अर्थ हुआ देवेन्द्रों के देव अरहंत-सिद्ध भगवान।

इसीप्रकार एक पद है **जदिवरवसह=यतिवरवृषभ**। यति माने साधु, यतिवर माने श्रेष्ठ साधु और यतिवरवृषभ माने श्रेष्ठ साधुओं में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ। इसप्रकार दूसरी गाथा की पहली पंक्ति का अर्थ हुआ जो तीन लोक के गुरु हैं, देवेन्द्रों के भी देव हैं और साधुओं में भी श्रेष्ठतम हैं, सभी से श्रेष्ठ हैं, सभी से ज्येष्ठ हैं, बड़े हैं।

इसप्रकार इन गाथाओं में स्वर्गापवर्गमार्ग के उपदेशक देवाधिदेव अरहंत भगवान और लोकाग्रस्थित सिद्धभगवान को स्मरण किया गया है।। ५-६ ।।

यह तो आपको याद होगा ही कि ७९वीं गाथा में आचार्यदेव ने यह कहा था कि अब मैंने मोह की सेना को जीतने के लिए कमर कस ली है। अतः अब इस ८०वीं गाथा में मोह की सेना को जीतने का उपाय बताया जा रहा है। आचार्यदेव कहते हैं कि **अब मेरे द्वारा मोह की सेना किसप्रकार जीती जानी चाहिए – इसके उपाय का विचार करते हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को।
वे जानते निज आतमा दृगमोह उनका नाश हो ।।८०।।

जो अरहंत भगवान को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है; वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय (नाश) को प्राप्त हो जाता है।

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्। अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपं, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः। तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः। तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्यति।

यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत्।

अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्तफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्तांश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षीयमाणकर्तृकर्म-

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

''जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है; वह वस्तुतः अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है।

अरहंत का स्वरूप अन्तिम ताव को प्राप्त होनेवाले सोने के स्वरूप की भाँति, सर्वप्रकार से स्पष्ट है; इसलिए उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है।

अन्वय द्रव्य है, अन्वय के विशेषण गुण हैं और अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्यायें हैं। सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहंत में (अरहंत के स्वरूप का ज्ञान होने पर) जीव तीनों प्रकार से युक्त (द्रव्य-गुण-पर्यायमय) अपने आत्मा को अपने मन से जान लेता है।

जैसे 'यह चेतन है' इसप्रकार का अन्वय द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला 'चैतन्य' विशेषण गुण है और एक समयमात्र की मर्यादावाला कालपरिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त अन्वय के व्यतिरेक वे पर्यायें हैं; जो चिद्विवर्तन की ग्रन्थियाँ (गाठें) हैं।

इसप्रकार त्रैकालिक आत्मा को भी एक काल में जान लेनेवाला यह जीव; जिसप्रकार मोतियों को झूलते हुए हार के अन्तर्गत माना जाता है; उसीप्रकार चिद्विवर्तों का चेतन में ही संक्षेपण करके तथा विशेषण-विशेष्यता की वासना का अन्तर्धान होने से जिसप्रकार सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है; उसीप्रकार चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके जिसप्रकार मात्र हार को जाना जाता है; उसीप्रकार केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है; इसलिए निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है।

क्रियाविभागतया निष्क्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥८०॥

इसप्रकार मणि की भाँति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है – ऐसे उस चिन्मात्र भाव को प्राप्त जीव में मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्य ही प्रलय को प्राप्त होता है। यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।''

यह गाथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसमें मोह के नाश का उपाय बताया गया है। इसकी यह तत्त्वप्रदीपिका टीका भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य जयसेन इस गाथा का अर्थ करते हुए आगम और अध्यात्म – दोनों अपेक्षाओं को स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं –

''अब 'चत्ता पापारंभं' इत्यादि सूत्र के द्वारा जो यह कहा गया है कि शुद्धोपयोग के अभाव में मोहादि का विनाश नहीं होता है, मोहादि के विनाश के अभाव में शुद्धात्मा का लाभ नहीं होता है; इसलिए ही यहाँ मोह के नाश के उपाय पर विचार किया जाता है। केवलज्ञानादि विशेष गुण और अस्तित्वादि सामान्य गुण, परमौदारिक शरीराकाररूप जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान (आकार) वह व्यंजनपर्याय और अगुरुलघुगुण की षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप से प्रतिसमय होनेवाली अर्थपर्यायें – इन लक्षणवाले गुण-पर्यायों का आधारभूत अमूर्त असंख्यातप्रदेशी शुद्ध चैतन्य के अन्वयरूप द्रव्य है।

इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय को अरहंत परमात्मा में जानकर निश्चयनय से आगम के सारभूत अध्यात्मभाषा की अपेक्षा स्वशुद्धात्मभावना के सम्मुखरूप सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से उसीप्रकार आगमभाषा की अपेक्षा अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक दर्शनमोह के क्षय में समर्थ परिणामविशेष के बल से अपने आपको आत्मा में जोड़ता है।

इसप्रकार निर्विकल्पस्वरूप प्राप्त होने पर जैसे अभेदनय से पर्यायस्थानीय मोती और गुणस्थानीय सफेदी हार ही है; उसीप्रकार अभेदनय से पूर्वोक्त द्रव्य-गुण-पर्याय भी आत्मा ही है। इसप्रकार परिणमित होता हुआ दर्शनमोहरूप अंधकार विनाश को प्राप्त होता है।''

इस गाथा में मोह के नाश करने का उपाय बताया गया है। मोह दो प्रकार का होता है – १. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह। दर्शनमोह में मूलतः मिथ्यात्व आता है और चारित्रमोह में राग-द्वेष अर्थात् २५ कषायें आती हैं।

यहाँ मुख्यतः दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व के नाश की बात है। इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट

शब्दों में कहा गया है कि जो आत्मा को जानता है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नाश को प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के अभाव के लिए, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए निज भगवान आत्मा को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न – गाथा में अरहंत भगवान को जानने की बात है और आप आत्मा को जानने की बात कह रहे हैं ?

उत्तर – मोह के नाश के लिए तो आत्मा को ही जानना आवश्यक है; किन्तु आत्मा को जानने के लिए अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानना आवश्यक है।

इसप्रकार आत्मा और परमात्मा – दोनों को ही जानना आवश्यक है।

एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि टीका में हेतु के रूप में कहा गया है कि आत्मा (अपना आत्मा) और परमात्मा (अरहंत-सिद्ध) में कोई अन्तर नहीं है। जब अन्तर ही नहीं है तो फिर दोनों का जानना भी एक का ही जानना हुआ न ?

वस्तुत: बात यह है कि अरहंत भगवान की पर्याय वीतरागता और सर्वज्ञता से सम्पन्न है। उसे जानने का तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा को जानने के लिए वीतरागता और सर्वज्ञता का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

आत्मा और परमात्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में द्रव्य और गुण की समानता तो निर्विवाद ही है; किन्तु पर्याय में जो अन्तर दिखाई देता है, वह वर्तमान पर्याय का है; आत्मा और परमात्मा – दोनों का त्रिकाली पर्यायस्वभाव तो समान ही है। तात्पर्य यह है कि हम और आप सभी त्रिकाल सर्वज्ञस्वभावी ही हैं।

सर्वज्ञता का स्वरूप समझे बिना देशनालब्धि संभव नहीं है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए देशनालब्धि अनिवार्य है।

अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने की शर्त में यह संकेत भी है कि बाह्य अतिशयों से उनकी पहिचान करनेवालों को आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

इसीप्रकार पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा आदि क्रियाकाण्ड से भी न तो आत्मा का जानना होता है और न मोह का नाश ही होता है।

प्रश्न – मोह के नाश के लिए आत्मा के समान ही परमात्मा को जानना है कि दोनों के जानने में कुछ अन्तर है ?

उत्तर – अन्तर है; क्योंकि परमात्मा को तो मात्र जानना ही है, जानते ही नहीं रहना है, उन्हीं में लीन नहीं हो जाना है; किन्तु आत्मा को जानकर उसे जानते ही रहना है, उसी में जम जाना है, रम जाना है। परमात्मा का जानना तो एक सीढ़ी मात्र है, गन्तव्य नहीं; पर आत्मा को मात्र जानना ही नहीं है, निजरूप जानना है, उसी में अपनापन स्थापित करना है, उसी में समा जाना है।

परमात्मा के ध्यान से तो पुण्य का बंध होता है; पर आत्मा के ध्यान से कर्म कटते हैं; मिथ्यात्व का नाश होता है। मूलत: तो आत्मा को ही जानना है और परमात्मा को आत्मा को जानने के लिए जानना है। **आत्मा निजरूप है और वह निजरूप से ही जाना जाता है तथा परमात्मा पररूप है और पररूप से ही जाना जाता है।**

इसप्रकार इन दोनों के जानने में बहुत बड़ा अंतर है।

प्रश्न – कोरे जानने से काम हो जायेगा, करना कुछ भी नहीं है। यदि कुछ भी नहीं करना है तो काम होगा कैसे ?

उत्तर – अरे भाई ! जानना भी तो एक काम है, और आत्मा का तो एकमात्र काम जानना ही है; क्योंकि यह आत्मा पर में तो कुछ कर ही नहीं सकता; अपने स्वपरप्रकाशक स्वभाव के कारण यह आत्मा पर को तो मात्र जान ही सकता है।

जानना एक काम नहीं, अपितु आत्मा का काम तो एकमात्र जानना ही है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ आत्मा और परमात्मा – दोनों को जानने की बात कहकर यह भी कह दिया है कि आत्मा स्व और पर दोनों को जान लेता है; क्योंकि आत्मा स्व है और परमात्मा पर हैं। इसतरह यह भी प्रतिफलित होता है कि मिथ्यात्व के नाश के लिए स्व (आत्मा) और पर (परमात्मा) दोनों को जानना अनिवार्य है। पर के जानने को निरर्थक बतानेवाले लोगों को उक्त तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए।

मोह के नाश के लिए, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए परमात्मा (अरहंत) को मात्र जानना है; जानने के अलावा कुछ नहीं करना है; क्योंकि वे तो हमारे मात्र ज्ञेय हैं और कुछ नहीं। **ध्यान रहे, यहाँ यह नहीं लिखा है कि उन्हें जानना भी नहीं है; क्योंकि वे पर हैं।**

यहाँ तो उन्हें जानने की बात डंके की चोट पर लिखी है और उन्हें जानने का फल आत्मा को जानना बताया है। आत्मा के जानने पर मोह का नाश होता है; इसप्रकार प्रकारान्तर से अरहंत के जानने को मोह के नाश का उपाय बताया गया है।

आत्मा का कार्य मात्र जानना है, स्व-पर को जानना है; इसलिए मात्र जानो, जानो, जानो और जानो; पर को जानो, स्व को जानो, स्व-पर को जानो; पर से भिन्न स्व को जानो, जानो और जानते रहो। अपने को अपना मानकर जानते रहो, लगातार जानते रहो और कुछ भी नहीं करना है। इसी से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सभी हो जावेंगे और न केवल दर्शनमोह अपितु चारित्रमोह का भी नाश हो जायेगा। तुम स्वयं पर्याय में भी भगवान बन जावोगे। स्वभाव से तो भगवान हो ही; पर्याय में बनना है सो इसीप्रकार स्व को जानते रहने से पर्याय में भी भगवान बन जावोगे, सर्वज्ञ-वीतरागी हो जावोगे।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि मोह के नाश का उपाय एकमात्र निजभगवान आत्मा को जानना है और अधिक आगे जायें तो इसमें द्रव्य-गुण-पर्याय से परमात्मा के स्वरूप को जानना भी शामिल कर सकते हैं। इसके आगे बढ़ना तो उपचार में उपचार होगा।

प्रश्न – आत्मा और परमात्मा (अरहंत) की पर्याय में कोई अन्तर नहीं है – यह बात गले नहीं उतरती; क्योंकि कहाँ हम रागी-द्वेषी अल्पज्ञ और कहाँ वे वीतरागी सर्वज्ञ ?

उत्तर – हमारी और उनकी पर्याय में जो अन्तर है, वह तो आपको स्पष्ट दिखाई दे ही रहा है और उक्त अन्तर को समाप्त करने के लिए ही अपना यह सब पुरुषार्थ है।

अब रही बात अन्तर नहीं होने की सो यहाँ जो द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बताया है; उसमें यह बात स्पष्ट की है कि अन्वय सो द्रव्य, अन्वय का विशेषण गुण और अन्वय का व्यतिरेक पर्याय है।

है, है और है; निरन्तर होते-रहने का नाम अन्वय है। सत्तास्वरूप वस्तु निरन्तर ही विद्यमान रहती है; भगवान आत्मा भी सत्तास्वरूप वस्तु है और वह भी अन्वयरूप से निरन्तर रहता है; इसीकारण द्रव्य है।

अन्वयरूप से विद्यमान वस्तु की अन्वयरूप से रहनेवाली विशेषताएँ ही गुण हैं। भगवान आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण आत्मा में निरन्तर ही रहते हैं।

विगत पर्याय में वर्तमान पर्याय का नहीं होना ही अन्वय का व्यतिरेक है। द्रव्य और गुणों के समान अन्वयों के व्यतिरेक भी अरहंत के समान अपने आत्मा में सदा रहते हैं।

जिसप्रकार अरहंत भगवान की पर्याय प्रतिसमय पलटती है; उसीप्रकार हमारी पर्याय भी प्रतिसमय पलटती है। पर्याय का स्वभाव ही पलटना है। वस्तुतः पलटने का नाम ही पर्याय है; जो आत्मा और परमात्मा में समान ही है।

प्रश्न – यदि आप कहते हो तो हम अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से समझ लेंगे और अपने आत्मा को भी उसीप्रकार समझ लेंगे; पर इससे मोह का नाश कैसे हो जायेगा ? मात्र समझने से मोह का नाश हो जायेगा, कुछ करना नहीं पड़ेगा ?

उत्तर – दृष्टि के विषयभूत अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा को सही रूप में समझ लेने पर यह भी समझ में आ जायेगा कि यह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं।

यह स्पष्ट हो जाने पर अबतक जिन देहादि परपदार्थों में और रागादि विकारी भावों में अपनापना था, वह नियम से टूट जायेगा।

पर और विकार में अपनेपन का नाम ही मोह है, मिथ्यात्व है और अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में अपनेपन का नाम ही मोह का नाश है, सम्यग्दर्शन है ।

अत: यह स्पष्ट ही है कि पर और विकार से अपनापन टूटते ही तथा अपने ज्ञानानंद-स्वभावी आत्मा में अपनत्व आते ही मोह का नाश होना, मिथ्यात्व का नाश होना, सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना अनिवार्य ही है।

एकप्रकार से पर में से अपनत्व टूटना और मोह का नाश होना एक ही बात है। इसीप्रकार अपने में अपनापन होना और सम्यग्दर्शन होना भी एक ही बात है।

वस्तुत: बात यह है कि पर से अपनत्व टूटने और मोह (मिथ्यात्व) के नाश होने का एक काल है। उक्त दोनों कार्य एकसमय में ही होते हैं।

जब मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है तो आत्मा में पर में अपनत्वरूप मिथ्याभाव होते हैं और जब पर में अपनत्वरूप मिथ्याभाव होते हैं तो उनके निमित्त से मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है। यह दुष्चक्र ही मोह की प्रबल ग्रंथि (गाँठ) है; जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानकर उसीप्रकार अपने आत्मा को जानने से शिथिल होती है, पर से भिन्न अपने आत्मा में अपनापन स्थापित होकर अपने आत्मा में ही जमने-रमने से टूटती है, फूटती है, नष्ट होती है ।।८०।।

८०वीं गाथा में दर्शनमोह के नाश की बात की है और अब ८१वीं गाथा में चारित्रमोह के नाश की बात करते हैं। उक्त गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **इसप्रकार मैंने सम्यग्दर्शन रूप चिन्तामणिरत्न प्राप्त कर लिया है; तथापि इसे लूटने के लिए प्रमादरूपी चोर विद्यमान हैं; ऐसा विचार कर वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मा जागृत रहता है, जागता रहता है, सावधान रहता है।**

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति –

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मनः सम्यक्।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मानं लभते शुद्धम्।।८१।।

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति। यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तते तदा प्रमादतन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति।

अतो मया रागद्वेषनिषेधायात्यन्तं जागरितव्यम्।।८१।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो जीव व्यपगत मोह हो निज आत्म उपलब्धि करें।
वे छोड़ दें यदि राग-रुष शुद्धात्म उपलब्धि करें।।८१।।

जिसने मोह दूर किया है और आत्मा के सच्चे स्वरूप को प्राप्त किया है; वह जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

विगत गाथा में दर्शनमोह के नाश की विधि बताई गई थी और इस गाथा में चारित्रमोह के नाश की विधि बता रहे हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''विगत गाथा में प्रतिपादित उपाय के अनुसार दर्शनमोह को दूर करके भी अर्थात् आत्मतत्त्व को भलीभाँति प्राप्त करके भी जब यह जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है, तब शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है; किन्तु यदि पुनः पुनः उन राग-द्वेष का अनुसरण करता है, राग-द्वेषरूप परिणमन करता है तो प्रमाद के आधीन होने से शुद्धात्मतत्त्व के अनुभवरूप चिन्तामणिरत्न के चुराये जाने से अंतरंग में खेद को प्राप्त होता है।

इसलिए मुझे राग-द्वेष को दूर करने के लिए अत्यन्त जागृत रहना चाहिए।''

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर तथा उसीप्रकार अपने आत्मा को पहिचानकर, उसी में जमकर, रमकर दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व का नाश करनेवाला आत्मा भी यदि समय रहते चारित्रमोहनीय का

अभाव नहीं करता अर्थात् राग-द्वेष अथवा कषायभावों को नहीं छोड़ता है तो शुद्धात्मा को सम्पूर्णत: उपलब्ध नहीं कर सकता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इस गाथा की ऊपर की पंक्ति में तो यह कहा है कि **जिसने मोह दूर किया है और आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लिया है** और दूसरी पंक्ति में यह कहा है कि **यदि राग-द्वेष को छोड़े तो शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।**

क्या उक्त दोनों कथनों में विरोधाभास नहीं है ? नहीं, कोई विरोधाभास नहीं है। बात मात्र इतनी ही है कि आत्पोलब्धि दो प्रकार की होती है –

१. परपदार्थ और विकारीभावों से भिन्न शुद्ध-बुद्ध त्रिकालीध्रुव निज भगवान के परिज्ञान अर्थात् आत्मानुभूति पूर्वक उसी में अपनापन हो जाने को आत्मोपलब्धि कहते हैं। चौथे गुणस्थान में होनेवाली इस आत्मोपलब्धि में मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायों का उपशमादिरूप अभाव होता है।

२. उपर्युक्त आत्मोलब्धि हो जाने पर भी अभी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय संबंधी चारित्रमोह विद्यमान है। मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कर्मों का भी यदि अभी क्षय न हुआ हो तो वे भी सत्ता में तो रहते ही हैं।

इन सबको प्रमाद भी कहते हैं। अत: यहाँ कहा गया है कि दर्शनमोह के नाश हो जाने पर भी प्रमादरूपी चोर (ठग) विद्यमान है और तेरी असावधानी का लाभ उठाकर तेरी प्राप्त आत्मोपलब्धिरूप निधि (खजाने) को लूट सकते हैं।

अत: प्रत्येक ज्ञानी आत्मा को निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद निश्चिन्त होकर बैठ जाना ठीक नहीं है; अपितु राग-द्वेषादि विकारी भावों को जड़मूल से उखाड़ फैंकने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अनुभूति के काल की वृद्धि और अनुभूति के वियोगकाल का निरंतर कम होते जाना ही वह पुरुषार्थ है कि जो चारित्रमोह संबंधी उक्त कर्मप्रवृत्तियों को शिथिल करेगा।

अत: शुद्धोपयोग के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही एक मात्र रास्ता है।।८१।।

८०वीं व ८१वीं गाथा में मोहक्षय का उपाय बताने के उपरान्त अब इस ८२वीं गाथा में उपसंहार के रूप में कहते हैं कि **आजतक जो भी अरहंत हुए हैं; उन सभी ने उक्त उपाय से मोह**

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति –

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।।८२।।

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः।।८२।।

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थंकराः, प्रकारान्तरस्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परेषामप्यायत्यामिदानींत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसमध्याश्रिताः, ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते। अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम। नमो भगवद्भ्यः।।८२।।

का नाश किया है और दिव्यध्वनि द्वारा इसी मार्ग को भव्यजीवों को बताया है। उक्त निर्णय के आधार पर मति को व्यवस्थित करते हुए आचार्यदेव अरहंत भगवान को नमस्कार करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी।
सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी।।८२।।

सभी अरहंत भगवान इसी विधि से कर्मों का क्षय करके तथा उसीप्रकार उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; अतः उन्हें नमस्कार हो।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार व्यक्त करते हैं–

“अतीतकाल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान प्रकारान्तर का असंभव होने से जिसमें द्वैत संभव नहीं है; ऐसे इसी एक प्रकार से कर्मांशों का क्षय करके स्वयं अनुभव करके परमाप्तता के कारण भविष्यकाल में अथवा इस वर्तमान काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है – ऐसा निश्चित होता है अथवा अधिक प्रलाप से बस होओ ! मेरी मति व्यवस्थित हो गई है। भगवन्तों को नमस्कार हो।”

उक्त गाथा और उसकी टीका में आचार्यदेव यह बात अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ८० व ८१वीं गाथा में बताये गये मुक्ति के मार्ग को छोड़कर मुक्ति का अन्य कोई मार्ग है ही

नहीं। आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं; वे सभी इसी मार्ग से मोक्ष गये हैं और जो भविष्य में जावेंगे, वे सभी इसी मार्ग से जावेंगे।

अरहंत भगवन्तों ने मुक्ति जिसप्रकार प्राप्त की है; वही मार्ग उनकी दिव्यध्वनि में आया है। ऐसा नहीं है कि स्वयं करे कुछ और दूसरों को बतावे कुछ और। जो किया, वही बताया।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि यह सब जानकर मेरी मति व्यवस्थित हो गई है। अब मुझे अन्य कोई विकल्प नहीं है। अत: हे भव्यजीवो ! तुम भी अपने चित्त को अधिक मत भ्रमावो; अपने विकल्पों को विराम दो और इसी रास्ते पर चल पड़ो।

वे तो यहाँ तक लिखते हैं कि अधिक प्रलाप से बस होओ। देखो ! मुक्तिमार्ग की शोध-खोज संबंधी चर्चा-वार्ता को भी आचार्यदेव प्रलाप कह रहे हैं ।।८२।।

इसके बाद आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा प्राप्त होती है; जो तत्त्वप्रदीपिका में नहीं है और जिसमें रत्नत्रय के आराधक सन्तों को नमस्कार किया गया है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं।।७।।

(हरिगीत)

अरे समकित ज्ञान सम्यक्चरण से परिपूर्ण जो।
सत्कार पूजा दान के वे पात्र उनको नमन हो ।।७।।

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से शुद्ध, ज्ञान में प्रधान और परिपूर्ण चारित्र में स्थित हैं; वे ही पूजा, सत्कार और दान देनेयोग्य हैं; अत: उन्हें नमस्कार हो।

उक्त गाथा में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र संपन्न मुनिराज ही पूज्य है, आदर-सत्कार करनेयोग्य है और दान देनेयोग्य है – यह बताते हुए उक्त गुणों से सम्पन्न मुनिराजों को सहजभाव से नमस्कार किया गया है।।७।।

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि मोह-राग-द्वेष का अभाव कर ही अनन्तसुख की प्राप्ति की जा सकती है; अत: **जिन्हें अनंतसुख की प्राप्ति करना है; वे अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर, उसी के समान अपने आत्मा को जानकर, मानकर, श्रद्धान कर उसी में जमकर, रमकर, उसी का ध्यान कर मोह का नाश करें; क्योंकि मोह के नाश का एकमात्र यही उपाय है, उपायान्तर का अभाव है।**

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति। अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति –

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा॥८३॥
मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा॥८४॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य रागं वा द्वेषं वा॥८३॥
मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्याः॥८४॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः।

अब आगामी गाथाओं में मोह-राग-द्वेष का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्हें जड़मूल से उखाड़ फैंकने की प्रेरणा देते हैं। उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **शुद्धात्मलाभ के लुटेरे मोह का स्वभाव व भूमिका बताकर उसे अनिष्ट कार्यों का कारण बताते हुए तीनों (मोह-राग-द्वेष) प्रकार के मोह का क्षय करने की बात करते हैं।**

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

द्रव्यादि में जो मूढ़ता वह मोह उसके जोर से।
कर राग-रुष परद्रव्य में जिय क्षुब्ध हो चहुं ओर से॥८३॥
बंध होता विविध मोहरु क्षोभ परिणत जीव के।
बस इसलिए सम्पूर्णतः वे नाश करने योग्य हैं॥८४॥

जीव के द्रव्य, गुण और पर्यायसंबंधी मूढ़ता ही मोह है। उक्त मोह से आच्छादित जीव राग-द्वेषरूप परिणमित होकर क्षोभ को प्राप्त होता है।

मोहरूप, रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणमित जीव के विविध बंध होता है; इसलिए वे मोह-राग-द्वेष सम्पूर्णतः क्षय करनेयोग्य हैं।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

“धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी पूर्ववर्णित तत्त्व-अप्रतिपत्ति लक्षण जो जीव का मूढ़भाव है, वह मोह है।

तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्याया-नात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो, दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य, प्रचुरतराम्भोभारयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति।

अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ।।८३।।

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य, मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य, तृणपटलावच्छन्नगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव, भवति नाम नानाविधो बन्धः। ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः ।।८४।।

आत्मा का स्वरूप उक्त मोह (मिथ्यात्व) से आच्छादित होने से यह आत्मा परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप से, परगुण को स्वगुणरूप से और परपर्यायों को स्वपर्यायरूप से समझकर-स्वीकार कर अतिरूढ़ दृढ़तर संस्कार के कारण परद्रव्य को ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्धइन्द्रियों की रुचि के वश से अद्वैत में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष करके अति प्रचुर जलसमूह के वेग से प्रहार को प्राप्त पुल की भाँति दो भागों में खण्डित होता हुआ अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है।

इससे मोह, राग और द्वेष – इन भेदों के कारण मोह तीन प्रकार का है।

इसप्रकार तत्त्व-अप्रतिपत्तिरूप वस्तुस्वरूप के अज्ञान के कारण मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होते हुए इस जीव को – घास के ढेर से ढंके हुए गड्ढे को प्राप्त होनेवाले हाथी की भाँति, हथिनीरूप कुट्टनी के शरीर में आसक्त हाथी की भाँति और विरोधी हाथी को देखकर उत्तेजित होकर उसकी ओर दौड़ते हुए हाथी की भाँति – विविधप्रकार का बंध होता है।

इसलिए मुमुक्षुजीव को अनिष्ट कार्य करनेवाले इस मोह, राग और द्वेष का यथावत् निर्मूल नाश हो – इसप्रकार क्षय करना चाहिए।''

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का जो अर्थ किया है; उसका भाव इसप्रकार है –

''शुद्धात्मादि द्रव्यों, उनके अनंत ज्ञानादि विशेष गुणों और अस्तित्वादि सामान्य गुणों तथा शुद्धात्मपरिणतिरूप सिद्धत्वादि पर्यायों तथा यथासंभव अन्य द्रव्य-गुण-पर्यायों में विपरीत अभिप्राय के कारण तत्त्व में संशय उत्पन्न करनेवाला जीव का मूढ़भाव दर्शनमोह है।

उक्त दर्शनमोह से युक्त, निर्विकार शुद्धात्मा से रहित, इष्टानिष्ट इन्द्रियविषयों में हर्ष-विषादरूप राग-द्वेष – दोनों चारित्रमोह हैं।

उक्त दर्शनमोह से आच्छन्न जीव राग-द्वेषरूप होकर निराकुल आत्मतत्त्व के विपरीत आकुलता के कारण क्षोभ (अस्थिरता) को प्राप्त होता है।

दर्शनमोह और राग व द्वेषरूप चारित्रमोह – इसप्रकार मोह तीन प्रकार का होता है।

मोह-राग-द्वेषरूप परिणत बहिरात्मा जीव के स्वाभाविक सुख से विपरीत नरकादि दुखों के कारणभूत अनेकप्रकार का बंध होता है। अत: रागादि से रहित शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा वे राग-द्वेष-मोह पूर्णत: नष्ट करनेयोग्य हैं।''

इसप्रकार इन गाथाओं और उनकी टीकाओं में यह कहा गया है कि द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी मूढ़ता ही मोह है और इस मोह से आच्छादित जीव का राग-द्वेषरूप परिणमन क्षोभ है। इन मोह और क्षोभरहित आत्मपरिणाम ही समताभाव है, धर्म है। ये मोह-राग-द्वेष ही बंध के कारण हैं; इसकारण नाश करनेयोग्य हैं, हेय हैं।

जिसप्रकार धतूरा खानेवाला पुरुष लौकिक विवेक से शून्य हो जाता है; उसीप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी अज्ञान के कारण यह आत्मा तत्त्वज्ञान संबंधी विवेक से शून्य हो जाता है; उसे स्व-पर का विवेक (भेदज्ञान) नहीं रहता है; इसप्रकार परद्रव्य को स्वद्रव्य, परगुणों को स्वगुण और पर की पर्यायों को अपनी पर्यायें मानता है।

जिसप्रकार बाढ़ के प्रबल प्रवाह से नदियों के पुल दो भागों में विभक्त हो जाते हैं; उसीप्रकार उक्त मिथ्यामान्यता के कारण या अज्ञान के कारण यह अज्ञानी आत्मा कर्म को पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ – इसप्रकार के दो भागों में विभक्त कर लेता है और अनुकूल लगनेवालों से राग तथा प्रतिकूल लगनेवालों से द्वेष करने लगता है। इसप्रकार इन मोह-राग-द्वेष भावों से बंधन को प्राप्त होता हुआ आकुल-व्याकुल होता है।

यहाँ आत्मा मोह, राग और द्वेष से किसप्रकार बंधन में पड़ता है – इस बात को समझाने के लिए आचार्यदेव बंधन में पड़े हुए तीन प्रकार के हाथियों का उदाहरण देते हैं।

जंगली हाथियों को पकड़नेवाले शिकारी लम्बा-चौड़ा गड्ढा खोदकर उसे जंगली झाड़ियों से ढक देते हैं। जिसप्रकार उक्त गड्ढे से बेखबर हाथी तत्संबंधी अज्ञान के कारण उक्त गड्ढे में गिर जाते हैं; उसीप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी अज्ञान के कारण यह आत्मा बंधन को प्राप्त होता है।

जंगली हाथियों को पकड़नेवाले दूसरा प्रयोग यह करते हैं कि जवान हथिनियों को इसप्रकार ट्रेण्ड करते हैं कि वे कामुक हाथियों को आकर्षित करती हुई उक्त गड्ढे के पास लाती

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति –

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि॥८५॥

हैं। स्वयं तो जानकार होने से गड्ढे में गिरने से बच जाती हैं; पर अज्ञानी हाथी अज्ञान के साथ-साथ हथिनियों के प्रति होनेवाले राग के कारण बंधन को प्राप्त होता है; उसीप्रकार यह अज्ञानी जीव पंचेन्द्रिय विषयों के रागवश बंधन को प्राप्त होता है।

तीसरा प्रयोग यह है कि मदोन्मत्त हाथियों को इसप्रकार प्रशिक्षित किया जाता है कि वे जंगली हाथी को युद्ध के लिए ललकारते हैं। उक्त हाथी जंगली हाथी को युद्ध के बहाने उक्त गड्ढे के पास लाता है और लड़ते समय स्वयं तो जानकार होने से सावधान रहता है; किन्तु उक्त गड्ढे से अजानकार हाथी द्वेष के कारण बंधन को प्राप्त होता है। इसीप्रकार यह अज्ञानी आत्मा भी अनिष्ट से लगनेवाले पदार्थों से द्वेष करके बंधन को प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि जंगली हाथी के समान ही यह आत्मा भी अज्ञान (मिथ्यात्व) से, राग से और द्वेष से बंधन को प्राप्त होता है; इसलिए तत्त्वसंबंधी अज्ञान, राग और द्वेष सर्वथा हेय हैं, त्यागनेयोग्य हैं; जड़मूल से नाश करनेयोग्य हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी अज्ञान को ही बंध का कारण बताया गया, अन्य अप्रयोजनभूत वस्तुओं संबंधी अज्ञान को नहीं।

तात्पर्य यह है कि आचार्यदेव ने इस प्रकरण में तत्त्वज्ञान संबंधी भूल को ही भूल कहा है। यहाँ अन्य लौकिक भूलों से कोई लेना-देना नहीं है॥८३-८४॥

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि बंध का कारण होने से मोह-राग-द्वेष सर्वथा हेय हैं, नाश करनेयोग्य हैं।

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **जिस मोह का त्याग करना है, नाश करना है; उस मोह की पहिचान कैसे हो, उस मोह की पहिचान का चिह्न क्या है ? तात्पर्य यह है कि निम्नांकित मोह के चिन्हों से मोह को पहिचान कर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अयथार्थ जाने तत्त्व को अति रती विषयों के प्रति।
और करुणाभाव ये सब मोह के ही चिह्न हैं॥८५॥

अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु।
विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥८५॥

अर्थानामयथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च मोहमभीष्टविषय-प्रसंगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥८५॥

पदार्थों का अयथार्थ ग्रहण, तिर्यंच और मनुष्यों के प्रति करुणाभाव तथा विषयों का प्रसंग अर्थात् इष्ट विषयों के प्रति प्रेम और अनिष्ट विषयों से द्वेष – ये सब मोह के चिह्न हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं–

''पदार्थों की अयथार्थ प्रतिपत्ति तथा तिर्यंच और मनुष्यों के प्रेक्षायोग्य होने पर भी उनके प्रति करुणाबुद्धि से मोह को, इष्टविषयों की आसक्ति से राग को तथा अनिष्ट विषयों की अप्रीति से द्वेष को – इसप्रकार तीनों चिह्नों से तीनों प्रकार के मोह को पहिचान कर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए।''

वैसे तो आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; **फिर भी वे करुणाभाव शब्द का अर्थ निश्चय से करुणाभाव और व्यवहार से करुणा का अभाव – इसप्रकार दो प्रकार से करते हैं।**

जो कुछ भी हो, पर इतना तो सुनिश्चित ही है कि निश्चय से करुणाभाव कहकर उन्होंने भी आचार्य अमृतचन्द्र के अभिप्राय को प्राथमिकता दी है।

ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि यहाँ करुणाभाव को मोह का चिह्न बताया गया है। करुणाभाव को यदि चारित्रमोह का चिह्न बताया होता, तब तो कोई बात ही नहीं थी; क्योंकि करुणा शुभभावरूप राग में आती है और पुण्यबंध का कारण है; किन्तु यहाँ तो उसे दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व का चिह्न बताया गया है; जो करुणा को धर्म माननेवाले जगत को एकदम अटपटा लगता है।

आचार्य जयसेन को भी इसप्रकार का विकल्प आया होगा। यही कारण है कि वे नयों का प्रयोग कर संधिविच्छेद के माध्यम से **करुणाभाव** शब्द का करुणाभाव और करुणा का अभाव – ये दो अर्थ करते हैं। उनके लिए यह सब अटपटा भी नहीं लगता, क्योंकि वे सदा ही अपनी बात को नयों के माध्यम से स्पष्ट करते आये हैं।

पुण्य के बंध के कारण शुभभावरूप होने से वह व्यवहारधर्म है भी; किन्तु उक्त सम्पूर्ण

मंथन के उपरान्त यह बात तो स्पष्ट हो ही गयी है कि दूसरों को मारने-बचाने और सुखी-दुखी करने की मिथ्यामान्यतापूर्वक होनेवाला करुणाभाव सचमुच मोह (मिथ्यात्व) का ही चिह्न है।

जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर बचाने और सुखी करने की मान्यतापूर्वक होनेवाला बचाने व सुखी करने के भाव को सम्यक्त्व का चिह्न कैसे माना जा सकता है ?

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने तत्त्वप्रदीपिका का आधार लेकर इस बात को इस रूप में स्पष्ट किया है कि परपदार्थ तो प्रेक्षायोग्य हैं, ज्ञेय हैं, जाननेयोग्य हैं; उन्हें अपने में उत्पन्न होनेवाले करुणाभाव के कारण के रूप में देखना अज्ञान नहीं है तो और क्या है?

वे मेरे में उत्पन्न होनेवाले करुणाभाव के कारण नहीं, अपितु ज्ञेय होने से उनका ज्ञान होने में कारण हैं। उन्हें ज्ञेयरूप में देखना ही समझदारी है।

इसीप्रकार इष्ट-अनिष्ट बुद्धिपूर्वक होनेवाले राग-द्वेष भी मोह (मिथ्यात्व) के ही चिह्न हैं; क्योंकि ज्ञानी के जो राग-द्वेष पाये जाते हैं; वे इष्ट-अनिष्ट बुद्धिपूर्वक नहीं होते।

प्रश्न – व्यवहार से ही सही, पर आचार्य जयसेन ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि करुणा का अभाव मोह का चिह्न है; पर आप....।

उत्तर – अरे भाई ! आचार्य जयसेन तो यह कहना चाहते हैं कि वास्तविक (निश्चय) बात तो यही है कि करुणाभाव दर्शनमोह का चिह्न है; किन्तु यदि कहीं शास्त्रों में ऐसा लिखा मिल जावे कि करुणाभाव का अर्थ करुणा का अभाव होता है तो उसे व्यवहारकथन ही समझना चाहिए; क्योंकि लोक में करुणाभाव को धर्म कहा ही जाता है, माना भी जाता है।

महाकवि तुलसीदासजी तो यहाँ तक लिखते हैं कि –

दया धरम का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जबतक घट में प्राण।।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि दया के अभावरूप जो क्रूरता है; वह भी मोह (मिथ्यात्व) का ही चिह्न है और **वीतरागतारूप करुणा का अभाव ही सम्यक्त्वरूप धर्म का चिह्न है। कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक परजीवों को बचाने या सुखी करने के भावरूप करुणा और मारने या दुखी करने के भावरूप करुणा का अभाव – दोनों ही दर्शनमोह के चिह्न हैं।**

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानी श्रावक और मुनिराजों के भूमिकानुसार करुणाभाव पाया ही जाता है। जिसप्रकार का करुणाभाव उनके पाया जाता है, वह दर्शनमोह का चिह्न नहीं है; पर वह चारित्रमोह का चिह्न तो है ही।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यामान्यता पूर्वक अनंतानुबंधी रागरूप करुणा और द्वेषरूप क्रूरता (करुणा का अभाव) दोनों दर्शनमोह के चिह्न हैं और मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के अभावपूर्वक अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों से होनेवाला करुणाभाव यद्यपि यह बताता है कि उनके चारित्रमोह विद्यमान है; अत: वह चारित्रमोह का चिह्न तो है, पर दर्शनमोह का चिह्न कदापि नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकायसंग्रह की समयव्याख्या टीका में ज्ञानी और अज्ञानी के करुणाभाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि किसी तृषादि दुख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना अज्ञानी की अनुकंपा है और ज्ञानी की अनुकंपा तो निचली भूमिका में विहरते हुए जगत में भटकते हुए जीवों को देखकर मन में किंचित् खेद होना है।

देखो, यहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अनुकंपा दुखरूप होती है। यह बात आचार्य कुन्दकुन्द की मूल गाथा में भी इसी रूप में विद्यमान है।[१]

प्रश्न – हम आपकी यह बात मान लेते हैं कि करुणाभाव स्वयं दुखरूप है; क्योंकि दूसरों के दुख को देखकर जो दुख हमें होता है, उसे ही करुणा कहते हैं। पर हम तो आप से स्पष्ट शब्दों में पूछना चाहते हैं कि करुणा करना चाहिए या नहीं ?

'नहीं करना चाहिए' – यह तो आप कह नहीं सकते; क्योंकि ज्ञानी धर्मात्माओं के जीवन में भी करुणाभाव देखा जाता है। अब यदि यह कहा जाय कि करना चाहिए; तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसे धर्म मानकर ही करें या इसमें भी आपको कुछ कहना है ?

उत्तर – हमें बहुत प्रसन्नता है कि आपने हमारी बात मान ली; पर भाई साहब ! यह बात हमारी कहाँ है ? यह तो आचार्यों का कथन है, जिसके प्रमाण हमने प्रस्तुत किये ही हैं।

हाँ, यह आचार्यों की बात हमें सच्चे हृदय से स्वीकार है; इसलिए हमारी भी है; पर हम यह चाहते हैं कि यह आपकी भी बन जावें।

अब रही बात यह कि करुणा करना चाहिए या नहीं ? इसके संदर्भ में पंचास्तिकाय की समयव्याख्या टीका का उद्धरण दिया ही है कि ज्ञानी की करुणा कैसी होती है ?

अध्यात्मप्रेमी होने से यह तो आप जानते ही होंगे कि सभी जीवों के जीवन-मरण और

---

[१] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १३७ एवं उसकी समयव्याख्या टीका

सुख-दुख अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार होते हैं। यदि आपके ध्यान में अबतक यह बात न आ पाई हो तो कृपया समयसार के बंधाधिकार को देखें; उसमें इस बात को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। उसमें समागत ये कलश दृष्टव्य हैं –

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्यकुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।।१६८।।
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति।।१६९।।

(हरिगीत)

जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख सब प्राणियों के सदा ही।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से।।
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है।।१६८।।
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को।।
कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष।।१६९।।

देखो, यहाँ दूसरों को सुखी करने और बचाने के अभिप्राय को दुखी करने और मारने के अभिप्राय के समान ही हेय बताया है और उन्हें अपनी आत्मा का हनन (हत्या) करनेवाला कहा गया है। यह बात जुदी है कि विभिन्न भूमिकाओं में रहनेवाले ज्ञानीजनों को अपनी-अपनी भूमिकानुसार करुणाभाव आये बिना नहीं रहता, आता ही है; पर उसे करना चाहिए – यह कैसे कहा जा सकता है ?

एक स्थान पर मैंने पढ़ा था कि श्रीमद् राजचन्दजी से जब गाँधीजी ने पूछा कि कोई किसी को मार रहा हो तो उसे बचाने के लिए तो हम मारनेवाले को मार सकते हैं न ? गाय पर झपटनेवाले शेर को मारने में तो कोई पाप नहीं है न ? आप तो यह बताइये कि कोई हमें ही मारने लगे तब तो हम उसे.....?

श्रीमद्जी एकदम गंभीर हो गये। विशेष आग्रह करने पर उन्होंने उसी गंभीरता के साथ

कहा कि आपको ऐसा काम करने को मैं कैसे कह सकता हूँ कि जिसके फल में आपको नरक-निगोद जाना पड़े और भव-भव में भटकना पड़े ?

गाँधीजी ने कहा – स्वयं को या दूसरों को बचाने का भाव तो शुभ ही है ?

श्रीमद्‌जी बोले – बचाने के लिए ही सही, पर मारने के भाव और मारने की क्रिया तो संक्लेश परिणामों के बिना संभव नहीं है और संक्लेश परिणामों से तो पाप ही बंधता है।

श्रीमद् के उक्त कथन में सबकुछ आ गया है। आप कहते हैं कि करुणा करना तो चाहिए न? पर अभी आप यह मान चुके हैं कि करुणाभाव दुखरूप भाव है; दुखरूप भाव करने का अर्थ दुखी होना ही है। मैं आपको दुखी होने के लिए कैसे कह सकता हूँ ?

हाँ, पर यह बात एकदम सच्ची और पक्की है कि ज्ञानीजनों के जीवन में अपनी-अपनी भूमिकानुसार करुणाभाव होता अवश्य है और तदनुसार क्रिया-प्रक्रिया भी होती ही है। बस इससे अधिक कुछ नहीं।

प्रश्न – जब करुणाभाव ज्ञानियों के जीवन में भी होता ही है तो फिर उसे धर्म मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर – व्यवहारधर्म तो उसे कहते ही हैं; किन्तु निश्चयधर्म तो उसे कहते हैं जो मुक्ति का कारण है। ज्ञानियों के जीवन में तो यथायोग्य अशुभभाव भी होते हैं तो क्या उन्हें भी धर्म माने ?

ज्ञानियों के जीवन में होना अलग बात है और उनमें उपादेयबुद्धि होना अलग बात है, उनमें धर्मबुद्धि होना अलग बात है।

ज्ञानियों के जीवन में भूमिकानुसार जो-जो भाव होते हैं; वे सभी भाव धर्म तो नहीं हो जाते। हाँ, ज्ञानी जीव जिन भावों को धर्म मानते हैं, वे भाव अवश्य ही निश्चयधर्म होते हैं।।८५।।

विगत गाथा में यह कहा गया है कि पदार्थों के अयथार्थ ग्रहणपूर्वक होनेवाले करुणाभाव और अनुकूल विषयों में राग तथा प्रतिकूल विषयों में द्वेष – ये मोह के चिह्न हैं तथा ८०-८१वीं गाथा में यह कहा गया है कि अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर अपने आत्मा को जानना ही मोह के नाश का उपाय है।

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **८०-८१वीं गाथा में बताया गया मोह के नाश का उपाय अध्यात्मशास्त्रों के गहरे अध्ययन की अपेक्षा रखता है। शास्त्र स्वाध्याय मोह के नाश का उपायान्तर है। इस गाथा में उक्त उपायान्तर पर विचार करते हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति –

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।।८६।।

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात्।
क्षीयते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम् ।।८६।।

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथाज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम्, तत् खलूपायान्तरमिदपेक्षते।

इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्दं प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्तिसंपदः सहृदयहृदयानंदोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः। अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ।।८६।।

(हरिगीत)

तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से।
दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ।।८६।।

जिनशास्त्रों द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले का नियम से मोह के उपचय (समूह) का क्षय हो जाता है; इसलिए शास्त्रों का सम्यक्प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"८०वीं गाथा में द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभाव से अरहंत के ज्ञान द्वारा जो आत्मा का उसी प्रकार का ज्ञान मोहक्षय के उपाय के रूप में बताया गया था; वह वस्तुतः इस ८६वीं गाथा में प्रतिपादित उपायान्तर की अपेक्षा रखता है।

सर्वज्ञकथित होने से पूर्णतः अबाधित आगमज्ञान को प्राप्त करके उसी में क्रीड़ा करने से प्राप्त संस्कार से विशिष्ट संवेदनशक्तिरूप संपदा प्रगट करने पर सहृदयजनों के हृदय को आनन्द से स्फुरायमान करनेवाले प्रत्यक्षप्रमाण से अथवा उससे अविरुद्ध अन्य प्रमाणसमूह से समस्त वस्तुसमूह को यथार्थरूप से जानने पर विपरीताभिनिवेश के संस्कार करनेवाला मोहोपचय अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

इसलिए भावज्ञान के अवलम्बन के द्वारा दृढ़कृत परिणाम से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना प्राथमिक भूमिकावाले लोगों को मोहक्षय करने के लिए उपायान्तर है।"

यद्यपि आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही स्पष्ट किया है; तथापि वे उक्त गाथा का तात्पर्य इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

"कोई भव्यजीव सर्वप्रथम तो वीतरागी-सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित शास्त्रों द्वारा श्रुतज्ञान से आत्मा को जानता है और उसके बाद विशिष्ट अभ्यास के वश से परमसमाधि के समय रागादि विकल्पों से रहित मानसप्रत्यक्ष से उसी आत्मा को जानता है अथवा उसीप्रकार अनुमान से जानता है। जिसप्रकार सुखादि के समान विकाररहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से यह जाना जाता है कि शरीर में ही एक शुद्ध-बुद्ध परमात्मा है; उसीप्रकार यथासंभव आगम-अभ्यास से उत्पन्न प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से अन्य पदार्थ भी जाने जाते हैं।

इसलिए मोक्षार्थी भव्यों को आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।"

उक्त कथन में आचार्य जयसेन ने मोह के क्षय के कारणरूप में होनेवाले क्रमिक विकास की प्रक्रिया को भी स्पष्ट कर दिया है।

८०वीं गाथा में अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने की बात कही गई है। अत: अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्यायों को कैसे जाने?

इसके उत्तर में इस गाथा में यह बताया गया है कि अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने के लिए आगम का स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय में अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण, उसके अनुसार लिखे गये शास्त्रों का पठन-पाठन एवं उनके मर्म को जाननेवाले तत्त्वज्ञानी गुरुओं के उपदेश का श्रवण – ये सबकुछ आ जाता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन से यही प्रतिफलित होता है कि देशनालब्धि के माध्यम से अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर, तर्क की कसौटी पर कसकर निर्णय करना चाहिए। तदुपरान्त उन्हीं के समान अपने आत्मा को भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानकर आत्मानुभव करना चाहिए। दर्शनमोह के नाश करने का एकमात्र यही उपाय है।

ध्यान रहे यहाँ मोह के नाश के लिए स्वाध्याय के अतिरिक्त और किसी भी क्रियाकाण्ड या शुभभाव को उपाय के रूप में नहीं बताया है। अत: आत्मकल्याण की भावना से मोह (मिथ्यात्व) का नाश करने के लिए धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्य क्रियाकलापों से थोड़ा-बहुत विराम लेकर पूरी शक्ति और सच्चे मन से स्वाध्याय में लगना चाहिए; अन्यथा यह मनुष्यभव यों ही चला जायेगा, कुछ भी हाथ नहीं आयेगा ।।८६।।

विगत गाथा में यह बताया गया है कि अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने के

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति –

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ।।८७।।

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ।।८७।।

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः।

तत्र गुणपर्यायानियति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्यायाः।

लिए जिनेन्द्रकथित शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि **जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार द्रव्य-गुण-पर्याय का सामान्य स्वरूप क्या है ?**

ध्यान रहे यहाँ मात्र एक गाथा में ही द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बता रहे हैं; आगे ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

द्रव्य-गुण-पर्याय ही हैं अर्थ सब जिनवर कहें।
जिय द्रव्य गुण-पर्यायमय ही भिन्न वस्तु है नहीं ।।८७।।

द्रव्य, गुण और पर्यायें अर्थ नाम से कही गई हैं। उनमें गुण और पर्यायों का आत्मा द्रव्य है; इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"द्रव्य, गुण और पर्यायें अभिधेय (वाच्य) का भेद होने पर भी अभिधान (वाचक) का अभेद होने से अर्थ हैं।

उनमें जो गुणों और पर्यायों को प्राप्त करते हैं या गुणों और पर्यायों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं; वे अर्थ द्रव्य हैं; जो द्रव्यों को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं या आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, वे अर्थ गुण हैं और जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं या द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त किये जाते हैं, वे अर्थ पर्याय हैं।

जिसप्रकार सोनारूप द्रव्य पीलेपन आदि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों को प्राप्त करता है अथवा उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है; इसलिए सोना द्रव्य अर्थ है।

यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयतितेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणाः, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्यायाः। एवमन्यत्रापि।

यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ।।८७।।

जिसप्रकार पीलापन आदि गुण सोने को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं अथवा सोने द्वारा प्राप्त किये जाते हैं; इसलिए पीलापन आदि गुण अर्थ हैं।

जिसप्रकार कुण्डलादि पर्यायें सोने को क्रमपरिणाम से प्राप्त करती हैं अथवा सोने द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त की जाती हैं; इसलिए कुण्डलादि पर्यायें अर्थ हैं।

इसीप्रकार अन्यत्र सभी जगह घटित कर लेना चाहिए।

जिसप्रकार पीलापन अदि गुण और कुण्डलादि पर्यायों की सोने से अभिन्नता होने से उनका सोना ही आत्मा (सर्वस्व) है; उसीप्रकार उन द्रव्य-गुण-पर्यायों में गुण-पर्यायों से अभिन्नता होने से उनका द्रव्य ही आत्मा (सर्वस्व-स्वरूप) है।''

इसप्रकार इस गाथा में द्रव्य-गुण-पर्याय का सामान्य स्वरूप बताते हुए मात्र इतना ही कहा गया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय – इन तीनों को अर्थ कहते हैं।

द्रव्य को भी अर्थ कहते हैं; गुण को भी अर्थ कहते हैं और पर्यायों को भी अर्थ कहते हैं।

ध्यान रहे द्रव्य, गुण और पर्याय – इन तीनों को मिलाकर भी अर्थ कहते हैं और तीनों को पृथक्-पृथक् भी अर्थ कहते हैं।

द्रव्य, गुण और पर्याय – इन तीनों में कथंचित् भेदाभेद है। तात्पर्य यह है कि ये तीनों प्रदेशों की अपेक्षा एक हैं, परन्तु भाव की अपेक्षा जुदे-जुदे हैं; क्योंकि इनमें प्रदेशभेद नहीं है, पर भावभेद है ।।८७।।

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जिनेन्द्रकथित द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान बिना मोह का नाश संभव नहीं है; अतः द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान करने के लिए जिनेन्द्रकथित शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए।

अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि जिनेश्वर के उपदेश की प्राप्ति होने पर पुरुषार्थ कार्यकारी है; इसकारण जो जिनेश्वरदेव के उपदेशानुसार पुरुषार्थ करता है; मोह को

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति। अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते –

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।८८।।
णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ।।८९।।

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम्।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ।।८८।।
ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम्।
जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति ।।८९।।

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारा-

नाश करनेवाला वह अल्पकाल में ही सभीप्रकार के दुखों से मुक्त हो जाता है। स्वपर के विवेक से ही मोह का क्षय होता है, इसलिए वह स्वपर के विभाग की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिनदेव का उपदेश यह जो हने मोहरु क्षोभ को।
वह बहुत थोड़े काल में ही सब दुखों से मुक्त हो ।।८८।।
जो जानता ज्ञानात्मक निजरूप अर परद्रव्य को।
वह नियम से ही क्षय करे दृगमोह एवं क्षोभ को ।।८९।।

जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त कर मोह-राग-द्वेष का नाश करता है; वह अल्पकाल में ही सर्व दुखों से मुक्त हो जाता है। जो निश्चय से ज्ञानात्मक निज को और पर को, निज-निज द्रव्यत्व से संबद्ध (संयुक्त) जानता है; वह मोह का क्षय करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“जिसप्रकार तीक्ष्णतलवारधारी मनुष्य तलवार से शत्रुओं पर अत्यन्त वेग से प्रहार करे, तभी तत्संबंधी दुखों से मुक्त होता है, अन्यथा नहीं; उसीप्रकार अतिदीर्घ उत्पातमय संसारमार्ग में किसी भी प्रकार से जिनेन्द्रदेव के अतितीक्ष्ण असिधारा के समान उपदेश को प्राप्त कर जो पुरुष मोह-राग-द्वेष पर अति दृढ़तापूर्वक प्रहार करता है, वही शीघ्र सब दुखों से मुक्त होता है;

पथ्यस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव।

अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥८८॥

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति। अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥८९॥

अन्य कोई व्यापार (प्रयत्न-क्रियाकाण्ड) समस्त दुखों से मुक्त नहीं करता। इसलिए मैं मोह का क्षय करने के लिए सम्पूर्ण आरंभ से, प्रयत्न से पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

जो निश्चय से अपने को और अपने चैतन्यात्मक द्रव्यत्व से संबंद्ध पर को पर के यथा-योग्य द्रव्य से संबंद्ध ही जानता है; सम्यक्प्रकार से स्व-पर विवेक को प्राप्त वह पुरुष सम्पूर्ण मोह का क्षय करता है। इसलिए मैं स्व-पर के विवेक के लिए प्रयत्नशील हूँ।''

उक्त दोनों गाथाओं और उनकी टीका में मात्र इतनी-सी बात कही है कि जिसप्रकार तलवार धारण करने मात्र से शत्रु को नहीं जीता जाता; जबतक उक्त तलवार का उग्र पुरुषार्थ द्वारा प्रयोग न किया जाय, शत्रु पर वार न किया जाय, तबतक शत्रुओं को समाप्त नहीं किया जा सकता; तत्संबंधी आकुलता भी समाप्त नहीं होती।

उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवान का उपदेश प्राप्त हो जाने मात्र से कर्म शत्रुओं को नहीं जीता जा सकता; जबतक आत्मा मोह-राग-द्वेष पर तीव्र प्रहार नहीं करता; तबतक मोह-राग-द्वेष का नाश नहीं होता; दुखों से मुक्ति प्राप्त नहीं होती; अन्य कोई धार्मिक क्रियाकाण्ड ऐसा नहीं है कि जिससे दुखों से मुक्त हुआ जा सके।

इसलिए जो पुरुष सर्व दुखों से मुक्त होना चाहते हैं; उन्हें जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से स्व-पर भेदविज्ञान करके मोह-राग-द्वेष के नाश के लिए आत्मानुभूतिपूर्वक पर से भिन्न निज आत्मा में अपनापन स्थापित करके उसी में जम जाना, रम जाना चाहिए॥८८-८९॥

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि जो स्व और पर की भिन्नता जानकर स्व में जमते-रमते हैं; मोह को क्षय करनेवाले वे सर्व दुखों से मुक्त हो जाते हैं।

अब इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि **अपनी निर्मोहता चाहते हो तो आगम के अभ्यास से स्व-पर भेदविज्ञान करो, स्व-पर का विवेक करो।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति –

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ।।९०।।

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ।।९०।।

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतयासाधारणतामुपादाय विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवणबुद्धयो लब्धवर्णाः।

तथाहि – यदिदं सदकारणतया स्वतःसिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीया समानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यं जानामि।

एवं पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानैः सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि।

(हरिगीत)

निर्मोह होना चाहते तो गुणों की पहिचान से।
तुम भेद जानो स्व-पर में जिनमार्ग के आधार से ।।९०।।

इसलिए यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता है तो जिनमार्ग से गुणों के द्वारा सभी द्रव्यों में स्व और पर को जानो।

आचार्य अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"मोह का क्षय करने के प्रति प्रवणबुद्धिवाले ज्ञानीजनों ! इस जगत में आगम में कथित अनन्त गुणों में से असाधारणपना को प्राप्त विशेष गुणों द्वारा स्व-पर का विवेक प्राप्त करो।

अब इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं – सत् और अहेतुक (अकारण) होने से स्वतःसिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से स्व-पर के ज्ञायक मेरे चैतन्य द्वारा जो समानजातीय या असमानजातीय द्रव्यों को छोड़कर मेरे आत्मा में वर्तनेवाले आत्मा के द्वारा मैं अपने आत्मा को तीनों काल में ध्रुवत्व को धारण करनेवाला द्रव्य जानता हूँ।

इसप्रकार पृथक्रूप से वर्तमान स्वलक्षणों के द्वारा आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्माओं को भी तीनों काल में ध्रुवत्व धारक द्रव्य के रूप में निश्चित करता हूँ।

ततो नाहमाकाशं, न धर्मो, नाधर्मो, न च कालो, न पुद्गलो, नात्मान्तरं च भवामि, यतोऽमीष्वेकापवरकप्रबोधितानेकदीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्यं स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति ।

एवमस्य निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥९०॥

इसलिए मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ और आत्मान्तर (अन्य आत्मा) भी नहीं हूँ; क्योंकि मकान के एक कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाश की भाँति यह द्रव्य इकट्ठे होकर रहते हुए भी मेरा चैतन्य निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ मुझे पृथक् बतलाता है । इसप्रकार स्व-पर विवेक के धारक इस आत्मा को विकार करनेवाला मोहांकुर उत्पन्न ही नहीं होता ।''

उक्त गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिसप्रकार एक कमरे में अनेक दीपक जलते हों तो ऐसा लगता है कि सबका प्रकाश परस्पर मिल गया है, एकमेक हो गया है; किन्तु जब एक दीपक उठाकर ले जाते हैं तो उसका प्रकाश उसके ही साथ जाता है और उतना प्रकाश कमरे में कम हो जाता है; इससे पता चलता है कि कमरे में विद्यमान सभी दीपकों का प्रकाश अलग-अलग ही रहा है।

उसीप्रकार इस लोक में सभी द्रव्य एकक्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं, महासत्ता की अपेक्षा से एक ही कहे जाते हैं; तथापि स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा वे जुदे-जुदे ही हैं।

इस लोक में विद्यमान सभी चेतन-अचेतन पदार्थों से मेरी सत्ता भिन्न ही है – ऐसा निर्णय होते ही पर से एकत्व का मोह विलीन हो जाता है और राग-द्वेष भी टूटने लगते हैं।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि यद्यपि ज्ञान जीव का असाधारण गुण है, विशेष गुण है; तथापि वह सभी जीवों में पाया जाता है। सभी जीवों में पाये जाने के कारण एकप्रकार से वह सामान्य गुण भी है। इस ज्ञान नामक गुण के माध्यम से जड़ से भिन्न सभी जीवों को तो जाना जा सकता है; परन्तु परजीवों से भी भिन्न अपने आत्मा को नहीं। हमें तो परजीवों से भी भिन्न निज आत्मा को जानना है, हम उसे कैसे जाने ?

मेरा ज्ञानगुण मेरे में है और आपका ज्ञानगुण आप में। मेरा ज्ञानगुण ही मेरे लिए ज्ञान है; क्योंकि मैं तो उसी से जानने का काम कर सकता हूँ, आपके ज्ञानगुण से नहीं। आपका ज्ञानगुण तो मेरे लिए एकप्रकार से ज्ञान नहीं, ज्ञेय है। अन्य ज्ञेयों के समान यह भी एक ज्ञेय है।

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति –

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो सत्तो धम्मो ण संभवदि॥९१॥

सत्तासंबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये।
श्रद्दधाति न स श्रमणः ततो धर्मो न संभवति॥९१॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशेषाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः। यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति॥९१॥

अतः अपने ज्ञानगुण से अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानो, पहिचानो और उसी में जम जावो, रम जावो; सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है॥९०॥

विगत गाथा में यह कहा गया है कि स्व-पर का विवेक धारण करनेवालों को मोहांकुर उत्पन्न नहीं होता; इसलिए हमें भेदविज्ञानपूर्वक स्व-पर को जानने में पूरी शक्ति लगा देना चाहिए।

अब इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि जिस श्रमण को ऐसा भेदविज्ञान नहीं है, वह श्रमण, श्रमण ही नहीं है; श्रमणाभास है। **जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पदार्थों के श्रद्धान बिना शुद्धात्मानुभवरूप धर्म की प्राप्ति नहीं होती।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

द्रव्य जो सविशेष सत्तामयी उसकी दृष्टि ना।
तो श्रमण हो पर उस श्रमण से धर्म का उद्भव नहीं॥९१॥

जो जीव श्रमण अवस्था में इन सत्तासहित सविशेष पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता; वह श्रमण, श्रमण नहीं है; उससे धर्म का उद्भव नहीं होता।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"सादृश्यास्तित्व से समानता को धारण करते हुए भी स्वरूपास्तित्व से विशेषता से युक्त द्रव्यों को स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक न जानता हुआ, न श्रद्धा करता हुआ जो जीव मात्र श्रमणता (द्रव्यमुनित्व) से आत्मा का दमन करता है; वह वास्तव में श्रमण नहीं है।

जिसे रेत और स्वर्णकणों का अन्तर ज्ञात नहीं है, उस धूल को धोनेवाले पुरुष को जिस प्रकार स्वर्णलाभ नहीं होता; उसीप्रकार उक्त श्रमणाभासों में से निरुपराग आत्मतत्त्व की उपलब्धि लक्षणवाले धर्म का उद्भव नहीं होता, धर्मलाभ प्राप्त नहीं होता।"

अथ –

'उपसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती'

इति प्रतिज्ञाय –

'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो'

इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य –

'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो॥'

सर्राफा बाजार की नालियों में बहुत स्वर्णकण गिर जाते हैं; जिन्हें लोग धूल को छान-छान कर निकालते हैं, धो-धोकर निकालते हैं। जो लोग यह काम करते हैं, उन्हें धूलधोया कहते हैं। जिस धूलधोया को स्वर्ण कण और रेत-कणों में अन्तर समझ में नहीं आता, उसे स्वर्ण कणों की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? वह कितनी ही मेहनत क्यों न करे, उसे स्वर्ण कणों की प्राप्ति नहीं होगी। इसीप्रकार जिस श्रमण को स्व-पर का विवेक नहीं है, वह श्रमण तप करने के नाम पर कितना ही कष्ट क्यों न उठावे; परन्तु उसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। न तो उसे स्वयं अनंतसुख की प्राप्ति होगी और न उससे अन्य जीवों का ही कल्याण हो सकता है॥९१॥

९१वीं गाथा में यह कहा गया है कि जो स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक स्व-पर पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमण, श्रमण नहीं है; उसको धर्म का उद्भव नहीं होता।

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि मोहदृष्टि से रहित, आगमकुशल, वीतरागचारित्र में आरूढ़ श्रमण साक्षात् धर्म हैं और उसको धर्म का उद्भव होता है।

इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के आरंभ से ही बात को उठाते हैं। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

"निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ
इसप्रकार पाँचवी गाथा में प्रतिज्ञा करके,
चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है।
–इसप्रकार ७वीं गाथा में साम्य ही धर्म है – ऐसा निश्चित करके,
जिसकाल में जो दरव जिस परिणाम से हो परिणमित।
हो उसीमय वह धर्मपरिणत आतमा ही धर्म है॥

इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च –

'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं'

इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता संवेदनस्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम्, तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनिस्पृहामात्मतृप्तां पारमेश्वरीप्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेष स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते –

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ।।९२।।

–इसप्रकार ८वीं गाथा में जो आत्मा का धर्मत्व कहना आरंभ किया और जिसकी सिद्धि के लिए –

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा।

–इसप्रकार ११वीं गाथा में निर्वाणसुख के साधनभूत शुद्धोपयोग का अधिकार आरंभ किया, विरोधी शुभाशुभ उपयोग को हेय बताया, शुद्धोपयोग का वर्णन किया, शुद्धोपयोग के प्रसाद से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के सहज ज्ञान और आनन्द को समझाते हुए ज्ञान और सुख के स्वरूप का विस्तार किया; अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग के प्रसाद से उस आत्मा के धर्मत्व को सिद्ध करके परमनिस्पृह, आत्मतृप्त ऐसी पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुए, कृतकृत्यता को प्राप्त करके अत्यन्त अनाकुल होकर, भेदवासना की प्रगटता का प्रलय करते हुए 'मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ' –इसप्रकार रहते हैं।''

उक्त उत्थानिका में 'ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार' की सम्पूर्ण विषयवस्तु को संक्षेप में प्रस्तुत करके अन्त में यह कहा गया है कि धर्मपरिणत संत ही धर्म हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आगमकुशल दृगमोहहत आरूढ़ हों चारित्र में।
बस उन महात्मन श्रमण को ही धर्म कहते शास्त्र में ।।९२।।

जो आगम में कुशल हैं, जिनकी मोहदृष्टि नष्ट हो गई है और जो वीतरागचारित्र में आरूढ़ हैं; उन महात्मा श्रमण को ही धर्म कहा है।

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः ।।९२।।

यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव। तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री। सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते। ततो वीतरागचारित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते। अलमतिविस्तरेण। स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे। स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः। स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ।।९२।।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

"हमारा मनोरथ यह है कि यह आत्मा स्वयं ही धर्म हो। उसमें विघ्न डालनेवाली एकमात्र बहिर्मोहदृष्टि ही है और वह बहिर्मोहदृष्टि आगमकौशल्य तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो जाने के कारण अब मुझ में पुनः उत्पन्न नहीं होगी। इसलिए वीतरागचारित्ररूप पर्याय में परिणत मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर, समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से सदा निष्कंप ही रहता है।

अधिक विस्तार से बस होओ। जयवंत वर्तो, स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म; जयवंत वर्तो शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वोपलब्धि; जिसके प्रसाद से अनादि संसार से बंधी हुई मोहग्रंथि तत्काल छूट गई है और जयवंत वर्तो परमवीतरागचारित्ररूप शुद्धोपयोग; जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है।"

देखो, इस गाथा में आगमकुशल सम्यग्दृष्टि वीतरागचारित्रवंत भावलिंगी संतों को ही धर्म कहा है। तात्पर्य यह है कि धर्म तो भावात्मक वस्तु है, श्रद्धादि गुणों का सम्यक् परिणमन ही है। ऐसा धर्म धर्मात्मा में ही पाया जाता है, धर्मात्माओं को छोड़कर धर्म कहाँ रहेगा ?

कहा भी है – "**न धर्मो धार्मिकैर्बिना**[1] धर्म धर्मात्माओं के बिना नहीं होता।"

धर्मपरिणत आत्मा ही धर्म है, धर्मात्मा है। **यदि मूर्तिमन्त धर्म के दर्शन करना है तो मुनिराजों के दर्शन कर लीजिए। वे चलते-फिरते धर्म हैं।**

मैंने देव-शास्त्र-गुरु पूजन में वीतरागी सन्तों को चलते-फिरते सिद्धों के रूप में देखा है और लिखा है कि –

चलते-फिरते सिद्धों से गुरु चरणों में शीश झुकाते हैं।
हम चले आपके कदमों पर बस यही भावना भाते हैं।।

---

[1] आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक २६

(मन्द्राक्रांता)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निष्प्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ।।५।।

जरा सोचो तो सही कि जिन मुनिराजों को यहाँ साक्षात् धर्म कहा है; वे मुनिराज कैसे होंगे? जगतप्रपंच में उलझे, दंद-फंद में पड़े, विकथाओं में रत, परमवीतरागता से विरत, वेषधारी लोग मात्र वेष के होने से साक्षात् धर्म तो हो नहीं सकते।

अतः शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति से परिणत मुनिराज ही धर्म हैं।

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की सम्पूर्ण विषयवस्तु समेटते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि **अधिक विस्तार से क्या लाभ है ?** समझदारों के लिए तो जितना कह दिया, उतना ही पर्याप्त है। वे तो इतने में ही सबकुछ समझ जावेंगे। जो इतने से नहीं समझेंगे, उन्हें तो कितना ही कहो, कुछ होनेवाला नहीं है।

सर्वान्त में जिनवाणी और उससे प्राप्त होनेवाली आत्मोपलब्धि तथा शुद्धोपयोग की जयकार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि इनके प्रसाद से ही आत्मोपलब्धि होती है और आत्मा धर्मात्मा हो जाता है, धर्म हो जाता है। इसलिए हम सबका यही एकमात्र कर्तव्य है कि **हम सब आगम का अभ्यास करें; जिससे हम सबको भी आत्मोपलब्धि और शुद्धोपयोग प्राप्त हो और हम भी धर्ममय हो जावें, धर्मात्मा हो जावें ।।९२ ।।**

आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसके बाद दो मन्दाक्रान्ता छन्द प्राप्त होते हैं। **प्रथम छन्द में शुद्धोपयोग का फल निरूपित है और दूसरा छन्द ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के बीच की संधि को बताता है।**

प्रथम छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(मनहरण)

विलीन मोह-राग-द्वेष मेघ चहुं ओर के,
चेतना के गुणगण कहाँ तक बखानिये।
अविचल जोत निष्कंप रत्नदीप सम,
विलसत सहजानन्द मय जानिये ।।

(मन्द्राक्रांता)

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत्
तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या
प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहांकुरस्य।।६।।

नित्य आनंद के प्रशमरस में मगन,
शुद्ध उपयोग का महत्त्व पहिचानिये।
नित्य ज्ञानतत्त्व में विलीन यह आतमा,
स्वयं धर्मरूप परिणत पहिचानिये।।५।।

इसप्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके यह आत्मा स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्यानंद के प्रसार से सरस आत्मतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलता के कारण दैदीप्यमान ज्योतिर्मय और सहजरूप से विलसित स्वभाव से प्रकाशित रत्नदीपक की भाँति निष्कंप प्रकाशमय शोभा को प्राप्त करता है।

घी या तेल से जलनेवाले दीपक की लौं वायु के संचरण से कांपती रहती है और यदि वायु थोड़ी-बहुत भी तेज चले तो बुझ जाती है; परन्तु रत्नदीपक में न तो घी या तेल की जरूरत है और न वह वायु के प्रचंड वेग से काँपता ही है। जब वह कांपता भी नहीं तो फिर बुझने का प्रश्न नहीं उठता। **यही कारण है कि यहाँ ज्ञानानन्दज्योति की उपमा रत्नदीपक से दी गई है। क्षायोपशमिक ज्ञान और आनन्द तेल के दीपक के समान अस्थिर रहते हैं, अनित्य होते हैं और क्षणभंगुर होते हैं; किन्तु क्षायिकज्ञान और क्षायिक आनन्द रत्नदीपक के समान अकंप चिरस्थाई होते हैं।**

शुद्धोपयोग के प्रसाद से होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख अकंप चिरस्थाई होने से परम उपादेय हैं।।५।।

द्वितीय छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(मनहरण)

आतमा में विद्यमान ज्ञानतत्त्व पहिचान,
पूर्णज्ञान प्राप्त करने के शुद्धभाव से।
ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन के उपरान्त अब,
ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन करते हैं चाव से।।

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।।

सामान्य और असामान्य ज्ञेयतत्त्व सब,
जानने के लिए द्रव्य गुण पर्याय से।
मोह अंकुर उत्पन्न न हो इसलिए,
ज्ञेय का स्वरूप बतलाते विस्तार से ।।६।।

आत्मा के आश्रित रहनेवाले ज्ञानतत्त्व का इसप्रकार यथार्थतया निश्चय करके, उसकी सिद्धि के लिए, केवलज्ञान प्रगट करने के लिए प्रशम के लक्ष्य से ज्ञेयतत्त्व को जानने के इच्छुक मुमुक्षु सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानते हैं; जिससे मोहांकुर की कभी किंचित्मात्र भी उत्पत्ति न हो।

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्त में और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार के आरंभ में लिखे गये इन छन्दों में मात्र यही बताया गया है कि जबतक ज्ञेयतत्त्वों अर्थात् सभी पदार्थों का स्वरूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं होगा; तबतक ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन की समझ से उपशमित मोहांकुर कभी भी अंकुरित हो सकते हैं।

उन मोहांकुरों के पूर्णतः अभाव के लिए ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में ज्ञेयों का सामान्य और विशेष स्वरूप बताकर ज्ञान और ज्ञेय में विद्यमान स्वभावगत-भिन्नता का स्वरूप भी स्पष्ट करेंगे; जिससे पर में एकत्वरूप दर्शनमोह के पुनः अंकुरित होने की संभावना संपूर्णतः समाप्त हो जावे और यह आत्मा अनन्तकाल तक अनंत आनन्द का उपभोग करता रहे ।।६।।

इसके बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में दो गाथायें प्राप्त होती हैं; जिनमें विगत गाथा में प्रतिपादित साक्षात् धर्मपरिणत मुनिराजों की स्तुति-वंदन-नमन द्वारा प्राप्त पुण्य का फल दिखाया गया है। ध्यान रहे ये गाथाएँ तत्त्वप्रदीपिका टीका में उपलब्ध नहीं होतीं। ये दोनों गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ।।८।।

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ।।९।।

(हरिगीत)

देखकर संतुष्ट हो उठ नमन वन्दन जो करे।
वह भव्य उनसे सदा ही सद्धर्म की प्राप्ति करे ।।८ ।।
उस धर्म से तिर्यंच-नर नर-सुरगति को प्राप्त कर।
ऐश्वर्य-वैभववान अर पूरण मनोरथवान हों ।।९ ।।

विगत गाथा में उल्लिखित मुनिराजों को देखकर जो संतुष्ट होते हुए वंदन-नमन द्वारा उनका सत्कार करते हैं; वे उनसे धर्म ग्रहण करते हैं। उक्त पुण्य द्वारा मनुष्य व तिर्यंच, देवगति या मनुष्यगति को प्राप्त कर वे वैभव और ऐश्वर्य से सदा परिपूर्ण मनोरथवाले होते हैं।

जिसकी जिसमें श्रद्धा व भक्ति होती है; वह उनके वचनों को भी श्रद्धा से स्वीकार करता है; न केवल स्वीकार करता है; अपितु तदनुसार अपने जीवन को ढालता है। अत: यह स्वाभाविक ही है कि वह उनसे सद्धर्म की एवं पुण्य की प्राप्ति करता है।

पहली गाथा में इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है और दूसरी गाथा में कहा है कि पुण्य के फल में वैभव और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

टीका में वैभव और ऐश्वर्य को परिभाषित कर दिया गया है। कहा है कि **राजाधिराज, रूप-लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदि परिपूर्ण सम्पत्ति वैभव कहलाती है और आज्ञा के फल को ऐश्वर्य कहते हैं।** अन्त में लिखा है कि उक्त पुण्य यदि भोगादि के निदान से रहित हो और सम्यक्त्व पूर्वक हो तो उसे मोक्ष का परम्पराकारण भी कहा जाता है।

ऐसा नहीं लगता है कि ये गाथायें आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित होंगी; क्योंकि इनमें प्रतिपादित विषयवस्तु और संरचना – दोनों ही आचार्य कुन्दकुन्द के स्तर की नहीं हैं।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अंतर्गत शुभपरिणामाधिकार समाप्त होता है।

●●●

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

(गाथा ९३ से गाथा २०० तक)

मंगलाचरण

(सोरठा)

सभी द्रव्य हैं ज्ञेय, आतम ज्ञायक-ज्ञेय है।
निज आतम श्रद्धेय, निज आतम ही ध्येय है।।

यह तो आपको विदित ही है कि इस अधिकार का **ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार** – यह नाम आचार्य अमृतचन्द्र ने दिया है; जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में उपलब्ध होता है।

इसी अधिकार को आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में **सम्यग्दर्शन महाधिकार** नाम से संबोधित किया गया है।

यह भी पहले बताया जा चुका है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार को अधिकारों में विभक्त नहीं किया है। वे तो एकसाथ एक ही क्रम से सम्पूर्ण प्रवचनसार लिखते गये हैं। उक्त वर्गीकरण टीकाकार आचार्यों द्वारा ही किये गये हैं।

आत्मा के कल्याण के लिए जगत में जो भी जानने योग्य पदार्थ हैं; उन सभी पदार्थों का वर्णन इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में होगा।

पहले सभी द्रव्यों की सामान्य चर्चा करेंगे; उसके बाद षट्द्रव्यों को अनेक युगलों में विभक्त कर प्रस्तुत करेंगे तथा प्रत्येक द्रव्य की अलग-अलग विशेष चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् ज्ञान और ज्ञेयों की भिन्नता का स्वरूप स्पष्ट करेंगे।

इसप्रकार यह ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार तीन अधिकारों में विभक्त है; जो इसप्रकार हैं – १. द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार, २. द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार और ३. ज्ञानज्ञेय-विभागाधिकार।

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार प्रवचनसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है; क्योंकि इसमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूप जबतक हमारे ख्याल में नहीं आएगा, तबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन का विषयभूत जो भगवान आत्मा है और जिसकी चर्चा समयसार में की जाती है; वह भगवान आत्मा इस प्रवचनसार के द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन की पृष्ठभूमि पर ही समझा जा सकता है।

इसीप्रकार द्रव्यविशेषाधिकार में प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के साथ-साथ छह द्रव्यों को अनेक युगलों में विभक्त कर भेदविज्ञान की पृष्ठभूमि तैयार की जावेगी।

ज्ञान-ज्ञेय विभागाधिकार एक प्रकार से ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार – दोनों को अपने में समेटे है, दोनों का उपसंहार है, निष्कर्ष है। उसमें यह स्पष्ट किया जायेगा कि ज्ञानतत्त्व जुदा है और ज्ञेयतत्त्व जुदा है। **यद्यपि अपना आत्मा ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है; तथापि अपने लिए ज्ञानतत्त्व मात्र अपना आत्मा ही है, शेष सारा जगत, जिसमें अन्य सभी आत्मा भी शामिल हैं, ज्ञेयतत्त्व ही है, मात्र ज्ञेयतत्त्व ही है।**

इस दृष्टि से विचार करें तो यह ज्ञान-ज्ञेय विभागाधिकार एक स्वतंत्र महाधिकार होना चाहिए; तथापि यहाँ इसे ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत एक अधिकार के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व को जानने के साथ-साथ ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व में भेद जानना भी अनिवार्य है; इसलिए ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार है। इसप्रकार ये तीनों अधिकार ही महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु को प्रस्तुत करते हैं।

तत्त्वप्रदीपिका टीका में **ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार** के आरंभ में मंगलाचरण संबंधी कोई गाथा नहीं है; किन्तु आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में मंगलाचरण संबंधी गाथा प्राप्त होती है। ऐसा लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने तो यहाँ मंगलाचरण की गाथा लिखने की आवश्यकता ही नहीं समझी; किन्तु उनके परवर्ती किसी व्यक्ति को कालान्तर में ऐसा लगा कि अधिकार का आरंभ है तो मंगलाचरण भी होना ही चाहिए और उसने इस गाथा को इसमें शामिल कर दिया है।

जो भी हो मंगलाचरण संबंधी उक्त गाथा इसप्रकार है –

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चं पि तम्मणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ।।१०।।

(हरिगीत)

सम्यक् सहित चारित्रयुत मुनिराज में मन जोड़कर।
नमकर कहूँ संक्षेप में सम्यक्त्व का अधिकार यह ।।१०।।

इसलिए सम्यक्चारित्र युक्त उन मुनिराजों को नमस्कार करके उनमें ही तन्मय होकर संक्षेप में परमार्थ का निश्चय करानेवाले इस सम्यक्त्व अधिकार को कहूँगा।

ध्यान रहे, इस गाथा में न केवल मंगलाचरण किया गया है, अपितु सम्यक्त्व अधिकार कहने की प्रतिज्ञा भी की गई है।

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार

(गाथा ९३ से गाथा १२६ तक)

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनं, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति –

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया।।९३।।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह भी है कि इसमें अरहंत और सिद्धों को नमस्कार न करके; उन्हीं मुनिराजों को नमस्कार किया गया है, जिनको प्रथम महाधिकार की तात्पर्यवृत्ति टीका में समागत अन्तिम दो गाथाओं में किया गया है। इस गाथा की संगति उन गाथाओं से ही बैठती है। **तम्हा तस्स णमाइं** – इसलिए उनको नमस्कार करके – इस कथन में पूर्वापर संबंध स्पष्ट हो ही जाता है।

यद्यपि इस गाथा में ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता; जिससे यह अनुभव किया जा सके कि आचार्य कुन्दकुन्द को इस अधिकार का नाम सम्यग्दर्शनाधिकार इष्ट था; तथापि आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में **परमार्थ का निश्चय करानेवाला अधिगम** का अर्थ **सम्यक्त्व** किया है। लगता है इसी आधार पर उन्होंने इस महाधिकार का नाम सम्यग्दर्शन अधिकार रखा है।

उन्हें स्वयं आशंका थी कि उक्त शब्दों का अर्थ सम्यग्दर्शन करने में कुछ लोगों को विकल्प हो सकता है; अतः उन्होंने टीका में स्वयं प्रश्न उठाकर उसका उत्तर दिया है। उसमें यह भी लिखा है कि इसका अर्थ सम्यग्दर्शन नहीं करना हो तो सम्यग्ज्ञान भी कर सकते हैं।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण मूलतः पठनीय है।

मंगलाचरण

(दोहा)

गुण-पर्यय उत्पाद-व्यय-ध्रुवमय अनुपम भाव।
सब द्रव्यों का एक सा सत् सामान्य स्वभाव।।

यह ९३वीं गाथा ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार और द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार की पहली गाथा है; जिसमें **पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्यायरूप** होता है – यह बताया गया है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

गुणात्मक हैं द्रव्य एवं अर्थ हैं सब द्रव्यमय।
गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्ययमूढ़ ही है परसमय।।९३।।

अर्थ: खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि।
तैस्तु पुन: पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमयाः ॥९३॥

इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि।

तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि।

गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिननिबन्धनो गुणपर्यायः। सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपा-

---

वस्तुतः पदार्थ द्रव्यमय है और द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं। द्रव्य और गुणों से पर्यायें होती हैं तथा पर्यायमूढ़ जीव ही परसमय होते हैं।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इस लोक में जो भी ज्ञेयपदार्थ हैं; वे सभी विस्तारसामान्यसमुदायात्मक और आयतसामान्यसमुदायात्मक द्रव्य से रचित होने से द्रव्यमय है, द्रव्यरूप हैं।

एकमात्र द्रव्य जिनका आश्रय है – ऐसे विस्तारविशेषस्वरूप गुणों से रचित होने से द्रव्य गुणात्मक हैं और आयतविशेषस्वरूप पर्यायें उपर्युक्त द्रव्यों और गुणों से रचित होने से द्रव्यात्मक भी हैं और गुणात्मक भी हैं।

अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्यपर्यायें हैं। वे द्रव्यपर्यायें दो प्रकार की होती हैं। समानजातीयद्रव्यपर्याय और असमानजातीयद्रव्यपर्याय।

अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक आदि स्कन्ध समानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं और जीव-पुद्गलात्मक देव, मनुष्य आदि पर्यायें असमानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं।

गुणों द्वारा आयत की अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुणपर्यायें हैं। वे भी दो प्रकार की होती हैं – स्वभावगुणपर्याय और विभावगुणपर्याय।

सभी द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघुत्वगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति स्वभावपर्यायें हैं और रूपादि अथवा ज्ञानादि के स्व-पर (उपादान-निमित्त) के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति विभावपर्यायें हैं।

दीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः।

अथेदं दृष्टान्तेन द्रढयति – यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्यमानस्तन्मय एव; तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्त्यमानो द्रव्यमय एव।

यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव; तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद् गुणात्मक एव।

यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटिकेति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः।

तथैव चानेककौशेयककार्पाससमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः।

अब इसी बात को दृष्टान्त से दृढ करते हैं – जिसप्रकार सभी पट (वस्त्र) स्थिर विस्तार सामान्यसमुदाय से और दौड़ते हुए आयतसामान्यसमुदाय से रचित होते हुए पट (वस्त्र) से तन्मय ही हैं, पटमय ही हैं; उसीप्रकार सभी द्रव्य स्थिर विस्तारसामान्यसमुदाय से और दौड़ते हुए आयतसामान्यसमुदाय से रचित होते हुए द्रव्यमय ही हैं।

जिसप्रकार पट स्थिर विस्तारसामान्यसमुदाय या दौड़ते हुए आयतसामान्यसमुदाय गुणों से रचित होता हुआ गुणों से पृथक् अप्राप्त होने से गुणात्मक ही हैं; उसीप्रकार स्थिर विस्तारसामान्यसमुदाय या दौड़ते हुए आयतसामान्यसमुदायरूप द्रव्य गुणों से रचित होता हुआ गुणों से पृथक् अप्राप्त होने से गुणात्मक ही हैं।

जिसप्रकार अनेक पटात्मक (अनेक वस्त्रों से निर्मित) द्विपटिक, त्रिपटिक आदि समानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं; उसीप्रकार अनेक पुद्गलात्मक द्वि-अणुक, त्रि-अणुक आदि समानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं।

जिसप्रकार अनेक रेशमी और सूती पटों के बने हुए द्विपटिक, त्रिपटिक आदि असमानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं; उसीप्रकार अनेक जीव-पुद्गलात्मक देव, मनुष्य आदि असमानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं।

जिसप्रकार कभी पट में अपने स्थूल अगुरुलघुगुण द्वारा कालक्रम से प्रवर्तमान अनेक

यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरुलघुद्वारेण कालक्रमप्रवृत्तेन नानाविधेन परिणमन्नानात्वप्रतिपत्तिर्गुणात्मकः स्वभावपर्यायः; तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः गुणात्मकः स्वभावपर्यायः।

यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्ययप्रवर्त्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्यायः; तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्यायः।

इयं हि सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा। यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति ॥९३॥

प्रकार रूप से परिणमित होने के कारण अनेकत्व की प्रतिपत्ति गुणात्मक स्वभाव पर्यायें हैं; उसीप्रकार समस्त द्रव्यों में अपने-अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति गुणात्मक स्वभाव पर्यायें हैं।

जिसप्रकार पट में रूपादिक के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोतर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाली स्वभावविशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति गुणात्मकविभावपर्यायें हैं; उसीप्रकार समस्त परद्रव्यों में रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाली स्वभावविशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति गुणात्मकविभावपर्यायें हैं।

वस्तुतः यह सर्वपदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय की प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था भली है, उत्तम है, पूर्ण है और योग्य है; दूसरी कोई व्यवस्था नहीं है; क्योंकि बहुत से जीव पर्यायमात्र का अवलम्बन करके, तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप मोह को प्राप्त होते हुए परसमय होते हैं।’’

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि द्रव्य-गुण-पर्यायमय सभी पदार्थ ज्ञेय हैं। सभी द्रव्य गुणात्मक हैं तथा द्रव्य और गुणों की पर्यायें होती हैं। इसप्रकार पर्यायें द्रव्यपर्यायें और गुणपर्यायों के भेद से दो प्रकार की होती हैं। द्रव्यपर्यायों को व्यंजनपर्याय और गुणपर्यायों को अर्थपर्याय भी कहते हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि मात्र एक द्रव्य के परिणमन को द्रव्यपर्याय नहीं कहते; अपितु अनेक द्रव्यों की मिली हुई अवस्थाओं को द्रव्यपर्याय कहते हैं।

अथानुषङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्थां प्रतिष्ठाप्योपसंहरति –

जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्हि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।।९४।।

ये द्रव्यपर्यायें समानजातीयद्रव्यपर्याय और असमानजातीयद्रव्यपर्याय के भेद से दो प्रकार की होती हैं। समानजातीयद्रव्यपर्यायें पुद्गल में ही होती हैं; क्योंकि जीवादि द्रव्य तो आपस में मिलकर कभी किसी एक पर्यायरूप परिणमित होते ही नहीं हैं।

न तो जीव, धर्मादि अमूर्तिक द्रव्यों के साथ मिलकर परिणमित होता है और न दो जीव भी परस्पर बंधरूप होते हैं; एकमात्र पुद्गल परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्धरूप परिणमित होते हैं। इसकारण समानजातीयद्रव्यपर्याय पुद्गलों में ही होती है।

जीव और शरीररूप पुद्गलों के बंधरूप मनुष्यादि पर्यायें असमानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं; क्योंकि जीव और पुद्गलों की जाति एक नहीं है। जीव चेतन जाति का है और पुद्गल जड़ जाति का है; परन्तु सभी पुद्गल एक ही जड़ जाति के हैं; अतः **जड़ परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध समानजातीयद्रव्यपर्याय है।**

गुण पर्याय तो प्रत्येक द्रव्य के गुणों में होनेवाले प्रतिसमय के परिणमन को कहते हैं। जैसे जीव के ज्ञानगुण का मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादिरूप परिणमन गुणपर्याय है। इसीप्रकार पुद्गल के रस गुण का खट्टा-मीठारूप परिणमन रसगुण की गुणपर्यायें हैं।

इनमें जो परिणमन शुद्ध है, पूर्ण है; वह स्वभावपर्याय कहा जाता है और जो परिणमन अपूर्ण है, अशुद्ध है; वह विभावपर्याय है।

यद्यपि सभी द्रव्यपर्यायों और सभी गुणपर्यायों में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धि मिथ्यात्व है; तथापि **यहाँ विशेष वजन मनुष्यादिपर्यायरूप असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि पर ही दिया जा रहा है।।९३।।**

विगत गाथा के चतुर्थ पाद में यह कहा गया है कि पर्यायमूढ़जीव परसमय हैं। अतः यहाँ यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि यदि पर्यायमूढ़ जीव परसमय हैं तो स्वसमय कौन हैं?

उक्त प्रश्न को ध्यान में रखकर आगामी गाथा ९४ में **प्रसंग प्राप्त स्वसमय और परसमय के स्वरूप को विशेष स्पष्ट कर विषय का उपसंहार करते हैं।**

ये पर्यायेषु निरता जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टाः।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया ज्ञातव्याः॥९४॥

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीवास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगतत्वात्परसमया जायन्ते।

ये तु पुनरसंकीर्णद्रव्यगुणपर्यायसुस्थितं भगवंतमात्मनः स्वभावं सकलविद्यानामेकमूलमुपगम्य यथोदितात्मस्वभावसंभावनसमर्थतया पर्यायमात्राशक्तिमत्यस्यात्मनः स्वभाव एव स्थितिमासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहाग्रहा

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पर्यांय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में।
थित जीव ही हैं स्वसमय-यह कहा जिनवरदेव ने॥९४॥

जो जीव पर्यायों में लीन हैं; उन्हें परसमय कहा गया है और जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं, वे स्वसमय जानने।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जो सकल अविद्याओं की मूल जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायों का आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना में नपुंसक होने से असमानजातीय द्रव्यपर्याय में ही बल धारण करते हैं; 'मैं मनुष्य हूँ, मेरी यह नरदेह है' – इसप्रकार के अहंकार-ममकार से ठगे गये हैं; निर्गल एकान्त दृष्टिवाले वे लोग अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्म-व्यवहार से च्युत होकर समस्त क्रियाकलाप को छाती से लगानेरूप मनुष्यव्यवहार का आश्रय करके रागी-द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्म के साथ युक्त हो जाने से परसमय होते हैं, परसमयरूप परिणमित होते हैं।

जो सकल विद्याओं की मूल, असंकीर्ण द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायों से सुस्थित, आत्मा के स्वभाव का आश्रय करके यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना में समर्थ होने से पर्यायमात्र के प्रति बल को दूर करके आत्मा के स्वभाव में ही स्थिति करते हैं; जिन्होंने सहज विकसित

मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहङ्कारममकारा अनेकापवरकसंचारितरत्नप्रदीपमिवैकरूपमेवात्मानमुपलभमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रीडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्य व्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलंबमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते।

अतः स्वसमय एवात्मनस्तत्त्वम्॥९४॥

अनेकान्तदृष्टि से समस्त एकान्तदृष्टि के परिग्रह के आग्रह नष्ट कर दिये हैं; वे मनुष्यादि गतियों में और उन गतियों के शरीरों में अहंकार-ममकार न करके अनेक कमरों में संचारित रत्नदीपक की भाँति आत्मा को एकरूप ही उपलब्ध करते हुए अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार को अंगीकार करके, जिसमें समस्त क्रियाकलाप से भेंट की जाती है, ऐसे मनुष्यव्यवहार का आश्रय नहीं करते हुए राग-द्वेष का उन्मेष रुक जाने से परम-उदासीनता का आलम्बन लेते हुए समस्त परद्रव्यों की संगति दूर कर देने मात्र से स्वद्रव्य के साथ ही संगतता होने से वास्तव में स्वसमय होते हैं अर्थात् स्वसमयरूप परिणमित होते हैं।

इसलिए स्वसमय ही आत्मतत्त्व है।''

इस गाथा का भाव आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही, पर अत्यंत संक्षेप में स्पष्ट करते हैं। उदाहरण भी अनेक कमरों में ले जानेवाले रत्नदीपक का ही देते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि वे यहाँ अहंकार और ममकार की परिभाषा देते हैं; जो इसप्रकार है– **''मनुष्यादि पर्यायरूप मैं हूँ – ऐसी परिणति को अहंकार कहते हैं और मनुष्यादि शरीर, पाँच इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा तज्जन्यसुख मेरे हैं – ऐसी परिणति ममकार है।''**

उक्त सम्पूर्ण कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्व-ममत्व रखनेवालों को ही मुख्यतः परसमय कहा गया है।

जो लोग इन गाथाओं की व्याख्या करते समय भी केवलज्ञानादि पर्यायों से भिन्नता पर बल देते हैं; उन्हें इन गाथाओं और उनकी टीकाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं इस बात पर विशेष बल दे रहे हैं कि जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीयद्रव्यपर्याय ही सकल अविद्याओं का मूल है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में जो कुछ भी विकृति हुई है, अविद्यारूप परिणमन हुआ है; उन सबका मूल असमानजातीयद्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि है, ममत्वबुद्धि ही है।

स्वसमय और परसमय का तुलनात्मक विवेचन समयसार की आत्मख्याति टीका, प्रवचन-

सार की तत्त्वप्रदीपिका टीका और पंचास्तिकाय की समयव्याख्या टीका के आधार पर समयसार अनुशीलन भाग-१ में बहुत विस्तार से इसप्रकार किया गया है –

"समयसार की दूसरी गाथा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है और प्रवचनसार में आत्मस्वभाव में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है।

इसीप्रकार समयसार में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित जीव को परसमय कहा गया है और प्रवचनसार में पर्यायों में निरत आत्मा को परसमय कहा गया है।

उक्त दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है, मात्र अपेक्षा भेद है। आत्मस्वभाव में स्थित होने का नाम ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण की पर्यायें जब आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमित होती हैं, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं; उसी को आत्मस्वभाव में स्थित होना कहते हैं और उसी को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना कहते हैं।

समयसार की आत्मख्याति टीका में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने का अर्थ मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकत्व स्थापित कर परिणमन करना किया है और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में पर्यायों में निरत का अर्थ करते हुए मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्वरूप से परिणमन करने पर विशेष बल दिया है।

तात्पर्य यह है कि परसमय की व्याख्या में समयसार की आत्मख्याति टीका में मोह-राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारी परिणामों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है, तो प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है।

आत्मख्याति में उपचरितसद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका में अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है। रागादि के साथ एकता की बात उपचरितसद्भूतव्यवहार कहता है और मनुष्यदेहादि के साथ एकता की बात अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहता है।

निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं; पर निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है और वे तीनों भेद चारित्र की पूर्णता-अपूर्णता के आधार पर घटित होते हैं; क्योंकि **सम्यग्दर्शन तो अपूर्ण होता ही नहीं।** चौथे गुणस्थान में ही क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है; सम्यग्ज्ञान भी सम्यक्-मिथ्या की

अपेक्षा सम्यक् ही होता है, पूर्ण सम्यक् ही होता है; भले केवलज्ञान नहीं है, पर सम्यक्पने में कोई अन्तर नहीं होता, कोई अपूर्णता नहीं होती।

अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में चारित्र का अंश चतुर्थ गुणस्थान में ही प्रकट हो जाता है और पूर्णता पूर्ण वीतराग होने पर ही होती है तथा सातवें गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान में निश्चयचारित्र होता है।

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय परिणत जीवों को निम्नांकित तीन भागों में रखा जाता है –

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाने से चतुर्थ गुणस्थानवाले जीव निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं। इस अपेक्षा तो चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सिद्ध तक सभी जीव स्वसमय ही हैं।

(२) आत्मध्यान में स्थित जीवों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो सातवें एवं सातवें गुणस्थान से ऊपर वाले जीव ही स्वसमय कहलायेंगे।

(३) यदि पूर्ण वीतरागियों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो बारहवें एवं बारहवें गुणस्थान से आगेवाले ही स्वसमय कहलायेंगे।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मिथ्यादृष्टि परसमय और सम्यग्दृष्टि से सिद्ध तक स्वसमय – यह अपेक्षा तो ठीक; पर जब मिथ्यादृष्टि को परसमय और पूर्ण वीतरागियों को स्वसमय कहेंगे तो फिर छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों (चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक) को क्या कहेंगे – स्वसमय या परसमय ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए पंचास्तिकाय की १६५वीं गाथा द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है–

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोखं परसमयरदो हवदि जीवो॥

'शुद्धसम्प्रयोग से दुःखों से मोक्ष होता है' – अज्ञान के कारण यदि ज्ञानी भी ऐसा माने तो वह परसमयरत जीव है।

इसी गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **यह सूक्ष्मपरसमय के स्वरूप का कथन है।** वे आगे लिखते हैं कि **यहाँ सिद्धि के साधनभूत अरहंतादि भगवन्तों के प्रति भक्तिभाव से अनुरंजित चित्तवृत्ति ही शुद्धसम्प्रयोग है। जब अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी 'उस शुद्धसम्प्रयोग से मोक्ष होता है' – ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ उसमें (शुद्धसम्प्रयोग में) प्रवर्ते तो तबतक वह भी रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत**

कहलाता है; तो फिर निरंकुश रागरूपक्लेश से कलंकित अंतरंगवृत्तिवाले इतर जन परसमयरत क्यों नहीं कहलायेंगे ?

उक्त गाथा और उसकी टीका – दोनों ही गंभीर मंथन की अपेक्षा रखती हैं। सबसे मुख्य बात तो यह है कि **'ज्ञानी भी अज्ञान से'** – यह गाथा का वाक्य एवं **'अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी'** यह टीका का वाक्य – ये दोनों ही वाक्य विरोधाभास-सा लिए हुए हैं। जब कोई व्यक्ति ज्ञानी है तो उसके अज्ञान कैसे हो सकता है ?

यद्यपि सम्यग्ज्ञानी के भी औदयिक अज्ञान होता है, अल्पज्ञानरूप अज्ञान होता है; तथापि इस अज्ञान के कारण परसमयपना संभव नहीं होता; क्योंकि यहाँ शुद्धसम्प्रयोग का अर्थ अरहंतादि की भक्ति से अनुरंजित चित्तवृत्ति किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि इससे मोक्ष होता है – ऐसे अभिप्राय के कारण परसमयपना है। अत: यह सिद्ध ही है कि यहाँ औदयिक अज्ञान की बात नहीं है।

यदि औदयिक अज्ञान की बात नहीं है और ज्ञानी के क्षायोपशमिक अज्ञान होता ही नहीं है तो फिर कौन-सा अज्ञान है ?

भाई, **यहाँ मुख्यरूप से तो मिथ्यादृष्टि को ही परसमय बताना है।** इसी बात पर वजन डालने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि जब अरहंत की भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है – इस अभिप्राय वाले भी जब परसमय कहे जाते हैं तो फिर विषय-कषाय में सुखबुद्धि से निरंकुश प्रवृत्ति करनेवाले तो परसमय होंगे ही।

वस्तुत: तो यहाँ चारित्र के दोष पर ही वजन है, श्रद्धा या ज्ञान के दोष पर नहीं; भले ही अज्ञान शब्द का प्रयोग किया हो, पर साथ ही ज्ञानी शब्द का भी प्रयोग है न ? तथा यह भी लिखा है कि रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत है। यहाँ 'रागलव के सद्भाव के कारण' – यह वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र को उन्हें परसमय कहने में संकोच का अनुभव हो रहा है। उनका यह संकोच इस रूप में व्यक्त हुआ है कि वे कहते हैं कि यह सूक्ष्मपरसमय का कथन है। यद्यपि गाथा में ऐसा कोई भेद नहीं किया है, तथापि अमृतचन्द्र टीका के आरम्भ में ही यह बात लिखते हैं।

'श्रद्धा के दोषवाले मिथ्यादृष्टि स्थूलपरसमय और चारित्र के दोषवाले सराग सम्यग्दृष्टि

सूक्ष्मपरसमय हैं' – इसप्रकार का भाव ही इसी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन ने व्यक्त किया है। उनके मूल कथन का भाव इसप्रकार है –

कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्मभावना लक्षणवाले परमोपेक्षासंयम में स्थित होने में अशक्त होता हुआ काम-क्रोधादि अशुद्ध (अशुभ) परिणामों से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति का छेद करने के लिए जब पंचपरमेष्ठी का गुणस्तवन करता है, भक्ति करता है; तब सूक्ष्मपरसमयरूप परिणमित होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि होता है और यदि शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है – ऐसा एकान्त से मानता है तो स्थूलपरसमयरूप परिणाम से स्थूल परसमय होता हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।

उक्त कथन में मिथ्यादृष्टि को स्थूलपरसमय और सराग सम्यग्दृष्टि को सूक्ष्मपरसमय कहा है। इससे यह सहज ही फलित होता है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि स्वसमय हैं।[1]''

इस गाथा में तो मुख्यरूप से यही कहा गया है कि देह और उसमें विद्यमान आत्मा को मिलाकर हम स्वयं को मनुष्य कहते हैं और जिनवाणी में भी व्यवहारनय से इन्हें एक कहा गया है। समयसार की २७वीं गाथा में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि देह और आत्मा को एक कहना तो मनुष्यव्यवहार है और देह में विद्यमान, पर देह से भिन्न आत्मा को अपना मानना-कहना आत्मव्यवहार है।

इस आत्मव्यवहार से अपरिचित जो प्राणी मनुष्यव्यवहार के आधार पर देहसंबंधी सम्पूर्ण क्रियाकलाप को छाती से लगाते हैं; धर्म मानकर उसका सेवन करते हैं, उक्त क्रियाकाण्ड करके स्वयं को धर्मात्मा समझते हैं; वे मिथ्यादृष्टि हैं, परसमय हैं।

आत्मा का व्यवहार तो चेतनाविलास में अविचल रहना है; इसप्रकार जो ज्ञानी जीव उक्त आत्मव्यवहार को ही अपनी क्रिया मानते हैं, उसे ही धर्मरूप स्वीकार करते हैं; अनेक कमरों में घूमनेवाले रत्नदीपक की भाँति आत्मा को एकमात्र चेतनाविलासरूप स्वीकार करनेवाले वे ज्ञानी धर्मात्मा स्वसमय हैं।

जिसप्रकार भिन्न-भिन्न कमरों में ले जाया गया रत्नदीपक रत्नदीपकरूप ही रहता है, कमरों को प्रकाशित करने के कारण कमरोंरूप नहीं हो जाता और न कमरों की क्रिया को करता है; उसीप्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों में रहनेवाला आत्मा आत्मारूप ही रहता है, वह किंचितूमात्र भी शरीररूप नहीं होता और न शरीर की क्रिया करता है।

---

[1] १. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ ३४ से ३८ तक

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति –

अपरिच्चत्त-सहावेणुप्पा-दव्वयधुवत्त-संबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।।९५।।

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद् द्रव्यमिति ब्रुवन्ति।।९५।।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि देह और आत्मा की एकरूप मनुष्यादि पर्यायों में अपनापन रखना अर्थात् अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रखना परसमयपना है और एकमात्र आत्मा में अपनापन रखना अर्थात् अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रखना स्वसमयपना है।।९४।।

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार द्रव्य-गुण-पर्याय की चर्चा से ही आरंभ हुआ है। इसमें यह कहा गया है कि पर्यायमूढ जीव परसमय हैं; इसकारण आरंभ में ही पर्यायों की चर्चा विस्तार से की गई है। इसी संदर्भ में पर्याय के द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय भेद भी किये गये और यह कहा गया **असमानजातीयद्रव्यपर्याय में एकत्व ही मुख्यत: परसमयपना है।**

अत: अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि द्रव्य क्या है, जिसकी पर्यायों में अपनापन परसमयपना, मिथ्यात्व है। इस शंका के समाधान के लिए आगामी गाथा में **द्रव्य का लक्षण बताते हैं, द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययध्रुवयुक्त गुण-
पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें।।९५।।

जो स्वभाव (सत्ता) को छोड़े बिना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य – इन तीन से तथा गुण और पर्याय – इन दो से सहित है; उसे द्रव्य कहते हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तीन सूत्र लिखे हैं; जो इसप्रकार हैं – **''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।[१] सद् द्रव्यलक्षणं।[२] गुणपर्ययवद् द्रव्यं।[३]''**

इनका अर्थ यह है कि सत् अर्थात् सत्ता द्रव्य का लक्षण है और वह सत्ता उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से युक्त होती है तथा द्रव्य, गुण और पर्यायवाला होता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र), अध्याय ५, सूत्र ३०, २९, ३८

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम्। तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तत्त्वं चेति। तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः।

गुणा विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात्। तत्रास्तित्वं नास्तिमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः। अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः।

पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः। न च तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्यायैर्वा सह द्रव्यं लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्तरीयवत्।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि महाशास्त्र **तत्त्वार्थसूत्र** और जिन-प्रवचन के सार इस प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में समागत परिभाषाओं में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है; तथापि प्रवचनसार की एक ही गाथा में तत्त्वार्थसूत्र के तीनों सूत्रों के भाव को समाहित कर लिया गया है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

‘‘स्वभावभेद किये बिना अर्थात् स्वभाव को छोड़े बिना उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – इन तीनों तथा गुण और पर्याय – इन दोनों से लक्षित द्रव्य है। द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व सामान्यरूप अन्वय है। अस्तित्व दो प्रकार का होता है – स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व।

प्रादुर्भाव (प्रगट होने) को उत्पाद, प्रच्युति (नष्ट होने) को व्यय और अवस्थिति (कायम रहने) को ध्रौव्य कहते हैं।

विस्तारविशेष को गुण कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं – सामान्यगुण और विशेषगुण।

अस्तित्व, नास्तित्व; एकत्व, अन्यत्व; द्रव्यत्व, पर्यायत्व; सर्वगतत्व, असर्वगतत्व; सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व; मूर्तत्व, अमूर्तत्व; सक्रियत्व, अक्रियत्व; चेतनत्व, अचेतनत्व; कर्तृत्व, अकर्तृत्व; भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं।

अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व और चेतनत्व आदि विशेष गुण हैं।

आयतविशेष को पर्याय कहते हैं। चार प्रकार की पर्यायों का प्रतिपादन विगत गाथाओं में हो चुका है। द्रव्य का उत्पादादि और गुण-पर्यायों से लक्ष्य-लक्षणभेद होने पर भी स्वभाव-

यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनांतरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते; न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते।

यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते; न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानतेन व्ययेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते।

यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बनमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते; न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमलम्बते; तथैव तदेव द्रव्यमप्येककालमुत्तराववस्थयो-

---

भेद नहीं है, स्वरूप भेद नहीं है; क्योंकि वस्त्र के समान द्रव्य स्वभाव से ही उत्पादादि और गुण-पर्यायों से युक्त होता है।

जिसप्रकार मलिन वस्त्र धोने पर निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उत्पाद से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार पूर्वावस्थारूप परिणत जो द्रव्य उचित बहिरंग साधनों के सान्निध्य में अनेकप्रकार की अवस्थायें धारण करता है; वह अंतरंग साधनभूत स्वरूपकर्ता और स्वरूपकारण के सामर्थ्यरूप स्वभाव से उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उत्पाद से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र निर्मल अवस्था से उत्पन्न और मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार वही द्रव्य उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है; परन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र एक ही समय में निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ और टिकनेवाली अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है; परन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूप से ही वह वैसा है;

त्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते; न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते।

यथैव च तदेवोत्तरीयं विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते; न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते; तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते; न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूप एव तथाविधत्वमवलम्बते।

यथैव च तदेवोत्तरीयमायतविशेषात्मकैः पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते; न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते; तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकैः पर्यायैर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते॥९५॥

उसीप्रकार वही द्रव्य एक ही समय उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्था से व्यय होता हुआ और टिकनेवाली द्रव्यत्व अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप शुक्लत्वादि गुणों से लक्षित होता है; किन्तु उसका उन गुणों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूप से ही वह वैसा है; उसीप्रकार वही द्रव्य विस्तार विशेष स्वरूप गुणों से लक्षित होता है; किन्तु उसका उन गुणों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र आयतविशेषस्वरूप पर्यायवर्ती तन्तुओं से लक्षित होता है; परन्तु उसका उन तन्तुओं के साथ स्वरूप भेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार वही द्रव्य आयतविशेषस्वरूप पर्यायों से लक्षित होता है; परन्तु उसका उन पर्यायों के साथ स्वरूप भेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका में दिये गये वस्त्र का उदाहरण को तो संक्षेप में देते ही हैं; साथ में शुद्धात्मा का भी उदाहरण देते हुए तत्त्वप्रदीपिका के समान ही इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ प्रत्येक द्रव्य के अस्तित्व को ही द्रव्य का लक्षण माना गया है और उक्त अस्तित्व में गुण-पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी समाहित हो जाते हैं। इस बात को भी स्पष्ट कर दिया गया है कि द्रव्य या उसके गुणों में जो उत्पादादिरूप परिणमन होता है, परिवर्तन होता है; वह अस्तित्वस्वभाव को छोड़े बिना ही होता है।

टीका में अस्तित्व के भेद स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व की भी चर्चा है और

सामान्य-विशेष गुण भी बताये गये हैं। वस्त्र के उदाहरण के माध्यम से यह भी समझाया गया है कि अस्तित्व अर्थात् गुण-पर्याय और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के साथ द्रव्य का स्वरूप भेद नहीं है। यद्यपि उनमें लक्ष्य-लक्षणभेद है; तथापि स्वरूपभेद नहीं है।

जो लोग स्वरूप और लक्षण को एक ही मान लेते हैं; उन्हें आचार्य अमृतचन्द्र के इस कथन का विशेष ध्यान देना चाहिए कि लक्षणभेद तो है, पर स्वरूपभेद नहीं है।

अस्तित्व सभी का एक है; अत: स्वरूपभेद नहीं है; पर सभी के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं; इसलिए लक्षणभेद है। उक्त सभी के लक्षण टीका में दिये ही गये हैं; अत: यहाँ विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

महासत्ता, सादृश्यास्तित्व का ही दूसरा नाम है और अवान्तरसत्ता, स्वरूपास्तित्व का।

अपने स्वभाव को छोड़े बिना – इस पद का अर्थ यह है कि वस्तु स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना सादृश्यास्तित्व में सम्मिलित है।

हम जैन भी हैं और दिगम्बर भी हैं; क्योंकि हम दिगम्बर जैन हैं। दिगम्बर और जैन – दोनों का एक साथ होने में कोई विरोध नहीं है। जिसप्रकार हम दिगम्बरत्व को छोड़े बिना जैनत्व में शामिल हैं; उसीप्रकार स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना हम सादृश्यास्तित्व में शामिल हैं।

इसप्रकार हम अवान्तरसत्ता और महासत्ता – दोनों से समृद्ध हैं; क्योंकि हम ज्ञानानन्दस्वभावी हैं। इसमें ज्ञानानन्दस्वभाव हमारी अवान्तरसत्ता है और 'हैं' अर्थात् अस्तित्व हमारी महासत्ता है।

हम चेतन होकर भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संयुक्त और गुणपर्याय से युक्त द्रव्य हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त और गुण-पर्यायों से लक्षित हमारी महासत्ता है और ज्ञानानन्दस्वभावी चेतनत्व से लक्षित होना हमारी अवान्तर सत्ता है। महासत्ता से हम सबसे जुड़े हैं और अवान्तरसत्ता की वजह से हमारा अस्तित्व पूर्णत: स्वतंत्र है।

इसप्रकार हमने स्वरूपास्तित्व को छोड़ा नहीं है; पर हम सादृश्यास्तित्व में भी शामिल हैं। हम ऐसी महासत्ता के अंश हैं, जिसमें स्वरूपास्तित्व को छोड़ना जरूरी नहीं है। मैं अपने स्वरूपास्तित्व में भी शामिल हूँ और सादृश्यास्तित्व में भी शामिल हूँ।

इसप्रकार सभी जीव द्रव्य सादृश्यास्तित्व एवं स्वरूपास्तित्व से युक्त हैं। सभी का अस्तित्व समान है। आप भी अनंतगुणवाले हो एवं मैं भी अनंतगुणवाला हूँ, पुद्गल भी अनंतगुणवाला है। आप भी गुणपर्याय से युक्त हैं एवं मैं भी गुणपर्याय से युक्त हूँ। महासत्ता की अपेक्षा हम, तुम – सभी एक हैं, एक से हैं; अत: इस अस्तित्व का नाम सादृश्यास्तित्व है।

अथ क्रमेणास्तित्वं द्विविधिमभिदधाति स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति तत्रेदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम् –

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।।९६।।

सादृश्य अर्थात् एक-सा होना। एक से होने में भी जगत में 'एक हैं' – ऐसा व्यवहार किया जाता है। हम सभी जैन एक हैं। हममें भी जैनत्व की श्रद्धा है और आपमें भी जैनत्व की श्रद्धा है। इसप्रकार हम कहना तो यही चाहते हैं कि 'हम एक से हैं।' परंतु सादृश्यास्तित्व की लोक में ऐसी भाषा है कि उसे 'एक हैं' – ऐसा ही कहा जाता है; क्योंकि यदि 'एक-सा' ऐसा कहते हैं तो उसमें भेद नजर आता है; परंतु 'एक' ऐसा कहने में एकता नजर आती है।

अतः हमें यह अपने ज्ञान में समझ लेना चाहिए कि हम जो ऐसा कह रहे हैं कि हम सब जैन एक हैं, हम सब भारतीय एक हैं – यह सब सादृश्यास्तित्व की विवक्षा से कहा जा रहा है।

यद्यपि हम सादृश्यास्तित्व की अपेक्षा से एक हैं; परंतु स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा से हम किसी से भी एक (अभेद) नहीं हैं। यह सादृश्यास्तित्व का जो कथन जिनागम में किया है, वह स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना है। **हमने अपनी मान्यता में उस स्वरूपास्तित्व को छोड़कर पर के साथ एकत्व स्थापित कर लिया है – यही मिथ्यादर्शन है, यही पर्यायमूढता है, परसमयपना है।**

सादृश्यास्तित्व अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा हम सब एक हैं। इसप्रकार परपदार्थों से हमारा 'हैं' का सम्बन्ध है, अस्तित्व का संबंध है; परंतु इसमें प्रत्येक का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है – यही स्वरूपास्तित्व है।।९५।।

विगत गाथा में द्रव्य की परिभाषा बताई गई है; जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि **अस्तित्व दो प्रकार का होता है – स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। अब इस गाथा में स्वरूपास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

गुण-चित्रमयपर्याय से उत्पादव्ययध्रुवभाव से।
जो द्रव्य का अस्तित्व है वह एकमात्र स्वभाव है।।९६।।

गुण और अनेकप्रकार की पर्यायों तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व सदाकाल है; वह वस्तुतः द्रव्य का स्वभाव है।

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ।।९६।।

अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततयाहेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद् द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्।

तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते। यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत्।

यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादिनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है और वह अस्तित्व अन्य साधनों से निरपेक्ष होने के कारण अनादि-अनंत होने से, अहेतुक एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवर्तित होने के कारण विभावधर्म से निरपेक्ष होने से, भाव और भाववानता के कारण अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व धारण करता हुआ अस्तित्व, द्रव्य का स्वभाव ही क्यों न हो?

तात्पर्य यह है कि अनादि-अनंत होने से, विभावधर्म से विलक्षण होने से और प्रदेशभेद न होने से अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव ही है।

जिसप्रकार वह अस्तित्व भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रत्येक में समाप्त हो जाता है; उसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रत्येक में समाप्त नहीं होता; क्योंकि उनकी सिद्धि परस्पर होती है। यदि एक न हो तो दूसरा भी सिद्ध नहीं होता; इसलिए उनका अस्तित्व सोने की भाँति एक ही है।

जिसप्रकार जो पीतत्वादि गुण और कुण्डलादि पर्यायें द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से सोनेरूप द्रव्य से पृथक् दिखाई नहीं देती; उन पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान सोने के अस्तित्व से उत्पन्न पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से जो सोने का अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव है;

यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः।

किंच – यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरूपेण कुंडलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तरस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः।

उसीप्रकार जो गुण और पर्यायें द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से द्रव्य से पृथक् दिखाई नहीं देते; उन गुणों और पर्यायों के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान द्रव्य के अस्तित्व से उत्पन्न गुणों और पर्यायों से जो द्रव्य का अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव है।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से जो सोना पीतत्वादि गुणों से और कुण्डलादि पर्यायों से पृथक् दिखाई नहीं देता; उस सोने के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से उत्पन्न सोने का मूल साधनपने सोने से निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से जो द्रव्य, गुणों और पर्यायों से पृथक् दिखाई नहीं देता, उस द्रव्य के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान गुणों और पर्यायों से उत्पन्न द्रव्य का मूल साधनपने द्रव्य से निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव है। इसप्रकार यहाँ गुण-पर्यायों से द्रव्य का और द्रव्य से गुण-पर्यायों का अस्तित्व सिद्ध किया गया है और उसे द्रव्य का स्वभाव बताया गया है।

जिसप्रकार सोने के उदाहरण से द्रव्य का और गुण-पर्यायों का एक ही अस्तित्व है – यह समझाया है; उसीप्रकार अब सोने के उक्त उदाहरण से ही यह समझाते हैं कि द्रव्य का और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भी एक ही अस्तित्व है और वह द्रव्य का स्वभाव है।

यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कातस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः ।।९६।।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से सोने से अपृथक् कर्ता-करण-अधिकरणरूप से कुण्डलादि उत्पादों के, वाजूबंदादि व्ययों के और पीतत्वादि ध्रौव्यों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्त्तमान सोने के अस्तित्व से निष्पन्न कुण्डलादि उत्पाद, बाजूबंदादि व्यय और पीतत्वादि ध्रौव्यों से जो सोने का अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव ही है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से द्रव्य से अपृथक् कर्ता-करण-अधिकरण से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्त्तमान द्रव्य के अस्तित्व से निष्पन्न उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों से जो द्रव्य का अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव ही है।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से कुण्डलादि उत्पादों, बाजू-बंदादि व्ययों और पीतत्वादि ध्रौव्यों से अपृथक् कर्ता-करण-अधिकरणरूप से सोने के स्वभाव को धारण करके प्रवर्त्तमान कुण्डलादि उत्पादों, बाजूबंदादि व्ययों और पीतत्वादि ध्रौव्यों से निष्पन्न सोने का मूल साधनपने से, उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव ही है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों से अपृथक् कर्ता-करण-अधिकरणरूप से द्रव्य के स्वभाव को धारण करके प्रवर्त्तमान उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों से निष्पन्न द्रव्य का मूल साधनपने से उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है; वह द्रव्य का स्वभाव ही है।''

उक्त टीका का संक्षिप्त सार यह है कि द्रव्य और अस्तित्व में प्रदेशभेद नहीं है। वह अस्तित्व अनादि-अनंत है, अहेतुक एकरूप परिणति से सदा परिणमित होता है; इसलिए विभाव धर्म से भिन्न है। ऐसा होने से वह अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव ही है।

इसीप्रकार गुण-पर्यायों और द्रव्य का अस्तित्व भी एक ही है, अभेद ही है; क्योंकि गुण-पर्यायें द्रव्य से ही निष्पन्न होती हैं और द्रव्य गुण-पर्यायों से निष्पन्न होता है।

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति –

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं।।९७।।

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम्।
उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम्।।९७।।

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्त्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता

इसीप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का और द्रव्य का अस्तित्व भी एक ही है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से ही निष्पन्न होते हैं और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों से ही निष्पन्न होता है।

इसप्रकार इस गाथा में स्वरूपास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि स्वरूपास्तित्व प्रत्येक द्रव्य में अपना-अपना स्वतंत्र है। तात्पर्य यह है कि हम किसी महासत्ता के अंश नहीं हैं, अपितु हमारी सत्ता पूर्णत: हम में ही है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देनेयोग्य है कि जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की सत्ता पूर्णत: स्वतंत्र है; उसीप्रकार एक द्रव्य के अन्तर्गत होनेवाले गुणों की, प्रदेशों की और पर्यायों की सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है, अपितु एक ही है। **तात्पर्य यह है द्रव्य, उसके गुण और उनकी पर्यायों में प्रदेशभेद नहीं हैं।।९६।।**

विगत गाथा में स्वरूपास्तित्व की चर्चा की गई; अब इस गाथा में **सादृश्यास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

रे सर्वगत सत् एक लक्षण विविध द्रव्यों का कहा।
जिनधर्म का उपदेश देते हुए जिनवरदेव ने।।९७।।

जिनवरवृषभ ने धर्म का उपदेश करते हुए इस विश्व में विविध लक्षण वाले द्रव्यों का 'सत्' ऐसा सर्वगत एक लक्षण कहा है।

तात्पर्य यह है कि अपने-अपने स्वरूपास्तित्व से सम्पन्न सभी द्रव्यों को मिलाकर एक लक्षण सत् (सादृश्यास्तित्व) है। ऐसा जिनवरदेव ने कहा है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यद्यपि इस लोक में विचित्रता से विस्तारित सभी द्रव्य अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त रहकर

विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्त्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोधव्यम्। एवं सदित्यभिधानं सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात्।

यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात्। तत्तु विप्रतिषिद्धमेव प्रसाध्यं चैतदनोकहवत्।

यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहानामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियते। तथा बहूनां बहुविधानां द्रव्याणामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति।

यथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैक-

---

अपनी-अपनी सीमा में रहते हुए विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित होते हैं; तथापि सभी द्रव्यों का विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ, सभी द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहनेवाला, प्रत्येक द्रव्य की सीमा की उपेक्षा करता हुआ 'सत्' ऐसा जो सर्वग्राह्य सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्व है, वह वस्तुत: एक ही होता है। इसप्रकार 'सत्' ऐसा वचन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थों का स्मरण करानेवाला (सर्वपदार्थपरामर्शी) है।

यदि वह सभी पदार्थों का स्मरण करानेवाला (सर्वपदार्थपरामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत्, कोई सत्-असत् और कोई अवाच्य होना चाहिए; किन्तु यह तो विरुद्ध ही है; क्योंकि 'सत्' – ऐसे वचन और 'सत्' – ऐसे ज्ञान के सर्वपदार्थपरामर्शी होने की बात वृक्ष की भाँति सिद्ध होती है।

जिसप्रकार अनेकप्रकार के बहुत से वृक्षों के अपने-अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाले अनेकत्व को सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्पन्न होनेवाला एकत्व तिरोहित कर देता है; उसीप्रकार अनेक प्रकार के बहुत से द्रव्यों के अपने-अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाले अनेकत्व को, सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पने से उत्पन्न होनेवाला एकत्व तिरोहित कर देता है।

जिसप्रकार इन्हीं वृक्षों के विषय में सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्पन्न होनेवाले एकत्व से तिरोहित होने पर भी अपने-अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के

त्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठान्नानात्वमुच्चवाकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तिवस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति ॥९७॥

अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाला अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों के विषय में भी सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पने से उत्पन्न होनेवाले एकत्व से तिरोहित होने पर भी अपने-अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाला अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिसप्रकार आम, अशोक आदि अनेकप्रकार के अनेक वृक्षों का अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है; इसलिए स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा उनमें अनेकत्व (भिन्नत्व) है; फिर भी सभी वृक्षों में समानरूप से पाये जानेवाले वृक्षत्व की अपेक्षा सभी वृक्षों में एकत्व (अभिन्नत्व) है। जब इस एकत्व अर्थात् सादृश्यास्तित्व को मुख्य करते हैं तो अनेकत्व (स्वरूपास्तित्व) गौण हो जाता है।

इसीप्रकार जीव, पुद्गल आदि अनेकप्रकार के अनेक द्रव्यों का अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है; इसलिए स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा उनमें अनेकत्व (भिन्नत्व) है; फिर भी सभी द्रव्यों में समानरूप से पाये जानेवाले द्रव्यत्व की अपेक्षा सभी द्रव्यों में एकत्व (अभिन्नत्व) है। जब इस एकत्व अर्थात् सादृश्यास्तित्व को मुख्य करते हैं तो अनेकत्व (स्वरूपास्तित्व) गौण हो जाता है।

इसप्रकार जब सामान्य सत्पने की मुख्यता से लक्ष में लेने पर सभी द्रव्यों के एकत्व की मुख्यता होने से अनेकत्व गौण हो जाता है; तब भी वह अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है।

आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को सिद्ध भगवान, सेना और वन के उदाहरण से इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि **जिसप्रकार मुक्तात्मा कहने से सभी सिद्धों का ग्रहण हो जाता है; सेना कहने पर घोड़ा, हाथी आदि पदार्थों का और वन कहने पर नीम, आम आदि वृक्षों का ग्रहण हो जाता है; उसीप्रकार 'सभी सत् हैं' – ऐसा कहने पर संग्रहनय से सभी पदार्थों का ग्रहण हो जाता है, सादृश्यास्तित्व नामक महासत्ता का ग्रहण हो जाता है।**

उक्त कथन का सार यह है कि सत्ता दो प्रकार की है – अवान्तरसत्ता और महासत्ता। अवान्तरसत्ता स्वरूपास्तित्व है; जो प्रत्येक द्रव्य में पृथक्-पृथक् है और उसके प्रदेशों, गुणों और पर्यायों में व्याप्त है।

5461

महासत्ता वह सत्ता है, जो सामान्यरूप से सभी द्रव्यों में व्याप्त है, उनके गुण-पर्यायों में व्याप्त है। इसे सादृश्यास्तित्व भी कहते हैं।

इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि हमें अपना अपनत्व स्वरूपास्तित्व में रखना है, सद्दशता के आधार पर सभी पदार्थों में नहीं।

स्वरूपास्तित्व में द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर एक इकाई बनाई गई है।

यह समयसार में वर्णित इकाई नहीं है; जिसमें द्रव्य से पर्याय को भिन्न कहा गया है, प्रदेशभेद एवं गुणभेद को भी भिन्न कहा गया है। यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर एक इकाई है, जिसे स्वरूपास्तित्व कहा गया है।

प्रश्न – हमसे अतिरिक्त जो द्रव्य हैं, उनके साथ हमारी जो एकता की कल्पना है, वह किस आधार पर है, उसमें क्या हेतु है ?

उत्तर – इसमें हेतु मात्र इतना ही है कि वे भी हैं और हम भी हैं; इसप्रकार मात्र अस्तित्व का हेतु है। इसप्रकार मात्र 'है' की रिश्तेदारी है। मेरे और गधे के सींग में कोई संबंध नहीं है; क्योंकि गधे के सींग की न तो अवान्तरसत्ता है और न ही महासत्ता है; क्योंकि वह है ही नहीं और मैं हूँ। इसप्रकार तुम भी हो और मैं भी हूँ – इसप्रकार यहाँ 'है' का संबंध है।

अब आचार्य कह रहे हैं कि जिसने मात्र अस्तित्व संबंध के आधार पर स्वरूपास्तित्व को भूलकर किसी पर से अपनापन स्थापित कर लिया; वह मिथ्यादर्शन का धारी मिथ्यादृष्टि है।

समयसार में यह बताया था कि साद्दश्यास्तित्व के आधार पर स्वरूपास्तित्व को भूलकर पर से संबंध स्थापित कर लेना मिथ्यात्व है तथा प्रवचनसार में यह बताया जा रहा है कि उससे मिथ्यात्व न हो जाय – इस डर से उस महासत्तावाले तथ्य से इन्कार करना भी मिथ्यादर्शन ही है।

महासत्ता से लेकर अवान्तरसत्ता के मध्य अनन्त सत्ताएँ हैं। 'हम सब एक हैं' – इसमें शुद्धमहासत्ता की अपेक्षा है। इसके पश्चात् 'हम सब मनुष्य हैं' – इसमें भी अशुद्धमहासत्ता की अपेक्षा है।

'हम सब ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हैं' – यह भी महासत्ता ही है, साद्दश्यास्तित्व ही है। अवान्तरसत्ता अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के बाहर नहीं निकलती है; जबकि महासत्ता में सबको शामिल किया गया है। इसप्रकार महासत्ता और अवान्तरसत्ता के मध्य अगणित सत्ताएँ हैं। जिसमें सबकुछ आ जाय, वह शुद्धमहासत्ता है और जिसमें सबकुछ तो न आवे; पर बहुतकुछ आ जाय; वह अशुद्धमहासत्ता है। 'हम सब हैं' यह शुद्धमहासत्ता का उदाहरण है और 'हम सब मनुष्य हैं' – यह अशुद्धमहासत्ता का उदाहरण है।

शुद्धसंग्रहनय में शुद्धमहासत्ता की विवक्षा है और अशुद्धसंग्रहनय में अशुद्धमहासत्ता की विवक्षा है। ऋजुसूत्रनय मात्र अवान्तरसत्ता को ग्रहण करता है। व्यवहारनय शुद्धमहासत्ता में तबतक भेद करता है कि जबतक अवान्तरसत्ता तक न पहुँच जावें। इसीप्रकार संग्रहनय अवान्तर सत्ताओं का तबतक संग्रह करता है कि जबतक शुद्ध महासत्ता तक न पहुँच जावें।

ये संग्रहनय और व्यवहारनय परस्पर विरुद्ध कार्य करनेवाले भी हैं और एक-दूसरे के पूरक भी हैं। व्यवहारनय हमें शुद्धमहासत्ता से अवान्तरसत्ता तक लाता है और संग्रहनय अवान्तरसत्ता से शुद्ध महासत्ता तक ले जाता है। इस प्रक्रिया से वस्तु के स्वरूप की जानकारी निर्मल होती है।

ध्यान रहे यह व्यवहारनय निश्चय-व्यवहारवाला व्यवहारनय नहीं है; यह तो नैगमादि सप्त नयों में आनेवाला व्यवहारनय है। इस व्यवहारनय का जोड़ा निश्चयनय से नहीं है; अपितु संग्रहनय से है।

'हम सब एक हैं' - ऐसा कहा, इसमें 'हैं' के आधार पर शुद्ध महासत्ता है अर्थात् इसमें सब सन्मात्र के आधार पर एक हो गए हैं। फिर 'चेतन' ऐसा भेद किया है, उसमें चेतनता भी महासत्ता का ही भेद है, इसमें अवान्तर सत्ता नहीं है; क्योंकि चेतनता सब जीवों में है; जबकि दो जीवों की अवान्तरसत्ता पृथक्-पृथक् है। मेरी चेतना अलग है एवं आपकी चेतना अलग है; इसप्रकार हम अवान्तरसत्ता तक तो आए नहीं। यह तो मात्र जीवत्व एवं द्रव्यत्व की पहचान है। यहाँ 'स्व' की पहचान नहीं है।

'जीवत्व' यह मेरी पहचान नहीं है। जीवत्व इस लक्षण में अनंत जीव समाहित होते हैं। फिर जीव से अलग होकर 'मनुष्य' पर आए; मनुष्य देवों तथा नारकियों से पृथक् हैं; किन्तु मनुष्य भी २९ अंकप्रमाण हैं। इन सभी को 'मनुष्य' इस महासत्ता में समाहित कर लिया; इसलिए यह शुद्ध नहीं है; यह अशुद्धमहासत्ता है।

वस्तुतः हम महासत्ता से अवान्तरसत्ता अर्थात् सादृश्यास्तित्व से स्वरूपास्तित्व तक आएँ, अपने अस्तित्व तक आएँ; ऐसी स्थिति में जितने भी संबंध स्थापित होंगे, वे सब सदृशता के आधार पर स्थापित होने के कारण महासत्ता के आधार पर ही स्थापित होंगे।

यह सब शुद्धमहासत्ता तथा अशुद्धमहासत्ता के आधार पर ही होता है।

स्वरूपास्तित्व के अतिरिक्त कोई भी हमारा नहीं है। इसे छोड़कर सभी संबंध असद्भूत हैं।

पर के साथ में हमारा जो महासत्ता संबंधी संबंध है; उससे इन्कार कर देना भी मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के छूटे बिना अन्य मिथ्यात्व छूटेगा ही नहीं।

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति –

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो ही परसमओ ।।९८।।

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः।
सिद्धं तथा आगमतो नेच्छति यः स हि परसमयः ।।९८।।

इस महासत्ता की ओर किसी का भी ध्यान नहीं है। आज तो सभी स्वरूपास्तित्व अर्थात् एक आत्मद्रव्य के भीतर जो गुण-पर्याय के भेद हैं, उन्हीं में उलझ कर रह गये हैं। सभी लोग भगवान आत्मा के स्वरूपास्तित्व के अन्दर ही स्व-पर भेद करने में जुटे हैं।

अरे भाई ! जो प्रदेशभेद, गुणभेद और पर्यायों से पृथकता की बात है, वह तो विकल्पों की उत्पत्ति न हो – इस अपेक्षा से कही गई है। वह तो प्रयोजनवश किया गया कथन है; वस्तु का मूलस्वरूप तो स्वरूपास्तित्व की मर्यादा में ही है।

यह तो आप जानते ही हैं कि स्वरूपास्तित्व में एक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय – सभी समाहित हो जाते हैं ।।९६-९७।।

विगत ९६-९७वीं गाथाओं में स्वरूपास्तित्व (अवान्तरसत्ता) और सादृश्यास्तित्व (महासत्ता) का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस ९८वीं गाथा में यह बताते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वतःसिद्ध और सत् स्वभाव से ही है। तात्पर्य यह है कि किसी द्रव्य की उत्पत्ति अन्य द्रव्य से नहीं होती और अस्तित्व द्रव्य से भिन्न नहीं है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्वभाव से ही सिद्ध सत् जिन कहा आगमसिद्ध है।
यह नहीं माने जीव जो वे परसमय पहिचानिये ।।९८।।

'द्रव्य स्वभाव से सिद्ध और सत् है' – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो इसे नहीं मानता, वह वस्तुतः परसमय है।

गाथा में द्रव्य को स्वभाव से सत् और सिद्ध कहा है। **इसमें 'सिद्ध' शब्द का अर्थ 'मुक्त' नहीं है; अपितु यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही निर्मित है, वह किसी का निर्माण नहीं है अर्थात् किसी से निर्मित नहीं है।** वह अनादि-अनंत स्वतःसिद्ध अकृत्रिम पदार्थ है और उसका अस्तित्व भी स्वयं से ही है।

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते। गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते।

यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः; द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्।

अथैवं यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत एव सिद्धमित्यवधार्यताम्। सत्तात्मनात्मनः स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात्। न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्यते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात्।

सतः सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धस्यादर्शनात् अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपपद्यते।

इहेदमितिप्रतीतेरुत्पद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीदमिति प्रतीतिः।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''वस्तुतः बात यह है कि द्रव्यों से किसी अन्य द्रव्य का आरंभ (उत्पत्ति) नहीं होता; क्योंकि सभी द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध हैं; अनादिनिधन होने से सभी द्रव्यों का स्वभावसिद्धत्व सिद्ध ही है; क्योंकि अनादिनिधन पदार्थ अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखते। सभी पदार्थ मूल साधन के रूप में अपने गुण-पर्यायात्मक स्वभाव के कारण स्वयमेव सिद्ध हैं।

जो द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, वे अन्य द्रव्य (द्रव्यांतर) नहीं हैं; सदा नहीं होने से, कभी-कभी होने से वे तो द्विअणुक आदि व मनुष्यादि पर्यायों के समान पर्यायें हैं; क्योंकि द्रव्य तो निरवधि त्रिकाली होने से उत्पन्न ही नहीं होते।

द्रव्य जिसप्रकार स्वभाव से सिद्ध है; उसीप्रकार वह स्वभाव से ही सत् भी है; क्योंकि वह अपने सत्तास्वरूप स्वभाव से निष्पन्न है – ऐसा निश्चित करना चाहिए। जिसके समवाय से द्रव्य सत् हो – ऐसी अन्य द्रव्यरूप कोई सत्ता नहीं है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं –

पहली बात तो यह है कि डंडा और डंडी (डंडेवाला पुरुष) में जिसप्रकार की युतसिद्धता (दो पदार्थों का जुड़ना) पाई जाती है; उसप्रकार की युतसिद्धता सत् द्रव्य और सत्ता गुण में नहीं पाई जाती; इसलिए सत्ता और द्रव्य में अर्थान्तरत्व नहीं है। दूसरे सत्ता और द्रव्य में अयुतसिद्धता से भी अर्थान्तरत्व नहीं बनता।

भेदनिबन्धनेति चेत् को नाम भेदः। प्रादेशिक अताद्भाविको वा। न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात्। अताद्भाविकश्चत उपपन्न एव यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात्। अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्।

तथाहि – यदैव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदैव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति। यदा तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्यं तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविधं द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यतः समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति। एवं हि भेदे निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति। तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति। ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते।

यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति। तस्यामुन्मज्जत्यामयुत-

'इसमें यह है' अर्थात् 'द्रव्य में सत्ता है' – ऐसी प्रतीति के कारण अर्थान्तरत्व बन जायेगा – यदि कोई यह कहे तो उससे पूछते हैं कि 'इसमें यह है' – ऐसी प्रतीति किसके आश्रय से होती है? यदि ऐसा कहा जाय कि भेद के आश्रय से होती है अर्थात् द्रव्य और सत्ता में भेद है, इसकारण होती है। वह कौनसा भेद है – प्रादेशिक या अताद्भाविक ?

प्रादेशिक भेद तो है नहीं; क्योंकि युतसिद्धत्व पहले ही निरस्त कर दिया गया है। प्रदेशभेद तो युतसिद्धों में ही होता है।

यदि अताद्भाविक भेद कहा जाय तो ठीक ही है; क्योंकि ऐसा तो शास्त्र का भी वचन है। शास्त्रों में भी कहा है कि जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है; परन्तु यह अताद्भाविक भेद एकान्त से 'इसमें यह है' – ऐसी प्रतीति का कारण नहीं है; क्योंकि वह अताद्भाविक भेद स्वयं ही उन्मग्न-निमग्न होता है।

जब पर्यायार्थिकनय से देखा जाय, तब ही 'यह शुक्ल वस्त्र है, इसका शुक्लत्व गुण है' इसप्रकार गुणवाला यह द्रव्य है, यह इसका गुण है – इसप्रकार अताद्भाविक भेद उन्मग्न (उदित) होता है; परन्तु जब द्रव्यार्थिकनय से देखा जाय, तब जिसके समस्त गुणवासना के उन्मेष अस्त हो गये हैं – ऐसे उस जीव को 'शुक्ल वस्त्र ही है' इत्यादि की भाँति ऐसा द्रव्य ही है' – इसप्रकार देखने पर अताद्भाविक भेद समूल ही निमग्न (अस्त) हो जाता है।

उसके निमग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरपना निमग्न होता है; इसलिए समस्त ही एक द्रव्य होकर रहता है।

जब भेद उन्मग्न होता है तो उसके आश्रय से उत्पन्न होती हुई प्रतीति उन्मग्न होती।

सिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति। तदापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात्। एवं सति स्वयमेव सद्द्रव्यं भवति। यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥९८॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्यं भवतीति विभावयति –

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥९९॥

उसके उन्मग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरपना उन्मग्न होता है; तब भी द्रव्य के पर्यायरूप से उन्मग्न होने से, जिसप्रकार जलराशि से जलतरंगे व्यतिरिक्त (भिन्न) नहीं हैं; उसीप्रकार द्रव्य से गुण व्यतिरिक्त नहीं हैं। इससे यह निश्चित हुआ कि द्रव्य स्वयमेव सत् है। जो ऐसा नहीं मानता, वह वस्तुतः परसमय (मिथ्यादृष्टि) ही है।''

इसप्रकार इस गाथा में यह बताया गया है कि प्रत्येक पदार्थ अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगा। उसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई उसका नाश कर सकता है। वस्तुतः बात यह है कि द्रव्य की तो उत्पत्ति ही नहीं होती। जो उत्पन्न और नष्ट होती हैं, वे तो पर्यायें हैं।

सत् अर्थात् सत्ता द्रव्य का लक्षण है और वह द्रव्य स्वतःसिद्ध है। वह सत् अर्थात् सत्ता द्रव्य से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। द्रव्यार्थिक नय से अभिन्न है और पर्यायार्थिक नय से भिन्न है। जो व्यक्ति उक्त वस्तुस्वरूप को स्वीकार नहीं करता; वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, परसमय है। इसप्रकार यहाँ यही स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पदार्थ स्वभाव से सत् है और सिद्ध है अर्थात् स्वयं से सिद्ध है, अकृत्रिम है ॥९८॥

विगत गाथा में कहा गया है कि द्रव्य स्वभाव से ही सत् है और स्वतःसिद्ध है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि स्वभाव में अवस्थित होने से द्रव्य सत् है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन द्रव्य का स्वभाव है।

तात्पर्य यह है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य सत् है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्वभाव में थित द्रव्य सत् सत् द्रव्य का परिणाम जो।
उत्पादव्ययध्रुवसहित है वह ही पदार्थस्वभाव है ॥९९॥

सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यस्य यो हि परिणामः।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसंभवनाशसंबद्धः ।।९९।।

इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम्। स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः।

यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्यापि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः।

यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः, तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः।

यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चसंभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मान धारयन्ति; तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति।

स्वभाव में अवस्थित होने से द्रव्य सत् है। द्रव्य का परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है, वह पदार्थों का स्वभाव है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“सदा स्वभाव में ठहरा होने से द्रव्य सत् है और द्रव्य का स्वभाव ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय की एकतारूप परिणाम है।

जिसप्रकार द्रव्य का वास्तु समग्रपने एक होने पर भी, विस्तारक्रम में प्रवर्त्तमान उसके जो सूक्ष्म अंश हैं, वे प्रदेश हैं; उसीप्रकार द्रव्य की वृत्ति समग्रपने एक होने पर भी, प्रवाहक्रम में प्रवर्त्तमान उसके जो सूक्ष्म अंश हैं, वे परिणाम हैं।

जिसप्रकार विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है; उसीप्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का परस्पर व्यतिरेक है।

जिसप्रकार वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं; उसीप्रकार वे परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं।

यथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः, स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयातदुभयात्मक इति; तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः, स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयातदुभयात्मक इति एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम्, मुक्ताफलदामवत्।

यथैव हि परिगृहीतद्राघाम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति; तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥९९॥

जिसप्रकार वास्तु का छोटे से छोटा अंश पूर्वप्रदेश के विनाशस्वरूप है, बाद के प्रदेश के उत्पादस्वरूप है तथा परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने अनुभयस्वरूप है। उसीप्रकार प्रवाह का छोटे से छोटा अंश पूर्वपरिणाम के विनाशस्वरूप है, बाद के परिणाम के उत्पादस्वरूप है तथा परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने अनुभयस्वरूप है।

इसप्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में प्रवर्त्तमान द्रव्य, स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता; इसलिए सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए – मोतियों के हार की भाँति।

जिसप्रकार जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है – ऐसे लटकते हुए मोतियों के हार में, अपने-अपने स्थानों में प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रगट होते हैं और पहले-पहले के मोती प्रगट नहीं होते – इसकारण तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचयिता सूत्र अवस्थित होने से त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

उसीप्रकार जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे परिणमित द्रव्य में, अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित (प्रगट) होते हुए समस्त परिणामों में, पीछे-पीछे के अवसरों पर पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं और पहले-पहले के परिणाम नहीं प्रगट होते हैं – इसकारण तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचनेवाला प्रवाह अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।''

यहाँ यह कहा गया है कि जिसप्रकार द्रव्य के विस्तार का छोटे से छोटा अंश प्रदेश है; उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटें से छोटा अंश परिणाम है।

प्रत्येक परिणाम स्वकाल में अपने रूप से उत्पन्न होता है, पूर्वरूप से नष्ट होता है और सर्व परिणामों में एकप्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश से रहित एकरूप ध्रुव रहता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समय-भेद नहीं है, तीनों ही एक ही समय में हैं – ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामों की परम्परा में द्रव्य, स्वभाव से ही सदा रहता है; इसलिए द्रव्य स्वयं भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को मुक्तात्मा (सिद्धजीव) पर घटित करके समझाते हैं। अन्त में लिख देते हैं कि जिसप्रकार यह परमात्म द्रव्य एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से परिणमित होता हुआ ही सत्तालक्षणवाला कहा गया है; उसीप्रकार सभी द्रव्य एक ही समय में उत्पादादिरूप से परिणमित होते हुए सत्तालक्षणवाले हैं – यह अर्थ है।

उक्त कथन से क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है। यह सुनिश्चित होता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस विधि से, जिससमय होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी विधि से, उसी समय उत्पन्न होगी; आगे-पीछे नहीं।

उक्त सन्दर्भ में 'क्रमबद्धपर्याय' नामक पुस्तक का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है –

"उक्त प्रकरण में 'सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाह' वाक्य जो कि अनेक बार आया है, ध्यान देनेयोग्य है तथा मोतियों के हार के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जिसप्रकार हार में मोतियों का क्षेत्र अपने क्रम में नियमित है; उसीप्रकार झूलते हुए हार में उनके प्रगटने का काल भी नियमित है। जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में उसके प्रदेश (क्षेत्र) का विस्तार नियमित (निश्चित) हैं; उसीप्रकार उसका कालप्रवाह भी नियमित अर्थात् निश्चित है।

यहाँ क्षेत्र के नियमितक्रम के माध्यम से काल (पर्याय) संबंधी नियमितक्रम को स्पष्ट किया गया है; क्योंकि क्षेत्र संबंधी क्रमनियमितता आसानी से समझी जा सकती है।

जिसप्रकार द्रव्य को सम्पूर्ण विस्तारक्षेत्र से लक्ष्य में लिया जाय तो उसका सम्पूर्ण क्षेत्र एक ही है; उसीप्रकार द्रव्य को तीनों काल के परिणामों को एकसाथ लक्ष्य में लेने पर उसका काल त्रैकालिक एक है। फिर भी जिसप्रकार क्षेत्र में एक नियमित प्रदेशक्रम है, विस्तारक्रम है; उसीप्रकार काल (पर्याय) में भी पर्यायों का एक नियमित पर्यायक्रम, प्रवाहक्रम है।

जिसप्रकार द्रव्य के विस्तारक्रम का अंश प्रदेश है; उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाहक्रम का अंश पर्याय है। यद्यपि यह कथन सम्पूर्ण द्रव्यों की अपेक्षा से है; पर यहाँ विस्तारक्रम को यदि आकाश द्रव्य की अपेक्षा समझें तो सुविधा रहेगी। जिसप्रकार अनन्तप्रदेशी आकाश का जो प्रदेश जहाँ स्थित है; वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है; उसीप्रकार

सभी द्रव्यों में प्रदेशों का क्रम नियिमत है। यही बात यहाँ मोतियों के हार के दृष्टान्त से स्पष्ट की गई है कि मोतियों के हार में जो मोती जहाँ स्थित है, उसका स्थानक्रम परिवर्तन सम्भव नहीं है।

यद्यपि आकाश अचल (निष्क्रिय) द्रव्य है और जीव और पुद्गल सचल (सक्रिय) द्रव्य हैं; तथापि झूलते हुए हार की बात कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिसप्रकार झूलते हुए हार में भी मोतियों का स्थानक्रम नहीं बदल जाता; उसीप्रकार सक्रिय जीवों में प्रदेशों का क्रम नहीं पलटता। जिसप्रकार आकाशादि द्रव्यों का विस्तारक्रम नियमित है; उसीप्रकार उनका प्रवाहक्रम भी नियमित है। जिसप्रकार नियमित विस्तारक्रम में फेरफार सम्भव नहीं है; उसीप्रकार नियमित प्रवाहक्रम में भी फेरफार सम्भव नहीं है। जिसप्रकार प्रत्येक प्रदेश का स्वस्थान निश्चित है; उसीप्रकार प्रत्येक परिणाम (पर्याय) का स्वकाल भी निश्चित है।

जिसप्रकार सिनेमा की रील में लम्बाई है, उस लम्बाई में जहाँ जो चित्र स्थित है। वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है; उसीप्रकार चलती हुई रील में कौन-सा चित्र किस क्रम से आएगा यह भी निश्चित है, उसमें भी फेरफार सम्भव नहीं है। आगे कौन-सा चित्र आएगा – भले ही इसका ज्ञान हमें न हो, पर इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आयेगा तो वह अपने नियमितक्रम में ही।

जैसे सोपान (जीना) पर सीढियों का क्षेत्र अपेक्षा एक अपरिवर्तनीय निश्चितक्रम होता है; उसीप्रकार उन पर चढने का अपरिवर्तनीय कालक्रम भी होता है। जिसप्रकार उन पर क्रम से ही चला जा सकता है; उसीप्रकार उन पर चढने का कालक्रम भी है।

जिसप्रकार जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक जीव के प्रदेश हैं; उसीप्रकार तीनकाल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं। एक-एक समय की एक-एक पर्याय निश्चित है। जिसप्रकार लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु खचित है; उसीप्रकार तीनों काल के एक-एक समय में प्रत्येक द्रव्य की एक-एक पर्याय खचित है। गुणों की अपेक्षा से विचार करें तो तीनों कालों के एक-एक समय में प्रत्येक गुण की एक-एक पर्याय भी खचित है।

इसप्रकार जब प्रत्येक पर्याय स्वसमय में खचित है, निश्चित है; तो फिर उसमें अदला-बदली का क्या काम शेष रह जाता है ? इस सन्दर्भ में टीका में समागत यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है कि **'प्रत्येक परिणाम अपने-अपने अवसर पर ही प्रगट होता है।'**

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्पराविनाभावं दृढयति –

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण।।१००।।

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति संभवविहीनः।
उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेन।।१००।।

न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः, सर्गसंहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः; यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति।

इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, जिस कारण से होनी है; वह तदनुसार ही होती है।[1]”

इसप्रकार इस गाथा में यही बताया गया है कि प्रत्येक पदार्थ का प्रदेशक्रम और पर्यायक्रम पूर्णतः सुनिश्चित है। यदि इस सन्दर्भ में विशेष जिज्ञासा हो तो लेखक की अन्य कृति क्रमबद्धपर्याय का स्वाध्याय करना चाहिए।।९९।।

विगत गाथा में यह बताया गया है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का स्वभाव है; अब इस १००वीं गाथा में यह बताया जा रहा है कि **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में अविनाभाव है। तात्पर्य यह है कि ये तीनों एक साथ ही रहते हैं; एक के बिना दूसरा नहीं रहता।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

भंगबिन उत्पाद ना उत्पाद बिन ना भंग हो।
उत्पाद-व्यय हो नहीं सकते एक ध्रौव्य पदार्थ बिन।।१००।।

उत्पाद, भंग (व्यय) बिना नहीं होता और भंग, उत्पाद बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय, ध्रौव्य के बिना नहीं होते।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“वस्तुतः बात यह है कि सर्ग (उत्पाद) संहार (व्यय) के बिना नहीं होता और संहार सर्ग के बिना नहीं होता। इसीप्रकार सृष्टि (उत्पाद) और संहार, स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते और स्थिति, सर्ग और संहार के बिना नहीं होती। अधिक क्या कहें – जो सर्ग है,

---

[1] डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ २२-२४

तथाहि – य एव कुम्भस्य सर्गः, स एव मृत्पिण्डस्य संहारः; भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात्।

यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैवमृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्।

यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायति। तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादन कारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्।

तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा। तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत्। सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात्।

वही संहार है; जो संहार है, वही सर्ग है; जो सर्ग और संहार हैं, वही स्थिति है तथा जो स्थिति है, वही सर्ग और संहार हैं।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – जो कुंभ का सर्ग है, वह मृत्तिकापिंड का संहार है; क्योंकि भाव का भावान्तर के अभावस्वभाव से अवभासन है। तात्पर्य यह है कि भाव अन्यभाव के अभावरूप ही होता है।

जो मृत्तिकापिंड का संहार है, वह कुंभ का सर्ग है; क्योंकि अभाव का भावान्तर के भावस्वभाव से अवभासन है। तात्पर्य यह है कि नाश अन्यभाव के उत्पादरूप ही होता है।

जो कुंभ का सर्ग और पिण्ड का संहार है, वही मिट्टी की स्थिति है; क्योंकि व्यतिरेक अन्वय का अतिक्रमण नहीं करते। जो मिट्टी की स्थिति है, वही कुंभ का सर्ग और पिण्ड का संहार है; क्योंकि व्यतिरेकों द्वारा ही अन्वय प्रकाशित होता है।

यदि ऐसा न माना जाय तो ऐसा सिद्ध होगा कि सर्ग अन्य है, संहार अन्य है और स्थिति अन्य है। ऐसा होने पर केवल सर्गशोधक कुंभ की, उत्पादन कारण का अभाव होने से उत्पत्ति ही नहीं होगी अथवा असत् का उत्पाद होगा।

यदि कुंभ की उत्पत्ति न होगी तो समस्त भावों की उत्पत्ति ही नहीं होगी अथवा यदि असत् का उत्पाद हो तो आकाश पुष्प का भी उत्पाद होगा।

तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम्।।१००।।

अथोत्पादादीनां द्रव्यादर्थान्तरत्वं संहरति –

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।।१०१।।

तात्पर्य यह है कि बात मात्र कुंभ की ही नहीं है, अपितु कोई भी कार्य सम्पन्न न होगा अथवा जिसकी लोक में सत्ता ही नहीं है – ऐसे आकाश के फूल और गधे के सींगों की उत्पत्ति भी होने लगेगी; क्योंकि उत्पन्न होने और नहीं होने का कोई नियम ही नहीं रहा।

यदि मिट्टी केवल स्थिति को ही धारण करे तो व्यतिरेकों सहित स्थिति का अभाव होने से स्थिति ही नहीं होगी अथवा क्षणिक को भी नित्यत्व आ जायेगा। तथा यदि मिट्टी की स्थिति न हो तो समस्त ही भावों की स्थिति नहीं होगी अथवा क्षणिक नित्य हो जाय तो चित्त के क्षणिक भावों को भी नित्यत्व का प्रसंग आयेगा; इसलिए द्रव्य को उत्तरोत्तर व्यतिरेकों के सर्ग के साथ, पूर्व-पूर्व के व्यतिरेकों के संहार के साथ और अन्वय के अवस्थान ध्रौव्य के साथ अविनाभाववाला और अबाधित भिन्न त्रिलक्षणवाला अवश्य मानना चाहिए।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में मिट्टी के पिण्ड और घड़े का उदाहरण न देकर मिथ्यात्व के अभाव और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उदाहरण के माध्यम से इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हैं। इसप्रकार इस गाथा में यही बताया गया है कि सत्; उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक ही होता है; अत: ये तीनों प्रत्येक वस्तु में एक समय में एकसाथ ही होते हैं।।१००।।

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि सत्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है और वह सत् ही द्रव्य का लक्षण है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों एक समय में, एक ही द्रव्य में एक साथ ही होते हैं और अब इस १०१वीं गाथा में यह बताया जा रहा है कि ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – तीनों एक द्रव्य ही हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पर्याय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव द्रव्य में पर्यायें हैं।
बस इसलिए तो कहा है कि वे सभी इक द्रव्य हैं।।१०१।।

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः।
द्रव्ये हि सन्ति नियतं तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम्॥१०१॥

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते। ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम्।

द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते, समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत्। यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखासमुदायात्मकः स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मकं पर्यायैरालम्बितमेव प्रतिभाति। पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामंशधर्मत्वात् बीजाङ्कुरपादपत्ववत्।

यथा किलांशिनः पादपदस्य बीजाङ्कुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्यायें द्रव्य में होती हैं – यह नियम है; इसलिए ये सब द्रव्य ही हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों के आश्रय से हैं और पर्यायें द्रव्य के आश्रय से हैं; इसलिए यह सब द्रव्य ही हैं, द्रव्यान्तर नहीं।

प्रथम तो पर्यायें द्रव्याश्रित हैं; क्योंकि वृक्ष की भाँति समुदायी समुदाय-स्वरूप होता है। जिसप्रकार समुदायी वृक्ष; स्कन्ध, मूल और शाखाओं का समुदायरूप होने से स्कन्ध, मूल और शाखाओं से आलम्बित दिखाई देता है; इसीप्रकार समुदायी द्रव्य पर्यायों के समुदायस्वरूप होने से पर्यायों के द्वारा अवलम्बित भासित होता है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार स्कन्ध, मूल और शाखायें वृक्षाश्रित ही हैं; उसीप्रकार पर्यायें द्रव्याश्रित ही हैं; द्रव्य से भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं।

पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा अवलंबित हैं अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बीज, अंकुर और वृक्षत्व की भाँति अंशों के धर्म हैं, अंशी के नहीं। जिसप्रकार अंशी वृक्ष के बीज, अंकुर और वृक्षत्वरूप तीन अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यरूप निजधर्मों से आलंबित एकसाथ ही दिखाई देते हैं; उसीप्रकार अंशी-द्रव्य के नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहनेवाला भाव – ये तीनों अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप निज धर्मों के द्वारा आलंबित एकसाथ ही दिखाई देते हैं; किन्तु यदि भंग, उत्पाद और ध्रौव्य को द्रव्य का ही माना जाय तो सब कुछ प्रलय को प्राप्त होगा।

यदि पुनर्भङ्गोत्पादध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते तथा समग्रमेव विप्लवते।

तथाहि भंगे तावत् क्षणभङ्गकटाक्षितानामेकक्षण एव सर्वद्रव्याणां संहरणाद्द्रव्यशून्यतावतार: सदुच्छेदो वा। उत्पादे तु प्रतिसमयोत्पादमुद्रितानां प्रत्येकं द्रव्याणामानन्त्यमसदुत्पादो वा। ध्रौव्ये तु क्रमभुवां भावानामभावाद्द्रव्यस्याभाव: क्षणिकत्वं वा।

अत उत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्तां पर्याया: पर्यायैश्च द्रव्यमालब्यतां, येन समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं भवति।।१०१।।

यदि द्रव्य का ही भंग माना जाय तो क्षणभंग से लक्षित समस्त द्रव्यों का एक क्षण में ही संहार हो जाने से द्रव्यशून्यता आ जायेगी अथवा सत् का उच्छेद हो जायेगा। यदि द्रव्य का ही उत्पाद माना जाय तो समय-समय पर होनेवाले उत्पाद के द्वारा चिन्हित द्रव्यों को प्रत्येक को अनंतता आ जायेगी। यदि द्रव्य का ही ध्रौव्यत्व माना जाय तो क्रमश: होनेवाले भावों के अभाव के कारण द्रव्य का अभाव हो जायेगा अथवा क्षणिकपना होगा।

इसलिए यही ठीक है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों के आश्रय से हैं और पर्यायें द्रव्य के आश्रय से हैं; इसलिए ये सब द्रव्य ही हैं, द्रव्यान्तर नहीं।''

तत्त्वप्रदीपिका टीका के भाव को पण्डित हेमराजजी द्वारा भावार्थ के रूप में इसप्रकार व्यवस्थित किया गया है –

''बीज, अंकुर और वृक्षत्व – ये वृक्ष के अंश हैं। बीज का नाश, अंकुर का उत्पाद और वृक्षत्व का ध्रौव्य – तीनों एकसाथ ही होते हैं। इसप्रकार नाश बीज के आश्रित है, उत्पाद अंकुर के आश्रित है और ध्रौव्य वृक्षत्व के आश्रित है। नाश, उत्पाद और ध्रौव्य बीज, अंकुर और वृक्षत्व से भिन्न पदार्थरूप नहीं है तथा बीज, अंकुर और वृक्षत्व भी वृक्ष से भिन्न पदार्थरूप नहीं है। इसलिए यह सब एक वृक्ष ही हैं।

इसीप्रकार नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और ध्रौव्य भाव – ये सब द्रव्य के अंश हैं। नष्ट होते हुए भाव का नाश, उत्पन्न होते हुए भाव का उत्पाद और स्थायी भाव का ध्रौव्य एक ही साथ हैं। इसप्रकार नाश, नष्ट होते भाव के आश्रित है, उत्पाद, उत्पन्न होते भाव के आश्रित है और ध्रौव्य, स्थायी भाव के आश्रित है।

नाश, उत्पाद और ध्रौव्य उन भावों से भिन्न पदार्थरूप नहीं है और वे भाव भी द्रव्य से भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं। इसलिए यह सब एक द्रव्य ही हैं।''

उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व का एकत्व आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त टीका में बीज, अंकुर

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति –

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं।।१०२।।

समवेतं खलु द्रव्यं संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्यं खलु तत्त्रितयम्।।१०२।।

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षण: स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न

और वृक्षत्व के उदाहरण से समझाया है; किन्तु आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में स्वसंवेदनज्ञान के उत्पाद, अज्ञान पर्याय के व्यय और दोनों के आधारभूत आत्मद्रव्यत्व की स्थिति पर घटित करके समझाते हैं। अन्त में यह कहते हैं कि अन्वयद्रव्यार्थिकनय से ये सभी द्रव्य हैं। इसप्रकार वे नामोल्लेखपूर्वक नय का उल्लेख भी कर देते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों के ही होते हैं, द्रव्य के नहीं; क्योंकि द्रव्य तो अनादि-अनंत ध्रुव पदार्थ है; उसका उत्पाद और नाश कैसे संभव है ? हाँ, यह बात अवश्य है कि उत्पादादि की आधारभूत पर्यायें द्रव्य की ही हैं; इसकारण ये सब द्रव्य ही हैं।।१०१।।

१००वीं गाथा में 'उत्पाद, व्यय बिना नहीं होता; व्यय, उत्पाद बिना नहीं होता और उत्पाद-व्यय, ध्रुवत्व बिना नहीं होते; इसप्रकार इनमें वस्तुभेद नहीं है' – यह बताया है। १०१वीं गाथा में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्यायें द्रव्य में होती हैं; अत: वे सभी द्रव्य हैं, द्रव्यान्तर नहीं – यह बताया है और अब इस १०२वीं गाथा में यह बताया जा रहा है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक ही समय में हैं; इनमें कालभेद नहीं है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय-थिति द्रव्य में समवेत हों प्रत्येक पल।
बस इसलिए तो कहा है इन तीनमय हैं द्रव्य सब।।१०२।।

द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, व्यय और स्थिति नाम के अर्थों (पदार्थों) के साथ एकमेक ही हैं; इसलिए ये तीनों द्रव्य ही हैं।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तु का जो जन्मक्षण है, वह जन्म से ही व्याप्त होने से स्थितिक्षण और नाशक्षण नहीं है; जो स्थितिक्षण है, वह उत्पाद और व्यय के बीच में मजबूती से स्थापित है, इसकारण

भवति। यंश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च नाशक्षणः स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षणः स्थितिक्षणश्च न भवति।

इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति।

अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तत्तु नाभ्युपगतम्। पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः।

तथाहि – यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृतिकात्वस्य स्थितिक्षणः; तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः। यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते; तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते।

जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं है और जो नाशक्षण है, वह वस्तु उत्पन्न होकर व स्थिर रहकर फिर नाश को प्राप्त होती है, इसकारण जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं है।

इसप्रकार युक्ति से विचार करने पर उत्पादादिक में क्षणभेद है – यह बात चित्त में उत्पन्न होती है।

यदि कोई इसप्रकार की आशंका उपस्थित करता है तो उससे कहते हैं कि उत्पादादि में इसप्रकार का क्षणभेद तभी संभव है कि जब यह माना जाय कि द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही नष्ट होता है और स्वयं ही स्थिति को प्राप्त रहता है; परन्तु ऐसा तो नहीं माना है। माना तो यह गया है कि उत्पादादि पर्यायों के ही हैं। ऐसी स्थिति में क्षणभेद कैसे हो सकता है?

अब इस बात को सोदाहरण विस्तार से समझाते हैं –

जिसप्रकार कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर और डोरी द्वारा किये जानेवाले संस्कार की उपस्थिति में जो रामपात्र का जन्मक्षण होता है, वही मिट्टी के पिण्ड का नाशक्षण होता है और वही दोनों कोटियों में रहनेवाले मिट्टीपन का स्थितिक्षण होता है।

इसीप्रकार अंतरंग और बहिरंग साधनों द्वारा किये जानेवाले संस्कारों की उपस्थिति में जो उत्तरपर्याय का जन्मक्षण होता है, वही पूर्वपर्याय का नाशक्षण होता है और वही दोनों कोटियों में रहनेवाले द्रव्यत्व का स्थितिक्षण होता है।

जिसप्रकार रामपात्र, मिट्टी का पिण्ड और मिट्टीपन में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य पृथक्-पृथक् रहते हुए भी त्रिस्वभावस्पर्शी मिट्टी में वे सभी एकसाथ एकसमय में ही देखे जाते हैं;

यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं; तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यत्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न खल्वार्थान्तरम्।।१०२।।

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति –

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं।।१०३।।

प्रादुर्भवति चान्यः पर्यायः पर्यायो व्येति अन्यः।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम्।।१०३।।

उसीप्रकार उत्तरपर्याय, पूर्वपर्याय और द्रव्यत्व में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पृथक्-पृथक् होने पर भी त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्य में वे तीनों एकसाथ एक समय में ही देखे जाते हैं।

जिसप्रकार रामपात्र, मिट्टी का पिण्ड और मिट्टीपन में रहनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही हैं, अन्य वस्तु नहीं। उसीप्रकार उत्तरपर्याय, पूर्वपर्याय और द्रव्यंत्व में रहनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यत्व द्रव्य ही हैं; अन्य पदार्थ नहीं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए 'उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व का एक काल है' – यह समझाने के लिए आत्मानुभूति पर्याय के उत्पाद, मिथ्यात्व परिणति के नाश तथा दोनों के आधारभूत आत्मद्रव्यत्व की अवस्थिति का उदाहरण देते हैं। साथ में टेढी अंगुली, ऋजुगति, क्षीणकषाय के अन्तिम समय में केवलज्ञान की उत्पत्ति के उदाहरणों से भी इस विषय को समझाते हैं।

देखो, यहाँ प्रत्येक पर्याय के जन्मक्षण की बात कही है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति का क्षण सुनिश्चित है। जिस क्षण में जो पर्याय होनी है, उस समय वही पर्याय होगी, कोई अन्य नहीं। जन्मक्षण के समान व्ययक्षण भी सुनिश्चित है। जब पर्याय का जन्मक्षण और व्ययक्षण सुनिश्चित है तो फिर क्या शेष रह जाता है?

उक्त कथन से सहज ही क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है।।१०२।।

विगत गाथा में यह बताया गया है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में काल-भेद नहीं है और अब इस गाथा में अनेकद्रव्यपर्यायों द्वारा द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये जा रहे हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उत्पन्न होती अन्य एवं नष्ट होती अन्य ही।
पर्याय किन्तु द्रव्य ना उत्पन्न हो ना नष्ट हो।।१०३।।

इह हि यथा किलैकस्त्र्युणकः समानजातीयोऽनेकद्रव्यपर्यायोविनश्यत्यन्यश्चतुरणुकः प्रजायते, ते तु त्रयश्चत्वारो वा पुद्गला अविष्टानुत्पन्ना एवावतिष्ठन्ते।

तथा सर्वेऽपि समानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते।

यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो द्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्व-लक्षणः प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवावतिष्ठेते।

तथा सर्वऽप्यसमानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च असमानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्यवावतिष्ठन्ते।

एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति॥१०३॥

द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और कोई अन्य पर्याय नष्ट होती है; फिर भी द्रव्य न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''जिसप्रकार एक तीन अणुवाली त्रि-अणुक समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरी चार अणुवाली (चतुरणुक) समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है; परन्तु वे तीन या चार पुद्गल परमाणु तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।

इसीप्रकार सभी समानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट होती हैं और उत्पन्न होती हैं; परन्तु समानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।

जिसप्रकार एक मनुष्यत्वरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरी देवत्वरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है; परन्तु वह जीव और पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।

इसीप्रकार सभी असमानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट हो जाती हैं और उत्पन्न होती हैं; परन्तु असमानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।

इसप्रकार द्रव्य अपने द्रव्यरूप से ध्रुव और द्रव्यपर्यायों द्वारा उत्पाद-व्ययरूप है; इसप्रकार द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए मोक्षपर्याय के उत्पाद, मोक्षमार्गरूप पर्याय के व्यय और शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य के ध्रुव रहने का उदाहरण देते हैं। साथ में अथवा के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों को भी प्रस्तुत कर देते हैं।

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति –

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सद्विसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति।।१०४।।

परिणमति स्वयं द्रव्यं गुणतश्च गुणान्तरं सदविशिष्टम्।
तस्माद् गुणपर्याया भणिताः पुनः द्रव्यमेवेति।।१०४।।

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात्। एकद्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत्।

आचार्य अमृतचन्द्र समानजातीय और असमानजातीय द्रव्यपर्यायों पर घटित करते हैं तथा आचार्य जयसेन द्रव्यपर्यायों के साथ-साथ गुणपर्यायों पर भी घटित करते हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि उत्पन्न और नष्ट तो पर्यायें होती हैं, द्रव्य तो सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट ही रहता है। दूसरी बात यह है कि पर्याय में से पर्याय का उत्पाद नहीं होता; पर्याय की उत्पत्ति तो द्रव्य में से ही होती है।

ध्यान रहे, यहाँ उदाहरण के रूप में सम्पूर्ण चर्चा द्रव्य-पर्यायों की ही हो रही है; अतः सभी बातों को द्रव्य-पर्यायों पर घटित करना ही अधिक उचित है।

गुण-पर्यायों की चर्चा अगली गाथा में की ही जा रही है।।१०३।।

विगत गाथा में अनेकद्रव्यपर्यायों (द्रव्यपर्यायों) द्वारा द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये गये हैं और इस गाथा में **एकद्रव्यपर्यायों (गुणपर्यायों)** द्वारा द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये जा रहे हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

गुण से गुणान्तर परिणमें द्रव स्वयं सत्ता अपेक्षा।
इसलिए गुणपर्याय ही हैं द्रव्य जिनवर ने कहा।।१०४।।

सत्तापेक्षा अविशिष्टरूप द्रव्य स्वयं ही गुण से गुणान्तररूप परिणमित होता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य स्वयं ही एक गुणपर्याय में से अन्य गुणपर्यायरूप परिणमित होता है और द्रव्य की सत्ता गुणपर्यायों की सत्ता के साथ अभिन्न ही रहती है। इससे गुणपर्यायें द्रव्य ही कही गई हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"एकद्रव्यपर्यायें गुणपर्यायें हैं; क्योंकि गुणपर्यायों को एकद्रव्यपना है। उनका एकद्रव्यत्व आम्रफल की भाँति सिद्ध होता है; जो इसप्रकार है –

यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभावं परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं; तथा द्रव्यं स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितगुणादुत्तरावस्थावस्थितगुणं परिणमत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम्।

यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफलत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तुपर्यायद्वारेण सहकारफलं।

तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमानं पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति ।।१०४।।

जिसप्रकार आम (आम्रफल) स्वयं ही हरेपन से पीलेपन रूप परिणमित होता हुआ पहले और बाद में हरेपन और पीलेपन के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है; इसकारण हरेपन और पीलेपन के साथ अभिन्न सत्तावाला होने से एक ही वस्तु है; अन्य वस्तु नहीं।

इसीप्रकार द्रव्य स्वयं ही पूर्वावस्था में स्थित गुणों से उत्तरावस्था में स्थित गुणरूप परिणमित होता हुआ पूर्व और उत्तर अवस्था में स्थित उन गुणों के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है; इसकारण पूर्व और उत्तर अवस्था में स्थित गुणों के साथ अभिन्न सत्तावाला होने से एक द्रव्य ही है, द्रव्यान्तर नहीं।

जिसप्रकार पीलेपन से उत्पन्न होता, हरेपन से नष्ट होता और आमरूप से स्थिर रहता होने से आम एक वस्तु की पर्यायों द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

उसीप्रकार उत्तरावस्था में स्थित गुण से उत्पन्न, पूर्वावस्था में स्थित गुण से नष्ट और द्रव्यत्व गुण से स्थित होने से द्रव्य एकद्रव्यपर्याय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।''

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि अनेक द्रव्यों की मिली हुई पर्यायों को द्रव्यपर्याय या अनेकद्रव्यपर्याय या व्यंजनपर्याय कहते हैं और एक द्रव्य की पर्यायों को एकद्रव्यपर्याय या गुणपर्याय या अर्थपर्याय कहते हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; पर साथ में रंगों के उदाहरण के साथ संसारी जीव की विभावगुणपर्यायों पर भी घटित कर देते हैं।

विगत गाथा में अनेकद्रव्यपर्याय अर्थात् स्कन्धादि समानजातीय द्रव्यपर्यायों व मनुष्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्यायों की बात की है और अब इस १०४वीं गाथा में एकद्रव्यपर्याय अर्थात् मतिज्ञानादि गुणपर्यायों की बात की जा रही है।

अथ सत्ताद्रव्योरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति –

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।१०५।।

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम्।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता।।१०५।।

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा भवति। तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत्।

सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत्। स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत्। सत्तातोऽपृथग्भूत्वाचात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्।

यहाँ गुण-पर्यायों की चर्चा करते हुए इस बात को विशेषरूप से स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक गुणपर्याय गुणों में से उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय में से नहीं।।१०४।।

विगत गाथाओं में एकद्रव्यपर्यायों और अनेकद्रव्यपर्यायों के द्वारा एक द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये गये हैं और अब इस गाथा में युक्तिपूर्वक यह बताते हैं कि द्रव्य और सत्ता एक ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यदि द्रव्य न हो स्वयं सत् तो असत् होगा नियम से।
किम होय सत्ता से पृथक् जब द्रव्य सत्ता है स्वयं।।१०५।।

यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो वह नियम से असत् होगा और जो असत् हो, वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? सत्ता से द्रव्य का भिन्न होना संभव नहीं है। इसलिए द्रव्य स्वयं सत्ता ही है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो दूसरी गति यह होगी कि वह असत् होगा अथवा सत्ता से पृथक् होगा। यदि वह असत् हो तो ध्रौव्य के असंभव होने के कारण स्वयं स्थिर न होने से द्रव्य ही असत् हो जायेगा।

दूसरे यदि द्रव्य सत्ता से पृथक् हो तो सत्ता के बिना भी स्वयं रहता हुआ; इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है; ऐसी सत्ता को ही अस्त कर देगा।

किन्तु यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् हो तो ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं स्थिर रहता

ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनान्यत्वात्।।१०५।।

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति –

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं।।१०६।।

हुआ द्रव्य सिद्ध होता है और सत्ता से अपृथक् रहकर स्वयं स्थिर रहता हुआ; इतना मात्र जिसका प्रयोजन है – ऐसी सत्ता को ही सिद्ध करता है।

इसीलिए द्रव्य स्वयं ही सत्ता है, सत्तास्वरूप है – ऐसा स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि भाव और भाववान का अपृथकत्व द्वारा अनन्यत्व है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए उक्त संदर्भ में बौद्ध और नैयायिक मतों को प्रस्तुत कर उनका निराकरण भी करते हैं। कहते हैं कि **सत्ता के समवाय के कारण द्रव्य सत् नहीं है; अपितु सत्ता स्वयं ही द्रव्य है। वे यह भी कहते हैं कि द्रव्य उपचार से सत्तास्वरूप नहीं है, अपितु परमार्थ से सत्तास्वरूप है।**

ध्यान रहे नैयायिक यह मानते हैं कि **द्रव्य सत्ता के समवाय से सत् है, स्वयं सत् नहीं** और बौद्ध यह मानते हैं कि **द्रव्य का अस्तित्व उपचार से है, परमार्थ से नहीं।**

द्रव्य स्वयं सत्तास्वरूप है और द्रव्य का अस्तित्व वास्तविक है, परमार्थ है; उपचार से नहीं – यहाँ यह कहकर नैयायिक और बौद्ध – दोनों मतों का खण्डन कर दिया।

इस गाथा और उसकी टीका में विविध तर्कों से यही सिद्ध किया गया है कि सत्ता और द्रव्य अभिन्न ही हैं, एक ही हैं।

यद्यपि यह परमसत्य है कि सत्ता गुण है, अस्तित्व नामक सामान्य गुण है और द्रव्य गुणी है; इसप्रकार इनमें गुण-गुणी भेद है; लक्षणभेद है; तथापि प्रदेशभेद नहीं है। जबतक प्रदेशभेद न हो, तबतक गुण-गुणी को भिन्न नहीं माना जाता, अभिन्न ही माना जाता है।।१०५।।

विगत गाथा में यह कहा गया है कि सत्ता और द्रव्य अभिन्न ही हैं और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि **यद्यपि सत्ता और द्रव्य में पृथकता नहीं है; तथापि उनमें परस्पर अन्यता अवश्य है। इस गाथा में पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण बताया जा रहा है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिनवीर के उपदेश में पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता।
अतद्भाव ही अन्यत्व है तो अतत् कैसे एक हों।।१०६।।

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम्।।१०६।।

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम्। तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत्।

तथाहि – यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः।

एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तल्लक्षणसद्भावात्। अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव।

तथाहि – यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिंद्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः।

विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व है और अतद्भाव अन्यत्व है – ऐसा भगवान महावीर का उपदेश है। जो उसरूप न हो, वह उससे अभिन्न कैसे हो सकता है ?

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

“विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व का लक्षण है। अतः यह पृथक्त्व तो सत्ता और द्रव्य में संभव नहीं है; क्योंकि गुण और गुणी में सफेदी और दुपट्टे के समान विभक्तप्रदेशत्व का अभाव होता है। वह इसप्रकार है – जिसप्रकार सफेदीरूप गुण के जो प्रदेश हैं, वे ही दुपट्टेरूप गुणी के भी हैं; इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है। इसीप्रकार सत्तागुण के जो प्रदेश हैं, वे ही प्रदेश गुणी द्रव्य के भी हैं; इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है।

ऐसा होने पर भी सत्ता और द्रव्य में अन्यत्व है; क्योंकि इनमें अन्यत्व का लक्षण घटित होता है। अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्य में है ही; क्योंकि गुण और गुणी में सफेदी और दुपट्टे के समान तद्भाव का अभाव होता है।

वह इसप्रकार है कि जिसप्रकार एक चक्षु इन्द्रिय के विषय में आनेवाला और अन्य सभी इन्द्रियों के गोचर न होनेवाला जो सफेदीरूप गुण है; वह समस्त इन्द्रियों को गोचर होनेवाले दुपट्टेरूप गुणी नहीं हैं और जो समस्त इन्द्रिय समूह को गोचर होनेवाला दुपट्टा है, वह एक चक्षुइन्द्रिय के विषय में आनेवाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियों के विषय में नहीं आनेवाला सफेदीरूप गुण नहीं है। इसलिए उनके तद्भाव का अभाव है।

तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति न खलु साश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः।

अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात्। अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः ॥१०६॥

उसीप्रकार किसी के आश्रय रहनेवाली, स्वयं निर्गुण, एक गुणमय, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप जो सत्ता (सत्ता गुण-अस्तित्व गुण) है; वह किसी के आश्रय बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणमय, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य नहीं है तथा जो किसी के आश्रय बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणमय, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है; वह किसी के आश्रित रहनेवाली, निर्गुण, एक गुणमय, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप सत्ता नहीं है। इसलिए इनके तद्भाव का अभाव है।

ऐसा होने से यद्यपि सत्ता और द्रव्य के कथंचित् अनर्थान्तरत्व (अभिन्नता) है; तथापि उनके सर्वथा एकत्व होगा – ऐसी शंका नहीं करना चाहिए; क्योंकि तद्भाव एकत्व का लक्षण है। जो तद्भावरूप नहीं हो, वह सर्वथा एक कैसे हो सकता है ? वह तो गुण-गुणी भेद से अनेक ही है।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि सत्ता और द्रव्य में पृथक्तारूप भिन्नता नहीं होने पर भी अन्यतारूप भिन्नता विद्यमान है।

भिन्नता दो प्रकार की होती है – एक पृथकतारूप भिन्नता एवं दूसरी अन्यतारूप भिन्नता। पृथकता अर्थात् दो पदार्थ जुदे-जुदे हैं एवं अन्यता अर्थात् जिनकी सत्ता तो एक है, पर स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। जिनकी सत्ता पृथक् है, उनमें पृथक्ता होती है एवं जिनकी सत्ता एक है, पर लक्षणादि भिन्न-भिन्न हैं, उनमें अन्यता होती है।

द्रव्य तथा गुणों के मध्य एवं द्रव्य तथा पर्याय के मध्य अन्यता होती है, पृथकता नहीं। दो द्रव्यों के मध्य पृथकता होती है, अन्यता नहीं। एक द्रव्य की दो पर्यायों में अन्यता होती है, पृथकता नहीं। एक द्रव्य के दो गुणों में अन्यता होती है, पृथकता नहीं।

एक द्रव्य, गुण व पर्याय में जहाँ मात्र भाव से ही भिन्नता होती है एवं द्रव्य-क्षेत्र व काल से

अभिन्नता होती है, वहाँ अन्यता है। ज्ञान का जाननेरूप भाव है एवं दर्शन का देखनेरूप भाव है। इसप्रकार भावभिन्नता होने से ज्ञान और दर्शन में अन्यता है।

मैं देह से इसलिए पृथक् हूँ; क्योंकि देह व आत्मा – ये दो पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। राग से आत्मा इसलिए अन्य है; क्योंकि इसमें दो द्रव्य नहीं हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि 'भिन्नता' शब्द का प्रयोग पृथकता और अन्यता – इन दोनों के स्थान पर खुलकर समान रूप से किया जाता रहा है; अत: यह ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि भिन्नता का अर्थ प्रकरण के अनुसार किया जावे।

प्रश्न – उत्पाद भी सत् है, व्यय भी सत् है एवं ध्रौव्य भी सत् है। तीनों यदि सत् हैं तो तीनों में तीन सत् हैं या दो सत् हैं या एक सत् है ?

उत्तर – अस्तित्व नामक जो गुण है, वह तीनों में एक ही है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों में तीन सत् नहीं हैं, एक ही सत् है।

सत् के अंश को भी सत् कहा जाता है; इसलिए उत्पाद भी सत् है, व्यय भी सत् है एवं ध्रौव्य भी सत् है। जो सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य – इन तीनों में व्याप्त है, वही सत्ता द्रव्य में व्याप्त है।

हम कहते हैं कि ज्ञान का अस्तित्व है, दर्शन का अस्तित्व है; इसप्रकार अनंत गुणों का अस्तित्व है। यह ऐसी विचित्र बात है कि अनंत का अस्तित्व होकर भी सम्पूर्ण अस्तित्व मिलाकर एक ही है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने ४७ शक्तियों को समझाते हुए यह कहा है कि सत्तागुण का रूप सब में है; जिसकी वजह से वह सब में है। सत्ता तो स्वयं से सत्तास्वरूप है, परन्तु शेष सभी गुणों में सत्ता का रूप होने से वे भी सत्तास्वरूप हैं। ज्ञान का अस्तित्व है, चारित्र का अस्तित्व है। उनमें अस्तित्व गुण का रूप होने से सभी गुणों का अस्तित्व है।

सब द्रव्यों में सत्ता नामक गुण पृथक्-पृथक् हैं; परंतु आत्मा के सभी गुणों में सत्ता नामक एक ही गुण है। आत्मा की सभी पर्यायों में एक ही सत्ता गुण है।

स्वरूपास्तित्व नामक जो सत्ता है, वह एक ही है। वह हमारे सम्पूर्ण द्रव्य, गुणों और पर्यायों में व्याप्त होती है; लेकिन सादृश्यास्तित्वरूप महासत्ता सभी द्रव्यों में व्याप्त है। वह एक नहीं है, अनेक है। आचार्यदेव ने जाति की अपेक्षा उसे एक है – ऐसा कहा है।

एक द्रव्य के दो गुणों के मध्य अतद्भाव होता है; परन्तु दो द्रव्यों के मध्य अतद्भाव नहीं होता, अत्यंताभाव होता है। जिसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप चतुष्टय भिन्न-भिन्न हों, उसे अत्यंताभाव कहते हैं।

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति –

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ।।१०७।।

सद्द्रव्यं संश्च गुणः संश्चैव च पर्याय इति विस्तारः।
यः खलु तस्याभावः स तदभावोऽतद्भावः ।।१०७।।

यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकं द्रव्यं द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते।

यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः शुक्लो हारः शुक्लं सूत्रं शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुणः सद्द्रव्यं सद्गुणः सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते।

एक द्रव्य की पर्यायों के मध्य परस्पर अतद्भाव होता है और गुणों के मध्य भी परस्पर अतद्भाव होता है। द्रव्य और गुण के मध्य भी परस्पर अतद्भाव होता है और गुण और पर्याय के मध्य भी परस्पर अतद्भाव होता है। द्रव्य और पर्याय के मध्य भी अतद्भाव होता है; परंतु दो द्रव्यों के मध्य अत्यंताभाव होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि एक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्यायों के बीच परस्पर अतद्भाव है और दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव होता है ।।१०६।।

विगत गाथा में प्रदेशभेदवाले पृथक्त्व और अतद्भाववाले अन्यत्व का स्वरूप स्पष्ट किया गया है; अब इस १०७वीं गाथा में **अतद्भाव को विस्तार से सोदाहरण स्पष्ट करते हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सत् द्रव्य सत् गुण और सत् पर्याय सत् विस्तार है।
तद्रूपता का अभाव ही तद्-अभाव अर अतद्भाव है ।।१०७।।

सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – इसप्रकार सत्ता गुण का विस्तार है। इनमें जो उसका अभाव अर्थात् उसरूप होने का अभाव है; वह तद्-अभाव अर्थात् अतद्भाव है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार एक मोतियों की माला हार के रूपमें, धागों के रूप में और मोती के रूप में – इसप्रकार तीन प्रकार से विस्तारित की जाती है। उसीप्रकार एक द्रव्य का सत्ता गुण सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – इसप्रकार तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः।

तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ।।१०७।।

जिसप्रकार एक मोतियों की माला का सफेदी गुण; सफेद हार, सफेद धागे और सफेद मोती के रूप में तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है। उसीप्रकार एक द्रव्य का सत्ता गुण सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

जिसप्रकार एक मोतियों की माला में जो सफेदी नामक गुण है; वह हार नहीं है, धागा नहीं है, मोती नहीं है और जो हार, धागा या मोती है, वह सफेदी गुण नहीं है – इसप्रकार एक-दूसरे में जो उसका अभाव अर्थात् उसरूप होने का अभाव है, वह तद्-अभाव लक्षण अतद्भाव है; जो कि अन्यत्व का कारण है।

उसीप्रकार एक द्रव्य में जो सत्ता गुण है; वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है या पर्याय नहीं है और जो द्रव्य, अन्य गुण या पर्याय है, वह सत्ता गुण नहीं है – इस प्रकार एक-दूसरे में जो तद्रूप होने का अभाव है, वह तद्-अभाव लक्षण अतद्भाव है, जो कि अन्यत्व का कारण है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में पहले तो उक्त उदाहरण के माध्यम से ही बात को स्पष्ट करते हैं; किन्तु बाद में उसे सिद्ध परमात्मा पर भी घटित करके बताते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अर्थात् सत्ता गुण अपने-अपने में है; जिसे हम अवान्तरसत्ता या स्वरूपास्तित्व भी कहते हैं।

जिसप्रकार भारतीय मुद्रा की इकाई रुपया है। पैसों का जो भेद है, वह रुपये के अन्तर्गत ही है; इसीकारण ५० पैसे के सिक्के पर १/२ रुपया लिखा रहता है।

उसीप्रकार स्वरूपास्तित्व या अवान्तरसत्ता जैनदर्शन की इकाई है। द्रव्य-गुण-पर्याय के जो भेद हैं; वे इसके अन्तर्गत ही आते हैं।

महासत्ता का दूसरा नाम सादृश्यास्तित्व भी है; जो अपने नाम से ही यह सूचित करता है कि यह सत्ता सभी में समानता के आधार पर ही मानी गई है। तात्पर्य यह है कि **सभी द्रव्यों का अस्तित्व समान ही है; इसकारण सभी महासत्ता के अन्तर्गत आ जाते हैं।**

यह एकता उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से है और स्वरूपास्तित्व के अन्तर्गत द्रव्य-गुण-पर्याय के जो भेद किये जाते हैं; वे सब अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के अन्तर्गत आते हैं।

तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्यों की एकता असद्भूत है, उपचरित है और एक द्रव्य में भेद करना सद्भूत है, अनुपचरित है; इसलिए सादृश्यास्तित्व के आधार पर अपनी सत्ता के समान अन्य सभी की सत्ता स्वीकार करते हुए अपना अपनापन अपने स्वरूपास्तित्व में स्थापित करना ही उचित है।

प्रश्न – सभी द्रव्यों की एकता उपचरित-असद्भूत और एक द्रव्य में भेद करना अनुपचरित-सद्भूत क्यों है, कैसे है ?

उत्तर – सादृश्यास्तित्व के आधार पर की गई विभिन्न द्रव्यों की एकता वास्तविक नहीं है; इसलिए असद्भूत है और वे सभी द्रव्य एकक्षेत्रावगाही नहीं हैं; इसलिए उनमें परस्पर दूर का संबंध होने से उपचरित है।

एकवस्तु में होनेवाले द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद वास्तविक हैं; इसलिए सद्भूत हैं और वे एकक्षेत्रावगाही हैं; इसलिए अनुपचरित हैं।

वास्तविक बात यह है कि भिन्न-भिन्न द्रव्यों में सदृशता के आधार पर जो एकता स्थापित की जाती है; उनमें परस्पर अत्यन्ताभाव होता है और एक वस्तु के द्रव्य, गुण, पर्यायों के बीच अतद्भाव होता है। जहाँ अत्यन्ताभाव होता है, वहाँ असद्भूतव्यवहारनय लगता है और जहाँ अतद्भाव होता है, वहाँ सद्भूतव्यवहारनय लगता है।

उक्त सन्दर्भ में विशेष जानकारी करने के लिए लेखक की अन्य कृति **'परमभावप्रकाशक नयचक्र'** के व्यवहारनय : भेद-प्रभेद संबंधी प्रकरण का स्वाध्याय करना चाहिए।।१०७।।

विगत गाथा में अतद्भाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **सर्वथा अभाव का नाम अतद्भाव नहीं है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

द्रव्य वह गुण नहीं अर गुण द्रव्य ना अतद्भाव यह।
सर्वथा जो अभाव है वह नहीं अतद्भाव है।।१०८।।

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति –

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो।।१०८।।

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणः स न तत्त्वमर्थात्।
एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ।।१०८।।

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः। एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्न पुनर्द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवंलक्षणोऽभावोऽतद्भाव, एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्वमुभयशून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात्।

तथाहि – यथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यस्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्वं, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापि द्रव्यस्यानेकत्वं स्यात्।

यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्यस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात्।

स्वरूप अपेक्षा से जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है – यह अतद्भाव है, सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं है; ऐसा जिनदेव ने कहा है।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"एक द्रव्य में जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है – इसप्रकार जो द्रव्य का गुणरूप से अभवन (नहीं होना) अथवा गुण का द्रव्यरूप से अभवन है; वह अतद्भाव है; क्योंकि इतने से ही अन्यत्वरूप व्यवहार सिद्ध हो जाता है।

'द्रव्य का अभाव गुण है और गुण का अभाव द्रव्य है' – ऐसे लक्षणवाला अभाव अतद्भाव नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो एक द्रव्य को अनेकत्व आ जावेगा, उभयशून्यता (दोनों का अभाव) आ जावेगी अथवा अपोहरूपता आ जावेगी।

अब इसी बात को विस्तार से समझाते हैं –

'चेतनद्रव्य का अभाव अचेतनद्रव्य है और अचेतनद्रव्य का अभाव चेतनद्रव्य है' – इसप्रकार का अभाव तो भिन्न-भिन्न अनेक द्रव्यों में पाया जाता है। इसकारण 'द्रव्य का अभाव गुण और गुण का अभाव द्रव्य' यदि ऐसा माना जाय तो जिसप्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्यों में अनेकत्व है; उसीप्रकार का अनेकत्व द्रव्य और गुण में भी तो हो जायेगा।

जिसप्रकार सोने का अभाव होने पर सोनेपन का अभाव हो जाता है और सोनेपन का अभाव होने पर सोने का अभाव हो जाता है – इसप्रकार उभयशून्यता (दोनों का अभाव) हो जाती है; उसीप्रकार द्रव्य का अभाव होने पर गुण का अभाव और गुण का अभाव होने पर द्रव्य का अभाव हो जावेगा अर्थात् दोनों का अभाव हो जायेगा, उभयशून्यता हो जावेगी।

यथा पटाभावमात्र एव घटो घटाभावमात्र एव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभावमात्र एव गुणो गुणाभावमात्र एव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात्। ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्व मनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ॥१०८॥

जिसप्रकार पटाभाव (वस्त्र का अभाव) मात्र घट (घड़ा) है और घटाभाव मात्र पट है; इसप्रकार दोनों के अपोहरूपता (केवल नकारात्मकता) है; उसीप्रकार द्रव्याभाव मात्र गुण है और गुणाभाव मात्र द्रव्य है – इसप्रकार इसमें भी अपोहरूपता आ जावेगी।

इसप्रकार द्रव्य का अभाव गुण और गुण का अभाव द्रव्य मानने पर द्रव्य और गुण को अनेकत्व, उभयशून्यता और अपोहरूपता (केवल नकारात्मकता) के प्रसंग उपस्थित होंगे। इसलिए द्रव्य और गुण में एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व को चाहनेवाले अतद्भाव का वही लक्षण स्वीकार करें; जो कि यहाँ कहा गया है।’’

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि द्रव्य और सत्ता (अस्तित्व) गुण में परस्पर सर्वथा अभाव नहीं है, अतद्भाव है। इस बात को सिद्ध करते हुए टीका में यह कहा गया है कि यदि द्रव्य और सत्ता गुण में परस्पर सर्वथा अभाव मानोगे तो तीन दोष उपस्थित होंगे; जो इसप्रकार है –

१. जिसप्रकार दो द्रव्यों में परस्पर पृथक्ता है, अनेकत्व है; उसीप्रकार की पृथक्ता या अनेकत्व द्रव्य में और सत्ता गुण में भी हो जायेगा।

२. द्रव्य के अभाव में गुण का सद्भाव संभव नहीं है और गुण के अभाव में द्रव्य का सद्भाव संभव नहीं; इसप्रकार एक के अभाव होने पर दोनों का ही अभाव हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि दोनों की शून्यता (उभयशून्यता) हो जावेगी।

३. द्रव्य या सत्ता गुण को परस्पर में एक-दूसरे के अभावरूप स्वीकार करने पर अपोहता अर्थात् सर्वथा पूर्णतः अभावात्मकता (शून्यता) आ जावेगी।

तात्पर्य यह है कि द्रव्य और गुण मात्र अभावरूप (निगेटिव) ही रहेंगे, उनका कोई भावात्मक (पॉजिटिव) स्वरूप नहीं रहेगा। इसलिए यही ठीक है कि हम द्रव्य और सत्ता गुण को पृथक्-पृथक् तो न माने, पर अन्य-अन्य तो मानना ही चाहिए। इसप्रकार इन दोनों में कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता सिद्ध होती है।।१०८।।

विगत गाथा में यह बताया गया है कि सर्वथा अभाव का नाम अतद्भाव नहीं है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि सत्ता (अस्तित्व) गुण है और द्रव्य गुणी है – इसप्रकार इनमें गुण-गुणी का संबंध है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति –

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति जिणोवदेसोयं ।।१०९।।

य: खलु द्रव्यस्वभाव: परिणाम: स गुण: सदविशिष्ट:।
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ।।१०९।।

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम्। स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहित:। य एव द्रव्यस्य स्वभावभूत: परिणाम:, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते। यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूत: परिणाम: द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्या: प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद् द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणाम:।

स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभाव: सिद्ध्यति ।।१०९।।

(हरिगीत)

परिणाम द्रव्य स्वभाव जो वह अपृथक् सत्ता से सदा।
स्वभाव में थित द्रव्य सत् जिनदेव का उपदेश यह ।।१०९।।

जो द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वभावभूत परिणाम है; वह परिणाम सत्ता से अभिन्न गुण है। स्वभाव में स्थित होने से द्रव्य सत् है – ऐसा जिनदेव का उपदेश है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार व्यक्त करते हैं–

“स्वभाव में अवस्थित होने से द्रव्य सत् है – ऐसा पहले (९९वीं गाथा में) कहा है और वहीं यह भी कहा है कि परिणाम द्रव्य का स्वभाव है। अब यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है, वही सत् से अभिन्न गुण है।

द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा सत् शब्द से कहा जाता है; उस अस्तित्व से अनन्य गुण ही द्रव्यस्वभावभूत परिणाम है; क्योंकि द्रव्य की वृत्ति तीन काल के समय को स्पर्श करती होने से प्रतिक्षण उस-उस स्वभावरूप परिणमित होती है।

इसप्रकार द्रव्य का स्वभावभूत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम द्रव्य की अस्तित्वभूत वृत्तिस्वरूप होने से सत् से अभिन्न द्रव्यविधायक गुण ही है। इसप्रकार सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणीपना सिद्ध होता है।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए तत्त्वप्रदीपिका

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति –

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।११०।।

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम्।
द्रव्यत्वं पुनर्भावस्तस्माद् द्रव्यं स्वयं सत्ता।।११०।।

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात्, यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलत्वादिकमिति वा। अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते ? न वर्तत एव। तर्हि द्रव्यं सत्ताऽस्तु, स्वयमेव।।११०।।

का ही अनुसरण करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि जैसी कि उनकी शैली है, तदनुसार वे सभी प्रकरणों को आत्मद्रव्य पर घटित करके समझाते हैं; इस गाथा में भी ऐसा ही हुआ है।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त जो परिणाम है, वह सत् है और वह सत् द्रव्य का लक्षण है। अस्तित्व और सत्ता सत् के ही दूसरे नाम हैं। सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है। इसप्रकार इनमें गुण-गुणी सम्बन्ध है।।१०९।।

विगत गाथा में सत्ता और द्रव्य में गुण-गुणीपना सिद्ध किया है और अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **इनमें गुण-गुणी संबंध होने पर भी गुण और गुणी – दोनों एक ही हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पर्याय या गुण द्रव्य के बिन कभी भी होते नहीं।
द्रव्य ही है भाव इससे द्रव्य सत्ता है स्वयं।।११०।।

इस विश्व में द्रव्य से पृथक् गुण या पर्यायें नहीं होतीं। द्रव्यत्व ही भाव है अर्थात् अस्तित्व गुण है; इसलिए द्रव्य स्वयं सत्ता ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''जिसप्रकार पीलापन और कुण्डलादि सोने से पृथक् नहीं होते; उसीप्रकार गुण और पर्यायें द्रव्य से पृथक् नहीं होतीं। द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत अस्तित्व नाम से कहा जानेवाला द्रव्यत्व; द्रव्य का भाव नाम से कहा जानेवाला गुण होने से क्या वह अस्तित्व द्रव्य से पृथक् होगा ? नहीं होगा; तो फिर द्रव्य स्वयं ही सत्ता क्यों न हो ? तात्पर्य यह है कि द्रव्य स्वयं सत्तास्वरूप ही है।''

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति –

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ।।१११।।

एवंविधं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम्।
सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते ।।१११।।

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधनं सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम्। स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयतायां सद्भावनिबद्ध एव स्यात्; पर्यायाभिधेयतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव।

इस गाथा में सोने का उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि सत्ता गुण और सत् द्रव्य – ये अनन्य ही हैं; अन्य-अन्य नहीं ।।११०।।

विगत गाथा में गुण-गुणी में अनेकत्व का निषेध कर एकता स्थापित की है और अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **द्रव्य के सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद में कोई विरोध नहीं है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पूर्वोक्त द्रव्यस्वभाव में उत्पाद सत् नयद्रव्य से।
पर्यायनय से असत् का उत्पाद होता है सदा ।।१११।।

ऐसा द्रव्य द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा स्वभाव में सद्भावसंबद्ध और असद्भावसंबद्ध उत्पाद को सदा प्राप्त करता है।

सत् अर्थात् जो वस्तु पहले से ही विद्यमान हो, उसके उत्पाद को सत्-उत्पाद कहते हैं और जो वस्तु पहले से विद्यमान न हो, उसके उत्पाद को असत्-उत्पाद कहते हैं।

द्रव्यार्थिकनय से प्रत्येक वस्तु का सत् उत्पाद होता है और पर्यायार्थिकनय से प्रत्येक वस्तु का असत् उत्पाद होता है। **कार्य तो एक ही हुआ है; उसे ही द्रव्यार्थिकनय से सत्-उत्पाद और पर्यायार्थिकनय से असत्-उत्पाद कहते हैं।**

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"निर्दोष लक्षणवाला, अनादिनिधन, पूर्वकथित यह द्रव्य अपने सत्स्वभाव में उत्पन्न होता है। द्रव्य का यह उत्पाद द्रव्यार्थिकनय से कथन करते समय सद्भावसंबंद्ध ही है और पर्यायार्थिकनय से कथन करते समय असद्भावसंबंद्ध ही है।

अब इसी बात को विशेष समझाते हैं –

तथाहि – यदा द्रव्यमेवाभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः प्रभवावसानलाञ्छना क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवत्।

तथाहि – यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादायः पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः।

यदा तु पर्याय एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तिः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवदेव।

तथाहि यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम, तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्तिः संक्रामतौ हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः।

जब द्रव्य की चर्चा होती है, पर्यायों की नहीं; तब उत्पत्ति-विनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्य को उत्पन्न करनेवाली अन्वय शक्तियों के द्वारा; उत्पत्ति-विनाशलक्षणवाली, क्रमशः प्रवर्त्तमान, पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को सोने की भाँति सद्भावसंबंद्ध ही उत्पाद है।

वह इसप्रकार है कि जब सोने की चर्चा होती है; बाजूबंद आदि पर्यायों की नहीं; तब सोने के समान जीवित, युगपद् प्रवर्तमान, सोने की उत्पादक अन्वय-शक्तियों द्वारा, बाजूबंद आदि पर्यायों के समान जीवित (उपस्थित), क्रमशः प्रवर्त्तमान, बाजूबंद आदि पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होनेवाले सोने का सद्भावसंबंद्ध ही उत्पाद होता है।

जब पर्यायें ही कही जाती हैं, द्रव्य नहीं; तब उत्पत्ति-विनाशलक्षण, क्रमशः प्रवर्त्तमान, पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली उन-उन व्यतिरेक पर्यायों के द्वारा; उत्पत्ति-विनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को सोने की भाँति असद्भावसंबंद्ध ही उत्पाद होता है।

वह इसप्रकार है कि जब बाजूबंद आदि पर्यायें कही जाती हैं; सोना नहीं; तब बाजूबंद आदि पर्यायों के समान जीवित, क्रमशः प्रवर्त्तमान, बाजूबंद आदि पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक व्यक्तियों के द्वारा; सोने के समान जीवित युगपद् प्रवर्त्तमान सोने की उत्पादक अन्वय शक्तियों को प्राप्त सोने के असद्भावयुक्त ही उत्पाद है।

अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्यशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः।

तथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभियौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरङ्गादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन्।

द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः; तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमाङ्गदादिपर्यायमात्री क्रियेत।

ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम्।।१११।।

अब पर्यायों की चर्चा के समय भी असत्-उत्पाद में पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेक व्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तिपने को प्राप्त होती हुई पर्यायों को द्रव्यरूप करती हैं।

जिसप्रकार बाजूबंद आदि पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेक व्यक्तियाँ युगपद् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तिपने प्राप्त करती हुई बाजूबंद आदि पर्यायों को सोना करता है।

उसीप्रकार द्रव्य की चर्चा के समय भी सत्-उत्पाद में द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति को प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्व को प्राप्त होती हुईं, द्रव्य को पर्यायरूप करती हैं।

जिसप्रकार सोने की उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्व को प्राप्त होती हुई, सोने को बाजूबंद पर्यायरूप करती हैं; उसीप्रकार द्रव्य के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए।

इसलिए द्रव्यार्थिकनय के कथन से सत्-उत्पाद है और पर्यायार्थिकनय के कथन से असत्-उत्पाद है – यह बात निर्दोष है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''जिससमय द्रव्यार्थिकनय से देखते हैं तो यह स्पष्ट ही है कि कड़े में जो सोना है, कंकण में भी वही सोना है; इसकारण सत्-उत्पाद कहा जाता है और जब पर्यायार्थिकनय से देखते हैं तो कंकण पर्याय जो अभी उत्पन्न हुई है, वह पहले नहीं थी; अतः यह असत्-उत्पाद है।''

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए वे गृहत्याग और मुनिदीक्षा का भी उदाहरण देते हैं।

इसप्रकार यह स्पष्ट हुआ कि पर्यायदृष्टि से देखने पर असत् का उत्पाद हुआ है और द्रव्यदृष्टि से देखने पर सत् का उत्पाद हुआ है।।१११।।

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति। अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति –

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि।।११२।।
मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि।।११३।।

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुनः।
किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न जहदन्यः कथं भवति।।११२।।
मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा।
एवमभवन्ननन्यभावं कथं लभते।।११३।।

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव। यस्तु द्रव्यस्य

१११वीं गाथा में सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद में कोई विरोध नहीं है – यह सिद्ध किया गया; अब इन ११२ व ११३वीं गाथाओं में सत्-उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा तथा असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परिणमित जिय नर देव हो या अन्य हो पर कभी भी।
द्रव्यत्व को छोड़े नहीं तो अन्य होवे किसतरह।।११२।।
मनुज देव नहीं है अथवा देव मनुजादिक नहीं।
ऐसी अवस्था में कहो कि अनन्य होवे किसतरह।।११३।।

परिणमित होता हुआ जीव, मनुष्य, देव या अन्य तिर्यंच, नारकी या सिद्ध होगा; परन्तु क्या वह मनुष्यादिरूप होने से जीवत्व को छोड़ देगा ? नहीं, कदापि नहीं; तो फिर वह अन्य कैसे हो सकता है ?

मनुष्य देव नहीं है अथवा देव, मनुष्य या सिद्ध नहीं है – ऐसी स्थिति में वे अनन्य कैसे हो सकते हैं ?

एकसाथ समागत ये दोनों गाथायें एकदम परस्पर विरुद्ध दिखाई देती हैं। एक कहती है कि वे अन्य-अन्य कैसे हो सकते हैं और दूसरी कहती है कि वे अनन्य कैसे हो सकते हैं ?

मूल बात यह है कि उक्त गाथाओं में सत्-उत्पाद में अनन्यपना और असत्-उत्पाद में अन्यपना सिद्ध किया गया है।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तियों को कभी न छोड़ता हुआ द्रव्य सत् ही है, विद्यमान ही है।

पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव। ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः।

तथाहि – जीवो द्रव्यं भवन्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति। स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति। यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात्।।११२।।

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव। यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्न पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्या सदुत्पादः।

तथाहि – न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात् न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात्। येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात्।।११३।।

द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेक व्यक्तित्व का उत्पाद होता है; उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति अच्युत रहती है; इसकारण द्रव्य अनन्य ही है। इसलिए अनन्यपने से द्रव्य का सत् उत्पाद निश्चित होता है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – जीव, द्रव्य होने से और द्रव्य, पर्यायों में वर्तने से जीव; नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व में से किसी एक पर्याय में अवश्यमेव परिणमित होगा; परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप होकर भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है क्या ? यदि नहीं छोड़ता तो वह अन्य कैसे हो सकता है कि जिससे त्रिकोटि सत्ता (त्रैकालिक-अस्तित्व) जिसके प्रगट है – ऐसा वह जीव वही जीव न हो ?

पर्यायें पर्यायभूत व्यतिरेक व्यक्तित्व के काल में ही सत् (विद्यमान) होने से अन्य कालों में असत् (अविद्यमान) ही हैं। पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ जो क्रमानुसार उत्पाद होता है, उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्ति का पूर्व में असत् पना होने से पर्यायें अन्य ही हैं। इसलिए पर्यायों की अन्यता द्वारा पर्यायों के स्वरूप का कर्ता, करण और अधिकरण होने से पर्यायों से अपृथक् द्रव्य का असत् उत्पाद निश्चित होता है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है और देव, मनुष्य या सिद्ध नहीं है; इसप्रकार न होता हुआ जीव अनन्य कैसे हो सकता है ? कंकण आदि पर्यायों में उत्पन्न होनेवाले स्वर्ण की भाँति जीव भी मनुष्यादि पर्यायों में उत्पन्न होता हुआ पर्यायापेक्षा अन्य-अन्य ही है।''

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्वयत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति –

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ।।११४।।

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ।।११४।।

उक्त गाथाओं का भाव यह है कि जिसप्रकार सोने की दृष्टि से देखने पर कंकणादि पर्यायों में परिणमित होता हुआ सोना सोना ही रहता है, अनन्य ही रहता है; अन्य-अन्य नहीं हो जाता। उसीप्रकार द्रव्य की दृष्टि से देखने पर मनुष्यादि पर्यायों में परिणमित होता हुआ जीवद्रव्य जीव ही रहता है, अनन्य ही रहता है; अन्य-अन्य नहीं हो जाता है। इस अपेक्षा सत् का ही उत्पाद होता है।

जिसप्रकार कंकणादि गहनों की दृष्टि से देखने पर कंकणादि पर्यायों में परिणमित सोना कंकणादि ही हो जाता है, अन्य-अन्य ही हो जाता है, अनन्य नहीं रहता। उसीप्रकार मनुष्यादि पर्यायों की दृष्टि देखने पर मनुष्यादि पर्यायों में परिणमित जीव मनुष्यादि ही हो जाता है, अन्य-अन्य ही हो जाता है, अनन्य नहीं रहता। इस अपेक्षा से असत् का ही उत्पाद होता है।

इन गाथाओं में अनेक तर्क व उदाहरण देकर यही बात समझाने की कोशिश की है कि **द्रव्य और पर्याय कथंचित् अन्य-अन्य हैं और कथंचित् अनन्य। जिस अपेक्षा से वे अनन्य हैं, उस अपेक्षा से सत्-उत्पाद है और जिस अपेक्षा से अन्य-अन्य हैं; उस अपेक्षा से असत्-उत्पाद है।**

जैनदर्शन का सम्पूर्ण प्रतिपादन नय सापेक्ष है, स्याद्वादरूप है; उसमें एकान्तवाद को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, सर्वत्र अनेकान्तवाद का ही साम्राज्य है ।।११२-११३।।

गाथा ११२ में सत्-उत्पाद को अनन्यपना सिद्ध किया और गाथा ११३ में असत्-उत्पाद को अन्यपना सिद्ध किया; अब ११४वीं गाथा में **एक ही द्रव्य में अन्यपना और अनन्यपना होने से जो विरोध मालूम पड़ता है; उसका निराकरण करते हैं।** तात्पर्य यह है कि अब यह बताते हैं कि **अपेक्षा से देखें तो दोनों में कोई विरोध नहीं है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

द्रव्य से है अनन्य जिय पर्याय से अन-अन्य है।
पर्याय तन्मय द्रव्य से तत्समय अतः अनन्य है ।।११४।।

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिदन्ती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति।

तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति।

यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति। द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्।

द्रव्यार्थिकनय से सब द्रव्य हैं और पर्यायार्थिकनय से वे द्रव्य अन्य-अन्य हैं; क्योंकि उस समय तन्मय होने से द्रव्य पर्यायों से अनन्य है।

इस गाथा के भाव को आ. अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुतः सभी वस्तुयें सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को देखनेवाली-जाननेवाली दो आँखें हैं –

१. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को एकान्ततः (पूर्णतः, सर्वथा, पूरी तरह, अच्छी तरह) बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपनारूप पर्याय विशेषों में व्यवस्थित (सुनिश्चित रहनेवाले) एक जीव सामान्य को देखनेवाले (जाननेवाले) और विशेषों को नहीं देखने (जानने) वाले जीवों को 'यह सब जीव द्रव्य ही है' – ऐसा भासित होता है।

और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को एकान्ततः (पूर्णतः सर्वथा, पूरी तरह, अच्छी तरह) बंद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब जीवद्रव्य में व्यवस्थित (सुनिश्चित रहनेवाले) नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपनारूप पर्याय विशेषों को देखने (जानने) वाले और सामान्य को न देखने (जानने) वाले जीवों को वह जीवद्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है; क्योंकि जिसप्रकार कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठ की अग्नि कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय है; इसलिए इनसे अनन्य है, पृथक् नहीं है; उसीप्रकार जीव द्रव्य भी उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय उन विशेषों से तन्मय होने से उनसे अनन्य है, पृथक् नहीं।

यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥११४॥

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभङ्गीमवतारयति –

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥११५॥

और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर दोनों के द्वारा देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपनेरूप पर्यायों में व्यवस्थित (सुनिश्चितरूप से रहनेवाला) जीव सामान्य तथा जीव सामान्य में व्यवस्थित नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपनेरूप पर्याय, तुल्यकाल में ही एकसाथ दिखाई देते हैं, जाने जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि एक आँख से देखा जाना एकदेशावलोकन है और दोनों आँखों से देखना सर्वावलोकन है; इसलिए सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते।''

इस गाथा में आचार्यदेव कह रहे हैं कि वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है। उसे जानने के लिए दो आँखें चाहिए– एक द्रव्यार्थिकनय की आँख, जो वस्तु के सामान्यस्वरूप को देखती है और दूसरी पर्यायार्थिकनय की आँख, जो वस्तु के विशेषस्वरूप को देखती है।

इसप्रकार प्रमाणज्ञान से दोनों आँखें मिलकर सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को अच्छी तरह जान लेती हैं ॥११४॥

११४वीं गाथा में सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद अथवा एक ही द्रव्य में अन्यपना और अनन्यपने में दिखाई देनेवाले विरोध का नयविवक्षा से शमन किया है; अब इस ११५वीं गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हुए **समस्त विरोध को समाप्त करनेवाली सप्तभंगी** की चर्चा करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अपेक्षा से द्रव्य 'है' 'है नहीं' 'अनिर्वचनीय' है।
'है है नहीं' इसतरह ही अवशेष तीनों भंग हैं ॥११५॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम्।
पर्यायेण तु केनचित् तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ।।११५।।

स्यादस्त्येव १ स्यान्नास्त्येव २ स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादस्तिनास्त्येव ४ स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७; स्वरूपेण १ पररूपेण २ स्वपररूपयौगपद्येन ३ स्वपररूपक्रमेण ४ स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५ पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ६ स्वरूपपररूपस्वपरयौगपद्यै: ७ आदिश्यमानस्य स्वरूपेण सत:, पररूपेणासत: स्वरूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपरयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यै: सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभङ्गिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ।।११५।।

द्रव्य किसी पर्याय से अस्ति, किसी पर्याय से नास्ति और किसी पर्याय से अवक्तव्य है। इसीप्रकार किसी पर्याय से अस्ति-नास्ति अथवा किसी पर्याय से अन्य तीन भंगरूप कहा गया है। ध्यान रहे यहाँ पर्याय शब्द अपेक्षा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आ. अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''द्रव्य स्वरूप की अपेक्षा से स्यात्-अस्ति; पररूप की अपेक्षा से स्यात्-नास्ति; स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से स्यात्-अवक्तव्य; स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा से स्यात्-अस्ति-नास्ति; स्वरूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से स्यात् अस्ति-अवक्तव्य; पररूप और स्वरूप-पररूप की अपेक्षा से स्यात्-नास्ति-अवक्तव्य और स्वरूप की, पररूप की तथा स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से स्यात्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य है।

द्रव्य का कथन करने में जो स्वरूप से सत् है; पररूप से असत् है; जिसका स्वरूप और पररूप से युगपत् कथन अशक्य है; जो स्वरूप से पररूप से क्रमश: सत्-असत् है; जो स्वरूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् सत्-अवक्तव्य है; जो पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् असत्-अवक्तव्य है; और जो स्वरूप से, पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् सत्-असत्-अवक्तव्य है।

ऐसे अनंत धर्मों वाले द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षितता और अविवक्षितता के विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी सतत् सम्यक्तया उच्चारित करने पर स्यात्काररूपी अमोघ मंत्र पद के द्वारा 'एवकार' में रहनेवाले समस्त विरोध-विष के मोह को दूर करती है।''

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृत्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति –

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो।।११६।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि सप्तभंगी दो प्रकार की होती है – प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी। नयसप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट कर दी जाती है और प्रमाणसप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट न करके उसके स्थान पर स्यात् या कथंचित् पद का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त सप्तभंगी नयसप्तभंगी है; क्योंकि उसमें अपेक्षा स्पष्ट कर दी गई है कि स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है आदि।

आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका में स्पष्ट लिखते हैं कि यह नयसप्तभंगी है। वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि पंचास्तिकाय की १४वीं गाथा की टीका में 'स्यादस्ति' आदि प्रमाण वाक्यों द्वारा प्रमाणसप्तभंगी बताई गई है।

नयसप्तभंगी में 'एव' अर्थात् 'ही' शब्द का प्रयोग होता है और प्रमाणसप्तभंगी में 'भी' शब्द का प्रयोग होता है। वस्तु, किसी अपेक्षा सत् भी है और किसी अपेक्षा असत् भी है – यह प्रमाण सप्तभंगी के प्रयोग हैं और स्वरूप की अपेक्षा सत् ही है और पररूप की अपेक्षा असत् ही है – यह नयसप्तभंगी के प्रयोग हैं।

बिना अपेक्षा बताये 'ही' शब्द का प्रयोग करना दुर्नयसप्तभंगी है। स्याद् या कथंचित् लगाये बिना ही 'भी' लगाना दुष्प्रमाणसप्तभंगी है।

आचार्य जयसेन लिखते हैं कि 'द्रव्य है' – यह दुष्प्रमाणसप्तभंगी है और 'द्रव्य है ही' – यह दुर्नयसप्तभंगी है।[1]

वस्तुस्वरूप समझने और समझाने के लिए सप्तभंगीन्याय जैनदर्शन का अद्भुत अनुसंधान है, अनुपम निधि है। जैनदर्शन के मर्म को समझने के लिए इस सप्तभंगीन्याय को समझना न केवल अत्यन्त आवश्यक है, अपितु अनिवार्य है।

सप्तभंगी का स्वरूप गहराई से समझने के लिए लेखक की अन्य कृति **परमभावप्रकाशक नयचक्र** के सप्तभंगी नामक छठवें अध्याय का अध्ययन बारीकी से करना चाहिए।

यहाँ उसकी चर्चा विस्तार से करना सम्भव नहीं है।।११५।।

---

[1] पंचास्तिकाय, गाथा १४ की तात्पर्यवृत्ति टीका

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निःफलः परमः ।।११६।।

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति। ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु न कश्चनाप्येष एवेति टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपर्द्यमानत्वात् फलमभिलष्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियायाः। क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका। सा पुनरणोण्वन्तसंगतस्य परिणतिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्व्यणुककार्यस्यैव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादिकत्वात्सफलैव।

विगत गाथा ११५ में सप्तभंगी का स्वरूप स्पष्ट करके अब इस गाथा में यह समझाते हैं कि मनुष्यादि पर्यायरूप विविध दशायें रागादिभावों का फल हैं; क्योंकि ये अनेकरूप दशायें वीतराग भावों का फल तो हो ही नहीं सकती। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पर्याय शाश्वत नहीं परन्तु है विभावस्वभाव तो।
है अफल परमधरम परन्तु क्रिया अफल नहीं कही ।।११६।।

मनुष्यादि पर्यायों में 'यही' ऐसी कोई शाश्वत पर्याय नहीं है; क्योंकि संसारी जीवों के स्वभावनिष्पन्न क्रिया नहीं है – ऐसी बात नहीं है। तात्पर्य यह है कि संसारी जीवों के विभावस्वभाव से उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेषमय क्रिया होती ही है।

यदि परम धर्म अफल है तो राग-द्वेषमय क्रिया अवश्य अफल नहीं है। तात्पर्य यह है कि वीतरागभावरूप क्रिया तो मनुष्यादि पर्यायरूप फल उत्पन्न करती नहीं है; पर राग-द्वेषरूप क्रिया तो मनुष्यादि पर्यायरूप फल उत्पन्न करती ही है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"इस लोक में अनादि कर्म पुद्गल की उपाधि के सद्भाव के कारण जिसके प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है – ऐसे संसारी जीव की राग-द्वेषरूप क्रिया वस्तुतः स्वभाव (विभावस्वभाव) निष्पन्न ही है; इसलिए उसके मनुष्यादि पर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही है' – ऐसी टंकोत्कीर्ण नहीं है; क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान क्रिया के फलस्वरूप होने से उत्तर-उत्तर पर्यायों के द्वारा नष्ट होती हैं।

राग-द्वेषरूप क्रिया का फल तो मोह के साथ मिलन का नाश न हुआ होने से मानना चाहिए; क्योंकि प्रथम तो वह क्रिया चेतन की पूर्वोतर दशा से विशिष्ट चैतन्यपरिणामस्वरूप है।

सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाणवन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ॥११६॥

दूसरे जिसप्रकार दूसरे अणु के साथ युक्त किसी अणु की परिणति द्वि-अणुक कार्य की निष्पादक है; उसीप्रकार मोह के साथ मिलित आत्मा के संबंध में मनुष्यादि कार्य की निष्पादक होने से सफल ही है।

जिसप्रकार जिसका संबंध दूसरे अणु के साथ नष्ट हो गया है – ऐसे अणु की परिणति द्वि-अणुककार्य की निष्पादक नहीं है; उसीप्रकार मोह के साथ मिलन का नाश होने पर द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से परमधर्म कही जानेवाली क्रिया मनुष्यादि कार्य की निष्पादक न होने से अफल ही है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुकरण करते हैं; पर अन्त में मतार्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इससे सांख्यमत का निराकरण भी हो जाता है। सांख्य आत्मा को रागादि भावों का सर्वथा अकर्ता मानते हैं; पर जैनदर्शन के अनुसार यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आत्मा रागादि का कर्ता नहीं है; तथापि अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा रागादि भावों का कर्ता है और वे रागादि भाव भी अफल नहीं हैं; क्योंकि उनसे मनुष्यादि पर्यायरूप विविध पर्यायों की उत्पत्ति होती है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि आत्मा की चैतन्यपरिणतिरूप क्रिया यदि मोह रहित हो तो मनुष्यादि संसारी पर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती और मोहसहित हो तो मनुष्यादि पर्यायरूप फल उत्पन्न करती है।

चूँकि मोह सहित भाव अनेकप्रकार के होते हैं; इसलिए उनके फल में उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि पर्यायें भी टंकोत्कीर्ण, शाश्वत और एकरूप नहीं होतीं; अनेकप्रकार की होती हैं।

तात्पर्य यह है कि संसार में जीवों की परिणति में संयोगों की जो विविधता दिखाई देती है; उसका कारण उनके होनेवाले मोह-राग-द्वेष भावों की विविधता है। मुक्तदशा में सभी जीवों के एकसा वीतरागभाव होने से उनके संयोगों में विविधता नहीं होती॥११६॥

विगत गाथा में यह समझाया गया है कि वीतराग भावों का फल तो सिद्धदशारूप एक मुक्त दशा ही है; ये मनुष्यादि पर्यायों रूप विविध दशायें तो रागादि क्रिया का ही फल हैं और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि यह नाम नामक कर्म ही अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देव – इन पर्यायों को करता है।

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति –

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ।।११७।।

कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन।
अभिभूय नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं करोति ।।११७।।

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूतायाः प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः। क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात्।

अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् प्रदीपवत्। तथाहि – यथा खलु ज्योतिःस्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिः कार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् ।।११७।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

नाम नामक कर्म जिय का पराभव कर जीव को।
नर नारकी तिर्यंच सुर पर्याय में दाखिल करे ।।११७।।

नाम नामक कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देव पर्यायों को धारण करता है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"वस्तुतः आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से मोह सहित क्रिया ही आत्मा का कर्म है, कार्य है; उसके निमित्त से द्रव्यकर्मरूप परिणमन करता हुआ पुद्गल भी कर्म है। उस पुद्गल कर्म की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें मूलकारणभूत जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रियाफल ही हैं; क्योंकि क्रिया के अभाव में पुद्गलों को कर्मपने का अभाव होने से उस पुद्गल कर्म की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायों का अभाव होता है।

दीपक की भांति वे मनुष्यादि पर्यायें कर्म के स्वभाव द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाती हैं। अब इस बात को विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं –

जिसप्रकार दीपक की लौ के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योति का कार्य है; उसीप्रकार कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादि पर्यायें कर्म के कार्य हैं।"

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति –

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥११८॥

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवा: खलु नामकर्मनिर्वृत्ता:।
न हि ते लब्धस्वभावा: परिणममाना: स्वकर्माणि ॥११८॥

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को दीपक के उदाहरण के माध्यम से सर्वांग इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"जिसप्रकार अग्निरूपी कर्ता, कर्मरूपी तैल के स्वभाव का तिरस्कार कर बत्ती के माध्यम से दीपक की ज्योतिरूप से परिणमन करता है; उसीप्रकार कर्माग्निरूपी कर्ता शुद्धात्म-स्वभावरूप तैल का तिरस्कार करके बत्तीरूपी शरीर के माध्यम से दीप शिखा के समान मनुष्य, नारक आदि पर्यायरूप परिणमन करता है।

इससे ज्ञात होता है कि मनुष्यादि पर्यायें निश्चयनय से कर्मजनित हैं।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यही है कि ये **मनुष्यादि पर्यायें राग-द्वेषमय क्रिया के फल में प्राप्त हुई हैं; क्योंकि उस क्रिया से कर्मबंध होता है और कर्म, जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्यादि पर्यायों को उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार इस जीव का यह समस्त संसार चल रहा है।**

यदि हमें इस संसार-समुद्र से पार होना है तो हम परलक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले इन मोह-राग-द्वेष भावों को आत्मा के आश्रय से निराश्रय करें, इनका अभाव करें; क्योंकि संसार दु:खों से मुक्त होने का यही एकमात्र उपाय है ॥११७॥

विगत गाथा में यह कहा है कि कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्यादि पर्यायों को उत्पन्न करते हैं और अब इस गाथा में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि **मनुष्यादि पर्यायों में जीव के स्वभाव का पराभव कैसे होता है?** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

नाम नामक कर्म से पशु नरक सुर नर गती में।
स्वकर्म परिणत जीव को निजभाव उपलब्धि नहीं ॥११८॥

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप जीव वस्तुत: नामकर्म से निष्पन्न हैं। वे अपने कर्मरूप से परिणमित होते हैं; इसलिए उन्हें स्वभाव की उपलब्धि नहीं है।

अमी मनुष्यादय: पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ता: सन्ति तावत्; न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य स्वभावाभिभवोऽस्ति, यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य। यत्तत्र नैव जीव: स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पय:पूरवत्। यथा खलु पय:पूर: प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजीं परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादु-त्वस्वभावमुपलभते; तथात्मापि प्रदेश-भावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥११८॥

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार कनकबद्ध (सुवर्ण में जड़े हुए) माणिक के कंगनों में माणिक के स्वभाव का पराभव नहीं होता; उसीप्रकार ये मनुष्यादिपर्यायें नामकर्म से निष्पन्न हैं; किन्तु इतने से भी वहाँ जीव के स्वभाव का पराभव नहीं है। पानी के पूर की भांति स्वकर्मरूप परिणमित होने से जीव स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, स्वभाव का अनुभव नहीं करता।

जिसप्रकार पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्बचन्दनादि वनराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षों की लम्बी पंक्तिरूप) परिणमित होता हुआ अपने द्रवत्व और स्वादरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता; उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से (अपने) अमूर्तत्व और निरुपराग विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।"

यहाँ आचार्यदेव ने 'माणिक की भाँति' एवं 'पानी के पूर की भाँति' – इसप्रकार दो उदाहरण दिए हैं।

माणिक को सोने में जड़ दो तो माणिक का पराभव नहीं होता है। सोना भी दिखता रहता है और माणिक भी दिखता रहता है। इसीप्रकार मनुष्यपर्याय में भगवान आत्मा मानो सोने में जड़ा हुआ माणिक है; उसमें मनुष्य पर्याय और भगवान आत्मा दोनों पृथक्-पृथक् चमक रहे हैं।

जिसप्रकार सोने में जड़ने से माणिक का पराभव नहीं होता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का मनुष्यादि पर्यायों में रहने से पराभव नहीं होता।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पराभव का मूल कारण क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव ने पानी के पूर का उदाहरण दिया है। हिमालय से निकला हुआ पानी निर्मल होता है; परंतु वह बहते-बहते जंगल में बहुत सारे नीम, चंदनादि पेड़ों से गुजरता है। वह चंदन के वन में से निकलता है तो सुगंधित हो जाता है और वह नीम के वृक्षों में से निकलता है तो कड़वा हो जाता है। इसमें उस पानी की मूल गंध नहीं रहती और न ही उसका मूल स्वभाव रहता है। इसप्रकार उस पानी का पराभव हुआ; क्योंकि उसका मूलस्वभाव तिरोहित हो गया है।

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति –

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ।।११९।।

इसीप्रकार इस आत्मा का पराभव इस मनुष्य पर्याय में जुड़ जाने से है। यह आत्मा मोह-राग-द्वेषभावों में से निकला है; इसलिए इसका पराभव हुआ है। ध्यान रहे आचार्यदेव ने यहाँ संयोग पर अपराध नहीं मड़ा है।

आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि पानी, नीम में अथवा चन्दन के वृक्ष में चढ़ा हुआ है अर्थात् नीम और चन्दन में भी पानीपन है, गीलापन है। यदि हम नीम की पत्तियों का रस निकालें, चन्दन का रस निकालें तो इसमें उसने तीन चीजें खोई हैं। पानी ने अपना स्वाद खोया है, अपनी गंध खोई है और प्रवाही स्वभाव खोया है; क्योंकि वह पानी वृक्ष में गया और उसी में रम गया। पानी का जो बहना स्वभाव था, वह बंद हो गया; जितना पानी उन वृक्षों ने सोख लिया, उस पानी का प्रवाही स्वभाव समाप्त हो गया। पानी का मूल स्वाद नहीं रहा, नीम के संयोग से कड़वा हो गया। इसीप्रकार गंध में भी परिवर्तन हो जाता है।

उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्तत्व से मूर्तत्व हो गया; तब वह अमूर्तत्व, निरुपराग विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता। यही इस जीव की समस्या का मूल कारण है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मस्वभाव के पराभव का कारण शरीरादि का संयोग नहीं है; अपितु शरीरादि संयोगों में आत्मा का अपनापन है, उन्हें अपना जानना-मानना है, उन्हीं से जुड़ जाना है, उन्हीं में रम जाना है।

इसप्रकार इस गाथा और इसकी टीकाओं में सोने में जड़े हुए माणिक और पानी के पूर (बाढ) के उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि भगवान आत्मा की यह संसारावस्थारूप दुर्दशा देहादि के संयोगों के कारण नहीं हुई है; अपितु उसके विभावस्वभाव में ही ऐसी योग्यता विद्यमान थी; उसी के कारण यह सब हुआ है।

तात्पर्य यह है कि परद्रव्य के कारण सुख-दुख नहीं हैं; स्वयं के कारण ही हैं ।।११८।।

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि जीवद्रव्य द्रव्यरूप से अवस्थित होने पर भी पर्यायरूप से अनवस्थित है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय ना प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययमय लोक में।
अन-अन्य हैं उत्पाद-व्यय अर अभेद से हैं एक भी ।।११९।।

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित्।
यो हि भवः स विलयः संभवविलयाविति तौ नाना॥११९॥

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च। अथ च मनुष्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणामित्वादुत्संगतिक्षणभङ्गोत्पादः। न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्वनानात्वाभ्याम्। यदा खलु भङ्गोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः।

तथाहि – यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूता मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं संभवति। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव संभवः। स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यवज्जीवद्रव्यं संभाव्यत एव। ततः सर्वदा द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते।

प्रतिक्षण उत्पाद और विनाशवाले जीव लोक में न कोई उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट होता है; क्योंकि जो उत्पाद है, वही विनाश है। इसप्रकार वे उत्पाद तथा विनाश – एक भी हैं और अनेक भी हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"यद्यपि इस लोक में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता है; तथापि मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारकात्मक जीवलोक प्रतिक्षण परिणामी होने से क्षण-क्षण में होनेवाले विनाश और उत्पाद के साथ भी जुड़ा हुआ है।

इसमें कोई विरोध भी नहीं है; क्योंकि उद्भव और विलय में एकपना और अनेकपना है। जब उत्पाद और विनाश के एकपने की अपेक्षा ली जावे; तब यह पक्ष फलित होता है कि न तो कोई उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट होता है और जब उत्पाद और विनाश के अनेकपने की अपेक्षा ली जावे; तब प्रतिक्षण होनेवाले विनाश और उत्पाद का पक्ष फलित होता है।

वह इसप्रकार है – जिसप्रकार 'जो घड़ा है, वही कूँडा है' – ऐसा कहे जाने पर घड़े और कूँडे के स्वरूप का एकपना असंभव होने से; उन दोनों की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है; उसीप्रकार 'जो उत्पाद है, वही विनाश है' – ऐसा कहे जाने पर उत्पाद और विनाश के स्वरूप का एकपना असंभव होने से उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है; इसलिए देवपर्याय के उत्पन्न होने और मनुष्यादि पर्याय के नष्ट होने पर, 'जो उत्पाद है, वही विलय है' – इस अपेक्षा से उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्यवान जीवद्रव्य प्रगट होता है, लक्ष्य में आता है; इसलिए सर्वदा द्रव्यपने से जीव टंकोत्कीर्ण रहता है।

अपि च यथाऽन्यौ घटोऽन्यत् कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे संभवतः, तथान्यः संभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यस्यान्यत्वासंभवविलयस्वरूपे संभवतः। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्यः संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा संभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ संभाव्येते। ततः प्रतिक्षणं पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः ।।११९।।

जिसप्रकार 'घड़ा अन्य है और कूंडा अन्य है' – ऐसा कहे जाने पर उन दोनों की आधारभूत मिट्टी का अन्यपना असंभवित होने से घड़े का और कूँडे का भिन्न-भिन्न स्वरूप प्रगट होता है; उसीप्रकार 'उत्पाद अन्य है और व्यय अन्य है' – ऐसा कहे जाने पर, उन दोनों के आधारभूत ध्रौव्य का अन्यपना असंभवित होने से उत्पाद और व्यय का भिन्न-भिन्न स्वरूप प्रगट होता है; इसलिए देवादि पर्याय के उत्पन्न होने पर और मनुष्यादि पर्याय के नष्ट होने पर, 'उत्पाद अन्य है और व्यय अन्य है' – इस अपेक्षा से उत्पाद और व्ययवाली देवादि पर्यायें और मनुष्यादि पर्यायें प्रगट होती हैं, लक्ष्य में आती हैं; इसलिए जीव प्रतिक्षण पर्यायों से अनवस्थित है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए नयों का प्रयोग करते हैं और निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि आत्मा द्रव्यार्थिकनय से नित्य होने पर भी पर्यायार्थिकनय से विनाशशील है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए वे तत्त्वप्रदीपिका में दिये गये उदाहरणों के साथ-साथ मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय पर भी इस बात को घटित करते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अवस्थित भी है और अनवस्थित भी है; द्रव्यदृष्टि से अवस्थित है और पर्यायदृष्टि से अनवस्थित है। एक ही द्रव्य के एकसाथ अवस्थित और अनवस्थित होने में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि ये दोनों प्रत्येक द्रव्य के सहज स्वभाव हैं। एक द्रव्यस्वभाव है और दूसरा पर्यायस्वभाव है।

द्रव्यों के अवस्थित और अनवस्थित होने में परद्रव्य का कोई सहयोग नहीं है, हस्तक्षेप नहीं है। इस बात को ऐसे भी कहा जाता है कि द्रव्य के स्वभाव की ओर से देखा जाय तो उत्पाद और नाश एक ही हैं; क्योंकि वे द्रव्य के सहज स्वभाव हैं। द्रव्य में उत्पाद-व्यय होने के लिए न तो पर के सहयोग की आवश्यकता है और न किसी कर्मोदय की अपेक्षा है।

अब यदि दोनों को पर्यायस्वभाव की ओर से देखें तो अलग-अलग ही हैं, एक नहीं; क्योंकि एक का स्वभाव उत्पन्न होनेरूप है और दूसरे का स्वभाव नष्ट होनेरूप है, एक आनेरूप है और दूसरा जानेरूप है। यह सब हम सभी को प्रत्यक्ष दिखाई देता है; अतः इसमें किसी भी प्रकार की शंका-आशंका करने की जरूरत नहीं है ।।११९।।

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्योतयति –

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ।।१२०।।

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति संसारे।
संसारः पुनः क्रिया संसरतो द्रव्यस्य ।।१२०।।

यतः खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थितः; ततः प्रतीयते न कश्चिदपि संसारे स्वभावेनावस्थित इति। यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र संसार एव हेतुः। तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात्। अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम् ।।१२०।।

विगत गाथा में यह कहा है कि द्रव्य, द्रव्यस्वभाव से अवस्थित होने पर भी पर्यायस्वभाव से अनवस्थित भी है और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि ऐसा क्यों है ? तात्पर्य यह है कि जीवद्रव्य के अनवस्थित होने का हेतु क्या है ? गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्वभाव से ही अवस्थित संसार में कोई नहीं।
संसरण करते जीव की यह क्रिया ही संसार है ।।१२०।।

इसलिए इस लोक में स्वभाव से अवस्थित कोई नहीं है। तात्पर्य यह है कि संसार में किसी का भी स्वभाव सदा एकरूप रहनेवाला नहीं है; क्योंकि संसार संसरण का ही नाम है। यह संसार संसरण करते हुए परिवर्तनशील द्रव्य की क्रिया है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुतः जीव द्रव्यपने से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अनवस्थित है। इससे प्रतीत होता है कि संसार में कोई भी स्वभाव से अवस्थित नहीं है। तात्पर्य यह है कि किसी भी द्रव्य का स्वभाव अकेला एकरूप रहने का ही नहीं है और इस अनवस्थितता का मूल हेतु संसार ही है; क्योंकि वह मनुष्यादि पर्यायात्मक है, वह स्वरूप से ही वैसा है। उसमें परिणमन करते हुए द्रव्य की पूर्वोत्तर दशा के त्याग-ग्रहणरूप क्रिया का नाम ही संसार है, यही संसार का स्वरूप है।"

यद्यपि इस गाथा में यही कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु के समान भगवान आत्मा भी द्रव्यदृष्टि से अवस्थित (सदा एकरूप) और पर्यायदृष्टि से अनवस्थित (प्रतिसमय परिवर्तनशील) है; तथापि यहाँ अवस्थित होने की अपेक्षा अनवस्थित होने पर अधिक वजन दिया गया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर्यायदृष्टि की मुख्यता से कथन किया गया है।।१२०।।

अथ परिणामात्मके संसारे कुतः पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति –

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो।।१२१।।

आत्मा कर्ममलीमसः परिणामं लभते कर्मसंयुक्तम्।
ततः श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणामः।।१२१।।

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः। अथ तथाविद्यपरिणामस्याति को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनेवोपलम्भात्। एवंसतीतरेतराश्रयदोषः। न हि अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात्।

एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव। तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युचारात्।।१२१।।

विगत गाथा में यह बताने के बाद कि संसार में कोई सर्वथा अवस्थित नहीं है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि इस परिणमनशील संसार में आत्मा से देह के संबंध का क्या कारण है ? गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

कर्ममल से मलिन जिय पा कर्मयुत परिणाम को।
कर्मबंधन में पड़े परिणाम ही बस कर्म हैं।।१२१।।

कर्म से मलिन आत्मा कर्मसंयुक्त परिणाम को प्राप्त करता है; उससे कर्म चिपक जाते हैं; इसलिए परिणाम ही कर्म हैं।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"द्रव्यकर्मों के चिपकने का हेतु आत्मा का संसार नामक विकारी परिणाम हैं।

अब प्रश्न होता है कि उक्त परिणाम का हेतु कौन है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उसका हेतु द्रव्यकर्म हैं, क्योंकि द्रव्यकर्म के संयोग से ही संसार नामक विकारी परिणाम देखा जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा मानने पर तो इतरेतराश्रय नामक दोष आयेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं होगा; क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ संबंद्ध आत्मा का जो पहले का द्रव्यकर्म है; उसको ही यहाँ हेतुरूप से ग्रहण किया है।

इसप्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्य और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारण है – आत्मा का ऐसा परिणाम उपचार से द्रव्यकर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता होने से द्रव्यकर्म का कर्ता भी उपचार से है।"

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तुत्वमुद्योतयति –

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥१२२॥

परिणामः स्वयमात्मा सा पुनः क्रियेति भवति जीवमयी।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥१२२॥

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्।

इस गाथा में यही कहा गया है कि पुराना द्रव्यकर्म जब उदय में आता है तो उसके निमित्त और अपने अशुद्ध-उपादान से मोह-राग-द्वेषरूप भावसंसार होता है। उक्त मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त और अपनी उपादानगत योग्यता से पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें कर्मरूप से परिणमित होकर आत्मा से बंध जाती है।

'द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म' – ऐसा मानने पर अर्थात् द्रव्यकर्मों का भावकर्म के आश्रय से और भावकर्मों का द्रव्यकर्मों के आश्रय से उत्पन्न होना मानने पर इतरेतराश्रय नामक दोष आ सकता था; किन्तु यहाँ यह दोष नहीं है; क्योंकि यहाँ जिन पुराने द्रव्यकर्मों के उदय से भावकर्म हुए हैं; भावकर्म के उदय से बंधनेवाले द्रव्यकर्म वे नहीं हैं; अपितु नये ही हैं। अतः उक्त मान्यता पूर्णतः निर्दोष है ॥१२१॥

विगत गाथा में द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म किसप्रकार होते हैं ? – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि **आत्मा कथंचित् भावकर्म का कर्ता तो है; पर द्रव्यकर्म का कर्ता कदापि नहीं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परिणाम आत्मा और वह ही कही जीवमयी क्रिया।
वह क्रिया ही है कर्म जिय द्रवकर्म का कर्ता नहीं ॥१२२॥

परिणाम स्वयं आत्मा है और वह जीवमय क्रिया है। क्रिया को कर्म माना गया है; इसलिए आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"आत्मा का परिणाम वस्तुतः आत्मा ही है; क्योंकि परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणामी परिणाम से अनन्य है और जो उसका तथाविध परिणाम है; वह जीवमयी क्रिया है; क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामलक्षणक्रिया आत्ममयता (निजमयता) से ही स्वीकार की गई है।

या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतंत्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः।

अथ द्रव्यकर्मणः कः कर्तेति चेत् पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्।

या च क्रिया सा पुनः पुद्गलेन स्वतंत्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः।

तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति ।।१२२।।

जीवमयी क्रिया आत्मा के द्वारा स्वतंत्ररूप से प्राप्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य होने से कर्म है; इसलिए परमार्थतः आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्म का कर्ता है; किन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं।

अब यदि कोई ऐसा कहे कि – तो फिर द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि पुद्गल का परिणाम वस्तुतः पुद्गल ही है; क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य है और जो उसका तथाविध परिणाम है, वह पुद्गलमयी क्रिया है; क्योंकि सर्वद्रव्यों की परिणामस्वरूप क्रिया निजमय होती है – ऐसा स्वीकार किया गया है।

पुद्गलमयी क्रिया पुद्गल के द्वारा स्वतंत्ररूप से प्राप्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य होने से कर्म है; इसलिए परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप द्रव्यकर्म का ही कर्ता है; किन्तु आत्मा के परिणामरूप भावकर्म का नहीं।

निष्कर्ष रूप में यह समझना ही ठीक है कि आत्मा आत्मस्वरूप ही परिणमित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणमित नहीं होता।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं; पर अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं कि –

''यद्यपि कथंचित् परिणामी होने से जीव का कर्तापन सिद्ध है; तथापि निश्चयनय से वह अपने परिणामों का ही कर्ता है, पुद्गल कर्मों का कर्ता तो व्यवहार से कहा जाता है। जब जीव शुद्धोपादानकारणरूप शुद्धोपयोग से परिणमित होता है, तब मोक्ष को प्राप्त करता है और अशुद्धोपादानकारणरूप अशुद्धोपयोग से परिणमित होता है, तब बंध को प्राप्त होता है। जीवों के समान पुद्गल भी निश्चयनय से अपने परिणामों का कर्ता है और व्यवहारनय से जीव के परिणामों का कर्ता कहा जाता है।''

अथ किं तत्स्वरूपं येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति। अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति –

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ।।१२३।।
णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ।।१२४।।

परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता।
सा पुनः ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ।।१२३।।
ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम्।
तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा ।।१२४।।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि भावकर्म का कर्ता आत्मा और द्रव्यकर्म का कर्ता पुद्गलद्रव्य की कार्माण वर्गणायें हैं; क्योंकि मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म आत्मा की विकारी पर्यायें हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म कार्माण वर्गणारूप पुद्गल की पर्यायें हैं। यह कथन निश्चयनय का है। व्यवहारनय से निमित्त की अपेक्षा भावकर्म का कर्ता पौद्गलिक कर्म और द्रव्यकर्म का कर्ता जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि **जो परिणति जिस द्रव्य की हो, उसे उसी द्रव्य की कहना निश्चयनय है और उसे ही निमित्तादिक की अपेक्षा अन्य द्रव्य की कहना व्यवहारनय है।**

इस बात का उल्लेख मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार के निश्चय-व्यवहार संबंधी प्रकरण में स्पष्टरूप से किया गया है। इस गाथा में प्रतिपादित विषयवस्तु पर निश्चय-व्यवहार की उक्त परिभाषायें पूर्णतः घटित होती हैं ।।१२२।।

'भावकर्म का कर्ता आत्मा और द्रव्यकर्म का कर्ता पुद्गल' – विगत गाथा में उक्त तथ्य को स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि **आत्मा ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप परिणमित होता है।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

करम एवं करमफल अर ज्ञानमय यह चेतना।
ये तीन इनके रूप में ही परिणमे यह आतमा ।।१२३।।
ज्ञान अर्थविकल्प जो जिय करे वह ही कर्म है।
अनेकविध वह कर्म है अर करमफल सुख-दुक्ख हैं ।।१२४।।

यतो हि नाम चैतन्यमात्मन: स्वधर्मव्यापकत्वं, ततश्चेतनैवात्मन: स्वरूपं तया खल्वात्मा परिणमति। य: कश्चनाप्यात्मन: परिणाम: स सर्वोऽपि चेतनां नातिवर्तत इति तात्पर्यम्।

चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा। तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणति: कर्मचेतना, कर्मफलपरिणति: कर्मफलचेतना ।।१२३।।

अर्थविकल्पस्तावत् ज्ञानम्। तत्र क: खल्वर्थ:, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम्।

यस्तु मुकुन्दहृदयाभोग इव युगपदभासमानस्वपराकारोऽर्थविकल्पस्तद् ज्ञानम्।

क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाण: खल्वात्मा प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता य: तद्भाव: स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात्। तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसन्निधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम्। तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदु:खं तत्कर्मफलम्। तत्र द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्या-

---

आत्मा चेतनारूप से परिणमित होता है और चेतना ज्ञानसंबंधी, कर्मसंबंधी और कर्मफलसंबंधी – इसप्रकार तीन प्रकार की कही गई है।

अर्थविकल्प ज्ञान है, जीव के द्वारा जो किया जा रहा हो, वह कर्म है और वह अनेकप्रकार का है। सुख या दु:ख कर्मफल कहे गये हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"आत्मा का स्वधर्मव्यापकपना चेतना ही है; इसलिए चेतना ही आत्मा का स्वरूप है; क्योंकि आत्मा चेतनरूप परिणमित होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना का उल्लंघन नहीं करता।

चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप से तीन प्रकार की होती है। इसमें ज्ञानपरिणति 'ज्ञानचेतना', कर्मपरिणति 'कर्मचेतना' और कर्मफलपरिणति 'कर्मफलचेतना' है।

अर्थविकल्प ज्ञान है और स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है। अर्थ के आकारों का अवभासन विकल्प है।

जिसप्रकार दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर के आकार एकसाथ प्रकाशित होते हैं; उसीप्रकार जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं – ऐसा अर्थविकल्प ज्ञान है।

जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कर्म है। प्रतिक्षण उस-उस भाव से परिणमित होते हुए आत्मा के द्वारा किये जानेवाला जो भाव है, वही आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है। यद्यपि वह कर्म एक प्रकार का ही है; तथापि द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेकप्रकार का हो जाता है।

उक्त कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुख कर्मफल है। द्रव्यकर्मरूप उपाधि की

सद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षणं प्रकृतिभूतं सौख्यं, यत्तु द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्य-सद्भावात्कर्म तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृतिभूतं दुःखम्।

एवं ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपनिश्चयः ।।१२४।।

निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्वलक्षण स्वभावभूत सुख है और द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल विकारभूत दुख है; क्योंकि वहाँ सुख के लक्षण का अभाव है।

इसप्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप निश्चित हुआ।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं; तथापि वे कर्मचेतना के तीन प्रकार बताते हैं; जो शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगरूप ही हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं ही पंचास्तिकाय गाथा ३९ में कहते हैं कि **सभी स्थावर जीव कर्मफल को वेदते हैं; त्रसजीव कर्म सहित कर्मफल को वेदते हैं और जो प्राणों का अतिक्रम कर गये हैं; वे सर्वज्ञ भगवान ज्ञान को वेदते हैं।**

यहाँ परिपूर्ण ज्ञानचेतना की अपेक्षा केवलज्ञानी अरहंत-सिद्ध भगवन्तों को ही ज्ञानचेतना बताई जा रही है। **आंशिक ज्ञानचेतना की अपेक्षा से साधुओं, व्रती श्रावकों तथा अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावकों को भी ज्ञानचेतना कही जाती है। यह सब विवक्षाभेद ही है, मतभेद नहीं।**

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के भेद से चेतना तीन प्रकार की होती है। यह भगवान आत्मा चेतन है, चेतनारूप परिणमित होता है; इसलिए यह चेतना आत्मा का स्वरूप है।

आत्मा का कोई परिणमन चेतना का उल्लंघन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि **आत्मा के प्रत्येक परिणमन में चेतना विद्यमान रहती है।**

जिसमें स्व, स्वरूप में और पर, पररूप में एक ही साथ भिन्नतापूर्वक प्रतिभासित होते हैं, वह ज्ञान है। जीव के द्वारा किया जानेवाला भाव कर्म है। वह दो प्रकार का है – निरुपाधिक शुद्धभावरूप कर्म और औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म।

इस कर्म (कार्य) के द्वारा उत्पन्न सुख-दुख कर्मफल है। शुद्धभावरूप कर्म का फल निराकुल सुख है और शुभाशुभभावरूप कर्म का फल आकुलतारूप दुख है।

इसप्रकार ज्ञानचेतना धर्मरूप है और कर्मचेतना व कर्मफलचेतना धर्मरूप भी है और अधर्मरूप भी है; क्योंकि ज्ञानचेतना तो ज्ञानी के ही होती है; पर कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ज्ञानी-अज्ञानी – दोनों को होती है। ज्ञानी को शुद्धोपयोगरूप कर्मचेतना और अतीन्द्रियसुख

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति –

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो।।१२५।।

आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी।
तस्मात् ज्ञानं कर्म फलं चात्मा ज्ञातव्यः।।१२५।।

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैव, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात्। परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञानं कर्म कर्मफलं वा भावितुं शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः। ततो ज्ञानं कर्म कर्मफलं चात्मैव। एवं हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तःप्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते।।१२५।।

रूप कर्मफलचेतना होती है और कदाचित् शुभाशुभभावरूप कर्मचेतना और इन्द्रियसुख-दुखरूप कर्मफलचेतना भी होती है; पर अज्ञानी को सदा शुभाशुभभावरूप कर्मचेतना और इन्द्रियसुख-दुखरूप कर्मफलचेतना ही होती है। यदि हम ज्ञानी-अज्ञानी का भेद नहीं करें तो सामान्यरूप से कहा जा सकता है कि चेतना जीव का लक्षण है और वह लक्षण किसी न किसी रूप में प्रत्येक जीव में सदा पाया ही जाता है।।१२३-१२४।।

विगत गाथाओं में ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद अब इस गाथा में यह बताते हैं कि ये तीनों चेतनायें प्रकारान्तर से एक आत्मा ही हैं; क्योंकि ये आत्मा की ही पर्यायें हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आत्मा परिणाममय परिणाम तीन प्रकार हैं।
ज्ञान कर्मरु कर्मफल परिणाम ही हैं आत्मा।।१२५।।

आत्मा परिणामात्मक है। परिणाम ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है; इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा है – ऐसा समझना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“वस्तुतः आत्मा परिणामस्वरूप ही है; क्योंकि ‘परिणाम स्वयं आत्मा है’ – ऐसा ११२वीं गाथा में आचार्यदेव ने स्वयं ही कहा है। परिणाम चेतनास्वरूप होने से ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होने के स्वभाववाला है; क्योंकि चेतना तन्मय अर्थात् ज्ञानमय, कर्ममय और कर्मफलमय होती है; इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही हैं।

इसप्रकार शुद्धद्रव्य के निरूपण में परद्रव्य का संपर्क असंभव होने से और पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो जाने से आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका का पूर्णतः अनुकरण करते हुए अन्त में निष्कर्ष के रूप में मात्र इतना जोड़ देते हैं **कि परिणामी आत्मा निश्चयरत्नत्रयस्वरूप शुद्धोपयोग से मोक्ष को और शुभ-अशुभ परिणामों से बंध को साधता है, प्राप्त करता है।**

इसप्रकार इस गाथा में यह बात स्पष्ट की गई है कि यहाँ स्वद्रव्य-परद्रव्य की पृथकता के संदर्भ में स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय 'स्व' में और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय 'पर' में शामिल होते हैं। अपने गुण-पर्याय भी पर हैं – ऐसी बात यहाँ नहीं है।

समयसार में गुणभेद, प्रदेशभेद और पर्यायों को पर कहकर उनसे भिन्न स्वद्रव्य को शुद्ध द्रव्य कहा जाता है और यहाँ अपने गुण-पर्याय सहित द्रव्य को ही शुद्ध द्रव्य कहा गया है।

यहाँ पर जो स्व-पर का भेदविज्ञान करना है, वह इसप्रकार का ही है कि स्वद्रव्य-गुण-पर्याय 'स्व' एवं परद्रव्य-गुण-पर्याय 'पर'।

यही कारण है कि यहाँ अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि आत्मा परिणामात्मक है; इसकारण ज्ञानरूप परिणमन, कर्मरूप परिणमन और कर्मफलरूप परिणमन आत्मा ही है और अन्त में तो यहाँ तक लिख दिया है कि शुद्धद्रव्य के निरूपण में परद्रव्य का संपर्क असंभव है और अपनी पर्यायें अपने में समा गई हैं; इसकारण आत्मा शुद्ध ही है, शुद्ध ही रहता है।

समयसार और प्रवचनसार की कथनपद्धति में मूलभूत अन्तर यह है कि समयसार मुख्यतः आत्मानुभव की दृष्टि से मात्र निज त्रिकाली ध्रुव आत्मा को ही निज में शामिल करता है और प्रवचनसार वस्तुस्वरूप की मुख्यता से अपने द्रव्य, गुण और पर्यायें – इन तीनों को 'स्व' में शामिल करता है।

यहाँ इस बात का ध्यान सदा रखना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं, मतभेद खड़े हो सकते हैं। अतः यही ठीक है कि जहाँ जो बात जिस अपेक्षा से कही गई है, वहाँ वही अपेक्षा लगाकर समझने का प्रयत्न करना चाहिए॥१२५॥

यह १२६वीं गाथा द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार के उपसंहार की गाथा है। इसकी उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **इसप्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है; इसप्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए द्रव्यसामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हैं।**

आत्मा ज्ञानरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है। ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन में आत्मा के ज्ञानस्वभाव को स्पष्ट किया गया है और यहाँ उसके ज्ञेयस्वभाव को समझाया जा रहा है।

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्य शुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति –

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।।१२६।।

कर्ता करणं कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम्।।१२६।।

यो हि नामैवं कर्तारं करणं कर्म कर्मफलं चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसंपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः। तथा हि – यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्‌गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरंजिता-

यहाँ इस द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार में आत्मा के ज्ञेयत्व के सामान्य स्वरूप को बताया है। आगे के द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार में अन्य द्रव्यों के साथ-साथ आत्मा के ज्ञेयत्व के विशेष स्वरूप को समझायेंगे। इस उपसंहार की गाथा में तो मात्र यह बताते हैं कि **आत्मा के ज्ञेयतत्त्व के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो श्रमण निश्चय करे कर्ता करम कर्मरु कर्मफल।
ही जीव ना पररूप हो शुद्धात्म उपलब्धि करे।।१२६।।

'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' – ऐसा निश्चयवाला होता हुआ श्रमण यदि अन्यरूप परिणमित ही न हो तो वह शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"इसप्रकार जो पुरुष – 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' – यह निश्चय करके परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता; वही पुरुष जिसका परद्रव्य के साथ संपर्क रुक गया है और जिसकी पर्यायें स्वद्रव्य के भी भीतर प्रलीन हो गई हैं – ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है; अन्य कोई पुरुष ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं करता।

अब इसी बात को स्पष्टरूप से विशेष समझाते हैं – जब जपाकुसुम की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग (लालिमा) से रंजित परिणतिवाले स्फटिक मणि के समान अनादिसिद्ध पौद्‌गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता से उत्पन्न उपराग से रंजित परिणतिवाला मैं पर के द्वारा आरोपित विकारवाला होने से संसारी था; तब भी मेरा कोई संबंधी नहीं था।

त्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिप्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्ति: स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमासं संसारी, तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्। तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतंत्र: कर्ता सम् अहमेकएवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतम: करणमासम्, अहमेक एवोपरक्त चित्परिणमन स्वभावेनात्मना प्राप्य: कर्मासम्, अहमेक एव चोपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं विपर्ययस्तलक्षणं दु:खाख्यं कर्मफलमासम्।

इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्ति: स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षु:, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतंत्र: कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतम: करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्य: कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि।

मैं अकेला ही कर्ता था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतंत्र था; मैं अकेला ही करण था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव के द्वारा साधकतम था; मैं अकेला ही कर्म था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य अर्थात् प्राप्त होने योग्य था और मैं अकेला ही सुख से विपरीत लक्षणवाला दुख नामक कर्मफल था, जो कि उपरक्त चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता था।

और अब जपाकुसुम की निकटता के नाश से सुविशुद्ध सहजरूप परिणतिवाले स्फटिक मणि के समान अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बंधनरूप उपाधि की निकटता के नाश से सुविशुद्ध सहज स्वपरिणतिवाला मैं पर के द्वारा आरोपित विकार रुक जाने से एकान्ततः मुमुक्षु हूँ और अभी भी मेरा कोई संबंधी नहीं है। अब भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतंत्र हूँ; मैं अकेला ही करण हूँ; क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से साधकतम हूँ; मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य अर्थात् प्राप्त होने योग्य हूँ और मैं अकेला ही अनाकुलत्वलक्षणवाला सुख नामक कर्मफल हूँ, जो कि सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता है।

एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते। परमाणुरिव भावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते। ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति। कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते, ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥१२६॥

'इसप्रकार बंधमार्ग में और मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है' – इसप्रकार भानेवाले पुरुष को परमाणु की भाँति एकत्व भावना में उन्मुख (तत्पर) होने से परद्रव्यरूप परिणति किंचित्मात्र भी नहीं होती और परमाणु की भाँति ही एकत्व को भानेवाला पुरुष पर के साथ संपृक्त नहीं होता; इसलिए परद्रव्य के साथ असंबद्धता के कारण वह सुविशुद्ध होता है और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप से भाता हुआ, वह पुरुष पर्यायों से संकीर्ण नहीं होता, खण्डित नहीं होता; इसलिए पर्यायों से संकीर्ण न होने से सुविशुद्ध होता है।''

अत्यन्त स्पष्टरूप से एक बात तो यहाँ यह कही गई है कि ज्ञानदशा में और अज्ञानदशा में भी आत्मा का पर के साथ कोई संबंध नहीं है; वह अपने परिणमन का स्वयं ही कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल है। दूसरी बात यह है कि उसकी समस्त पर्यायें उसी में विलीन हैं; इसप्रकार वह कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल का अभेद पिण्ड है।

तात्पर्य यह है कि बंधमार्ग में भी आत्मा स्वयं स्वयं को स्वयं से बाँधता है और भोगता है और मोक्षमार्ग में भी आत्मा स्वयं को स्वयं मुक्त करता है और भोगता है। बंधमार्ग में सांसारिक सुख-दुःख को भोगता है और मोक्षमार्ग में अतीन्द्रिय सुख को भोगता है।

इसप्रकार यह आत्मा बंधमार्ग में भी अकेला रहता है और मोक्षमार्ग में भी अकेला रहता है–ऐसा निश्चय करके ज्ञानी आत्मा पर से अन्यत्व और अपने में एकत्व स्थापित करता है, एकत्व और अन्यत्व भावना भाता है।

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार की इस गाथा में प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता की घोषणा की गई है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि आत्मा भी एक स्वतंत्र द्रव्य है; इसकारण वह भी अपने विकारी-अविकारी परिणमन में पूर्णतः स्वतंत्र है; विकारी परिणमन में परद्रव्यरूप कर्मोदय का सद्भाव और निर्मल परिणमन में परद्रव्यरूप कर्मोदय के उदय का अभाव तो निमित्तमात्र है। कर्म उक्त परिणमन का कर्ता-भोक्ता नहीं; उक्त परिणमन का कर्ता-भोक्ता तो भगवान आत्मा ही है ॥१२६॥

इसके बाद इस द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में उपसंहार संबंधी

(वसंततिलका छन्द)

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मीलुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ।।७।।

(मंदाक्रांता छन्द)

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ।।८।।

---

३ कलश हैं, जिनमें अन्तिम अनुष्टुप छन्द तो मात्र इतना ही कहता है कि इसप्रकार द्रव्यसामान्य के ज्ञान से मन को गंभीर करके अब द्रव्यविशेष के परिज्ञान का आरंभ करते हैं।

उक्त छन्दों में से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(मनहरण कवित्त)

जिसने बताई भिन्नता भिन्न द्रव्यनि से।
और आतमा एक ओर को हटा दिया ।।
जिसने विशेष किये लीन सामान्य में।
और मोहलक्ष्मी को लूट कर भगा दिया ।।
ऐसे शुद्धनय ने उत्कट विवेक से ही।
निज आतमा का स्वभाव समझा दिया ।।
और सम्पूर्ण इस जग से विरक्त कर।
इस आतमा को निजातम में लगा दिया ।।७।।

जिसने अन्यद्रव्य से भिन्नता के द्वारा आत्मा को परद्रव्यों से अलग दिखाया और समस्त विशेषों को सामान्य में लीन किया; ऐसे इस उदण्ड मोहलक्ष्मी को लूट लेनेवाले शुद्धनय ने उत्कट विवेक के द्वारा आत्मतत्त्व को पर से भिन्न अकेला दिखाया है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि एकमात्र शुद्धनय ही ऐसा नय है, जो आत्मा को परद्रव्यों से पृथक् और सम्पूर्ण विशेषों को आत्मा में अन्तर्लीन दिखाकर आत्मा में ही स्थापित करता है और मोहलक्ष्मी को लूट लेता है अर्थात् मोह का नाश कर देता है।

अतः शुद्धनय के कथन को सत्यार्थ जानकर शुद्धनय के विषयभूत अपने शुद्धात्मा में समा जाना ही श्रेयस्कर है। दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वप्रदीपिकायां श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापने द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनं समाप्तम्।

(मनहरण कवित्त)

इस भाँति परपरिणति का उच्छेद कर।
करता-करम आदि भेदों को मिटा दिया।।
इस भाँति आतमा का तत्त्व उपलब्ध कर।
कल्पनाजन्य भेदभाव को मिटा दिया।।
ऐसा यह आतमा चिन्मात्र निरमल।
सुखमय शान्तिमय तेज अपना लिया।।
अपनी ही महिमामय परकाशमान।
रहेगा अनंतकाल जैसा सुख पा लिया।।८।।

परपरिणति के उच्छेद और कर्ता, कर्म आदि भेदों की भ्रान्ति के नाश से जिसने शुद्धात्मतत्त्व उपलब्ध किया है; ऐसा वह आत्मा चैतन्यमात्ररूप निर्मल तेज में लीन होता हुआ अपनी सहज महिमा के प्रकाशमानरूप से सदा मुक्त ही रहेगा।

इसप्रकार इस छन्द में यह बताया गया है कि जिस आत्मा ने परपरिणति के उच्छेद और कर्ता-कर्म संबंधी भ्रान्ति के नाश से शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है; वह आत्मा स्वयं में ही समा जायेगा और दु:खों से सदा ही मुक्त रहेगा, प्रकाशमान रहेगा।

इसप्रकार यह द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार समाप्त होता है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अंतर्गत द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार समाप्त होता है।

●●●

द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार

(गाथा १२७ से गाथा १४४ तक)

(अनुष्टुप् छन्द)

द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम्।
तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भार: क्रियतेऽधुना ।।९।।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति –

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं।।१२७।।

मंगलाचरण

(दोहा)

महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का सार।
प्रस्तुत द्रव्यविशेष का प्रज्ञापन अधिकार।।

द्रव्यसामान्य का प्रज्ञापन करने के उपरान्त अब द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार आरंभ करते हैं। उक्त दोनों अधिकारों की संधि को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

अरे द्रव्य सामान्य का अबतक किया बखान।
अब तो द्रव्यविशेष का करते हैं व्याख्यान।।९।।

इसप्रकार द्रव्यसामान्य के ज्ञान से मन को गंभीर करके अब द्रव्यविशेष के परिज्ञान का आरंभ किया जाता है।

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार में सभी द्रव्यों में प्राप्त होनेवाली सामान्य विशेषताओं को समझाया है और अब द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार में गाथा १२७ से १४४ तक अर्थात् १८ गाथाओं में द्रव्यों के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप स्पष्ट करेंगे।

द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार में सर्वप्रथम 'जीव और अजीव द्रव्य के भेद से द्रव्य दो प्रकार के होते हैं' – यह बतलाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

द्रव्य जीव अजीव हैं जिय चेतना उपयोगमय।
पुद्गलादी अचेतन हैं अत:एव अजीव हैं।।१२७।।

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीवः ॥१२७॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षणसद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदन जीवाजीवात्वविशेषमुपढौकते। तत्र जीवस्यात्मकद्रव्यमेवैका व्यक्तिः। अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः। विशेषलक्षण जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम्। तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः। यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ॥१२७॥

द्रव्य जीव और अजीव हैं। उनमें चेतना और उपयोगमय जीव हैं और पुद्गलादि अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इस लोक में एकत्व के कारणभूत द्रव्यत्वसामान्य को छोड़े बिना ही, विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण एक-दूसरे से पृथक् किये जाने पर द्रव्य, जीवत्व और अजीवत्वरूप विशेष को प्राप्त होते हैं। उनमें जीव का तो 'आत्मद्रव्य' ऐसा एक ही प्रकार है और अजीव के पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य – ये पाँच प्रकार हैं।

इनमें जीव का विशेष लक्षण चेतना-उपयोगमयत्व है और अजीव का विशेष लक्षण अचेतनत्व है। स्वधर्मों में व्याप्त होने से स्वरूपरूप से प्रकाशित होती हुई, अविनाशी, भगवती, संवेदनरूप चेतना के द्वारा तथा चेतनापरिणामलक्षण द्रव्यपरिणतिरूप उपयोग के द्वारा जिसमें निष्पन्नपना अवतरित प्रतिभासित होता है; वह जीव है और जिसमें उपयोग के साथ रहनेवाली यथोक्त चेतना का अभाव होने से बाहर तथा भीतर अचेतनपना अवतरित प्रतिभासित होता है; वह अजीव है।"

आचार्य जयसेन उक्त गाथा के भाव को यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि उक्त बात को नयविभाग से स्पष्ट कर देते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा है कि यद्यपि द्रव्यत्वसामान्य की अपेक्षा सभी पदार्थ द्रव्य हैं; तथापि द्रव्य एक नहीं; अनेक हैं, अनेकप्रकार के हैं। उन अनेक प्रकारों में एक प्रकार यह भी है कि चेतना लक्षणवाले कुछ द्रव्य जीव हैं और चेतना लक्षण से रहित शेष सभी पुद्गलादि द्रव्य अजीव हैं।

वस्तुतः द्रव्य छह प्रकार के हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों को अजीव कहा जाता है; क्योंकि वे जीव नहीं हैं, उनमें जीवत्व नहीं है, चेतना नहीं है।

उन्हें जो अजीव नाम दिया गया है, वह जीव की ओर से है, जीव की मुख्यता से किये गये कथन की अपेक्षा से है; क्योंकि उन द्रव्यों के अपने-अपने स्वतंत्र नाम हैं और उनकी स्वतंत्र परिभाषायें भी हैं; जिनकी चर्चा आगे यथास्थान होगी।

प्रश्न – क्या अजीव नामक कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है ?

उत्तर – जीव से भिन्न पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन पाँच द्रव्यों को छोड़कर इनसे पृथक् अजीव नाम का कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। जब हम किसी से पूछते हैं कि यहाँ जैनों के कितने घर हैं ? तो हमें उत्तर मिलता है कि १०० घर हैं। पर यदि हम यह पूछे कि अजैनों के कितने घर हैं तो यही कहा जायेगा, शेष सब अजैन ही तो हैं।

पर मेरा कहना यह है कि जब हम किसी से पूछे कि आप कौन हैं ? तो यह कहते हुए तो अनेक लोग मिल जावेंगे कि हम जैन हैं, वैष्णव हैं, हिन्दू हैं, मुस्लिम हैं, सिख हैं, बौद्ध हैं; पर यह कोई न कहेगा कि हम अजैन हैं। तात्पर्य यह है कि अपने को कोई अजैन नहीं मानता, अजैन नाम से नहीं पुकारता और न वह अजैन कहलाना ही पसन्द करता है; क्योंकि उसका अजैन नाम तो अपने से भिन्न बताने के लिए हमने दिया है। यह तो नकारात्मक नाम है, वह इसे क्यों स्वीकार करेगा ?

इसीप्रकार के प्रश्न के उत्तर में क्या हम यह उत्तर देंगे कि हम अहिन्दु हैं, असिख हैं, अबौद्ध हैं ? यदि नहीं तो फिर वे लोग – ऐसा कैसे कह सकते हैं कि हम अजैन हैं ?

वस्तुतः बात यह है कि सकारात्मक (पॉजिटिव) रूप से अजैन कोई नहीं है; हम उन्हें अपने से भिन्न बताने के लिए नकारात्मक (नेगेटिव) भाषा का प्रयोग करके अजैन कहते हैं।

इसीप्रकार जीव से भिन्न पुद्गलादि सभी पदार्थों को अजीव कहा जाता है।

प्रश्न – यदि ऐसी बात है तो फिर किसी को अजीवद्रव्य कहना तो ठीक नहीं है?

उत्तर – क्यों ? वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के लिए यह एक महती आवश्यकता है। **यदि हमें अपने से भिन्न पुद्गलादि सभी द्रव्यों को एक नाम से कहना हो तो अजीव के अतिरिक्त और कौन-सा शब्द है कि जिसका प्रयोग किया जा सके।**

वस्तुस्वरूप की स्पष्टता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति –

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु॥१२८॥

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः।
वर्तते आकाशे यो लोकः स सर्वकाले तु॥१२८॥

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्वं स्वलक्षणसद्भावात्। स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम्।

तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्दतस्तद्गतिस्थितिनिबन्धभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ,

---

यह एक अकेला प्रयोग नहीं है। इसी प्रवचनसार में आगे चलकर छह द्रव्यों के संदर्भ में इसीप्रकार के अनेक प्रयोग किये गये हैं। जैसे – द्रव्य दो प्रकार के हैं – मूर्तिक और अमूर्तिक। एकमात्र पुद्गल मूर्तिक है, शेष सभी द्रव्यों का मिलकर एक नाम अमूर्तिक है॥१२७॥

विगत १२७वीं गाथा में जीवद्रव्य की मुख्यता से द्रव्यों के जीव-अजीव भेदों का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब **उनका विभाजन आकाशद्रव्य की मुख्यता से लोक और अलोक के रूप में करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आकाश में जो भाग पुद्गल जीव धर्म अधर्म से।
अर काल से समृद्ध वह सब लोक शेष अलोक है॥१२८॥

आकाश में जो भाग जीव और पुद्गल से संयुक्त है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालद्रव्य से समृद्ध है; वह सब सदा ही लोक है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''द्रव्यों का लोक और अलोक के रूप में वर्गीकरण अपनी विशेष विशेषता रखता है; क्योंकि लोक और अलोक के अपने विशेष लक्षण हैं। लोक का लक्षण षड्द्रव्यसमुदायात्मकता है और अलोक का लक्षण केवल आकाशात्मकता है।

सर्व द्रव्यों में व्याप्त होनेवाले महान आकाश में जितने आकाश में गति-स्थितिवाले जीव और पुद्गल गति-स्थिति को प्राप्त होते हैं; उनकी गति-स्थिति में निमित्तभूत धर्म और अधर्म द्रव्य व्याप्त होकर रहते हैं और सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्तभूत कालाणुद्रव्य सदा रहते हैं;

सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्यदुर्ललितस्तत्तावदाकाशं शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषां समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोकः।

यत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोर्गतिस्थिती न संभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ, न कालो दुर्ललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोकः ॥१२८॥

अथ क्रियाभावतद्भावविशेषं निश्चिनोति –

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो ॥१२९॥

उतना आकाश और शेष समस्त द्रव्य – इन सबका समुदाय लोक है और यही लोक का लक्षण है। जितने आकाश में जीव तथा पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य नहीं रहते और कालाणु भी नहीं रहते; उतना अकेला आकाश ही अलोक है और यही अलोक का लक्षण है।''

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जितने आकाश में छह द्रव्य रहते हैं, अकेले उतने आकाश का नाम लोक नहीं है; अपितु उन छह द्रव्यों के समूह का नाम लोक है।

महान आध्यात्मिक कवि पण्डित दौलतरामजी के ध्यान में यह बात थी; यही कारण है कि उन्होंने छहढाला में लिखी लोकभावना संबंधी छन्द में लोक को **षट्द्रव्यमयी** लिखा है।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखी है कि छह द्रव्यों का समूह लोक है। बहुत से लोग लोकाकाश और लोक में अन्तर नहीं कर पाते। वे लोकाकाश और लोक को एक ही समझते हैं; जबकि उन दोनों में अन्तर है। लोक (विश्व) छह द्रव्यों के समूह का नाम है और लोकाकाश अकेले आकाशद्रव्य का वह भाग है, जहाँ छहों द्रव्य पाये जाते हैं ॥१२८॥

वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करने के लिए द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार में छह द्रव्यों का वर्गीकरण अनेकप्रकार से किया गया है, जिसमें अभीतक जीव-अजीव और लोक-अलोक की चर्चा हुई; अब इस गाथा में **क्रियावान और भाववान** की बात करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

जीव अर पुद्गलमयी इस लोक में परिणमन से।
भेद से संघात से उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव हों ॥१२९॥

पुद्गलजीवात्मक लोक के परिणाम से और संघात व भेद से उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय होते हैं।

उत्पादस्थितिभङ्गाः पुद्‌गलजीवात्मकस्य लोकस्य।
परिणामाज्जायन्ते संघाताद्वा भेदात् ॥१२९॥

क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः। तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्‌गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात्। शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः।

तत्र परिणाममात्रलक्षणो भावः, परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया। तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामास्वभावात्वात् परिणामेनोपात्तान्वयव्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति।

पुद्‌गलास्तु परिस्पन्दस्वभावात्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्‌गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन, संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥१२९॥

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"द्रव्यों में इस अपेक्षा भी भेद पड़ता है कि कुछ द्रव्य भाव और क्रियावाले हैं; पर कुछ द्रव्य मात्र भाववाले ही हैं। पुद्‌गल और जीव भाववाले भी हैं और क्रियावाले भी हैं; क्योंकि वे परिणाम द्वारा और भेद व संघात द्वारा उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। शेष द्रव्य मात्र भाववाले ही हैं; क्योंकि वे परिणाम के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं; टिकते हैं और नष्ट होते हैं –ऐसा निश्चय है।

इनमें भाव का लक्षण परिणाम है और क्रिया का लक्षण परिस्पन्द (कम्पन) है। भाववाले तो सभी द्रव्य हैं; क्योंकि परिणामस्वभाववाले होने से परिणाम के द्वारा अन्वय और व्यतिरेकों को प्राप्त होते हुए वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं।

पुद्‌गल भाववाले होने के साथ-साथ क्रियावाले भी हैं; क्योंकि परिस्पंदस्वभाववाले होने से परिस्पन्द के द्वारा पृथक् पुद्‌गल एकत्रित हो जाते हैं और मिले हुए पुद्‌गल फिर पृथक् हो जाते हैं; इस अपेक्षा वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट हो जाते हैं। जीव भी भाववाले होने के साथ-साथ क्रियावाले भी होते हैं; क्योंकि परिस्पन्दस्वभाववाले होने से परिस्पंद के द्वारा नवीन कर्म-नोकर्मरूप पुद्‌गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होने से और कर्म-नोकर्मरूप पुद्‌गलों के साथ एकत्रित हुए जीव बाद में पृथक् होने की अपेक्षा से वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं।"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यहाँ लोक को जीव-पुद्गलात्मक ही क्यों लिखा है; वह तो षड्द्रव्यात्मक है।

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में यह कहते हुए देते हैं कि **लोक तो षड्द्रव्यात्मक ही है, यहाँ उपलक्षण से जीव-पुद्गलात्मक कह दिया है।** इस वर्गीकरण को आचार्य जयसेन **सक्रिय और निष्क्रिय द्रव्यों के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं।** साथ में यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि **जीव और पुद्गलों की अर्थ और व्यंजन – दोनों पर्यायें होती हैं; शेष द्रव्यों की मात्र अर्थपर्यायें ही होती हैं।**

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि **अर्थपर्यायें प्रतिसमय परिणमनरूप होती हैं और जब जीव इस शरीर को त्याग कर दूसरे भव में शरीर को ग्रहण करता है तो विभाव-व्यजंनपर्यायें होती हैं। इसीप्रकार पुद्गलों में भी विभावव्यंजनपर्यायें होती हैं। इसीकारण जीव व पुद्गल को सक्रिय द्रव्य कहा जाता है।**

मुक्त जीवों के स्वभावव्यजंनपर्याय होती है; क्योंकि उनके भेद ही होता है, संघात नहीं।

उक्त गाथा में यह बताया गया है कि जीव और पुद्गल द्रव्यों को छोड़कर शेष चारों द्रव्यों में क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गमनरूप क्रिया नहीं होती।

जिसमें कालद्रव्य निमित्त होता है, ऐसी परिणमनरूप क्रिया तो सभी छह द्रव्यों में होती है; पर जिसमें धर्मद्रव्य निमित्त होता है, ऐसी क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप गमन क्रिया और जिसमें अधर्मद्रव्य निमित्त होता है – ऐसी गमनपूर्वक ठहरनेरूप क्रिया जीव और पुद्गलों में ही होती है। **इसीकारण जीव और पुद्गलों को सक्रिय द्रव्य कहते हैं।**

उक्त क्रिया के अभाव में शेष द्रव्यों को निष्क्रिय द्रव्य कहा जाता है।

परिणमनरूप क्रिया तो सभी द्रव्यों में होती ही है, पर उसके कारण किसी भी द्रव्य को सक्रिय या निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता।

सभी द्रव्यों में एक भाववती शक्ति है, जिसके कारण परिणमनरूप क्रिया होती है तथा जीव और पुद्गलों में भाववती शक्ति के साथ-साथ क्रियावती शक्ति भी है, जिसके कारण परिस्पन्द अर्थात् क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गमनरूप, हलन-चलनरूप क्रिया होती है।

कालद्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य तो मात्र निमित्त होते हैं; परिणमनरूप क्रिया और परिस्पन्दरूप क्रिया तो भाववती और क्रियावती शक्ति के कारण होती है।

ज्ञेयतत्त्व का ऐसा स्वरूप समझने से चित्त में स्वाधीनता का भाव जागृत होता है॥१२९॥

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति। अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबंधमाख्याति–

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया।।१३०।।
मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा।।१३१।।

लिङ्गैर्यैर्द्रव्यं जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम्।
तेऽतद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेयाः।।१३०।।
मूर्ता इन्द्रियग्राह्याः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधाः।
द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्याः।।१३१।।

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः। ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन विशिष्टाः सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते।

विगत गाथाओं में द्रव्यों को जीव-अजीव, लोक-अलोक और क्रियावान-भाववान के रूप में प्रस्तुत किया गया है और अब आगामी दो गाथाओं में उन्हें गुणों की विशेषता से द्रव्यों में विशेषता होती है – यह बताते हुए छह द्रव्यों को मूर्त और अमूर्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिन चिह्नों से द्रव ज्ञात हों रे जीव और अजीव में।
वे मूर्त और अमूर्त गुण हैं अतद्भावी द्रव्य से।।१३०।।
इन्द्रियों से ग्राह्य बहुविधि मूर्त्त गुण पुद्गलमयी।
अमूर्त्त हैं जो द्रव्य उनके गुण अमूर्त्तिक जानना।।१३१।।

जिन लिंगों से द्रव्य जीव और अजीव के रूप में ज्ञात होते हैं; वे अतद्भाव विशिष्ट मूर्त-अमूर्त गुण जानने चाहिए।

जो इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं, ऐसे मूर्तगुण पुद्गलद्रव्यात्मक हैं और वे अनेक प्रकार के हैं और अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानना चाहिए।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"पर के आश्रय के बिना स्वद्रव्य का आश्रय लेकर प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित होता है, पहिचाना जाता है; उन लिंगों को गुण कहते हैं। 'जो द्रव्य हैं, वे गुण नहीं हैं

अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽयमित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्त विशेषत्वात्। यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः।

अत एव च मूर्तानाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता इति तेषां विशेषो निश्चेयः।।१३०।।

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम्। अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम्। ते च मूर्ताः पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवेकस्य मूर्तत्वात्। अमूर्ताः शेषद्रव्याणां पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्यमूर्तत्वात्।।१३१।।

और जो गुण हैं, वे द्रव्य नहीं हैं' – इस अपेक्षा से द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा वे गुण विशिष्ट वर्तते हुए; लिंग और लिंगी के रूप में प्रसिद्धि के समय द्रव्य के लिंगत्व को प्राप्त होते हैं।

वे लिंग या गुण द्रव्यों में 'ये जीव हैं और ये अजीव हैं' – ऐसा भेद उत्पन्न करते हैं; क्योंकि स्वयं ही तद्भाव के द्वारा विशिष्ट होने से विशेष को प्राप्त हैं। जिस-जिस द्रव्य का जो-जो स्वभाव हो, उस-उस द्रव्य का उस-उस गुण के द्वारा विशिष्टत्व होने से उनमें भेद है।

इसलिए मूर्त या अमूर्त द्रव्यों का मूर्तत्व-अमूर्तत्वरूप तद्भाव के द्वारा विशिष्टत्व होने से उनमें इसप्रकार का भेद निश्चित करना चाहिए कि ये गुण मूर्त हैं और ये गुण अमूर्त हैं।

मूर्त गुणों का लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व है और अमूर्त गुणों का लक्षण उनसे विपरीत है अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञात नहीं होते।

ये मूर्त गुण पुद्गलद्रव्य के हैं; क्योंकि एक वही मूर्त है और अमूर्तगुण शेष द्रव्यों के हैं; क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अमूर्त हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि तद्भाव और अतद्भाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि शुद्ध जीवद्रव्य में जो केवलज्ञानादि गुण हैं; उनका शुद्ध जीव के प्रदेशों के साथ जो एकत्व है, अभिन्नत्व है, तन्मयत्व है; वह तद्भाव कहलाता है। उन्हीं गुणों का उन प्रदेशों के साथ जब संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद किया जाता है; तब वही अतद्भाव कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्य और गुणों में अभिन्नप्रदेशत्व होने से तद्भाव है और संज्ञा, संख्या, लक्षणादि की अपेक्षा भेद होने से अतद्भाव है। इसप्रकार द्रव्य और गुणों के बीच तद्भाव भी है और अतद्भाव भी है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि परमाणु तो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, फिर उसे मूर्त कैसे माना जा सकता है; क्योंकि मूर्त की परिभाषा तो इन्द्रियों से ग्राह्य बताई गई है।

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति –

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो।।१३२।।

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात्।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पुद्गलश्चित्रः।।१३२।।

आचार्य प्रभाचन्द प्रवचनसार की **सरोज भास्कर** टीका में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि **इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने की योग्यतारूप शक्ति की प्रगटता की अपेक्षा सूक्ष्म परमाणु भी इन्द्रियग्राह्य माने गये हैं।**

इसप्रकार उक्त दोनों गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि जिन लिंगों (चिह्नों) से द्रव्यों को पहिचाना जाता है; उन्हें गुण कहते हैं।

यद्यपि ये गुण अपने आश्रयभूत द्रव्य के साथ तन्मय हैं; तथापि उनमें परस्पर अतद्भाव है। **जिन वस्तुओं के प्रदेश भिन्न-भिन्न होते हैं, उनमें अत्यन्ताभाव और जिनके प्रदेश अभिन्न होते हैं, उनमें अतद्भाव होता है।** यह बात द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार में विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि **मूर्त द्रव्यों के सभी गुण मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के सभी गुण अमूर्त होते हैं और जो इन्द्रियों के माध्यम से जाने जाते हैं, वे मूर्त हैं और जो इन्द्रियों से नहीं जाने जाते, वे अमूर्त हैं।।१३०-१३१।।**

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत समागत द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार में अब तक छह द्रव्यों को जीव-अजीव, लोक-अलोक, सक्रिय-निष्क्रिय और मूर्त-अमूर्त द्रव्यों के रूप में प्रस्तुत करने के उपरान्त अब आगामी तीन गाथाओं में सभी द्रव्यों के उन गुणों को बताते हैं, जिनसे वे पहिचाने जाते हैं। सबसे पहले १३२वीं गाथा में **मूर्तपुद्गलद्रव्य के गुणों को बताते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सूक्ष्म से पृथ्वी तलक सब पुद्गलों में जो रहें।
स्पर्श रस गंध वर्ण गुण अर शब्द सब पर्याय हैं।।१३२।।

सूक्ष्म पुद्गलों से पृथ्वीपर्यन्त स्थूल पुद्गलों में वर्ण, रस, गंध और स्पर्श गुण होते हैं और विविध प्रकार के शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ-एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः आ-अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते। ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन्तः, पुद्गलमधिगमयन्ति।

शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वाशङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्वरूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात्।

गुणत्वे वा, न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तिप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः। पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति। पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्वं गुणलक्षणं तु नित्यत्वम्। ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम्। यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणानां च स्पर्शादीनामेव, न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम्।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इन्द्रियों के विषय होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं। इन्द्रियग्राह्यता की व्यक्ति और शक्ति के वश से भले ही वे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य किये जाते हों या न किये जाते हों; तथापि वे एकद्रव्यात्मक सूक्ष्म परमाणु से लेकर अनेकद्रव्यात्मक स्थूलपर्यायरूप पृथ्वीस्कंध तक के समस्त पुद्गलों के अविशेषतया विशेष गुणों के रूप में होते हैं और उनके मूर्त होने के कारण ही, पुद्गलों के अतिरिक्त शेष द्रव्यों के न होने के कारण वे पुद्गल को ही बतलाते हैं। ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए कि शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होने से गुण होगा; क्योंकि शब्द विचित्रता (विविधता) के द्वारा विश्वरूप (अनेकानेक प्रकार) पना दर्शाता होने पर भी उसे अनेकद्रव्यात्मक पर्याय के रूप में स्वीकार किया जाता है।

प्रश्न – यदि शब्द को पर्याय न मानकर गुण मानें तो क्या बाधा है ?

उत्तर – पहली बात तो यह है कि शब्द को अमूर्त द्रव्य का गुण नहीं माना जा सकता; क्योंकि गुण-गुणी के अभिन्नप्रदेशत्व होने से एक ज्ञान से ज्ञात होने योग्य होने से अमूर्त द्रव्य भी कर्णेन्द्रिय के विषय हो जावेंगे।

दूसरी बात यह है कि पर्याय के लक्षण द्वारा गुण का लक्षण उत्थापित होने से शब्द मूर्त द्रव्य का भी गुण नहीं है। पर्याय का लक्षण कादाचित्क (अनित्य) पना ही है और गुण का लक्षण नित्यपना है; इसलिए शब्दों में अनित्यता से नित्यता के उत्थापित होने से शब्द गुण नहीं है। शब्दों में जो नित्यपना देखने में आता है, वह नित्यपना शब्दों को उत्पन्न करनेवाले पुद्गलों और उनके स्पर्शादि गुणों का ही है, शब्दपर्याय का नहीं। – इसप्रकार अति दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

न च पुद्गलपर्यायेत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम्, अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्, ज्योतिषो घ्राणरसनेन्द्रियाविषयत्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच्च। न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः, एवमप्ज्योतिर्मारुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युगमात, व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामपूज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात्।

न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्कपरिणामवैचित्र्यप्रत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय। ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति ॥१३२॥

यदि कोई ऐसा तर्क उपस्थित करे कि शब्द यदि पुद्गल की पर्याय है तो वह पृथ्वीस्कंध की तरह स्पर्शनादि इन्द्रियों का विषय होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार पृथ्वीरूप पुद्गल पर्याय सभी इन्द्रियों से जानने में आती है; उसीप्रकार शब्दरूप पुद्गलपर्याय भी सभी इन्द्रियों से जानने में आना चाहिए।

यह तर्क ठीक नहीं है; क्योंकि पुद्गल की पर्याय होने पर भी पानी घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है, पुद्गल की पर्याय होने पर भी अग्नि घ्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय का विषय नहीं है और पुद्गल की पर्याय होने पर भी वायु, घ्राण, रसना व चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि पानी गंध रहित है; इसलिए घ्राण से अग्राह्य है; अग्नि गंध और रस रहित है; इसलिए घ्राण और रसना इन्द्रिय से अग्राह्य है और वायु गंध, रस और वर्ण रहित है; इसलिए घ्राण, रसना और चक्षु इन्द्रिय से अग्राह्य है; क्योंकि सभी पुद्गल स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले माने गये हैं; क्योंकि जिनके स्पर्शादि चतुष्क व्यक्त हैं – ऐसे चन्द्रकान्त मणि को, अरणि को और जौ को पुद्गल उत्पन्न करते हैं; उन्हीं के द्वारा जिसकी गंध अव्यक्त है – ऐसे पानी, जिसकी गंध और रस अव्यक्त हैं – ऐसी अग्नि और जिसकी गंध, रस व वर्ण अव्यक्त हैं – ऐसी उदरवायु की उत्पत्ति होती देखी जाती है।

तात्पर्य यह है कि स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले चन्द्रकान्त मणि से पानी की, अरणि की लकड़ी से अग्नि की और जौ नामक अनाज के खाने से उदरवायु की उत्पत्ति देखी जाती है।

मूल बात यह है कि किसी भी पर्याय में किसी गुण के कादाचित्क परिणाम की विचित्रता के कारण होनेवाला व्यक्तपना और अव्यक्तपना नित्य द्रव्यस्वभाव का व्याघात नहीं करता। तात्पर्य यह है कि अनित्य परिणाम होने के कारण होनेवाली गुण की प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्यस्वभाव के साथ कहीं भी विरोध को प्राप्त नहीं होती।

इसलिए शब्द पुद्गल की पर्याय ही होना चाहिए।''

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति –

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ।।१३३।।
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ।।१३४।।

मूल गाथा में तो मात्र इतना ही कहा है कि चाहे इन्द्रियों के माध्यम से पकड़ में आवे या नहीं आवे, सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल सभी पुद्गलों में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण – ये चार गुण अवश्य पाये जाते हैं। ये गुण पुद्गल की पहिचान के चिह्न हैं, स्वरूप हैं, लक्षण हैं। यद्यपि शब्द कर्णेन्द्रिय के विषय हैं; तथापि शब्द पुद्गल का गुण नहीं है; अपितु भाषावर्गणारूप अनेक पुद्गलों की मिली हुई समानजातीय द्रव्यपर्याय है।

कतिपय भारतीय दर्शनों में शब्द को आकाश का गुण माना गया है। अतः मतार्थ की दृष्टि से टीकाकारों ने सयुक्ति सिद्ध किया है कि शब्द किसी अमूर्त द्रव्य का गुण नहीं है; क्योंकि शब्द कर्ण इन्द्रिय का विषय बनता है। यदि शब्द आकाश का गुण होता तो गुणी आकाश को भी कर्ण इन्द्रिय का विषय बनना चाहिए; क्योंकि गुण और गुणी के प्रदेश अभिन्न होते हैं।

साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि शब्द अमूर्त आकाशादि द्रव्यों का गुण तो है ही नहीं; साथ ही वह मूर्त पुद्गल का भी गुण नहीं है, पर्याय है; क्योंकि शब्द अनित्य होते हैं। गुण अनित्य नहीं होते, नित्य ही होते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि शब्द अकेले कर्ण इन्द्रिय का विषय क्यों है, पाँचों इन्द्रियों का विषय क्यों नहीं; उनसे कहते हैं कि स्पर्शादि गुण भी तो एक-एक इन्द्रियों के ही विषय हैं, सभी इन्द्रियों के नहीं; तो फिर शब्द ही क्यों सभी इन्द्रियों का विषय बनें?

टीका में उक्त बातों को अनेक युक्तियों और उदाहरणों से सिद्ध किया गया है; जिनमें चन्द्रकान्त मणि, अरणि एवं जौ के उदाहरण मुख्य हैं।

स्पर्शादि गुण मूर्तद्रव्य पुद्गल के गुण हैं – यह बात तो निर्विवाद है; अतः इस पर तो विशेष कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है, **किन्तु शब्दों के बारे में विवाद है, अनेक मत हैं; इसकारण उनकी चर्चा विस्तार से की गई है ।।१३२।।**

विगत गाथा में मूर्तद्रव्य पुद्गल के गुणों की चर्चा करने के उपरान्त **अब शेष अमूर्त द्रव्यों के गुणों की चर्चा करते हैं।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम्।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुणः पुनः स्थानकारणता।।१३३।।
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः।
ज्ञेयाः संक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम्।।१३४।।

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थानहेतुत्वमधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य। एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम्।

तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसंपादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति। तथैकवारमेव गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकद्गमन-

---

(हरिगीत)

आकाश का अवगाह धर्माधर्म के गमनागमन।
स्थानकारणता कहे ये सभी जिनवरदेव ने।।१३३।।
उपयोग आतमराम का अर वर्तना गुण काल का।
है अमूर्त द्रव्यों के गुणों का कथन यह संक्षेप में।।१३४।।

आकाश का अवगाह, धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व और अधर्मद्रव्य का गुण स्थानकारणता है। कालद्रव्य का वर्तना और आत्मा का गुण उपयोग कहा गया है। इसप्रकार अमूर्त द्रव्यों के गुण संक्षेप में जानना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"एकसाथ सभी पदार्थों के साधारण अवगाह का हेतुपना आकाशद्रव्य का विशेष गुण है। एक ही साथ सभी गमनपरिणामी जीव-पुद्गलों के गमन का हेतुपना धर्मद्रव्य का विशेष गुण है। एक ही साथ सभी स्थानपरिणामी जीव-पुद्गलों के स्थिर होने का हेतुत्व अधर्मद्रव्य का विशेष गुण है। काल के अतिरिक्त शेष सभी द्रव्यों के प्रतिसमय में परिणमन का हेतुपना कालद्रव्य का विशेष गुण है और चैतन्यपरिणाम जीव का विशेष गुण है।

इसप्रकार अमूर्त द्रव्यों के विशेष गुणों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर अमूर्त द्रव्यों को जानने के लिंग (चिह्न, साधन, लक्षण) प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन विशेष गुणों द्वारा अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है, सिद्ध होता है।

अब इसी बात को विशेष समझाते हैं – वहाँ एक ही काल में समस्त द्रव्यों के साधारण अवगाह का संपादन अर्थात् हेतुपनेरूप लिंग आकाश को बतलाता है; क्योंकि शेष द्रव्यों के सर्वगत न होने से उनके यह संभव नहीं है।

हेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयो:, समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य। लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवद्धर्ममधिगमयति।

तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयो:, समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासंभवदधर्ममधिगमयति।

तथा अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्ते: स्वतस्तेषामसंभवत्कालमधिगमयति।

तथा चैतन्यपरिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधिगमयति।

एवं गुणविशेषाद्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्य:।।१३३-१३४।।

इसीप्रकार एक ही काल में गतिपरिणत समस्त जीव और पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतुपना धर्मद्रव्य को बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिए उनके यह संभव नहीं है; जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भागमात्र है; इसलिए उसको यह संभव नहीं है। लोक-अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश को यह संभव नहीं है और विरुद्धकार्य का हेतु होने से अधर्मद्रव्य को यह संभव नहीं है।

इसीप्रकार एक ही काल में स्थितिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक स्थिति का हेतुपना अधर्मद्रव्य को बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी होने से उनके यह संभव नहीं है। जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र काल के असंख्यातवें भागमात्र है; इसलिए उसके यह संभव नहीं है। लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के यह संभव नहीं है और विरुद्धकार्य का हेतु होने से धर्मद्रव्य के यह संभव नहीं है।

इसीप्रकार काल के अतिरिक्त शेष समस्त द्रव्यों के प्रत्येक पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना काल को बतलाता है; क्योंकि उन शेष समस्त द्रव्यों के समयविशिष्टवृत्ति कालान्तर से सधती होने से उनके वह समयवृत्ति हेतुपना संभवित नहीं है।

इसीप्रकार चैतन्यपरिणाम जीव को बतलाता है; क्योंकि वह चेतन होने से शेष द्रव्यों के संभव नहीं है। इसप्रकार गुणविशेष से द्रव्यविशेष जानना चाहिए।’’

प्रश्न – उक्त संदर्भ में महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्यों के उपकार की चर्चा करते हुए कहा है कि जीवन-मरण और सुख-दुख – ये पुद्गल द्रव्य के जीवों पर उपकार हैं। अब यहाँ प्रश्न यह है कि क्या जीवन के साथ मरण भी उपकार है और सुख के साथ दुख भी उपकार है ?

उत्तर – अरे भाई ! यहाँ उपकार का अर्थ भलाई नहीं है, मात्र निमित्त है। तात्पर्य यह है कि पुद्गल जीवों के जीवन-मरण और सुख-दुख में निमित्त है। जीवों के जीवन-मरण और

सुख-दुखरूप कार्य का उपादानकारण अर्थात् कारक आत्मा है और निमित्तकारण अर्थात् उपकारक कर्मोदयरूप पुद्गल हैं।

प्रश्न – क्या उपकारक कारक नहीं है ?

उत्तर – जिसप्रकार उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति नहीं है; उसीप्रकार उपकारक भी कारक नहीं है।

प्रश्न – संसार में तो कारक से भी महान उपकारक को माना जाता है?

उत्तर – यदि कोई राष्ट्रपति से भी महान उपराष्ट्रपति को मानना चाहे तो हम क्या कर सकते हैं ? इसीप्रकार यदि कोई स्वद्रव्यरूप उपादानकारण से भी महान परद्रव्यरूप निमित्तकारण को मानना चाहे तो हम क्या कर सकते हैं ? पर, हम यह क्यों भूल जाते हैं कि **आचार्य जयसेन तो इसी गाथा की टीका में उपकारक को दुखकारक ही बता रहे हैं।**

उनका उक्त कथन इसप्रकार है – **''यहाँ अर्थ यह है कि यद्यपि पाँच द्रव्य जीव का उपकार करते हैं; तथापि वे दुख के ही कारण हैं – ऐसा जानकर अक्षय-अनंत सुखादि के कारणभूत विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वभावी परमात्मद्रव्य का ही मन द्वारा ध्यान करना चाहिए, उसे ही वचनों से बोलना चाहिए और शरीर से उसके ही साधक अनुष्ठान करना चाहिए।''**

पुद्गल के जीव के प्रति उपकारों में जिस सुख की चर्चा है, वह सुख इन्द्रियसुख होने से दुख ही है। जैसा कि इसी ग्रन्थ की ७६वीं गाथा में भी कहा है कि –

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।७६।।

(हरिगीत)

इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है।
है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है।।७६।।

जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है; वह सुख परसंबंधयुक्त है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बंध का कारण है और विषम है; इसप्रकार वह इन्द्रियसुख दुख ही है।

इस पर भी यदि कोई दुख के कारण को ही सुख का कारण मानकर उसे महान मानना चाहता है तो हम क्या करें ?

अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति में तो किसी परद्रव्य का कोई उपकार है ही नहीं; उसकी प्राप्ति तो स्वद्रव्य द्वारा स्वद्रव्य के आश्रय से ही होती है; समस्त परद्रव्यों पर से उपयोग को हटाकर स्वद्रव्य में लाने से ही होती है; आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मध्यान से ही होती है।

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति –

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ।।१३५।।

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम्।
स्वप्रदेशैरसंख्याता न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ।।१३५।।

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात्। अप्रदेशः कालाणुः प्रदेशमात्रत्वात्। अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य, द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानव-

---

वस्तुतः बात यह है कि जैनदर्शन अकर्तावादी दर्शन है। अकर्तावाद का अर्थ मात्र इतना ही नहीं होता है कि कोई तथाकथित ईश्वर जगत का कर्ता-धर्ता नहीं है; अपितु यह भी होता है कि निश्चय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता नहीं है। अपने सुख-दुख का जिम्मेदार यह आत्मा स्वयं ही है। उक्त महान सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ जो उपकारों की चर्चा है; वह मात्र निमित्त के ज्ञान कराने के लिये है; एक द्रव्य को दूसरे द्रव्यों का कर्ता-हर्ता बताने के लिए नहीं।

अधिक क्या कहें, समझदारों को तो इतना ही पर्याप्त है।।१३३-१३४।।

द्रव्यविशेषाधिकार में अबतक द्रव्यों के जीव-अजीव, लोक-अलोक, सक्रिय-निष्क्रिय, मूर्त-अमूर्तरूप वर्गीकरणों की चर्चा हुई; अब इस गाथा से सप्रदेशी-अप्रदेशी अर्थात् अस्तिकाय और नास्तिकाय भेदों की चर्चा आरंभ करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

हैं बहुप्रदेशी जीव पुद्गल गगन धर्माधर्म सब।
है अप्रदेशी काल जिनवरदेव के हैं ये वचन ।।१३५।।

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश अपने प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यात अर्थात् अनेक हैं; पर काल के प्रदेश नहीं हैं।

उक्त गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – ये द्रव्य अनेक प्रदेशवाले होने से प्रदेशवान अर्थात् सप्रदेशी हैं और कालाणु द्रव्य एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – संकोचविस्तार के होने पर भी जीव लोकाकाशतुल्य असंख्य प्रदेशों को नहीं छोड़ता; इसलिए प्रदेशवान है, सप्रदेशी है।

यद्यपि पुद्गल द्रव्यापेक्षा प्रदेशमात्र (एकप्रदेशी) होने से अप्रदेशी है; तथापि दो प्रदेशों

धारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम्। कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति। ततः कालद्रव्यमप्रदेशं शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति ।।१३५।।

से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंतप्रदेशोंवाली पर्यायों की अपेक्षा अनिश्चित प्रदेशवाला होने से प्रदेशवान (सप्रदेशी) है।

सकल लोकव्यापी असंख्यप्रदेशों के विस्ताररूप होने से धर्मद्रव्य प्रदेशवान (सप्रदेशी) है। इसीप्रकार सकल लोकव्यापी असंख्यप्रदेशों से विस्ताररूप होने से अधर्मद्रव्य भी प्रदेशवान (सप्रदेशी) है और सर्वव्यापी अनन्त प्रदेशों के विस्ताररूप होने से आकाश भी प्रदेशवान है। कालाणुद्रव्य तो प्रदेशमात्र होने से और पर्यायों का परस्पर संपर्क न होने से अप्रदेशी ही है।

इसप्रकार कालद्रव्य अप्रदेशी और शेष द्रव्य सप्रदेशी हैं।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में कोई विशेष बात नहीं है, मात्र इतना ही कहा गया है कि एक जीव के लोकाकाशप्रमाण असंख्यप्रदेश हैं, धर्म और अधर्म द्रव्यों के भी असंख्य प्रदेश ही हैं; पर आकाश के अनन्त प्रदेश हैं – इसप्रकार ये चार द्रव्य सप्रदेशी अर्थात् अस्तिकाय ही हैं। **यद्यपि पुद्गल परमाणुद्रव्य एकप्रदेशी ही है, तथापि स्कंध की अपेक्षा उपचार से वह संख्यात, असंख्यात और अनंतप्रदेशी भी कहा गया है; इसकारण सप्रदेशी है; परन्तु** कालाणुद्रव्य एकप्रदेशी होने से अप्रदेशी ही है।

इसप्रकार जीवादि पाँच द्रव्य अस्तिकाय और कालाणु नास्तिकाय है ।।१३५।।

इस गाथा के उपरान्त आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा प्राप्त होती है; जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ।।११।।

(हरिगीत)

रे कालद्रव को छोड़कर अवशेष अस्तिकाय हैं।
अर बहुप्रदेशीपना ही है काय जिनवर ने कहा ।।११।।

कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और बहुप्रदेशों के समूह को काय कहते हैं।

इस गाथा की टीका में आचार्य जयसेन मात्र इतना ही लिखते हैं कि पाँच अस्तिकायों में

अथ क्वामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति –

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा।।१३६।।

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोकः।
शेषौ प्रतीत्य कालो जीवः पुनः पुद्गलाः शेषौ।।१३६।।

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि, षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात्। धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके, तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च

जीवास्तिकाय उपोदय है। उसमें भी पंचपरमेष्ठीरूप पर्याय उपादेय है; उसमें अरहंत और सिद्धदशा उपादेय है, उसमें भी सिद्धदशा उपादेय है।

अन्त में लिखते हैं कि वस्तुतः बात यह है कि रागादि सम्पूर्ण विकल्प समूहों के निषेध के समय सिद्ध जीव के समान अपना शुद्धात्मस्वरूप ही उपादेय है।

इस गाथा में कोई ऐसी बात नहीं है कि जिसके न होने से ग्रन्थ की विषयवस्तु में कोई व्यवधान आता हो। जो बातें विगत गाथाओं में कही जा चुकी हैं; उन्हीं को मात्र दुहरा दिया है। हाँ, यह बात विशेष है कि इसकी टीका में शुद्धात्मस्वरूप भगवान आत्मा को परम उपादेय बताया गया है।।११।।

विगत गाथा में सप्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्यों की चर्चा की। अब इस गाथा में वे द्रव्य कहाँ-कहाँ रहते हैं अर्थात् कौन कहाँ रहता है –इसकी चर्चा करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

गगन लोकालोक में अर लोक धर्माधर्म से।
है व्याप्त अर अवशेष दो से काल पुद्गलजीव हैं।।१३६।।

आकाश लोकालोक में और धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और काल लोकाकाश में रहते हैं।

आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“आकाश लोक और अलोक में है; क्योंकि वह छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय में बिना विभाग के रहता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य लोक में सर्वत्र हैं; क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है – ऐसे जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति लोक के बाहर नहीं होती और न लोक के एकप्रदेश में होती है। तात्पर्य यह है कि धर्म और अधर्म द्रव्यों की स्थिति लोक में सर्वत्र

गमनस्थानासंभवात्। कालोऽपि लोके, जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात्। जीवपुद्गलौ तु युक्तित एव लोके, षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वाल्ललोकस्य। किन्तु जीवस्य प्रदेशसंवर्तविस्तारधर्मत्वात्, पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमो नास्ति कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ।।१३६।।

होती है। काल भी लोक में है; क्योंकि जीव और पुद्गलों के परिणामों के द्वारा काल की समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं और वह काल लोक के एक प्रदेश में ही है; क्योंकि वह अप्रदेशी है। जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में है; क्योंकि लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप ही है।

इसमें यह बात विशेष जानना चाहिए कि प्रदेशों का संकोच-विस्तार होना जीव का धर्म है और बंध के हेतुभूत स्निग्ध-रूक्ष गुण पुद्गल के धर्म होने से जीव और पुद्गल का समस्त लोक में या उसके एकदेश में रहने का नियम नहीं है। काल, जीव और पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के एकदेश में रहते हैं और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से अंजन से भरी हुई डिब्बी के न्यायानुसार समस्त लोक में ही हैं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि अन्त में इसी बात को नयों के माध्यम से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि भाव यह है कि जिसप्रकार सिद्ध भगवान यद्यपि निश्चय से लोकाकाशप्रमाण अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेशों में और केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत अपने भावों में रहते हैं; तथापि व्यवहार से सिद्धशिला में रहते हैं।

उसीप्रकार सभी पदार्थ यद्यपि निश्चय से अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं; तथापि व्यवहार से लोकाकाश में रहते हैं। जीव अनन्त हैं और पुद्गल उनसे भी अनन्तगुणे हैं; फिर भी एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों के प्रकाश के समान विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेशी एक लोक में भी इन सभी का एकसाथ रहना विरोध को प्राप्त नहीं होता।

इस गाथा में मात्र यही बात कही गई है कि वैसे तो निश्चय से प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में रहता है; तथापि व्यवहार से आकाश लोकालोक में और शेष द्रव्य लोक में रहते हैं।।१३६।।

विगत अनेक गाथाओं से सप्रदेशी और अप्रदेशी की बात चल रही है। अब उसी बात को आगे बढ़ाते हुए इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि वह सप्रदेशीपना और अप्रदेशीपना किसप्रकार संभव है और कालाणु अप्रदेशी है – यह सुनिश्चित करते हैं।

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वसंभवप्रकारमासूत्रयति। अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति–

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ।।१३७।।
समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ।।१३८।।

यथा ते नभःप्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम्।
अप्रदेशः परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणितः ।।१३७।।
समयस्त्वप्रदेशः प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य।
व्यतिपततः स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ।।१३८।।

सूत्रयिष्यते हि स्वयमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति। इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथा शेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते। ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्मा-

---

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिसतरह परमाणु से है नाप गगन प्रदेश का।
बस उसतरह ही शेष का परमाणु रहित प्रदेश से ।।१३७।।
पुद्गलाणु मंदगति से चले जितने काल में।
रे एक गगनप्रदेश पर परदेश विरहित काल वह ।।१३८।।

जिसप्रकार आकाश के प्रदेश हैं; उसीप्रकार शेष द्रव्यों के भी प्रदेश हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार आकाश के प्रदेश परमाणुरूप माप से नापे जाते हैं; उसीप्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश भी इसीप्रकार नापे जाते हैं। परमाणु अप्रदेशी है और उसके द्वारा प्रदेशोद्भव कहा गया है। काल तो अप्रदेशी है और प्रदेशमात्र पुद्गल परमाणु आकाशद्रव्य के एक प्रदेश को मंदगति से उल्लघंन कर रहा हो, तब वह काल वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“आचार्य कुन्दकुन्द १४०वीं गाथा में स्वयं कहेंगे कि आकाश के एक प्रदेश का लक्षण एक परमाणु से व्याप्त होना है और यहाँ इस गाथा में ‘जिसप्रकार आकाश के प्रदेश हैं; उसीप्रकार शेष द्रव्यों के भी प्रदेश हैं’ – इसप्रकार प्रदेश के लक्षण की एक प्रकारता कही जा रही है।

जिसप्रकार एक परमाणु से व्याप्य अंश के द्वारा गिने जाने पर आकाश अनन्त प्रदेशी है;

धर्मैकजीवानामसंख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम्।

यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा संवर्तविस्ताराभ्यामनस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वाभावादसंख्येयप्रदेशत्वमेव।

अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव।

पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति। ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ।।१३७।।

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्। न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदेशत्व, यतस्तस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासंख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसंपर्कासंभवादेकैकमाकाशप्रदेशमभिव्याप्य तस्थुषः प्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगत्या व्यतिपतत एव वृत्तिः ।।१३८।।

उसीप्रकार एक परमाणु से व्याप्य अंश के द्वारा गिने जाने पर धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात अंश होने से वे सभी असंख्यातप्रदेशी हैं।

जिसप्रकार सुनिश्चित प्रमाणवाले धर्म तथा अधर्मद्रव्य असंख्यातप्रदेशी हैं; उसीप्रकार संकोचविस्तार के कारण अनिश्चित प्रमाणवाले जीव के भी, सूखे-गीले चमड़े के समान निज अंशों का अल्प-बहुत्व नहीं होता; इसकारण असंख्यातप्रदेशीपना ही है।

अमूर्त पदार्थ के संकोचविस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है, क्योंकि यह तो सभी स्वानुभव से जानते ही हैं कि जीव स्थूल और कृश शरीर में तथा बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है।

पुद्गल तो द्रव्य की अपेक्षा एकप्रदेशमय होने से पहले कहे अनुसार अप्रदेशी ही है; तथापि दो (अनेक) प्रदेशादि के उद्भव के हेतुभूत उसप्रकार के स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उसके प्रदेशों का उद्भव है; इसलिए पर्याय की अपेक्षा से अनेकप्रदेशीपना भी संभव होने से पुद्गल को द्विप्रदेशीपने से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंतप्रदेशीपना भी न्याययुक्त है, युक्तिसंगत है।

प्रदेशमात्र होने से कालद्रव्य अप्रदेशी ही है और उसे पुद्गल के समान पर्याय से भी अनेक प्रदेशीपना नहीं है; क्योंकि परस्पर अन्तर के बिना विस्ताररूप विस्तृत प्रदेशमात्र असंख्यात कालद्रव्य होने पर भी परस्पर संपर्क न होने से एक-एक आकाश प्रदेश को व्याप्त करके रहनेवाले कालद्रव्य की वृत्ति तभी होती है कि जब एक प्रदेशी परमाणु कालाणु से व्याप्त एक आकाश प्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता है।''

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञापयति –

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥१३९॥

उक्त सम्पूर्ण कथन का संक्षिप्त सार यह है कि लोकाकाश के असंख्यप्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। उस कालाणु में स्निग्धता-रूक्षता नहीं होने से वे मिलते नहीं हैं; किन्तु रत्नराशि की तरह पृथक्-पृथक् ही रहते हैं। उसका कारण यह है कि कालाणु में वैसी ही योग्यता है।

जब पुद्गल परमाणु मंदगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाता है, तब उस प्रदेश में रहा हुआ कालाणु उसको निमित्त होता है। यहाँ गति की बात नहीं है; किन्तु गति करने में जो समय लगा उससे काल की पर्याय निश्चित होती है और पर्याय से कालाणुद्रव्य निश्चित होता है। इसप्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गल के परमाणु को एक प्रदेश तक जाने में निमित्तरूप से वर्तता है। अधिक प्रदेशों तक जाने में एक कालाणु निमित्तरूप नहीं वर्तता, दूसरे प्रदेश में दूसरा और तीसरे प्रदेश में तीसरा कालाणु निमित्तरूप वर्तता है।

इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य पर्याय से भी एक ही प्रदेशी है, अनेक प्रदेशी नहीं।

दूसरी मुख्य बात यह है कि धर्म, अधर्म और लोकाकाश तो सदा स्थित हैं और असंख्यप्रदेशों में फैले हुए हैं; पर जीवद्रव्य तो किसी निश्चित एक आकार में सदा नहीं रहता है, उसके आकार तो बदलते रहते हैं – ऐसी स्थिति में उसे असंख्यप्रदेशी कैसे माना जा सकता है ?

ऐसा प्रश्न होने पर यहाँ सूखे और गीले चमड़े का उदाहरण देकर समझाया है।

जिसप्रकार चमड़ा गीला होता है तो फैल जाता है और सूखने पर सिकुड़ जाता है; फिर भी दोनों ही स्थितियों में उसके प्रदेश तो समान ही रहते हैं, घटते-बढ़ते नहीं; उसी प्रकार छोटे-बड़े शरीरों में रहते समय आत्मा के प्रदेश घटते-बढ़ते नहीं, असंख्यात ही रहते हैं। साथ में यह भी कहा है कि यह बात अनुभव से सिद्ध है; क्योंकि हम सब स्वयं देखते हैं कि बालक के छोटे से शरीर में रहनेवाला आत्मा जवानी आने पर फैल जाता है; क्योंकि संसार अवस्था में आत्मा के प्रदेशों में संकोचविस्तार होता ही रहता है ॥१३७-१३८॥

विगत गाथा में कालद्रव्य का अप्रदेशीपना सिद्ध किया; अब इस गाथा में **कालद्रव्य के द्रव्य और पर्यायों को स्पष्ट करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परमाणु गगनप्रदेश लंघन करे जितने काल में।
उत्पन्नध्वंसी समय परापर रहे वह ही काल है ॥१३९॥

व्यतिपततस्तं देशं तत्सम: समयस्तत: पर: पूर्व:।
योऽर्थ: स काल: समय उत्पन्नप्रध्वंसी॥१३९॥

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्तं प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमत: परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो य: कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमय: स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्तत: एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वे योऽर्थ: तत्तु द्रव्यम्। एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमय:, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमय:।

अनंश: समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपत्ते:। न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य सांशत्वं, विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिमाणवत्।

तथाहि – यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्ध: परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति।

तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नैक-

---

जब परमाणु एक आकाश प्रदेश का मन्दगति से उल्लंघन करता है, तब उसमें जो काल लगता है, वह समय है और उस समय से पूर्व एवं बाद में भी रहनेवाला जो नित्य पदार्थ है, वह कालद्रव्य है। कालद्रव्य नित्य है और उसकी पर्याय-समय उत्पन्नध्वंसी है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“प्रदेशमात्र कालद्रव्य के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो, उस प्रदेश को जब पुद्गलपरमाणु मंद से मंद गति से उल्लंघन करता है; तब उस प्रदेशमात्र उल्लंघन के माप के बराबर जो कालपदार्थ की सूक्ष्मवृत्तिरूप समय है, वह उस कालद्रव्य की पर्याय है। उस पर्याय के पहले और बाद की वृत्तिरूप से प्रवर्तमान होने से, जिसका नित्यत्व प्रगट है – ऐसा पदार्थ द्रव्य है। इसप्रकार कालद्रव्य अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायरूप समय उत्पन्नध्वंसी है।

वह समय निरंश है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाशद्रव्य के एक प्रदेश का निरंशत्व न बने। एक समय में परमाणु लोक के अन्ततक जाता है और किसी समय के अंश नहीं होते; क्योंकि जिसप्रकार परमाणु के विशिष्ट अवगाहपरिणाम होता है; उसीप्रकार परमाणु के विशिष्ट गतिपरिणाम होता है।

इसे विशेष समझाते हैं – जिसप्रकार विशिष्ट अवगाहपरिणाम के कारण एक परमाणु के परिणाम के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कंध बनता है; तथापि वह स्कंध परमाणु के अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता; क्योंकि परमाणु निरंश है।

उसीप्रकार जिसप्रकार एक कालाणु से व्याप्त एक आकाशप्रदेश के उल्लंघन के माप के बराबर एक समय में परमाणु विशिष्ट गतिपरिणाम के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर

समयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति ।।१३९।।

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति –

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ।।१४०।।

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम्।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तद्दातुमवकाशम् ।।१४०।।

आकाशस्यैकाणुव्याप्योंशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपञ्चद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः। अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः।

तक जाता है; तब उस परमाणु द्वारा उल्लंघित होनेवाले असंख्य कालाणु समय के असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते; क्योंकि समय निरंश है।''

सबकुछ मिलाकर उक्त गाथा में यह कहा गया है कि अनादि-अनन्त नित्य कालाणु कालद्रव्य हैं और पुद्गल का परमाणु एक कालाणु द्रव्य से दूसरे कालाणु द्रव्य तक मन्द से मन्द गति से जावे और उसमें जो काल लगे, उसे कालांश समय कहते हैं, पर्याय कहते हैं। **काल द्रव्य अनुत्पन्न और अविनष्ट है और उसकी समय नामक पर्याय उत्पन्नध्वंशी है।**

इस गाथा और उसकी टीका में विशेष समझने की बात यह है कि जिसप्रकार एक आकाश प्रदेश में अनेक पुद्गलाणु एकसाथ रहते हैं, फिर भी वे निरंश ही हैं; उसीप्रकार एक समय में चौदह राजू जानेवाले पुद्गलाणु भी निरंश हैं। वे क्षेत्र से निरंश हैं और ये काल से निरंश हैं ।।१३९।।

विगत गाथा में 'समय' को परिभाषित किया गया है और अब इस गाथा में प्रदेश की परिभाषा बताई जा रही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अणु रहे जितने गगन में वह गगन ही परदेश है।
अरे उस परदेश में ही रह सकें परमाणु सब ।।१४०।।

एक परमाणु जितने आकाश में रहता है, उतने आकाश को 'आकाश प्रदेश' – इस नाम से कहा गया है और वह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''एक परमाणु से व्याप्य आकाश का अंश एक आकाशप्रदेश है और वह एक आकाशप्रदेश शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों और परमसूक्ष्मतारूप से प्रणमित अनन्त परमाणुओं के

यदि पुनराकाशस्यांशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम्। एकं चेत्किमभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन। अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या इत्यन्यतरांशाभावः। एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम्।

भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम्।

अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन।

सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम्।।१४०।।

स्कंधों को अवकाश देने में समर्थ है। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है; फिर भी उसमें अंश-कल्पना होती है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकेगा।

ऐसा होने पर भी यदि कोई ऐसा कहे कि आकाश के अंश नहीं हैं तो आकाश में दो अंगुलियाँ उठाकर हम पूछते हैं कि इन दो अंगुलियों का क्षेत्र एक है या अनेक ? यदि एक है –ऐसा कहो तो फिर प्रश्न होता है कि आकाश अभिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है; इसलिए दो अंगुलियों का क्षेत्र एक है या भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का क्षेत्र एक है।

यदि आकाश अभिन्न अंशवाला अविभाग एक द्रव्य है; इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है –ऐसा कहा जाय तो जो अंश एक अंगुलि का क्षेत्र है, वही अंश दूसरी अंगुली का भी क्षेत्र है; इसलिए दो में से एक अंश का अभाव हो जायेगा। इसप्रकार एक से अधिक दो आदि अंशों का अभाव होने से आकाश भी परमाणु के समान प्रदेशमात्र सिद्ध होगा।

अतः यह तो ठीक नहीं है। अब यदि यह कहा जाय कि आकाश भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है तो यह ठीक ही है; क्योंकि अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना सिद्ध हो जाती है।

यदि ऐसा कहा जाय कि दो अंगुलियों का क्षेत्र अनेक है, एक से अधिक है; तो प्रश्न होता है कि आकाशद्रव्य खण्ड-खण्डरूप, सविभाग अनेक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का क्षेत्र अनेक है या आकाश अविभाग एक द्रव्य होने पर दो अंगुलियों के क्षेत्र अनेक है।

आकाश सविभाग अनेक द्रव्य होने से अंगुलियों का क्षेत्र अनेक है – यदि ऐसा माना जाय तो आकाशद्रव्य अनंत हो जावेंगे। पर यह तो ठीक नहीं है; अतः आकाश अविभाग एक द्रव्य होने से दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है – ऐसा माना जाय तो यह ठीक ही है। इसप्रकार अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हो गई।''

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदयति –

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ।।१४१।।

एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च।
द्रव्याणां च प्रदेशाः सन्ति हि समया इति कालस्य ।।१४१।।

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः। तत्राकाशस्यावस्थितानंतप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यान-

---

आचार्य जयसेन शेष बातें तो आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं; पर उदाहरण बदल देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र तो अंगुलियों का उदाहरण देकर बात को समझाते हैं; पर आचार्य जयसेन दो मुनिराजों के उदाहरण के माध्यम से बात स्पष्ट करते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में मूलरूप से यही कहा गया है कि अखण्ड आकाश में भी अंशकल्पना हो सकती है, होती है। आकाश का सबसे छोटा अंश प्रदेश कहलाता है।

यद्यपि वह क्षेत्र से एक पुद्गल के परमाणु के बराबर होता है; तथापि उसमें अनन्त परमाणुओं का स्कंध और जीवादि द्रव्य भी समा सकते हैं। इसप्रकार आकाशद्रव्य अखण्ड होकर भी अनंतप्रदेशी है और अनंतप्रदेशी होकर भी अखण्ड है ।।१४०।।

विगत गाथाओं में समय और प्रदेश के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में **तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय को समझाते हैं।** ध्यान रहे तिर्यक्प्रचय में प्रदेशों की अपेक्षा है और ऊर्ध्वप्रचय में समयों की अपेक्षा है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

एक दो या बहुत से परदेश असंख्य अनंत हैं।
काल के हैं समय अर अवशेष के परदेश हैं ।।१४१।।

द्रव्यों के एक, दो, बहुत, असंख्य अथवा अनन्त प्रदेश होते हैं और कालद्रव्य के अनंत समय होते हैं।

उक्त गाथा के भाव को आ. अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“प्रदेशों का समूह तिर्यक्प्रचय है और समय विशिष्ट पर्यायों का समूह ऊर्ध्वप्रचय है। आकाश द्रव्य अवस्थित (स्थिर) अनंत प्रदेशी होने से, धर्म व अधर्म द्रव्य अवस्थित असंख्यप्रदेशी होने से और जीव अनवस्थित (अस्थिर) असंख्य प्रदेशी होने से तिर्यक्प्रचय वाले द्रव्य हैं। यद्यपि द्रव्यदृष्टि से पुद्गलद्रव्य अनेक प्रदेशी होनेरूप शक्ति से संपन्न एक प्रदेश

वस्थितासंख्येयप्रदेशत्वात् पुद्गलस्य द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः। न पुनः कालस्य, शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात्।

ऊर्ध्वप्रचयस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव।

अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः, समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः। शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्ति समयविशिष्टत्वम्। कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ॥१४१॥

वाला है; तथापि पर्यायदृष्टि से अनेक (संख्यात, असंख्यात और अनंत) प्रदेशवाला है; इसलिए उसके भी तिर्यक्प्रचय है। परन्तु कालद्रव्य के तिर्यक्प्रचय नहीं है; क्योंकि वह शक्ति और व्यक्ति (प्रगटता) दोनों से ही एक प्रदेशवाला ही है।

ऊर्ध्वप्रचय तो सभी द्रव्यों के अनिवार्यरूप से होता ही है; क्योंकि द्रव्य की वृत्ति (पर्यायें) तीन (भूत, भविष्य और वर्तमान) कोटियों को स्पर्श करती है; इसलिए अंशों से युक्त है।

इतना विशेष है कि समयों का प्रचय (समूह) कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है और शेष द्रव्यों का समयविशिष्ट वृत्तियों का प्रचय ऊर्ध्वप्रचय है; क्योंकि कालद्रव्य की वृत्ति स्वतः समयभूत है और अन्य द्रव्यों की वृत्ति समय से अर्थान्तरभूत (अन्य) होने से समयविशिष्ट है और कालद्रव्य की वृत्ति तो स्वतः समयभूत होने से समयविशिष्ट नहीं है।''

यद्यपि आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते समय आचार्य अमृतचन्द्र का ही अनुकरण करते हैं; तथापि वे अपनी बात को सिद्ध भगवान का उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। यह भी बताते हैं कि **तिर्यक्प्रचय को तिर्यक्सामान्य, विस्तारसामान्य और अक्रमानेकान्त भी कहते हैं। इसीप्रकार ऊर्ध्वप्रचय को ऊर्ध्वसामान्य, आयतसामान्य और क्रमानेकान्त भी कहते हैं।**

इसप्रकार इस गाथा में तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि **ऊर्ध्वप्रचय तो पर्यायों के समूहरूप होने से सभी द्रव्यों में होता है; पर तिर्यक्प्रचय प्रदेशों के समूहरूप होने से कालद्रव्य में नहीं है; क्योंकि वह एकप्रदेशी अर्थात् अप्रदेशी है।**

ऊर्ध्वप्रचय की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनन्त है, त्रिकाली ध्रुव है और तिर्यक्प्रचय की अपेक्षा पाँच द्रव्य अस्तिकायरूप हैं। काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों के ऊर्ध्वप्रचय अर्थात् परिणमन में निमित्त कालद्रव्य है और अपने-अपने उपादान तो सभी द्रव्य स्वयं ही हैं। **कालद्रव्य के परिणमन का उपादान भी कालद्रव्य है और निमित्त भी कालद्रव्य ही है ॥१४१॥**

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति। अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति –

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि।।१४२।।
एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एष हि कालाणुसब्भावो।।१४३।।

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये।
समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति।।१४२।।
एकस्मिन् सन्ति समये संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः।
समयस्य सर्वकालं एष हि कालाणुसद्भावः।।१४३।।

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः। तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः, परमा-

---

विगत गाथा में ऊर्ध्वप्रचय और तिर्यक्प्रचय का स्वरूप स्पष्ट करके अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय नहीं है। कालद्रव्य भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है, अनादि-अनन्त अखण्ड अविनाशी पदार्थ है।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इक समय में उत्पाद-व्यय यदि काल द्रव में प्राप्त हैं।
तो काल द्रव्य स्वभावथित ध्रुवभावमय ही क्यों न हो।।१४२।।
इक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम के जो अर्थ हैं।
वे सदा हैं बस इसलिए कालाणु का सद्भाव है।।१४३।।

यदि कालद्रव्य में एक समय में उत्पाद और नाश पाया जाता है तो वह काल भी स्वभाव से अवस्थित है। इसप्रकार कालद्रव्य के प्रत्येक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होते हैं। इसी से कालाणु द्रव्य की सिद्धि होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"समय, कालपदार्थ की वृत्ति का अंश है, वृत्त्यंश है। उक्त वृत्त्यंश (समय) में किसी के भी उत्पाद और विनाश अवश्य संभवित हैं; क्योंकि समयरूपी वृत्त्यंश परमाणु के अतिक्रमण के द्वारा उत्पन्न होता है; इसलिए कारणपूर्वक है।

णोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात्। तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव, किं यौगपद्येन किं क्रमेण। यौगपद्येन चेत्, नास्ति यौगपद्यं, सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्। क्रमेण चेत्, नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात्। ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः। स च समयपदार्थ एव। तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः। यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेन नोत्पादः, स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यंशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः।

यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यतः पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपात्तप्रध्वंसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत्।

एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं सिद्धम्।।१४२।।

तात्पर्य यह है कि परमाणु के द्वारा आकाश के एक प्रदेश का मंदगति से उल्लंघन करना कारण है और समयरूपी वृत्त्यंश उस कारण का कार्य है। इसलिए उसमें किसी पदार्थ के उत्पाद-विनाश होते रहना चाहिए।

यदि कोई कहे कि किसी पदार्थ के उत्पाद-नाश होने की क्या आवश्यकता है ? उसके स्थान पर उक्त वृत्त्यंश को ही उत्पाद-विनाश होते मान लो तो क्या आपत्ति है ?

ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर कहते हैं कि – यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंश के ही माने जावें तो फिर प्रश्न होता है कि उत्पाद-विनाश एकसाथ होते हैं या क्रमशः ? एकसाथ तो घटित नहीं हो सकते; क्योंकि एक ही समय में एक के परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं होते।

यदि 'क्रमशः होते हैं' – यह कहा जाय तो क्रम नहीं बनता; क्योंकि वृत्त्यंश के सूक्ष्म होने से उसमें विभाग का अभाव है; इसलिए वृत्तिमान की खोज की जानी चाहिए और वृत्तिमान कालपदार्थ ही है। उस काल पदार्थ को वस्तुतः एक वृत्त्यंश में भी उत्पाद और विनाश होना अशक्य नहीं है; क्योंकि जिस वृत्तिमान के जिस वृत्त्यंश में उस वृत्त्यंश की अपेक्षा जो उत्पाद है, वही उत्पाद उसी वृत्तिमान के उसी वृत्त्यंश में पूर्व वृत्त्यंश की अपेक्षा से विनाश है।

यदि इसप्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में भी संभव है तो फिर कालपदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है ?

पहले और बाद के वृत्त्यंशों की अपेक्षा युगपत् विनाश और उत्पाद को प्राप्त होता हुआ भी कालद्रव्य स्वभाव से अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से अवस्थित ही है, ध्रुव ही है।

इसप्रकार कालपदार्थ एक वृत्त्यंश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाला सिद्ध होता है।

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे तस्य दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत्, विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्ध्यति सद्भावः। यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्ध्यतस्तदा तु अस्तित्वमन्तरेण न सिद्ध्यतः कथंचिदपि॥१४३॥

जिसप्रकार काल पदार्थ के एक वृत्यंश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं; उसीप्रकार कालद्रव्य के सभी वृत्यंशों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पाये जाते हैं। यह बात युक्तिसंगत है; क्योंकि विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता। सामान्य और विशेष कालपदार्थ की सिद्धि से ही कालपदार्थ की सिद्धि होती है।''

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन अंगुली, सुखी आत्मा और मोक्षपर्याय – इन तीन उदाहरणों के माध्यम से यह बात सिद्ध करते हैं कि कालद्रव्य में एक समय में ही उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य विद्यमान हैं। उदाहरण और सिद्धान्त इसप्रकार है –

जिसप्रकार अंगुली द्रव्य में वर्तमान टेढी पर्याय का उत्पाद, पूर्व की सीधी पर्याय का व्यय और दोनों की आधारभूत अंगुली द्रव्यरूप ध्रौव्य है।

अथवा अतीन्द्रिय सुखरूप से उत्पाद, पूर्व की पर्याय में प्राप्त दुख का व्यय और दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्यरूप से ध्रौव्य है।

अथवा मोक्षपर्यायरूप से उत्पाद, मोक्षमार्गरूप पूर्वपर्याय से व्यय और उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्यरूप से ध्रौव्य है।

उसीप्रकार कालाणु द्रव्य में वर्तमान समयरूप पर्याय से उत्पाद, पूर्व पर्यायरूप से व्यय और दोनों के आधारभूत कालाणु द्रव्य से ध्रौव्य – इसप्रकार कालाणु द्रव्य सिद्ध हुआ।

एकप्रदेशी कालाणु द्रव्य को स्वीकार किये बिना कालद्रव्य की सिद्धि नहीं होगी और उसके अभाव में कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होगा।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि अन्य द्रव्यों के समान एक प्रदेशी या अप्रदेशी कालाणु भी एक द्रव्य है। ऐसे कालाणु द्रव्य असंख्य हैं और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु द्रव्य रत्नों की राशि के समान खचित हैं।

समय, उक्त कालाणु द्रव्य की सबसे छोटी पर्याय है। वह समय, आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश का अत्यन्त मंदगति से गमन करनेवाले पुद्गल परमाणु की गति के आधार पर नापा जाता है। वह समय अनादि-अनन्त, त्रिकाली ध्रुव, कालद्रव्य का सबसे छोटा अंश है, जो स्वयं निरंश है। यह अंश कल्पना ऊर्ध्वप्रचय संबंधी है।

प्रत्येक द्रव्य के समान कालद्रव्य भी प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है। पूर्व

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति –

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ।।१४४।।

यस्य न सन्ति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं वा तत्त्वतो ज्ञातुम्।
शून्यं जानाहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ।।१४४।।

पर्याय के व्यय, उत्तर पर्याय के उत्पाद और द्रव्य का ध्रुवत्व – यह प्रत्येक द्रव्य की स्वरूपसंपदा है; इसलिए यह सुनिश्चित ही है कि एक समय में होनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य में ही घटित होते हैं, एक पर्याय में नहीं।

अतः कालाणु द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार किये बिना एक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व का होना संभव नहीं है। इसप्रकार वह कालद्रव्य निरन्वय नहीं है, अन्वय सहित ही है।

यह तो आपको विदित ही है कि ८०वीं गाथा की टीका में द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **अन्वय द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है और अन्वय का व्यतिरेक पर्याय है।** उक्त परिभाषा के अनुसार भी कालाणु द्रव्य अन्वय सहित है, निरन्वय नहीं; क्योंकि द्रव्य की परिभाषा ही अन्वय है।

अन्त में यह कहा गया है कि जिसप्रकार कालाणुद्रव्य के एक अंश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित होते हैं; उसीप्रकार कालाणु द्रव्य के प्रत्येक अंश में भी वे घटित होंगे ही।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि सभी द्रव्यों के समान सभी कालाणुद्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संयुक्त हैं।।१४२-१४३।।

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि काल पदार्थ प्रत्येक वृत्यंश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है; क्योंकि वह निरन्वय नहीं है, अन्वय से रहित नहीं है, अन्वय से सहित ही है; और अब इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि **कालपदार्थ अप्रदेशी नहीं, एकप्रदेशी है; क्योंकि प्रदेश के बिना उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

जिस अर्थ का इस लोक में ना एक भी परदेश हो।
वह शून्य ही है जगत में परदेश बिन न अर्थ हो ।।१४४।।

जिस पदार्थ का परमार्थ से एक भी प्रदेश न हो; उस पदार्थ को शून्य जानो; क्योंकि वह अस्तित्व से अर्थान्तरभूत है।

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः। न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः। स तु शून्य एव, अस्तित्वसंज्ञाया वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात्। न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति, वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः।

उपपत्तौ वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम्। अनाद्यन्तनिरन्तरानेकांशवशीकृतैकात्मकत्वेन। पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मकध्रौव्यादिति चेत्; नैवम्। यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिंश्चोत्पादस्तयोः सहप्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम्। तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्तमितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वासंभवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम्। एवं सति नश्यति त्रैलक्षण्यं, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्यं द्रव्यं, उदीयन्ते क्षणक्षयिणो भावाः। ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयभूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः।

स तु प्रदेश एवाप्रदेशस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः। एवं सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वं नाभ्युपगम्येत।

इस गाथा के भाव को आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की ऐक्यस्वरूपवृत्ति ही अस्तित्व है। वह वृत्ति अर्थात् अस्तित्व कालद्रव्य में प्रदेश के बिना ही होता है – ऐसा कहना संभव नहीं है; क्योंकि प्रदेश के अभाव में वृत्तिमान् का अभाव होता है। प्रदेश के बिना पदार्थ शून्य ही है; क्योंकि वह पदार्थ अस्तित्व नामक वृत्ति से अर्थान्तरभूत है, अन्य है।

इस पर यदि कोई कहे कि समयपर्यायरूप वृत्ति ही मानना चाहिए; वृत्तिमान कालाणु पदार्थ की क्या आवश्यकता है ?

उससे कहते हैं कि मात्र वृत्ति (समयरूप परिणति) ही काल नहीं हो सकती; क्योंकि वृत्ति वृत्तिमान के बिना नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान के बिना ही वृत्ति हो सकती है तो हम पूछते हैं कि अकेली वृत्ति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है ? यदि कोई यह कहे कि अनादि-अनंत अनन्तर अनेक अंशों के कारण एकात्मकता होती है; इसलिए पूर्व-पूर्व के अंशों का नाश होता है, उत्तर-उत्तर के अंशों का उत्पाद होता है और एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है – इसप्रकार अकेली वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप हो सकती है।

उससे कहते हैं कि ऐसा संभव नहीं है; क्योंकि उस अकेली वृत्ति में तो जिस अंश में नाश है और जिस अंश में उत्पाद है; वे दो अंश एकसाथ प्रवृत्त नहीं होते; इसलिए उत्पाद और व्यय में ऐसा कैसे हो सकता है ? नष्ट अंश के सर्वथा अस्त होने से और उत्पन्न होनेवाला अंश अपने स्वरूप को प्राप्त न होने से नाश और उत्पाद की एकता में रहनेवाला ध्रौव्य कैसे हो सकता है ?

ऐसा होने पर त्रिलक्षणता नष्ट हो जाती है और बौद्धमत सम्मत क्षणभंग उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त हो जाता है और क्षणध्वंशी भाव उत्पन्न होते हैं; इसलिए तत्त्वविप्लव

पर्यायसमयाप्रसिद्धेः। प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्धयति। लोकाकाशतुल्यासंख्ययप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः।

लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकं प्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवं, एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात्। सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो, न तु तदेकदेशस्य। तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसंगाच्च।

तथाहि – प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते, ततोऽन्येन, ततोप्यन्तरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वप्रचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति। ततस्त्र्योस्तर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितत्वम्।।१४४।।

के भय से अवश्य ही वृत्ति का आश्रयभूत कोई वृत्तिमान खोजना आवश्यक है, स्वीकार करना आवश्यक है। वृत्तिमान द्रव्य सप्रदेशी ही होता है; क्योंकि अप्रदेश के अन्वय तथा व्यतिरेक होना असिद्ध है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि कालद्रव्य सप्रदेशी है तो फिर लोकाकाश के समान ही कालद्रव्य के भी एक द्रव्यत्व के हेतुभूत असंख्य प्रदेश मान लेने में क्या आपत्ति है ?

इसका समाधान यह है कि ऐसा मानने पर पर्याय रूप समय प्रसिद्ध नहीं होता; इसलिए कालद्रव्य के असंख्य प्रदेश मानना योग्य नहीं है। परमाणु के द्वारा मन्दगति से आकाश के एक प्रदेश का उल्लंघन करने के आधार पर कालद्रव्य की समय नामक पर्याय मानी जाती है।

द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश के बराबर असंख्यप्रदेशवाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लंघित होने पर पर्याय समय की सिद्धि कैसे होगी?

यदि कोई ऐसा कहे कि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेशवाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लंघित होने पर पर्यायसमय की सिद्धि हो तो क्या आपत्ति है? ऐसा मानने पर निम्नांकित दो आपत्तियाँ आती हैं –

(१) प्रथम तो द्रव्य के एकदेश की परिणति को सम्पूर्ण द्रव्य की परिणति मानने का प्रसंग आता है और एकदेश की वृत्ति को सम्पूर्ण द्रव्य की वृत्ति मानने में विरोध है। सम्पूर्ण कालपदार्थ का जो सूक्ष्म वृत्यंश है, वह समय है; परन्तु उसके एकदेश का वृत्यंश समय नहीं है।

(२) दूसरे, तिर्यक् प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपने का प्रसंग आता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा मानने पर कालद्रव्य एक प्रदेश में वर्ते, फिर दूसरे प्रदेश में वर्ते और फिर अन्य प्रदेश में वर्ते – इसप्रकार का प्रसंग आता है, आपत्ति आती है। इसलिए तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपना न माननेवालों को पहले से ही कालद्रव्य को प्रदेशमात्र निश्चित करना चाहिए, मानना चाहिए।''

यद्यपि इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जयसेन तत्त्वप्रदीपिका का अनुकरण करते हैं; तथापि विगत गाथाओं के समान उदाहरण यहाँ भी बदल देते हैं। टीका के अन्त में वे जो बात लिखते हैं; वह बात मात्र इस गाथा का उपसंहार नहीं है; अपितु सम्पूर्ण

द्रव्यविशेषाधिकार का उपसंहार है। तात्पर्य यह है कि निम्नांकित कथन सूत्रतात्पर्य नहीं, शास्त्रतात्पर्य है – **"अनंतकाल में जो जीव आत्मोपादान से सिद्धसुख को प्राप्त हुए हैं और भविष्यकाल में जो जीव सिद्धसुख को प्राप्त होंगे; वे सभी काललब्धि के वश से ही हुए हैं; तथापि निज परमात्मा ही उपादेय है – ऐसी रुचिरूप वीतरागचारित्र का अविनाभावी जो निश्चयसम्यक्त्व है, उसकी ही मुख्यता है; काल की नहीं, जिसकारण वह हेय है। कहा भी है–**

किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥[1]

(हरिगीत)

मुक्ती गये या जायेंगे माहातम्य है सम्यक्त्व का।
यह जान लो हे भव्यजन ! इससे अधिक अब कहें क्या ॥

अधिक कहने से क्या ? जो श्रेष्ठ पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए हैं और जो भविष्यकाल में सिद्ध होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि कालद्रव्य एक प्रदेशी द्रव्य है, जिसे अप्रदेशी भी कहा जाता है। अनेक प्रदेशीपने के निषेध के लिए उसे अप्रदेशी कहा गया था; किन्तु कुछ लोगों ने उसे सचमुच ही अप्रदेशी मान लिया। यही कारण है कि यहाँ इस बात पर वजन दिया जा रहा है कि वह एक प्रदेशी है, प्रदेशों से पूर्णत: रहित नहीं। इसलिए वह प्रदेशवान द्रव्य है, अप्रदेशी नहीं। न तो वह धर्मद्रव्य के समान असंख्यप्रदेशी ही है और न एक प्रदेश से भी रहित है।

यहाँ एक प्रश्न यह संभव है कि विगत गाथाओं में तो कालद्रव्य को अप्रदेशी नास्तिकाय पूरी शक्ति लगाकर सिद्ध करते आये हैं और अब उतने ही जोर से यह बात कही जा रही है कि वह अप्रदेशी नहीं है, सप्रदेशी ही है। इसका कारण क्या है ?

अरे भाई ! बात यह है कि कालद्रव्य मूलत: तो एकप्रदेशी ही है; न वह बहुप्रदेशी है और न प्रदेश रहित अप्रदेशी ही है।

यदि कालद्रव्य अप्रदेशी नहीं है तो फिर उसे अप्रदेशी क्यों कहा जाता है ?

बहुप्रदेशत्व के निषेध के लिए उसे अप्रदेशी कहा जाता है; किन्तु वह प्रदेशों से पूर्णत: रहित नहीं है, एक प्रदेश तो उसके भी होता ही है। इसमें अधिक विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उक्त कथनों में परस्पर विरोध नहीं है, मात्र विवक्षाभेद है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अंतर्गत द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार समाप्त होता है। ●●●

---

[1] अष्टपाहुड़ : मोक्षपाहुड़, गाथा-८८

5487

ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार

(गाथा १४५ से गाथा २०० तक)

मंगलाचरण

(दोहा)

निज ज्ञायक भगवान से भिन्न सभी परज्ञेय।
निज ज्ञायक भगवान ही एकमात्र श्रद्धेय।।

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में द्रव्यसामान्याधिकार और द्रव्यविशेषाधिकार के समाप्त होने के बाद अब यहाँ ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार आरंभ करते हैं।

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार यहाँ समाप्त ही हो गया समझो[1]; क्योंकि सामान्य ज्ञेय और विशेष ज्ञेय – दोनों प्रकार से ज्ञेयों की चर्चा हो चुकी है; किन्तु आत्मकल्याण की दृष्टि से ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व – इन दोनों की पृथक्ता बताना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि आचार्यदेव उक्त दोनों महाधिकारों के बाद इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत ही ज्ञान और ज्ञेय में अन्तर बतानेवाले इस ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार को आरंभ करते हैं।

यद्यपि मैं (आत्मा) ज्ञानतत्त्व हूँ; तथापि मैं (आत्मा) ज्ञेयतत्त्व भी हूँ। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि ज्ञानतत्त्व में भी आत्मा की चर्चा एवं ज्ञेयतत्त्व में भी आत्मा की ही चर्चा– दोनों ही स्थानों पर एक आत्मा की ही चर्चा क्यों की जा रही है ? इन दोनों में अन्तर क्या है?

अरे भाई ! ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में जाननेवाले आत्मा की चर्चा की गई है और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में जानने में आनेवाले आत्मा की चर्चा की जा रही है। वस्तुत: बात यह है कि 'यह आत्मा जाननेवाला है' – ऐसा हमें जानना है।

यह भगवान आत्मा ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार में जाननेवाले तत्त्व के रूप में उपस्थित है एवं ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार में जानने में आने वाले तत्त्व के रूप में उपस्थित है।

चूँकि इस आत्मा का स्वभाव जानना है। जानने में जो आत्मा आ रहा है, वह आत्मा भी जानने के स्वभाववाला तत्त्व है। अत: उसे जाननेवाले के रूप में ही जाना जावेगा; क्योंकि इसमें जानने का गुण विद्यमान है।

अब, यहाँ विशेष समझने की बात यह है कि आचार्यदेव ने जब ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार शुरू किया था तो उसके प्रारम्भ में **पर्यायमूढ़ ही परसमय है** – ऐसा कहा था।

---

[1] १४५वीं गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं लिखते हैं – "अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा" – अब इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व कहकर...।

उसके बाद की गाथाओं और उनकी टीका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ पर पर्याय के नाम पर असमानजातीयद्रव्यपर्याय की ही चर्चा है। इस बात की विस्तृत चर्चा पहले हो चुकी है।

इसके बाद यहाँ भी पुन: आचार्यदेव मनुष्य, देव, नारकी, आदि को व्यवहारजीव कहकर उसी असमानजातीयद्रव्यपर्याय की मुख्यता से बात कर रहे हैं; क्योंकि मनुष्यजीव में जीव और अनंत पुद्‌गल परमाणुओं का पिण्ड शामिल है। इसप्रकार इस सम्पूर्ण प्रकरण में देहदेवल में विराजमान देह से भिन्न भगवान आत्मा की ही चर्चा है।

ध्यान रहे प्रमेयत्वगुण से सम्पन्न अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को परज्ञेयों से ही भिन्न जानना है, स्वज्ञेयरूप निजात्मा से नहीं।

जो तीन काल में कम से कम चार प्राणों से जीवे, वह व्यवहारजीव है। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास – ये चार प्राण हैं। इन्द्रियों में पाँचों इन्द्रियाँ और बल में तीन बल शामिल होने से तथा आयु व श्वासोच्छ्वास – इन चार प्राणों से जीता है, सो जीव है से तात्पर्य यही है कि जो दस प्राणों से जीता है, वह जीव है।

ये दस प्राण देह के ही अंग हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ये पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन, वचन और काय – ये तीन बल तथा श्वासोच्छ्वास – ये सब देह के ही अंग हैं। देह और आत्मा के सुनिश्चित काल के संयोग का नाम आयु होने से आयु भी देहं में शामिल है। इसप्रकार जो देह और आत्मा की मिली हुई असमानजातीयद्रव्यपर्याय है, उसका नाम ही व्यवहारजीव है।

स्वपर को जानने की अनंतशक्ति जिसमें विद्यमान है, उसका नाम निश्चयजीव है तथा जो देह और आत्मा की मिली हुई असमानजातीयद्रव्यपर्याय है, उसका नाम व्यवहार जीव है।

दश प्राणों से भेदविज्ञान के माध्यम से आचार्यदेव मनुष्यादिपर्यायरूप असमानजातीय-द्रव्यपर्याय और त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के बीच में विभाजन रेखा खींचना चाहते हैं।

इसप्रकार यह ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार भगवान आत्मा को मनुष्यादिपर्यायरूप व्यवहारजीव से विभक्त करनेवाला अधिकार है।

ज्ञेयतत्त्व कहकर अब ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा **सर्वप्रथम आत्मा को पर से अत्यन्त विभक्त करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं।**

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति –

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो।।१४५।।

सप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः।
यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्काभिसंबद्धः।।१४५।।

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीतो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते, न त्वितरः। एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयं ज्ञानं चेति ज्ञानज्ञेयविभागः। अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्त-

---

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सप्रदेश पदार्थनिष्ठित लोक शाश्वत जानिये।
जो उसे जाने जीव वह चतुप्राण से संयुक्त है।।१४५।।

सप्रदेश पदार्थों से निष्ठित सम्पूर्ण लोक नित्य है। उसे जो जानता है, वह जीव है; जो कि संसार अवस्था में कम से कम चार प्राणों से संयुक्त होता है।

तात्पर्य यह है कि सप्रदेशी छह द्रव्यों के समुदायरूप इस लोक में जाननेवाले द्रव्य एक मात्र जीव हैं और शेष द्रव्य अजीव हैं।

जीव द्रव्य ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है, शेष द्रव्य मात्र ज्ञेय ही हैं। जाननेवाला जीव संसार अवस्था में कम से कम चार प्राणों से जीता है, जीवित रहता है।

उक्त गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आ. अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"आकाश से लेकर काल तक सभी पदार्थ सप्रदेशी हैं और सभी के समुदायरूप लोक के भीतर होने पर भी स्व-पर को जानने की अचिन्त्य शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा एकमात्र जीव ही जानते हैं; अन्य कोई द्रव्य जानते नहीं हैं। इसप्रकार जीवों को छोड़कर शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं। जीवद्रव्य ज्ञेय भी हैं और ज्ञान भी हैं। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।

स्वभाव से ही प्रगट अनंत ज्ञानशक्ति जिनका हेतु है और तीनों काल में अवस्थायिपना जिसका लक्षण है – ऐसे जीवों के वस्तु का सहज स्वभाव होने से सर्वदा निश्चय जीवत्व

पुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतु विभक्तव्योऽस्ति।।१४५।।

अथ के प्राणा इत्यावेदयति। अथ प्रणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति –

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते।।१४६।।
पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।१४७।।

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायु:प्राणश्च।
आनपानप्राणो जीवानां भवन्ति प्राणास्ते।।१४६।।
प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवित: पूर्वम्।
स जीव: प्राणा: पुन: पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ता:।।१४७।।

होने पर भी; संसारावस्था में अनादि काल से प्रकटरूप से वर्तमान पुद्गल के संश्लेष द्वारा स्वयं दूषित होने से चार प्राणों का संयोग होने से व्यवहारजीवत्व है और वह विभक्त करने योग्य है।''

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि इस लोक में सभी द्रव्य सप्रदेशी हैं और ज्ञेय हैं; किन्तु जीवद्रव्य ज्ञेय के साथ ज्ञान भी हैं; जानने में आने के साथ-साथ जानते भी हैं।

यद्यपि सभी जीव निश्चय से ज्ञानस्वभावी ही हैं; तथापि संसार दशा में व्यवहार से अनादि से शरीरादि अर्थात् कम से कम चार प्राणों के संयोग में भी हैं। अत: शरीरादि से भगवान आत्मा जुदा है – यह जानना अत्यन्त आवश्यक है।।१४५।।

विगत गाथा में कहा गया है कि व्यवहारजीवत्व का हेतु चार प्राण हैं और निश्चयजीव उक्त चार प्राणोंरूप शरीर से भिन्न है। अब प्राणों के नाम बताकर व्युत्पत्ति से प्राणों को जीवत्व का हेतुपना और उनका पौद्गलिकपना बताते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इन्द्रिय बल अर आयु श्वासोच्छ्वास ये ही जीव के।
हैं प्राण इनसे लोक में सब जीव जीवे भव भ्रमें।।१४६।।
जीव जीवे जियेगा एवं अभी तक जिया है।
इन चार प्राणों से परन्तु प्राण ये पुद्गलमयी।।१४७।।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु:श्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणा:, कायवाङ्मनस्त्रयं बलप्राणा:, भवधारणनिमित्तमायु:प्राण:। उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राण: ।।१४६।।

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीव:।

एवमनादिसंतानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्यं जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव; तथापि तन्न जीवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् ।।१४७।।

इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास – ये चार जीवों के प्राण हैं। यद्यपि उक्त चार प्राणों से जो जीता है, जियेगा और भूतकाल में जीता था, वह जीव है; तथापि ये प्राण तो पुद्गलद्रव्यों से निष्पन्न हैं।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ये पाँच इन्द्रिय प्राण हैं; काय, वचन और मन – ये तीन बल प्राण हैं; भवधारण का निमित्त आयु प्राण है और नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है – ऐसी वायु श्वासोच्छ्वास प्राण है।

जो प्राणसामान्य से जीता है, जियेगा और पहले जीता था; वह जीव है।

यद्यपि अनादि सन्तानरूप प्रवर्तमान होने से संसारदशा में त्रिकाल स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है; तथापि वह प्राणसामान्य जीव का स्वभाव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य से निष्पन्न है।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि उनकी टीकाओं में उक्त दोनों गाथाओं के बीच में एक गाथा और आती है, जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है। वह गाथा इसप्रकार है –

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलप्राणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस प्राणा।।१२।।

(हरिगीत)

पाँच इन्द्रिय प्राण मन-वच-काय त्रय बल प्राण हैं।
आयु श्वासोच्छ्वास जिनवर कहे ये दश प्राण हैं।।१२।।

पाँच इन्द्रिय प्राण; मन, वचन और काय – ये तीन बल प्राण; श्वासोच्छ्वास और आयुरूप प्राण से प्राण दश होते हैं।

उक्त गाथा की टीका में भी गाथा के शब्दों को दुहरा दिया है; पर अन्त में यह लिख दिया है कि निश्चय से ये दश प्राण ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा से भिन्न हैं।

अथ प्राणानां पौद्गलिकत्वं साधयति। अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति–

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं।।१४८।।
पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं।।१४९।।

जीव: प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकै: कर्मभि:।
उपभुंजान: कर्मफलं बध्यतेऽन्यै: कर्मभि:।।१४८।।
प्राणाबाधं जीवो मोहप्रद्वेषाभ्यां करोति जीवयो:।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिककर्मभि:।।१४९।।

इस गाथा में जो प्राणों के भेद-प्रभेद गिनाये गये हैं; वह तत्त्वप्रदीपिका टीका में विगत गाथा की टीका में दे दिये गये हैं।

इसप्रकार इन तीन गाथाओं में मात्र यही कहा गया है कि प्राण चार प्रकार के होते हैं; जो कुल मिलाकर दश हो जाते हैं। इन्द्रिय प्राण के पाँच भेद, बल प्राण के तीन भेद और आयु व श्वासोच्छ्वास प्राण एक-एक – इसतरह दश प्राण हो गये। **इन प्राणों से जो जीता है, वह व्यवहार जीव है; किन्तु ये प्राण तो पुद्गल के हैं, जड़ हैं; अत: ये भगवान आत्मा से भिन्न ही हैं। यही कारण है कि ज्ञान-दर्शन चेतना को धारण करनेवाले जीवों को ही निश्चय जीव कहा जाता है।।१४६-१४७।।**

विगत गाथाओं में यह कहा है कि संसारी जीवों के चार प्राण होते हैं, उनसे वह जीता है, जीता था और जियेगा; फिर भी ये प्राण तो पौद्गलिक ही हैं।

अब इन गाथाओं में प्राणों को पौद्गलिक सिद्ध करते हुए यह बताते हैं कि वे पौद्गलिक प्राण पौद्गलिक कर्मों के बंध के हेतु हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मोहादि कर्मों से बंधा यह जीव प्राणों को धरे।
अर कर्मफल को भोगता अर कर्म का बंधन करे।।१४८।।
मोह एवं द्वेष से जो स्व-पर को बाधा करे।
पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि कर्म वह बंधन करे।।१४९।।

मोहादिक कर्मों से बंधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता हुआ कर्मफल को भोगता है और अन्य कर्मों से बंधता है।

यतो मोहादिभिः पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति, यतश्च प्राणनिबद्धत्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते; ततः पौद्गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चियन्ते ।।१४८।।

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुंक्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति; ताभ्यां स्वजीव-परजीवयोः प्राणाबाधं विदधाति। तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति। एवं प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति ।।१४९।।

यदि जीव मोह और द्वेष के द्वारा स्व-पर जीव के प्राणों को बाधा पहुँचाते हैं तो पूर्वकथित ज्ञानावरणादि कर्मों द्वारा बंधते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बँधा होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और प्राणों से संयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को भोगता हुआ पौद्गलिक कर्मों से बँधता है; इसलिए पौद्गलिक कर्म के कार्य व कारण होने से प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं।

प्राणों से कर्मफल भोगता हुआ जीव मोह व द्वेष को प्राप्त होता है और मोह व द्वेष से स्वजीव व परजीव के प्राणों को बाधा पहुँचाता है। परप्राणों को बाधा पहुँचाये, चाहे न पहुँचाये; उपरक्तपने से अपने भावप्राणों को बाधा पहुँचाता हुआ जीव ज्ञानावरणादि कर्मों को तो बाँधता ही है। इसप्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारणपने को प्राप्त होते हैं।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में वैसे तो तत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण करते हैं; किन्तु अन्त में उक्त तथ्य को निष्कर्ष के रूप में सोदाहरण इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"जिसप्रकार तपे हुए लोहे के गोले से दूसरों को मारने का इच्छुक पुरुष पहले तो स्वयं को ही जलाता है; दूसरे जलें या न जलें। इसीप्रकार मोहादि परिणत अज्ञानी जीव पहले विकार रहित स्व-संवेदन ज्ञानस्वरूप अपने शुद्ध प्राणों का घात करता है; बाद में दूसरों के प्राणों का घात हो, चाहे न हो।"

इसप्रकार इन गाथाओं में और उनकी टीका में यही कहा गया है कि मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बँधा होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और कर्मफल को भोगता हुआ पुनः कर्मों से बंधता है। इसप्रकार प्राण पुराने पौद्गलिक कर्म के उदय के कार्य हैं और नये पुद्गल कर्म के बंध के कारण हैं। इसप्रकार प्राण पूर्णतः पौद्गलिक ही हैं ।।१४८-१४९।।

अथ पुद्गलप्राणसन्ततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति। अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति –

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु।।१५०।।
जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति।।१५१।।

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुनः पुनरन्यान्।
न त्यजति यावन्ममत्वं देहप्रधानेषु विषयेषु।।१५०।।
य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मकं ध्यायति।
कर्मभिः स न रज्यते कथं तं प्राणा अनुचरन्ति।।१५१।।

येययात्मनः पौद्गलिकप्राणानां संतानेन प्रवृत्तिः, तस्या अनादिपौद्गलकर्ममूलं शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः।।१५०।।

'प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारण भी हैं और कार्य भी हैं।' विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि **पौद्गलिक प्राणों की संतति की प्रवृत्ति और निवृत्ति का अंतरंग हेतु क्या है ?** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ममता न छोड़े देह विषयक जबतलक यह आतमा।
कर्ममल से मलिन हो पुन-पुनः प्राणों को धरे।।१५०।।
उपयोगमय निज आतमा का ध्यान जो धारण करे।
इन्द्रियजयी वह विरतकर्मा प्राण क्यों धारण करे।।१५१।।

जबतक यह कर्ममल से मलिन आत्मा देहप्रधान विषयों में ममत्व नहीं छोड़ता; तबतक बारम्बार अन्य-अन्य प्राणों को धारण करता है।

जो आत्मा इन्द्रियादिक का विजयी होकर उपयोगमय आत्मा का ध्यान करता है; वह कर्मों के द्वारा रंजित नहीं होता; उसके प्राणों का संबंध कैसे हो सकता है ?

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"पौद्गलिक प्राणों की संतानरूप प्रवृत्ति का अंतरंग हेतु शरीरादि में ममत्वरूप उपरक्तपना है और उस उपरक्तपने का मूल अनादि पौद्गलिक कर्म है।

पुद्‌गलप्राणसंततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्‌गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः। स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुवृत्तिविजयिनो भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्य स्फटिकमणेरिवात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात्। इदमत्र तात्पर्यं आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्‌गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः ॥१५१॥

अथ पुनरप्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति। अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति –

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥१५२॥

पौद्‌गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अंतरंग हेतु पौद्‌गलिक कर्म के उदय से होने वाले उपरक्तपने का अभाव है और वह (उपरक्तपने का अभाव) अनेक वर्णों वाले आश्रयों (पात्रों-डाकों) के अनुसार सारी परिणति से व्यावृत्त हुए स्फटिक मणि की भाँति जो आत्मा अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमय अकेले आत्मा में सुनिश्चिलतया बसता है; उसके वह उपरक्तपने का अभाव होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतुभूत पौद्‌गलिक प्राण उच्छेद करनेयोग्य हैं।''

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका के समान ही इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हैं। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए अन्त में लिखते हैं कि इससे यह निश्चित हुआ कि शरीरादि में ममता ही इन्द्रियादि प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण है और कषाय और इन्द्रियों पर विजय ही इन्द्रियादि प्राणों के अभाव का कारण है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जबतक यह आत्मा शारीरिक विषयों में ममत्व करना नहीं छोड़ता, उन्हें अपना मानना और उनसे राग-द्वेष करना नहीं छोड़ता; तब तक कर्मबंध होता है और कर्मोदय से बारम्बार अन्य-अन्य गतियों में शारीरिक प्राणों को धारण करता है और जो आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा को ही अपना जानता-मानता है, उसमें ही अपनापन स्थापित करता है, उसका ही ध्यान करता है, विषयों में रंजित नहीं होता; उसके प्राणों का संयोग नहीं होता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है ॥१५०-१५१॥

विगत गाथाओं में यह बताया है कि इन्द्रियादि प्राणों रूप शरीरादि के संयोग का अन्तरंग कारण इनके प्रति एकत्व-ममत्व का होना है और अब इन गाथाओं में व्यवहारजीवत्व से आत्मा की अत्यन्त विभक्तता (भिन्नता) बताने के लिए देव-मनुष्यादि गतिरूप पर्यायों का स्वरूप एवं भेद बताते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ।।१५३।।

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे संभूत:।
अर्थ: पर्याय: स संस्थानादिप्रभेदै: ।।१५२।।
नरनारकतिर्यक्सुरा संस्थानादिभिरन्यथा जाता:।
पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मण: ।।१५३।।

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया संभावितात्मलाभोऽर्थोनेकद्रव्यात्मक: पर्याय:।

स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमान: संभाव्यत एव। उपपन्नश्चैवंविध: पर्याय:; अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरवभासनात् ।।१५२।।

(हरिगीत)

अस्तित्व निश्चित अर्थ की अन्य अर्थ के संयोग से।
जो अर्थ वह पर्याय जो संस्थान आदिक भेदमय ।।१५२।।
तिर्यंच मानव देव नारक नाम नामक कर्म के।
उदय से पर्याय होवें अन्य-अन्य प्रकार की ।।१५३।।

अस्तित्व से निश्चित अर्थ (द्रव्य) का अन्य अर्थ (द्रव्य) में उत्पन्न जो अर्थ (भाव) वह पर्याय है; जो कि संस्थानादि भेदों सहित होती है।

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव – ये नामकर्म के उदयादिक के कारण होनेवाली जीवों की पर्यायें हैं; जो कि संस्थानों द्वारा अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है–

"स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से निश्चित एक अर्थ (द्रव्य) का स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से ही निश्चित दूसरे अर्थ में विशिष्टरूप से उत्पन्न होता हुआ जो अर्थ (भाव) है; वह अनेकद्रव्यात्मक पर्याय है।

जिसप्रकार एक पुद्गल की अन्य पुद्गल के साथ मिलकर अनेकद्रव्यात्मक समानजातीय द्रव्यपर्याय देखी जाती है; उसीप्रकार जीव की पुद्गलों में संस्थानादि से विशिष्ट उत्पन्न होती हुई अनेकद्रव्यात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय भी अनुभव में अवश्य आती है।

ऐसी पर्याय का होना असंभव नहीं है, न्याययुक्त ही है; क्योंकि जो केवल जीव की व्यतिरेकमात्र है – ऐसी अस्खलित एकद्रव्यपर्याय ही अनेकद्रव्यों के संयोगात्मक रूप से भीतर अवभासित होती है।

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम्। ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककरणत्वेनानेकद्रव्यसंयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोदखिल्वसंस्थानादिभिरिव संस्थानादिभिरन्यथैव भूता भवन्ति।।१५३।।

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभावहेतुत्वेनोद्योतयति –

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।।१५४।।

तं सद्भावनिबद्धं द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम्।
जानाति यः सविकल्पं न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये।।१५४।।

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव – ये जीवों की पर्यायें हैं। वे नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण अनेक द्रव्यों की संयोगात्मक हैं; इसलिए जिसप्रकार तुष की अग्नि और अंगार आदि अग्नि की पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारों से अन्य-अन्यप्रकार की होती हैं; उसीप्रकार जीव की वे नारकादि पर्यायें संस्थानादिक के द्वारा अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि कम से कम चार और अधिक से अधिक दश प्राणों से संयुक्त जीव की असमानजातीय नर-नारकादि पर्यायें विभिन्न आकारों में होती हैं। जिस गति में जीव जाता है, उसी गति के योग्य आकार हो जाता है। मनुष्य गति का जीव मनुष्याकार तो होता ही है; पर मनुष्य देह के भी तो दिन में अनेक आकार बनते हैं और उसके साथ जीव भी उन्हीं आकारों में परिणमित होता रहता है।

इस असमानजातीय मनुष्य पर्याय में आत्मा अलग है और देह अलग है। यद्यपि वे एकक्षेत्रावगाह हैं, तथापि उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न है, उनके आकार भी भिन्न-भिन्न है।

तात्पर्य यह है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा भेदविज्ञान ज्ञानियों को निरन्तर विद्यमान रहता है। यदि हमें अपना कल्याण करना है तो ऐसा भेदविज्ञान निरन्तर कायम रखना चाहिए।।१५२-१५३।।

अब इस १५४वीं गाथा में आत्मा का अन्य द्रव्यों के साथ संयुक्तपना होने पर भी अर्थनिश्चायक स्वरूपास्तित्व को स्व-पर विभाग के हेतुरूप में समझाते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

त्रिधा निज अस्तित्व को जाने जो द्रव्यस्वभाव से।
वह हो न मोहित जान लो अन-अन्य द्रव्यों में कभी।।१५४।।

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यातं स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य। यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्युत्पादव्ययत्वेन च त्रितयीं विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमानः परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपरविभागहेतुर्भवति; ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धये प्रतिपदमवधार्यम्।

तथा हि – यच्चेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं, यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो, यश्चेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य नु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः। यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं, योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो, योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनास्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वम् यस्य तु स्वभावः पुद्गलस्य स खल्वयमन्यः। नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपरविभागः।।१५४।।

जो जीव उक्त अस्तित्व निष्पन्न, तीन प्रकार के कथित, सविकल्प भेदोंवाले द्रव्यस्वभाव को जानते हैं; वे अन्य द्रव्य में मोह को प्राप्त नहीं होते।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“द्रव्य को निश्चित करनेवाला स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व ही वस्तुतः द्रव्य का स्वभाव है; क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व से ही बना हुआ है। द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से त्रयात्मक भेदभूमिका में आरूढ़ द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ परद्रव्य के प्रति मोह को दूर करके स्व-पर के विभाग का हेतु होता है; इसलिए स्वरूपास्तित्व ही स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिए पद-पद पर लक्ष्य में लेना चाहिए।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – चेतनत्व के अन्वयरूप द्रव्य, चेतना विशेषत्व रूप गुण और चेतनत्व के व्यतिरेकरूप पर्याय – यह त्रयात्मक तथा पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करनेवाले चेतनत्वरूप ध्रौव्य और चेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप उत्पाद और व्यय – यह त्रयात्मक स्वरूपास्तित्व वाला मैं अन्य हूँ और अचेतनत्व के अन्वयरूप द्रव्य, अचेतना के विशेषत्वरूप गुण और अचेतनत्व के व्यतिरेकरूप पर्याय – यह त्रयात्मकत्व तथा पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करनेवाले अचेतनत्वरूप ध्रौव्य और अचेतनत्व के उत्तर तथा पूर्व के व्यतिरेकरूप उत्पाद और व्यय – यह त्रयात्मक स्वरूपास्तित्व स्वभावी अन्य अचेतन पदार्थ अन्य हैं। इसलिए मुझे मोह नहीं है, स्वपर का विभाग है।”

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति। अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसंयोगकारणमित्यावेदयति –

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।।१५५।।
उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।।१५६।।

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः।
सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति।।१५५।।
उपयोगो यदि हि शुभः पुण्यं जीवस्य संचयं याति।
अशुभो वा तथा पापं तयोरभावे न चयोऽस्ति।।१५६।।

इस गाथा और उसकी टीका में यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपास्तित्व प्रमाण ही है। प्रत्येक वस्तु में पाये जाने वाले द्रव्य, गुण और पर्यायें तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही उसका स्वरूपास्तित्व है।

मनुष्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्याय में जीव का स्वरूपास्तित्व अलग है और देहादि का स्वरूपास्तित्व अलग है। यह जानना ही भेदविज्ञान है और यह भेदविज्ञान निरन्तर भाने योग्य है; क्योंकि देह में जो अनादिकालीन एकत्वबुद्धि है; वह इसके बिना टूटनेवाली नहीं है।।१५४।।

'चार प्राणरूप शरीर अन्य है और मैं अन्य हूँ।' विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि उक्त शरीर के समागम का मूल कारण क्या है ?

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आतमा उपयोगमय उपयोग दर्शन-ज्ञान हैं।
अर शुभ-अशुभ के भेद भी तो कहे हैं उपयोग के।।१५५।।
उपयोग हो शुभ पुण्यसंचय अशुभ हो तो पाप का।
शुभ-अशुभ दोनों ही न हों तो कर्म का बंधन न हो।।१५६।।

आत्मा उपयोगात्मक है और ज्ञान-दर्शन को उपयोग कहते हैं। आत्मा का यह उपयोग शुभ और अशुभ के भेद से भी दो प्रकार होता है।

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः। उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात्। स तु ज्ञानं दर्शनं च, साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य।

अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धोनिरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ॥१५५॥

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः, पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति। यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते। स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य ॥१५६॥

उपयोग यदि शुभ हो तो पुण्य का संचय होता है और यदि अशुभ हो तो पाप का संचय होता है तथा दोनों के अभाव में कर्मों का संचय नहीं होता।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“वस्तुतः परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष है। चैतन्यानुविधायी परिणाम होने से उपयोग आत्मा का स्वभाव है और वह उपयोग ज्ञान-दर्शनरूप है; क्योंकि वह साकार और निराकाररूप से उभयरूप है।

यह उपयोग शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें शुद्धोपयोग निरुपराग (निर्विकार) है और अशुद्धोपयोग सोपराग (सविकार) है।

शुभ और अशुभ के भेद से अशुद्धोपयोग भी दो प्रकार का है; क्योंकि वह विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप होता है।

परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्धोपयोग है। वह अशुद्धोपयोग विशुद्धि और संक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभरूप द्विविधता को प्राप्त होता हुआ पुण्य-पाप के बंध का कारण होता है। पुण्य से अनुकूल और पाप से प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते हैं।

जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोगों का अभाव हो जाता है, तब उपयोग शुद्ध ही रहता है और वह शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है।”

उक्त गाथा और उसकी टीकाओं में अत्यन्त संक्षेप में यह कहा गया है कि ज्ञान-दर्शन को उपयोग कहते हैं और वह उपयोग आत्मा का स्वरूप है। यदि चारित्र की अपेक्षा बात करें तो वह उपयोग शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति। अथाशुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति –

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥१५७॥
विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥१५८॥

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धांस्तथैवानागारान्।
जीवेषु सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य॥१५७॥
विषयकयाषावगाढो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभः॥१५८॥

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीत-

---

अशुद्धोपयोग भी दो प्रकार का होता है – शुभोपयोग और अशुभोपयोग। शुभोपयोग से पुण्यबंध होता है और अशुभोपयोग से पाप बंधता है – इसप्रकार अशुद्धोपयोग बंध का कारण है और शुद्धोपयोग बंध के अभाव का कारण है, मोक्ष का कारण है॥१५७-१५८॥

विगत गाथाओं में उपयोग के भेद बताकर उनके स्वरूप को स्पष्ट कर अब इन गाथाओं में शुभ और अशुभ उपयोग का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

श्रद्धान सिध-अणगार का अर जानना जिनदेव को।
जीवकरुणा पालना बस यही है उपयोग शुभ॥१५७॥
अशुभ है उपयोग वह जो रहे नित उन्मार्ग में।
श्रवण-चिंतन-संगति विपरीत विषय-कषाय में॥१५८॥

जो जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों और अनगारों की श्रद्धा करता है तथा जीवों के प्रति दयाभाव रखता है; उसका वह उपयोग शुभ कहलाता है।

जिसका उपयोग विषय-कषाय में मग्न है; कुश्रुत, कुविचार और कुसंगति में लगा है तथा उग्र है, उन्मार्ग में लगा हुआ है; उसका वह उपयोग अशुभोपयोग है।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“विशेषप्रकार की क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप

शोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः ।।१५७।।

विशिष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीताशोभनोपरागत्वात्परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदुःश्रवणदुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः ।।१५८।।

पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से, शुभ उपराग को ग्रहण किया होने से जो उपयोग परमभट्टारक महादेवाधिदेव अरहंत परमेश्वर, सिद्ध भगवान और साधुजनों की श्रद्धा करने में तथा समस्त जीव समूह की अनुकंपा का आचरण करने में प्रवृत्त है; वह शुभोपयोग है।

विशिष्ट उदय दशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से, अशुभ उपराग को ग्रहण करने से जो उपयोग परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर अरहंत-सिद्ध और साधुजनों के अतिरिक्त अन्य उन्मार्ग की श्रद्धा करने में तथा विषय-कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है; वह अशुभोपयोग है।''

वैसे तो आचार्य जयसेन इन गाथाओं का अर्थ अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं; तथापि वे अन्त में दुःश्रुति, दुश्चित्त और दुष्टगोष्टी का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''शुद्धात्मतत्त्व की प्रतिपादक श्रुति, जिनवाणी, आगम सुश्रुति है और उससे विपरीत दुश्रुति है अथवा मिथ्याशास्त्ररूप श्रुति दुःश्रुति है। चिन्ता रहित होकर आत्मा में लीन मन सुचित्त है और उस आत्मलीनता का विनाश करनेवाला मन दुश्चित्त है अथवा स्व और पर के लिए इच्छित काम-भोग की चिन्तारूप परिणत रागादि अपध्यान दुश्चित्त है। परम चैतन्य परिणति को नष्ट करनेवाली संगति दुष्टगोष्टी है अथवा परम चैतन्य परिणति के विरोधी कुशील पुरुष आदि की गोष्टी (संगति) दुष्टगोष्टी है।''

शुभोपयोग और अशुभोपयोग का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली उक्त गाथाओं में अत्यन्त संक्षेप में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति पंचपरमेष्ठी का स्वरूप जानकर उनमें श्रद्धा रखता है, उनकी भक्ति करता है, उनका गुणगान करता है और जीवों के प्रति करुणाभाव रखता है; उसका वह भाव शुभभाव कहलाता है और वह शुभभाव पुण्यबंध का कारण है।

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति –

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए।।१५९।।

अशुभोपयोगरहितः शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि।।१५९।।

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रोदयदशा-

---

जिसका उपयोग विषय-कषाय में मग्न रहता है, जो उग्रस्वभावी है, उन्मार्ग में लगा है और कुश्रुत, कुविचार और कुसंगति में पड़ा है; वह अशुभोपयोगी है और वह पापबंध करता है।

जो व्यक्ति इन दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग से विरक्त रह अपने आत्मा का ध्यान करता है; वह शुद्धोपयोगी कर्मों का नाश करता है।।१५७-१५८।।

विगत गाथाओं में शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग के भेद-प्रभेदों और उनका फल दिखाकर अब इस गाथा में परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास कराते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आतमा ज्ञानात्मक अनद्रव्य में मध्यस्थ हो।
ध्यावे सदा ना रहे वह नित शुभ-अशुभ उपयोग में।।१५९।।

अन्य द्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ मैं अशुभोपयोग से रहित होता हुआ और शुभोपयोग में उपयुक्त नहीं होता हुआ ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ गाथा में अशुभोपयोग से निवृत्ति और शुभोपयोग में प्रवृत्ति न करने की बात कही है। दोनों के हेयपने में थोड़ा-बहुत अन्तर डाला है। तात्पर्य यह है कि अशुभोपयोग को तो बुद्धिपूर्वक छोड़ना पड़ता है; पर शुभोपयोग सहज ही छूट जाता है; क्योंकि शुद्धोपयोग में चले जाने पर शुभोपयोग रहता ही नहीं है। मेरा कहना मात्र इतना ही है कि अशुभ से निवृत्ति और शुभ में अप्रवृत्ति – इस कथन में कुछ विशेष भाव भरा हुआ है। उसे जानने की कोशिश की जानी चाहिए।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“परद्रव्य के संयोग के कारणरूप में कहा गया अशुद्धोपयोग वस्तुतः मन्द-तीव्र उदय

विश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते, न पुनरन्यस्मात्। ततोऽहमेष सर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये मध्यस्थो भवामि। एवं भवंश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वाशुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहात् प्रसिद्धशुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्यं निश्चलमुपयुक्तस्तिष्ठामि। एष मे परद्रव्यसंयोगकारणविनाशाभ्यासः ।।१५९।।

अथ शरीरादावपि परद्रव्ये माध्यस्थं प्रकटयति। अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति –

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।।१६०।।
देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ।।१६१।।

दशा में रहनेवाले परद्रव्यानुसार परिणति के अधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, अन्य कारण से नहीं। इसलिए मैं समस्त परद्रव्यों में मध्यस्थ होता हूँ।

इसप्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणति के अधीन न होने से शुभाशुभरूप अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से शुद्धोपयोगी होता हुआ उपयोगरूप निजस्वरूप से आत्मा में ही सदा निश्चल रूप से उपयुक्त रहता हूँ।

यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है।''

अब यहाँ आचार्यदेव कह रहे हैं कि शुद्धोपयोग में रहना ही परद्रव्य के संयोग के कारण रूप अशुद्धोपयोग के विनाश का कारण है। अतः अब मैं समस्त परद्रव्यों से मध्यस्थ होता हूँ।

इसप्रकार शुभाशुभभावरूप अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर शुद्धोपयोगी होता हुआ पुण्य-पाप से मुक्त होकर मैं निजात्मा में निश्चल होता हूँ; क्योंकि अशुद्धोपयोग के विनाश का एकमात्र यही उपाय है ।।१५९।।

विगत गाथा में अशुद्धोपयोग के विनाश के अभ्यास की बात करके अब इन गाथाओं में शरीरादि परद्रव्यों के प्रति माध्यस्थ भाव दिखाकर मन-वचन-काय परद्रव्य हैं – यह समझाते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

देह मन वाणी न उनका करण या कर्ता नहीं।
ना कराऊँ मैं कभी भी अनुमोदना भी ना करूँ ।।१६०।।

नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषाम्।
कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम्।।१६०।।
देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम्।।१६१।।

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि।

तथा हि – न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि, तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः।

देह मन वच सभी पुद्गल द्रव्यमय जिनवर कहे।
ये सभी जड़ स्कन्ध तो परमाणुओं के पिण्ड हैं।।१६१।।

मैं न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी ही हूँ। मैं इन मन-वचन-काय का कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला भी नहीं हूँ और करनेवालों की अनुमोदना करनेवाला भी नहीं हूँ।

देह, मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं और वे पुद्गल द्रव्य परमाणुओं के पिण्ड हैं – ऐसा वीतरागदेव ने कहा है।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''मैं शरीर, वाणी और मन को परद्रव्य के रूप में समझता हूँ; इसलिए मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – वस्तुतः मैं शरीर, वाणी और मन के स्वरूप का आधारभूत अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; क्योंकि मेरे बिना ही वे अपने स्वरूप को धारण करते हैं। इसलिए मैं इन शरीरादि का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ।

इसीप्रकार मैं शरीर, वाणी तथा मन का कारणरूप अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; क्योंकि मेरे कारण हुए बिना ही वे कारणवान हैं; इसलिए मैं उनके कारणपने का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ।

मैं स्वतंत्ररूप से शरीर, वाणी और मन का कर्ता अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; क्योंकि मेरे कर्ता हुए बिना भी वे किये जाते हैं। इसलिए उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः।

न च मे स्वतंत्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतंत्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः।।१६०।।

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं, पुद्‍गलद्रव्यात्मकत्वात्। पुद्‍गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्‍गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात्।

तथाविधपुद्‍गलद्रव्यं त्वनेकपरमाणुद्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणामः। अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदकेत्वेनावभासनात्।।१६१।।

स्वतंत्ररूप से शरीर, वाणी व मन का कारकरूप अचेतन द्रव्य का मैं प्रयोजक (करानेवाला) नहीं हूँ; क्योंकि मेरे बिना भी वे किये जाते हैं। इसलिए मैं उनमें कर्तापने के प्रयोजकपने (करानेवालापने) का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

स्वतंत्ररूप से शरीर, वाणी और मन का कारक जो अचेतन द्रव्य है; मैं उनका अनुमोदक नहीं हूँ; क्योंकि मेरे अनुमोदक हुए बिना ही वे किये जाते हैं। इसलिए उनके कर्ता के अनुमोदनपने का पक्षपात छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

पुद्‍गलद्रव्यात्मक होने से शरीर, वाणी और मन परद्रव्य हैं। उनमें पुद्‍गलपना है; क्योंकि वे पुद्‍गलद्रव्य के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व में निश्चित हैं।

शरीररूप पुद्‍गलद्रव्य अनेक परमाणुओं का एक पिंडपर्यायरूप परिणाम है; क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्यों के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक (भिन्न-भिन्न) होकर भी कथंचित् एकत्वरूप अवभासित होते हैं।''

उक्त गाथाओं और उनकी टीका का भाव यह है कि आत्मा और उसके संयोग में रहनेवाले मन-वचन-काय का स्वरूपास्तित्व पूर्णतः भिन्न-भिन्न है। वे न तो एक-दूसरे के रूप हैं, न एक-दूसरे के स्वामी हैं। इसीप्रकार वे एक-दूसरे के परस्पर कर्ता नहीं हैं, कारण नहीं हैं, कारयिता नहीं हैं और अनुमन्ता भी नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि इनमें परस्पर एकक्षेत्रावगाह संबंध के अतिरिक्त कोई भी संबंध नहीं है।

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति –

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्य देहस्य।।१६२।।

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृताः पिण्डम्।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य।।१६२।।

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनोद्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात्।

न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात्।।१६२।।

इसलिए ज्ञानी धर्मात्मा जीव इनके प्रति पूर्णतः मध्यस्थ रहते हैं, शरीरादि में कुछ करने के बोझ से पूर्णतः मुक्त रहते हैं। यदि कमजोरी के कारण तत्संबंधी कोई विकल्प खड़ा हो जाता है तो उसे भी जान लेते हैं, सहजभाव से ज्ञान का ज्ञेय बना लेते हैं; उसके कारण आकुल-व्याकुल नहीं होते।।१६०-१६१।।

विगत गाथा में मन-वचन-काय का परद्रव्यत्व बताकर अब इस गाथा में यह बताते हैं कि यह आत्मा न तो परद्रव्य है और न परद्रव्यों का कर्ता ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मैं नहीं पुद्गलमयी मैंने ना बनाया हैं इन्हें।
मैं तन नहीं हूँ इसलिए ही देह का कर्ता नहीं।।१६२।।

मैं पुद्गलमय नहीं हूँ और वे पुद्गल मेरे द्वारा पिण्डरूप नहीं किये गये हैं; इसलिए मैं देह नहीं हूँ तथा उस देह का कर्ता भी नहीं हूँ।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसका प्रकरण चल रहा है – ऐसा यह शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक परद्रव्य है; इसके भीतर वाणी और मन का भी समावेश हो जाता है। इसप्रकार मन-वचन-काय के पिण्डरूप शरीर मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं अपुद्गलमय हूँ; इसलिए मेरा पुद्गलमय शरीर होने में विरोध है।

इसीप्रकार शरीर के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कारयिता द्वारा और अनुमोदक द्वारा भी मैं शरीर का कर्ता नहीं हूँ; क्योंकि अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्डरूप परिणाम का अकर्ता मैं अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्डरूप पर्यायरूप परिणामात्मक शरीर का मेरे कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है।"

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति। अथ कीदृशं तत्स्निग्ध-रूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति। अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति –

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो द समयसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि ।।१६३।।
एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ।।१६४।।
णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ।।१६५।।

अप्रदेशः परमाणुः प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ।।१६३।।

इस गाथा और इसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। यह भगवान आत्मा शरीर का न तो कर्ता है, न कारण है, न कारयिता है और न अनुमंता ही है। पुद्गल परमाणुओं से बना यह शरीर स्वयं परिणमनशील है; वह अपने परिणमन का कर्ता स्वयं है। इसीप्रकार भगवान आत्मा भी स्वयं परिणमनशील पदार्थ है; इसकारण वह भी अपने परिणमन का कर्ता स्वयं है। न तो परद्रव्य उसके कर्ता हैं और न वह शरीरादि परद्रव्यों का कर्ता है।।१६२।।

१६२वीं गाथा में आत्मा शरीरादि का कर्ता नहीं है – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में पुद्गल में परस्पर बंधरूप परिणमन का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

रे अप्रदेशी अणु एक प्रदेशमय अर अशब्द हैं।
अर रूक्षता-स्निग्धता से बहुप्रदेशीरूप हैं।।१६३।।
परमाणु के परिणमन से इक-एक कर बढ़ते हुए।
अनंत अविभागी न हो स्निग्ध अर रूक्षत्व से ।।१६४।।
परमाणुओं का परिणमन सम-विषम अर स्निग्ध हो।
अर रूक्ष हो तो बंध हो दो अधिक पर न जघन्य हो ।।१६५।।

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वम्।
परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ।।१६४।।
स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामाः समा वा विषमा वा।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीणाः ।।१६५।।

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च।

यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानामविरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात्, तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणतिरूपा द्विप्रदेशादित्वानुभूतिः। अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम् ।।१६३।।

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात्। ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्यं चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापि स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं वा भवति ।।१६४।।

अप्रदेशी और प्रदेशमात्र, अशब्द परमाणु स्निग्ध तथा रूक्ष होता हुआ द्विप्रदेशादिपने का अनुभव करता है।

परमाणु के परिणमन के कारण एक (अविभागी प्रतिच्छेद) से लेकर एक-एक बढ़ते हुए जबतक अनंतपने (अनंत अविभागी प्रतिच्छेदपने) को प्राप्त हों; तबतक स्निग्धत्व और रूक्षत्व है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

परमाणु-परिणाम स्निग्ध हों या रूक्ष हों, सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों; यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों तो बंधते हैं, जघन्य अंशवाले नहीं बँधते।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"परमाणु दो आदि प्रदेशों के अभाव के कारण अप्रदेशी और एक प्रदेश के सद्भाव के कारण प्रदेशमात्र हैं तथा स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्द पर्याय की प्रगटता असंभव होने से अशब्द हैं। चार स्पर्श, पाँच रस, दो गंध और पाँच वर्णों के अविरोधपूर्वक सद्भाव के कारण वह परमाणु स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है; इसलिए उसे पिण्डपर्यायपरिणतिरूप द्विप्रदेशादिपने की अनुभूति होती है।

एक परमाणु की दूसरे एक परमाणु के साथ पिण्डरूप परिणति द्विप्रदेशीपने की अनुभूति है; एक परमाणु की अन्य दो परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणति त्रिप्रदेशीपने का अनुभव है। इसप्रकार परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणत होने पर अनेकप्रदेशीपने का अनुभव करता है। इसप्रकार स्निग्ध-रूक्षत्व पिण्डपने का कारण है।

समतो द्व्यधिकगुणाद्धि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्गः, स्निग्धरूक्षद्व्यधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात्। न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः, एकगुणस्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बन्धस्यासाधनत्वात्।।१६५।।

परमाणु के परिणाम होता है; क्योंकि परिणाम वस्तु का स्वभाव होने से उसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। उस परिणाम के कारण कादाचित्क (कभी-कभी होनेवाली) विचित्रता (अनेकरूपता) धारण करता हुआ, एक से लेकर एक-एक बढ़ते हुए अनंत अविभागप्रतिच्छेदों तक व्याप्त होनेवाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणु के होता है; क्योंकि परमाणु अनेक प्रकार के गुणोंवाला है।

समान से दो गुण (अंश) अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है – यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है; क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्व की द्विगुणाधिकता होना परिणमन करानेवाला होने से बंध का कारण है। यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता – यह अपवाद है; क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व और रूक्षत्व के परिणम्य-परिणामता का अभाव होने से बंध के कारणपने का अभाव है।''

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य जयसेन सोदाहरण विस्तार से समझाते हैं; जिसका सार इसप्रकार है –

''जिसप्रकार शुद्ध-बुद्ध स्वभाव द्वारा यह आत्मा बन्ध रहित होने पर भी, पश्चात् अशुद्धनय से स्निग्ध के स्थानीय रागभाव तथा रूक्ष के स्थानीय द्वेषभावरूप से जब परिणमित होता है, तब परमागम में कही गई विधि से बन्ध का अनुभव करता है; उसीप्रकार परमाणु भी स्वभाव से बन्ध रहित होने पर भी, जब बन्ध के कारणभूत स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप से परिणमित होता है, तब दूसरे पुद्गल के साथ विभाव पर्यायरूप बन्ध का अनुभव करता है।

बकरी के दूध में, गाय के दूध में, भैंस के दूध में चिकनाई की वृद्धि के समान; जिसप्रकार जीव में बन्ध के कारणभूत स्निग्ध के स्थानीय रागपना तथा रूक्ष के स्थानीय द्वेषपना, जघन्य विशुद्धि-संक्लेश स्थान से प्रारम्भ कर परमागम में कहे गये क्रम से उत्कृष्ट विशुद्धि-संक्लेश पर्यन्त बढ़ते हैं; उसीप्रकार पुद्गल परमाणु द्रव्य में भी, बन्ध के कारणभूत स्निग्धता और रूक्षता पहले कहे गये जलादि की तारतम्य (क्रम से बढ़ती हुई) शक्ति के उदाहरण से एक गुण नामक जघन्य शक्ति से प्रारम्भ कर गुण नामक अविभागी प्रतिच्छेदरूप दूसरे आदि शक्ति विशेष से अनंत संख्या तक बढ़ते हैं; क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामी होने के कारण परिणाम का निषेध किया जाना शक्य नहीं है।

विशेष यह है कि – परम चैतन्य परिणति लक्षण परमात्मतत्त्व की भावनारूप धर्मध्यान, शुक्लध्यान के बल से; जिसप्रकार जघन्य स्निग्ध शक्ति के स्थानीय राग के क्षीण होने पर और जघन्य रूक्ष शक्ति के स्थानीय द्वेष के क्षीण होने पर, जल और रेत के समान जीव का बन्ध नहीं होता है; उसीप्रकार पुद्गल परमाणु के भी जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्ति का प्रसंग होने पर बन्ध नहीं होता है – ऐसा अभिप्राय है।''

यहाँ पर जानने की विशेष बात यह है कि यहाँ पर आत्मा के बंध का उदाहरण देकर पुद्गल के बंध को समझाया गया है।

उक्त गाथाओं और उनकी टीकाओं में पुद्गल स्कन्धों के बनने की प्रक्रिया समझाई गई है। **एकप्रदेशीय पुद्गल परमाणु मूलत: पुद्गलद्रव्य है और अनेक परमाणुओं के स्कंध पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं।**

पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्य एकक्षेत्रावगाहरूप से एकसाथ रहते हुए भी कभी परस्पर में मिलते नहीं हैं। आकाश, धर्म और अधर्म – ये तो एक-एक ही हैं; अत: इनके मिलने का तो कोई प्रश्न नहीं है। ये आकाशादि द्रव्य भी परस्पर नहीं मिलते; भिन्न- भिन्न ही रहते हैं। कालद्रव्य असंख्यात हैं; परन्तु वे भी परस्पर कभी मिलते नहीं हैं। न तो आपस में ही मिलते हैं और न अन्य द्रव्यों के साथ ही मिलते हैं। इसप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन चार द्रव्यों में बंध का अभाव होने से इनमें बंधप्रक्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता।

जीव अनन्त हैं; पर वे भी परस्पर नहीं मिलते। न तो वे परस्पर मिलते हैं और न धर्म, अधर्म, आकाश और काल से ही मिलते हैं। हाँ, पुद्गल के साथ उनका संबंध अवश्य होता है, बंध अवश्य होता है।

पुद्गल तो परस्पर बंधते ही हैं; स्कंध के रूप में परिणमित होते ही हैं। उनमें परस्पर और जीव के साथ उनके बंध की प्रक्रिया का क्या स्वरूप है – यही बात यहाँ समझाई जा रही है।

उक्त बंध होने में कारण उनमें होनेवाली स्निग्धता और रूक्षता है। यद्यपि जीवों में स्निग्धता और रूक्षता नहीं होती; तथापि राग-द्वेष होते हैं। जीव के साथ पौद्गलिक कर्मों का बंध और नोकर्मों का संबंध होने का कारण जीव की रागरूप स्निग्धता और द्वेषरूप रूक्षता ही है। बंध होने की उक्त संक्षिप्त प्रक्रिया यहाँ समझाई जा रही है।

विशेष जानने की बात यह है कि पुद्गलों के स्कन्धरूप परिणमन को जीव जानते तो हैं, पर उनमें कुछ करते नहीं हैं॥१६३-१६५॥

अथ परमाणूनां पिण्डत्वस्य यथोदितहेतुत्वमवधारयति। अथात्मनः पुद्गलपिण्डकर्तृत्वाभावमवधारयति –

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ।।१६६।।
दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ।।१६७।।

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति।
रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पञ्चगुणयुक्तः ।।१६६।।
द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः सूक्ष्मा वा बादराः ससंस्थानाः।
पृथिवीजलतेजोवायवः स्वकपरिणामैर्जायन्ते ।।१६७।।

यथोदितहेतुकमेव परमाणूनां पिण्डत्वमवधार्य, द्विचतुर्गुणयोस्त्रिपञ्चगुणयोश्च द्वयोः स्निग्धयोः द्वयो रुक्षयोर्द्वयोः स्निग्धरुक्षयोर्वा परमाण्वोर्बन्धस्य प्रसिद्धेः।

जो बात विगत गाथाओं में कही गई है; उसी बात को इन गाथाओं में और विशेष विस्तार से समझाते हैं तथा यह बताते हैं कि आत्मा उन पुद्गलपिण्डों का कर्ता नहीं है।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

दो अंश चिकने अणु चिकने-रूक्ष हो यदि चार तो।
हो बंध अथवा तीन एवं पाँच में भी बंध हो ।।१६६।।
यदि बहुप्रदेशी कंध सूक्षम-थूल हों संस्थान में।
तो भूजलादि रूप हों वे स्वयं के परिणमन से ।।१६७।।

दो अंशोंवाला स्निग्ध परमाणु चार अंशोंवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु के साथ बंधता है अथवा तीन अंशोंवाला रूक्ष परमाणु पाँच अंशोंवाले के साथ युक्त होकर बंधता है।

दो से लेकर अनन्त प्रदेशवाले संस्थानों (आकारों) सहित सूक्ष्म और स्थूल स्कंध पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप स्वयं के परिणामों से ही होते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“यथोक्त हेतुओं से परमाणुओं का पिण्डत्व निर्धारित करके यह जानना चाहिए कि दो

उक्तं च –

णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला।।
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।।१६६।।

एवममी समुपजायमाना द्विप्रदेशादय: स्कन्धा विशिष्टावगाहनशक्तिवशादुपात्तसौक्ष्म्यस्थौल्यविशेषा विशिष्टाकारधारणशक्तिवशाद्गृहीतविचित्रसंस्थाना: सन्तो यथास्वं स्पर्शादि-चतुष्कस्याविर्भावतिरोभावस्वशक्तिवशमासाद्य पृथिव्यप्तेजोवायव: स्वपरिणामैरेव जायन्ते। अतोऽवधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति।।१६७।।

और चार गुणवाले तथा तीन और पाँच गुणवाले दो स्निग्ध परमाणुओं के अथवा दो रूक्ष परमाणुओं के अथवा दो स्निग्ध-रूक्ष परमाणुओं के अर्थात् एक स्निग्ध और एक रूक्ष परमाणु के परस्पर बंध होता है – यह प्रसिद्ध है। कहा भी है –

पुद्गल 'रूपी' और 'अरूपी' होते हैं। उनमें से स्निग्ध पुद्गल स्निग्ध के साथ बँधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्ष के साथ बँधते हैं, स्निग्ध और रूक्ष भी बँधते हैं। जघन्य के अतिरिक्त सम अंशवाला हो या विषम अंशवाला हो, स्निग्ध का दो अधिक अंशवाले स्निग्ध परमाणु के साथ, रूक्ष का दो अधिक अंशवाले रूक्ष परमाणु के साथ और स्निग्ध का (दो अधिक अंशवाले) रूक्ष परमाणु के साथ बंध होता है।

(किसी एक परमाणु की अपेक्षा से विसदृशजाति का समान अंशोंवाला दूसरा परमाणु 'रूपी' कहलाता है और शेष सब परमाणु उसकी अपेक्षा से 'अरूपी' कहलाते हैं। जैसे – पाँच अंश स्निग्धतावाले परमाणु को पाँच अंश रूक्षतावाला दूसरा परमाणु 'रूपी' है और शेष सब परमाणु उसके लिए 'अरूपी' हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि – विसद्दशजाति के समान अंशवाले परमाणु परस्पर 'रूपी' हैं और सद्दशजाति के अथवा असमान अंशवाले परमाणु परस्पर 'अरूपी' हैं।)

इसप्रकार विशिष्ट अवगाहनशक्ति से सूक्ष्म या स्थूल तथा विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति से अनेक प्रकार आकार धारण करनेवाले द्विप्रदेशादिक स्कंध अपनी योग्यतानुसार स्पर्शादि चतुष्क के आविर्भाव और तिरोभाव की स्वशक्ति से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अपने परिणामों से ही होते हैं। इससे निश्चित होता है कि द्विअणुकादि अनंतानंत पुद्गलों का पिण्डकर्ता आत्मा नहीं है।''

पुद्गलपरमाणु द्रव्यों की परस्पर स्कन्धरूप बंध होने की एक सुनिश्चित प्रक्रिया है, जिसका संक्षेप में विवेचन यहाँ किया गया है। इसका विस्तृत विवेचन करणानुयोग के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उक्त सन्दर्भ में जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, वे अपनी जिज्ञासा उक्त ग्रन्थों के अध्ययन से शान्त करें।

यहाँ तो संक्षिप्त कथन करने के उपरान्त इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि पुद्गल परमाणु और स्कंधों से जो शरीरादि की रचना होती है; उसमें भी आत्मा तो निमित्तरूप ही है; वह सम्पूर्ण रचना पुद्गलों की पर्यायगत योग्यता के कारण स्वसमय में स्वयमेव होती है।

इसलिए आत्मार्थी भाइयों को न तो उनमें अपनी इच्छानुसार फेरफार करने का विकल्प करना चाहिए और अपनी इच्छानुसार कार्य न होने पर किसी भी प्रकार की आकुलता भी नहीं करनी चाहिए। यदि चारित्रगत कमजोरी के कारण विकल्प आ जावे, थोड़ी-बहुत आकुलता हो जावे तो भी उसे सहजभाव से ज्ञान का ज्ञेय बना लेना चाहिए। उस पर अधिक क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है, व्यर्थ में अधिक आकुलता करने की भी आवश्यकता नहीं है।

इन गाथाओं और उनकी टीकाओं में एक तो यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों और शारीरिक नोकर्मों का कर्ता-धर्ता नहीं है और दूसरी बात यह बताई गई है कि यह आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों के लिए कार्मण वर्गणायें कहीं से लाता भी नहीं है। लाने की आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार सम्पूर्ण लोकाकाश में संसारी जीव ठसाठस भरे हुए हैं, कहीं कोई भी जगह खाली नहीं है; उसीप्रकार कार्मण वर्गणायें भी सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र विद्यमान हैं; अत: उन्हें कहीं से लाने की आवश्यकता ही नहीं है।

जहाँ जीव हैं और उनके स्वयं के कारण जिससमय उनमें ज़िसप्रकार के रागादि भाव होते हैं; उसीसमय वहीं विद्यमान कार्मणवर्गणायें स्वयमेव ही तदनुरूप कर्मरूप परिणमित हो जाती है, उन्हें कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता।

यद्यपि दोनों में सहज निमित्त-नैमित्तिकभाव रहता है; तथापि वे स्वयं ही अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण परिणमित होते हैं।

इसप्रकार इन गाथाओं और उनकी टीका में यह स्पष्ट किया गया है कि पौद्गलिक स्कन्धों का परस्पर बंध एवं कार्मण वर्गणा के स्कंधों का आत्मा के साथ बंध किसप्रकार होता है और उक्त बंध की क्रिया का कर्ता-धर्ता कौन है।।१६६-१६७।।

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति। अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्व-कर्तृत्वाभावमवधारयति –

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं॥१६८॥
कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा॥१६९॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः ॥१६८॥
कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य।
गच्छन्ति कर्मभावं न हि ते जीवेन परिणमिताः॥१६९॥

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्ति-

१६६-१६७वीं गाथा में **'आत्मा पुद्गलपिण्डों का कर्ता नहीं है'** –यह सिद्ध करने के उपरान्त अब आगामी गाथाओं में यह सिद्ध करते हैं कि **जिसप्रकार यह आत्मा पुद्गलपिण्डों का कर्ता नहीं है; उसीप्रकार उन्हें लानेवाला भी नहीं है तथा यह आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप भी नहीं करता।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

भरा है यह लोक सूक्षम-थूल योग्य-अयोग्य जो।
कर्मत्व के वे पौद्गलिक उन खंध के संयोग से॥१६८॥
स्कन्ध जो कर्मत्व के हों योग्य वे जिय परिणति।
पाकर करम में परिणमें न परिणमावे जिय उन्हें॥१६९॥

यह लोक कर्मत्व के योग्य व अयोग्य सूक्ष्म और बादर – पुद्गल स्कन्धों से ठसाठस भरा हुआ है। जीव की परिणति को निमित्तरूप से प्राप्त करके कर्मत्व के योग्य स्कंध कर्मरूप परिणमित होते हैं; जीव उनको नहीं परिणमाता।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''अति सूक्ष्म और अति स्थूल न होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्तिवाले और अति सूक्ष्म और अति स्थूल होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्ति से रहित पुद्गलस्कन्धों द्वारा अवगाह की विशेषता के कारण परस्पर बाधा किये बिना स्वयमेव सर्वप्रदेशों से लोक ठसाठस भरा हुआ है। इससे निश्चित होता है कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को नहीं लाता।

योगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परबाधमानैः स्वयमेव सर्वत एव पुद्गलकायैर्गाढं निचितो लोकः। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति।।१६८।।

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति।।१६९।।

कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति संपन्न पुद्गल स्कंध तुल्य क्षेत्रावगाही बाह्य कारण रूप जीव के परिणाममात्र का आश्रय करके स्वयमेव ही कर्मभाव से परिणमित होते हैं।

इससे निश्चित होता है कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला नहीं है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में यद्यपि इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही स्पष्ट करते हैं, तथापि निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं –

''निश्चय से शुद्धस्वरूप होने पर भी, व्यवहार से कर्मोदय के अधीन होने से पृथ्वी आदि पाँच सूक्ष्म-स्थावरत्व को प्राप्त जीवों से लोक जिसप्रकार भरा रहता है; उसीप्रकार पुद्गलों से भी भरा रहता है। इससे ज्ञात होता है कि जिस शरीरावगाहक्षेत्र में जीव रहता है; उसी में बंध के योग्य पुद्गल भी रहते हैं; जीव उन्हें बाहर से नहीं लाता।''

इसप्रकार इन गाथाओं में और उनकी टीका में यह कहा गया है कि जिसप्रकार यह लोक अनन्त जीवों से ठसाठस भरा हुआ है; उसीप्रकार अनन्त कार्मण वर्गणाओं से भी भरा हुआ है; इसलिए जब आत्मा के रागादिभावों का निमित्त पाकर कार्मण-वर्गणायें अपनी पर्यायगत योग्यता से कर्मरूप परिणमित होती हैं; तब उन वर्गणाओं को दूसरी जगह से नहीं लानी पड़ती है; अपितु जहाँ जीव है, उसी स्थान से स्थित कार्मणवर्गणायें ही कर्मरूप परिणमित हो जाती हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि न तो आत्मा पौद्गलिक कार्मणवर्गणाओं को कर्मरूप परिणमाता है और न उन्हें कहीं से लाता ही है। वहीं स्थित वे कार्मण वर्गणायें आत्मा के रागादिभावों का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणमित हो जाती हैं, आत्मा से बंध जाती हैं – ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है।।१६८-१६९।।

'आत्मा न तो पुद्गल कर्मों का कर्ता ही है और न उन्हें कहीं से लाता ही है' – विगत गाथाओं में यह सिद्ध करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह समझाते हैं कि औदारिक आदि

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति। अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति –

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा।।१७०।।
ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे।।१७१।।

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनरपि जीवस्य।
संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य।।१७०।।
औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः।
आहारकः कार्मणः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वे।।१७१।।

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य पुद्गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रित्य स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते। अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति।।१७०।।

शरीर पौद्गलिक हैं और वे जीव के साथ स्वयं बद्ध होते हैं; जीव उनका कर्ता नहीं है और जीव शरीररूप भी नहीं है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

कर्मत्वगत जड़पिण्ड पुद्गल देह से देहान्तर।
को प्राप्त करके देह बनते पुन-पुनः वे जीव की।।१७०।।
यह देह औदारिक तथा हो वैक्रियक या कार्मण।
तेजस अहारक पाँच जो वे सभी पुद्गलद्रव्यमय।।१७१।।

कर्मरूप परिणत वे-वे पुद्गलपिण्ड देहान्तररूप परिवर्तन को प्राप्त करके पुनः पुनः शरीर होते हैं। औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर और कार्मण शरीर – ये सभी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार समझाते हैं –

''जिस जीव के परिणामों को निमित्तमात्र करके जो-जो पुद्गलकाय (पुद्गल-पिण्ड) स्वयमेव कर्मरूप परिणमित होते हैं; अनादि संततिरूप प्रवर्तमान देहान्तर (भवान्तर) रूप परिवर्तन का आश्रय लेकर वे-वे पुद्गलकाय स्वयमेव शरीर बनते हैं। इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है।

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गलद्रव्यात्मकानि। ततोऽवधार्यंते न शरीरं पुरुषोऽस्ति ।।१७१।।

अथ किंतर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्या वेदयति–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।१७२।।

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ।।१७२।।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस और कार्मण शरीर पुद्गल-द्रव्यात्मक हैं। इससे निश्चित होता है कि शरीर आत्मा नहीं है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त गाथाओं का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका के समान ही करते हैं, पर निष्कर्ष के रूप में इससे क्या कहा गया – ऐसा प्रश्न उठाकर उसके उत्तर में लिखते हैं कि **औदारिक शरीर नामक नामकर्म रहित परमात्मा को प्राप्त न करनेवाले अज्ञानी जीवों के द्वारा उपार्जित औदारिक शरीर नामकर्म उन्हें भवान्तर में प्राप्त होकर उदय में आते हैं; उनके उदय से नोकर्म पुद्गल औदारिकादि शरीर के आकार में स्वयं ही परिणमित होते हैं।**

यही कारण है कि जीव औदारिक शरीरों का कर्ता नहीं होता।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ये औदारिक आदि शरीर शरीर नामक नामकर्म के उदयानुसार होनेवाले नोकर्मरूप परिणमन हैं। उक्त नामकर्म भी पौद्गलिक है और उसके उदयानुसार होनेवाला नोकर्मरूप शरीर भी पूर्णतः पुद्गल की रचना है; अतः इनका कर्ता-धर्ता पुद्गल ही है, आत्मा नहीं।

वस्तुतः बात यह है कि यह ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा और मन-वचन-कायरूप औदारिक शरीर पूर्णतः भिन्न-भिन्न हैं; अतः वे शरीरादि स्वयं ही स्वयं के स्वामी हैं और स्वयं ही स्वयं के कर्ता-भोक्ता हैं ।।१७०-१७१।।

विगत गाथा में 'औदारिक आदि शरीर आत्मा नहीं है' – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब यह बताते हैं कि **शरीरादि सर्व परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न बतानेवाला आत्मा का असाधारण स्वलक्षण क्या है ?** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ।।१७२।।

जीव को ऐसा जानो कि वह अरस है, अरूप है, अगंध है, अव्यक्त है, अशब्द है, अनिर्दिष्टसंस्थान है, चेतनागुण से युक्त है और अलिंग-ग्रहण है।

आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह गाथा, वह गाथा है कि जो आचार्य कुन्दकुन्द के पाँचों ग्रन्थों में पाई जाती है। समयसार में ४९वीं, नियमसार में ४६वीं, पंचास्तिकाय में १२७वीं, अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ में ६४वीं गाथा है और इस प्रवचनसार में यह १७२वीं गाथा तो है ही।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी यह गाथा पाई जाती है। धवल के तीसरे भाग में भी यह गाथा है और पद्मनन्दी पंचविंशतिका एवं द्रव्यसंग्रहादि में यह उद्धृत की गई है। इसप्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करने वाली यह गाथा जिनागम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गाथा है। इस गाथा में अरस, अरूप, अगंध आदि आठ विशेषणों के माध्यम से आत्मा का स्वरूप समझाया गया है।

यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने कुन्दकुन्दत्रयी पर महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी हैं। समयसार पर आत्मख्याति, पंचास्तिकाय पर समय व्याख्या और इस प्रवचनसार पर तत्त्वप्रदीपिका नामक टीकायें लिखी हैं।

उन्होंने अपनी इन तीनों टीकाओं में इस गाथा का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है; जो अपने-आप में अद्भुत है, मूलत: पठनीय है, मननीय है, गहराई से अध्ययन करने योग्य है और विशेष प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला है।

समयसार की आत्मख्याति टीका में अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त और अशब्द पदों की व्याख्या पर जोर दिया गया है, उनमें से प्रत्येक के छह-छह अर्थ किये हैं और अनिर्दिष्टसंस्थान के चार अर्थ किये हैं; पर अलिंगग्रहण का सामान्य-सा एक अर्थ करके ही छोड़ दिया है; परन्तु प्रवचनसार की इस तत्त्वप्रदीपिका टीका में स्थिति इससे एकदम उल्टी है। इसमें अरसादि विशेषणों का एक-एक अर्थ ही किया गया है, जबकि अलिंगग्रहण का एक सामान्य अर्थ के अतिरिक्त बीस अर्थ और किये हैं; जो अपने-आप में अद्भुत हैं, गहराई से समझने योग्य हैं, मंथन करने योग्य हैं।

तत्त्वप्रदीपिका में किये विशेष अर्थों पर विचार करने के पूर्व एक बात और भी जान लेना जरूरी है और वह यह कि मूल गाथा में पुद्गल के स्पर्श गुण का निषेध करनेवाला कोई शब्द नहीं है, इसकारण उसे आत्मख्याति में छन्दानुरोध से छूटा हुआ मानकर शामिल कर लिया गया है और उसके भी छह अर्थ किये हैं; परन्तु प्रवचनसार की इस तत्त्वप्रदीपिका टीका में

आत्मनो हि रसरूपगंधगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावास्वभावत्वाच्च पुद्गल-द्रव्यविभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वम-संस्थानत्वं चास्ति। सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति। तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति।

अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये। तथाहि –

(१) न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः। (२) न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य। (३) न लिंगादिन्द्रिय-

अव्यक्त का ही अर्थ अस्पर्श किया है। जबकि आत्मख्याति में अव्यक्त के अलग से चार अर्थ किये गये हैं।

उपर्युक्त सामान्य जानकारी देने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र इस ग्रंथ प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में किसप्रकार स्पष्ट करते हैं।

टीका का हिन्दी भावानुवाद इसप्रकार है –

“रस गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, रूप गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, गंध गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से, शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से तथा इन सबके कारण लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से और सर्व संस्थानों के अभावरूप स्वभाववाला होने से आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है, अस्पर्श (अव्यक्त) है, अशब्द है, अलिंगग्रहण है और अनिर्दिष्ट संस्थानवाला है; इसकारण यह आत्मा पुद्गल से भिन्न है।

पुद्गल और अपुद्गल – ऐसे समस्त अजीव द्रव्यों से विभाग का मूल साधन तो चेतनागुणवाला होना है। मात्र वही स्वजीवद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न सिद्ध करता है।

यद्यपि यहाँ अलिंगग्राह्य कहा जाना चाहिए था; तथापि यहाँ अलिंगग्रहण कहा गया है। यह इस बात का संकेत है कि इस विशेषण के अनेक अर्थ हैं। वे अनेक अर्थ इसप्रकार हैं –

१. ज्ञायक आत्मा लिंगों अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानता; इसलिए अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

२. जिसे लिंगों अर्थात् इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

गम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य। (४) न लिंगादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रस्याभावस्य। (५) न लिंगादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य। (६) न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य। (७) न लिंगेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य। (८) न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य।

(९) न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्यहार्यज्ञानत्वस्य। (१०) न लिंगे उपयोगाख्यलक्षणे ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य। (११) न

---

३. जिसप्रकार धुयें से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है; उसीप्रकार लिंग अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य) चिन्ह द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

४. दूसरों के द्वारा मात्र लिंग (अनुमान) द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा केवल अनुमान से ही ज्ञात करने योग्य नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है; क्योंकि आत्मा अनुमान के अतिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी जाना जाता है।

५. जो मात्र लिंग अर्थात् अनुमान से ही पर का ग्रहण (ज्ञान) नहीं करता; इसलिए अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा मात्र अनुमाता (अनुमान करनेवाला) ही नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी पर को जानता है।

६. आत्मा लिंग से नहीं, स्वभाव से ही ग्रहण करता है अर्थात् जानता है; इसप्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

७. जो उपयोगलक्षण लिंग द्वारा ज्ञेय पदार्थों का ग्रहण नहीं करता अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नहीं लेता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा के बाह्य पदार्थों के अवलम्बनवाला ज्ञान नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

८. जो उपयोगलक्षण लिंग को ग्रहण नहीं करता अर्थात् उपयोगलक्षण लिंग को बाहर से नहीं लाता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा बाहर से नहीं लाये जानेवाले ज्ञानवाला है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

९. जिसके उपयोगलक्षण लिंग का पर के द्वारा हरण नहीं हो सकता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

१०. जिसप्रकार सूर्य में मलिनता नहीं है, उसीप्रकार जिसके उपयोगलक्षण लिंग में

लिंगादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादान यस्येति द्रव्यकर्मासंपृथक्तत्वस्य। (१२) न लिंगेभ्य इंन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य। (१३) न लिंगात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य। (१४) न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य। (१५) न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य। (१६) न लिंगानां स्त्रीपुत्रनपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुत्रनपुंसकद्रव्यभावाभावस्य। (१७) न लिंगानां धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरङ्गयतिलिंगाभावस्य। (१८) न लिंगं गुणो ग्रहण-

---

मलिनता नहीं है, विकार नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा शुद्धोपयोग-स्वभावी है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

११. जिसके उपयोगलक्षण लिंग द्वारा पौद्गलिक कर्मों का ग्रहण नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

१२. जिसे लिंग अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१३. लिंग अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षणों के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण किये रहना जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा रज और वीर्य के अनुसार होनेवाला नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१४. लिंग अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादि की गुप्तेन्द्रिय के आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है; वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१५. लिंग अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है; वह आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला-लोकव्याप्तिवाला नहीं है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

१६. जो स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंगों (वेदों) को ग्रहण नहीं करता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष व नपुंसक नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१७. जिस आत्मा के लिंगों अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण नहीं है; वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१८. लिंग अर्थात् गुण, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

मर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषनालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। (१९) न लिंगं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। (२०) न लिंगं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य ।।१७२।।

---

१९. लिंग अर्थात् पर्याय, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसके नहीं है, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

२०. लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार द्रव्य से नहीं आलिंगित शुद्धपर्याय है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए अलिंगग्रहण पद को छोड़कर शेष पदों का अर्थ तो तत्त्वप्रदीपिका के समान ही करते हैं; पर अलिंगग्रहण का अर्थ करते समय अलिंगग्रहण के अनेक अर्थ करते हुए भी तत्त्वप्रदीपिका के समान २० अर्थ नहीं करते। वे लिंग शब्द के मुख्यरूप से तीन अर्थ करते हैं – १. इन्द्रियाँ २. अनुमान और ३. चिह्न।

आत्मा न तो मात्र इन्द्रियों द्वारा पर को जानता है और न पर से इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है; इसलिए अलिंगग्रहण है अर्थात् अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानता है और अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। इसीप्रकार आत्मा न तो अनुमान द्वारा पर को जानता है और न पर के द्वारा अनुमान से जाना जाता है; इसलिए अलिंगग्रहण है। अतीन्द्रिय ज्ञानमय होने से अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही जानता है और उसी के द्वारा जाना जाता है।

आत्मा न तो किन्हीं चिन्हों द्वारा जानता है और न किन्हीं चिन्हों द्वारा जाना जाता है; अतः अलिंगग्रहण है। अतीन्द्रिय ज्ञानमय होने से उसे चिन्हों द्वारा जानने और चिन्हों द्वारा ही जाने जाने (जानने में आने) की आवश्यकता नहीं है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह भगवान आत्मा औदारिक आदि शरीर रूप पुद्गलों से तो भिन्न है ही; किन्तु अचेतन आकाश, काल और धर्म व अधर्म – इन अरूपी द्रव्यों से भी पृथक् है; यहाँ तक कि अन्य जीवों से भी भिन्न ही है।

परद्रव्यों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान करानेवाली उक्त गाथा में अरसादि विशेषणों के माध्यम से पुद्गल से; चेतना गुण वाला विशेषण के माध्यम से आकाशादि अमूर्त अजीवद्रव्यों से और स्वयं की चेतना के माध्यम से अन्य जीवों से भिन्नता सिद्ध की गई है।

इस प्रवचनसार परमागम में १७२वीं गाथा के रूप में समागत इस गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में अलिंगग्रहण पद पर विशेष ध्यान दिया गया है।

यद्यपि सामान्यरूप से तो यही कहा गया है कि रूपरसादि चिन्हों के द्वारा ग्राह्य न होने से यह भगवान आत्मा अलिंगग्रहण है; तथापि यह प्रश्न उपस्थित कर कि यदि यही बात है तो फिर अलिंगग्रहण क्यों कहा, अलिंगग्राह्य ही कहना चाहिए था ? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि विशिष्ट अर्थों की निष्पत्ति के लिए **अलिंगग्रहण** पद का प्रयोग किया गया है।

इसके बाद अलिंगग्रहण पद के २० अर्थ किये गये हैं। **'लिंग'** और **'ग्रहण'** पदों के **विभिन्न अर्थ होने से यह सब संभव हुआ है। अलिंगग्रहण के आरंभ का 'अ' तो सर्वत्र निषेधवाचक ही है।**

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह ज्ञेयाधिकार है और अपना भगवान आत्मा भी एक ज्ञेयपदार्थ है। अरसादि के समान उसका स्वभाव अलिंगग्रहण भी है। जिसप्रकार आत्मा को जानने के लिए उसके ज्ञानस्वभाव को जानना जरूरी है; उसीप्रकार उसके ज्ञेयस्वभाव को भी जानना आवश्यक है। उस भगवान आत्मा का ग्रहण (जानना) कैसे होता है – यह जानना भी आवश्यक है, अनिवार्य है। 'आत्मा का ग्रहण कैसे होता है' – यह जानने के साथ-साथ कैसे नहीं होता है – यह जानना भी अति आवश्यक ही है। इस अलिंगग्रहण प्रकरण में भगवान आत्मा के इस ज्ञेयस्वभाव को ही समझाया गया है।

'अलिंगग्रहण' पद के बीस अर्थों का संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है –

१. 'यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है' – इस अर्थ की प्राप्ति करानेवाले प्रथम बोल में लिंग शब्द का अर्थ इन्द्रिय और ग्रहण शब्द का अर्थ जानना किया गया है।

इसप्रकार यह स्पष्ट हुआ कि यह ज्ञायक आत्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानता; इसलिए अलिंगग्रहण है, अतीन्द्रियज्ञानमय है।

२. 'यह भगवान आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है' – इस अर्थ की प्राप्ति कराने वाले द्वितीय बोल में भी यद्यपि लिंग का अर्थ इन्द्रिय और ग्रहण का अर्थ जानना ही किया गया; तथापि यह कहा गया है कि जिसे इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

इसप्रकार उक्त दोनों अर्थों में 'लिंग' शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ, 'ग्रहण' शब्द का अर्थ 'जानना' और 'अ' का अर्थ 'नहीं' किया गया है। इसप्रकार न तो आत्मा इन्द्रियों द्वारा स्व-पर को जानने का काम करता है और न स्व-पर द्वारा इन्द्रियों के माध्यम से जानने में ही आता है।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों से हमारा कोई भी संबंध नहीं है, क्योंकि न तो आत्मा उनसे जानता है और न उनसे जाना जाता है। आखिर इन्द्रियाँ देह का ही तो अंग हैं और आत्मा देह से भिन्न ही है।

३. 'भगवान आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' – इस अर्थ की प्राप्ति करानेवाले तीसरे बोल में यह कहा गया है कि इन्द्रियों से दिखाई देनेवाला ऐसा कोई लिंग (चिह्न) नहीं है कि जिससे आत्मा का अनुमान किया जा सके। जिसप्रकार धुयें को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है, अग्नि को अनुमान ज्ञान से जाना जाता है; उसप्रकार का ऐसा कोई इन्द्रियगम्य लिंग (चिन्ह) नहीं है कि जिससे अनुमान द्वारा आत्मा को जाना जा सके।

प्रथम दो बोल इन्द्रियों संबंधी थे और यह तीसरा बोल इन्द्रिय और अनुमान का मिश्रित रूप है। अब आगे के तीन बोल अनुमान से संबंधित हैं।

४. यह आत्मा मात्र अनुमान से ही ज्ञात करनेयोग्य नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी जाना जाता है। इसप्रकार दूसरे के द्वारा मात्र अनुमान से ही जिसका ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता, वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

५. आत्मा मात्र लिंग अर्थात् अनुमान से पर को नहीं जानता; इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा मात्र अनुमाता नहीं है, अनुमान से ही जाननेवाला नहीं है; क्योंकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी पर को जानता है।

चौथे और पाँचवें बोल में मात्र इतना ही अन्तर है कि चौथे में कहा गया है कि आत्मा मात्र अनुमान से ही नहीं जाना जाता और पाँचवें बोल में कहा है कि मात्र अनुमान से ही नहीं जानता। इसप्रकार ये दोनों बोल विशुद्ध अनुमान संबंधी नास्तिपरक-नकारात्मक (निगेटिव) बोल हैं; क्योंकि अबतक के सभी बोलों में यही बताया गया है कि आत्मा किसप्रकार नहीं जानता है और किसप्रकार नहीं जाना जाता है। इसकारण अबतक के सभी पाँच बोल नास्तिपरक-नकारात्मक (निगेटिव) बोल हैं।

६. 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' इस अर्थ की प्राप्ति करानेवाले छठवें बोल में यह कहा गया है कि आत्मा लिंग अर्थात् इन्द्रियों और अनुमान से नहीं; अपितु स्व-पर पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है।

आरंभ में पाँच बोल नास्तिपरक-नकारात्मक (निगेटिव) थे; क्योंकि उनमें यही कहा गया था कि आत्मा इन्द्रियों और अनुमान से न तो जानता ही है और न जाना ही जाता है; अब इस छठवें बोल में यह कहा गया है कि आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है; इसलिये यह अस्तिपरक-सकारात्मक (पॉजिटिव) बोल है।

अबतक के बोल इन्द्रिय, अनुमान और प्रत्यक्ष संबंधी थे और अब आगे के सातवें से ग्यारहवें बोल तक के पाँच बोल उपयोग संबंधी हैं। ध्यान रहे उपयोग आत्मा का लक्षण है

और आत्मा उपयोगलक्षण से जानने में आनेवाला लक्ष्य है। इसप्रकार आत्मा और उपयोग में लक्ष्य-लक्षण संबंध है। आत्मा की पहिचान उपयोग लक्षण से ही होती है।

७-९ – सातवें बोल में यह कहा है कि उपयोग लक्षण लिंग द्वारा ज्ञेयपदार्थों को ग्रहण नहीं करता अर्थात् उनका आलम्बन नहीं लेता; इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के बाह्य पदार्थों के आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है।

आठवें बोल में यह कहा गया है कि आत्मा उपयोग लक्षण लिंग को बाहर से नहीं लाता और नौवें बोल में यह कहा है कि आत्मा के उपयोग लक्षण लिंग का पर के द्वारा हरण नहीं हो सकता। इसप्रकार भगवान आत्मा के उपयोगलक्षण को न तो ज्ञेयों के आलंबन की जरूरत है, न उसे बाहर से लाने की जरूरत है और न उसके अपहरण हो जाने के भय से आक्रान्त होने की आवश्यकता है।

१०. 'भगवान आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' – इस अर्थ के सूचक दशवें बोल में यह कहा गया है कि जिसप्रकार सूर्य में मलिनता नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के उपयोग लक्षण में भी मलिनता नहीं है, विकार नहीं है। चन्द्रमा में कलंक है, मलिनता है; पर सूर्य में कलंक नहीं है, मलिनता नहीं है। यही कारण है कि यहाँ चन्द्रमा का उदाहरण न देकर सूर्य का उदाहरण दिया गया है।

११. 'आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त है' – ऐसे भाव को व्यक्त करनेवाले ग्यारहवें बोल में कहा गया है कि जिसके उपयोग लक्षण लिंग द्वारा पौद्‌गलिक कर्मों का ग्रहण नहीं है, बंध नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

उपयोग संबंधी १०वें बोल में यह कहा गया है कि भगवान आत्मा में मलिनता नहीं है, शुभाशुभरूप भावकर्म नहीं है और ११वें बोल में यह कहा गया है कि वह द्रव्यकर्मों से असंयुक्त है। **तात्पर्य यह है कि वह आत्मा शुभाशुभभावरूप भावकर्मों और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से रहित शुद्धोपयोगस्वभावी निर्लेप तत्त्व है।**

उपयोगसंबंधी या लक्ष्य-लक्षण संबंधी उक्त ७वें से ११वें तक के पाँच बोलों को लक्ष्य-लक्षण की मुख्यता से इसप्रकार समझ सकते हैं –

(१) उपयोग नामक लक्षण अपने आत्मा रूप लक्ष्य का आलम्बन लेता है; अतः उसे पर-पदार्थों के आलम्बन की क्या आवश्यकता है ?

(२) उपयोग लक्षण अपने लक्ष्य आत्मा में से ही आता है; अतः उसे पर-पदार्थों में से आने की क्या आवश्यकता है ?

(३) उपयोग लक्षण अपने लक्ष्य आत्मा के आश्रय में ही रहता है; इसलिए उसका अपहरण कौन कर सकता है ?

(४) उपयोग लक्षण अपने लक्ष्य आत्मा में ही एकाग्र होता है, परपदार्थों में एकाग्र नहीं होता; इसकारण उसमें मलिनता भी क्यों हो ?

(५) उपयोग लक्षण अपने लक्ष्य आत्मा को ही ग्रहण करता है, पर-पदार्थों को ग्रहण नहीं करता; अत: वह पर से संयुक्त भी क्यों हो ?

तात्पर्य यह है कि उपयोग नामक लक्षण न तो पर का आलम्बन लेता है, न पर में से आता है, न पर के द्वारा अपहृत होता है; न वह मलिन होता है और न वह पर से संयुक्त ही होता है।

१२-१३ – 'आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है' – इस अर्थ में प्राप्त करानेवाले १२बोल में यह कहा गया है कि जिसके लिंग अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण अर्थात् उपभोग नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

'आत्मा माता के रज और पिता के वीर्य के अनुसार होनेवाला नहीं है' – इस अर्थ की प्राप्ति करानेवाले १३वें बोल में यह कहा गया है कि जिस आत्मा के लिंग अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षणों के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व धारण किये रहना नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। **उपभोगसंबंधी उक्त दोनों बोलों का निष्कर्ष यह है कि आत्मा पंचेन्द्रिय के भोगों का भोक्ता नहीं है और स्पर्शन इन्द्रिय के भोग से मिले हुए रज और वीर्य की रचना भी नहीं है; क्योंकि रज और वीर्य के सम्मिश्रण का फल तो देह की रचना है और आत्मा तो देह से पूर्णत: भिन्न ही है।**

१४-१५ – मेहनाकार और अमेहनाकार संबंधी इन बोलों में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा न तो लौकिक साधनमात्र है और न पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला है, लोकव्याप्तिवाला है।

लिंग अर्थात् मेहनाकार का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। पुरुष की गुप्तेन्द्रिय (लिंग-जननेन्द्रिय) को मेहन कहते हैं और उसके आकार के समान है आकार जिसका, उसे मेहनाकार कहते हैं। ऐसा मेहनाकार जिसके नहीं है, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। पुत्रादि की उत्पत्ति के साधन को लौकिक साधन कहते हैं। जिसप्रकार मेहनाकार अर्थात् लिंगाकार पुत्रादि की उत्पत्ति का साधनमात्र है; उसप्रकार लौकिक साधनमात्र आत्मा नहीं है।

देखो, ध्यान से देखने की बात यह है कि यहाँ लिंग का अर्थ मेहनाकार और अमेहनाकार

–दोनों किया है। पुरुष की गुप्तेन्द्रिय के आकार को मेहनाकार कहते हैं और लोकव्यापी आकार को अमेहनाकार कहते हैं। यह भगवान आत्मा केवली समुद्घात के काल को छोड़कर शेष काल में लोकव्यापी आकारवाला भी नहीं है; क्योंकि संसारावस्था में तो यह प्राप्त देह के आकार में रहता है और सिद्धावस्था में किंचित्न्यून अन्तिम देहाकार रहता है। इसप्रकार यह आत्मा अमेहनाकार भी नहीं है।

इसप्रकार मेहनाकार नहीं है; इसलिए भी अलिंगग्रहण है और अमेहनाकार नहीं है; इसलिए भी अलिंगग्रहण है।

१६. इस सोलहवें बोल का सीधा-सादा अर्थ यह है कि यह भगवान आत्मा द्रव्य और भाव से न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है; तीनों लिंगों से रहित है, तीनों लिंगों को ग्रहण नहीं करता; इसलिए अलिंगग्रहण है।

द्रव्यपुरुषादि को आत्मा मानना जड़ को आत्मा मानना है और भावपुरुषादि को आत्मा मानना पापतत्त्व को, आस्रवतत्त्व को आत्मा (जीवतत्त्व) मानना है।

१७. धर्मचिन्हों को भी लिंग कहते हैं। जैसे मुनिलिंग, ग्रहस्थलिंगादि। जिस आत्मा के इन धर्मचिन्हों अर्थात् लिंगों का अभाव है, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार इस आत्मा के बहिरंग यतिलिंग का अभाव है; इसकारण अलिंगग्रहण है।

लिंग शब्द के लोक में प्रसिद्ध अर्थ दो हैं – १. वेद और २. भेष। स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग – ये तीन लिंग वेद हैं और मुनिभेष आदि भेष हैं। १६वें बोल में वेदरूप लिंगों की बात है और १७वें बोल में धर्मचिन्ह संबंधी भेष की बात है। इन दोनों के द्वारा भी आत्मा का ग्रहण नहीं होता; अतः वह दोनों अपेक्षा अलिंगग्रहण है।

अलिंगग्रहण संबंधी उक्त सम्पूर्ण प्रकरण में गुण, पर्याय और द्रव्यसंबंधी १८वाँ, १९वाँ और २०वाँ बोल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बोल हैं।

इन बोलों में भगवान आत्मा को गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य, पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य और सामान्यद्रव्य से आलिंगित न होनेवाली शुद्धपर्याय कहा गया है; क्योंकि अलिंगग्रहण आत्मा के न तो लिंग अर्थात् गुण, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध है; न लिंग अर्थात् पर्याय, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष है और न लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण द्रव्य और ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा के न तो अर्थावबोध रूप गुण है, न अर्थावबोध विशेषरूप पर्याय है और न प्रत्यभिज्ञान का कारणभूत अर्थावबोध द्रव्यसामान्य है।

ध्यान रहे यहाँ लिंग शब्द के द्रव्य, गुण और पर्याय – ये तीन अर्थ किये गये हैं। द्रव्य को भी लिंग शब्द से कहा, गुण को भी लिंग शब्द से कहा और पर्याय को भी लिंग शब्द से ही कहा गया है। ग्रहण का अर्थ गुण के संदर्भ में अर्थावबोध, पर्याय के संदर्भ में अर्थावबोध विशेष और द्रव्य के संदर्भ में अर्थावबोध सामान्य किया गया है।

उक्त तीनों बोलों के माध्यम से आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि परमपवित्रपर्याय सहित भगवान आत्मा न तो गुणभेदरूप है, न पर्यायभेदरूप है और न द्रव्यसंबंधी विकल्परूप ही है। **तात्पर्य यह है कि वह तो समस्त विशेषों के विकल्पों से रहित निर्विकल्प सामान्यरूप महातत्त्व है; क्योंकि यहाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वह अलिंगग्रहण भगवान आत्मा न गुणविशेष से आलिंगित है, न पर्याय विशेष से आलिंगित है और न सामान्य द्रव्य से आलिंगित है; वह तो शुद्धद्रव्य और शुद्धपर्यायरूप है।**

भगवान आत्मा में अनंत गुण हैं, वह अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड है; वह मात्र अर्थावबोध अर्थात् ज्ञानगुण मात्र नहीं है। मात्र ज्ञानगुण को लेना गुणविशेष को लेना है। **यहाँ अलिंगग्रहण से आत्मा में गुणों का निषेध नहीं, गुणविशेष का निषेध है।**

इसीप्रकार पर्याय के संदर्भ में समझना चाहिए। अलिंगग्रहण भगवान आत्मा पर्यायों के अखण्ड प्रवाहरूप तो है, पर एक-एक पर्याय रूप नहीं है।

इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत आत्मा अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड तो है, पर विशेषगुणरूप नहीं है, गुणभेदरूप नहीं है; अनादि-अनंत अनंत पर्यायों के अखण्ड प्रवाहरूप तो है, पर क्षणवर्ती विशेष पर्यायरूप नहीं है; पर्याय भेदरूप नहीं है। इसीप्रकार यह भगवान आत्मा अनादि-अनंत, असंख्यातप्रदेशी, अनंत-गुणात्मक द्रव्यरूप तो है, पर द्रव्यसंबंधी विकल्परूप नहीं है; निर्विकल्प शुद्धपर्याय रूप है। इसप्रकार यह आत्मा द्रव्य-गुण-पर्यायमय होकर भी इनके भेदरूप नहीं है, विकल्परूप नहीं है।

यहाँ द्रव्य, गुण और पर्याय को निरपेक्ष सिद्ध करना है। उन्हें अपने अस्तित्व के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं है। वे एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते – इसका और क्या अर्थ हो सकता है ?

उक्त २० बोलों के माध्यम से भगवान आत्मा के अलिंगग्रहण स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। **ये अरसादि और अलिंगग्रहण भाव भगवान आत्मा के ज्ञेयस्वभाव हैं। ज्ञानस्वभाव के समान ही आत्मा के ज्ञेयस्वभाव को जानना भी आवश्यक है। ज्ञेयस्वभाव और ज्ञानस्वभाव – दोनों के स्पष्ट होने पर ही भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट होता है।** ।।१७२।।

विगत १७२वीं गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है और अस्पर्श है; अत: **अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अरूपी आत्मा का रूपी पौद्गलिक**

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद्बन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति। अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति –

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं।।१७३।।
रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि।।१७४।।

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म।।१७३।।
रूपादिकै रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि।
द्रव्याणि गुणांश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि।।१७४।।

मूर्तयोर्हि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्यबन्धोऽवधार्यते एव। आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते, मूर्तस्य कर्मपुद्गलस्य रूपादि-

कर्मों के साथ बंध कैसे हो सकता है ? आगामी १७३-१७४वीं गाथाओं में उक्त प्रश्न को उपस्थित कर उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मूर्त पुद्गल बंधे नित स्पर्श गुण के योग से।
अमूर्त आतम मूर्त पुद्गल कर्म बाँधे किसतरह ।।१७३।।
जिसतरह रूपादि विरहित जीव जाने मूर्त को।
बस उसतरह ही जीव बाँधे मूर्त पुद्गलकर्म को ।।१७४।।

मूर्त पुद्गल तो रूपादि गुणों से युक्त होने से स्पर्श गुण के द्वारा परस्पर बंधन को प्राप्त होते हैं; किन्तु उससे विपरीत अमूर्त आत्मा पौद्गलिक कर्मों को किसप्रकार बांधता है ?

जिसप्रकार रूपादि गुणों से रहित जीव रूपी द्रव्यों और उनके गुणों को देखता-जानता है; उसीप्रकार अरूपी का रूपी के साथ बंध जानो।

आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"रूपादि गुणों से युक्त होने से मूर्त पुद्गल द्रव्य तो स्निग्ध-रूक्षत्व रूप बंध योग्य स्पर्शविशेष के कारण परस्पर बंधते हैं, बंधन को प्राप्त होते हैं – यह बात तो समझ में आती है; किन्तु आत्मा और पुद्गल परस्पर बंधन को प्राप्त होते हैं – यह कैसे माना जा सकता है ?

गुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ।।१७३।।

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणांश्च पश्यति जानाति च, तेनैव प्रकारेण रूपादिरहितो रूपिभिः कर्मपुद्गलैः किल बध्यते, अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात्। न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृतं, किन्तु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम्।

तथा हि – यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति संबंधः, विषयभावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबंधो बलीवर्दसंबंधव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव।

यद्यपि मूर्तकर्मपुद्गल में रूपादि गुण पाये जाते हैं; इसकारण उनमें यथायोग्य स्निग्ध-रूक्षत्व स्पर्शविशेष होते हैं; तथापि अमूर्त आत्मा में रूपादि गुणों का अभाव होने के कारण आत्मा में यथोचित स्निग्ध-रूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष असंभव होने से एक अंग की विकलता है।

अत: जीव और पौद्गलिक कर्मों का परस्पर बंध कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि परस्पर बंधनेवाले दोनों द्रव्यों में यथोचित स्निग्ध-रूक्षत्व विशेष स्पर्श गुण होना चाहिए, तभी बंध हो सकता है। आत्मा में स्पर्श गुण का अभाव है – इसकारण एक अंग की विकलता है; अत: आत्मा का कर्मों से बंधना संभव नहीं है।

यह शिष्य की शंका है; जिसका समाधान आचार्यदेव इसप्रकार करते हैं –

जिसप्रकार रूपादि गुणों से रहित जीव, रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को देखता-जानता है; उसीप्रकार रूपादि रहित जीव, कर्म पुद्गलों के साथ बंधता है। यदि ऐसा न हो तो देखने-जानने के संबंध में भी यह प्रश्न अनिवार्य हो जाता है कि अमूर्त, मूर्त को कैसे जान सकता है ? यह बात अत्यन्त दुर्घट है; इसलिए इसे दार्ष्टान्त रूप बनाया है – यह बात भी नहीं है। यह बात आबाल-गोपाल सभी की समझ में आ जाय, इसलिए इसे दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

जिसप्रकार बालक अथवा वृद्ध या ग्वाले का, उससे पृथक् रहनेवाले मिट्टी के बैल अथवा वास्तविक बैल को देखने-जानने पर भी बैल के साथ कोई संबंध नहीं है; तथापि विषयरूप (ज्ञेयरूप) रहनेवाला बैल जिसका निमित्त है; ऐसे उपयोगारूढ वृषभाकार ज्ञान-दर्शन के साथ का संबंध बैल के साथ के संबंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलै: सहास्ति संबंध:, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसंबंध: कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ।।१७४।।

इसीप्रकार अरूपित्व के कारण आत्मा स्पर्श शून्य है; इसलिए उसका कर्म-पुद्गलों के साथ संबंध नहीं हैं; तथापि एकावगाहरूप से रहनेवाले कर्मपुद्गल जिसके निमित्त हैं – ऐसे उपयोगारूढ राग-द्वेषादि भावों के साथ का संबंध कर्मपुद्गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।''

'बाल' शब्द के बालक, मूर्ख, अनजान आदि अनेक अर्थ होते हैं और गोपाल के ग्वाला, वृद्ध, भगवान आदि अनेक अर्थ होते हैं। इसप्रकार आबाल-गोपाल शब्द के अर्थ भी बालक से वृद्ध तक, अज्ञानी से भगवान तक और बालक व ग्वाले जैसे स्थूल बुद्धिवाले लोग हो सकता है। ग्वाले को लोक में अत्यन्त स्थूल बुद्धिवाला माना जाता है; इसकारण यहाँ यह कहा गया है कि बालक और ग्वाले जैसे स्थूलबुद्धि वालों की भी समझ में आ जावे, इसलिए दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

इसीप्रकार बालक से वृद्ध तक अर्थात् सभी लोग और अजान से भगवान के समान बुद्धिमान तक के सभी जीव सहजभाव से समझ सकें – इसकारण दृष्टान्त से समझाया गया है।

आचार्य जयसेन इन गाथाओं के भाव को नयविभाग से मुक्त जीव, भेदज्ञान रहित अज्ञानी जीव और भेदज्ञानी जीव को आधार बनाकर समझाते हैं; जो मूलत: पठनीय है।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि बंध के संबंध में शास्त्रों का कथन यह है कि दो द्रव्यों के बीच बंध का कारण स्निग्धता और रूक्षता है, जो स्पर्श गुणरूप होने से एकमात्र पुद्गलद्रव्य में पाई जाती हैं; अत: विविध पुद्गल परमाणुओं का स्कंधरूप बंध तो संभव है; पर अरूपी होने से आत्मा में स्पर्श गुण का अभाव है; इसकारण उसमें स्निग्धता और रूक्षता भी संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्मा के साथ पौद्गलिक कर्मों का बंध कैसे हो सकता है ?

उक्त शंका का समाधान करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि **जिसप्रकार अमूर्त आत्मा मूर्त पुद्गल को देखता-जानता है; उसीप्रकार यह अमूर्त आत्मा मूर्त पौद्गलिक कर्मों से बंधता भी है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय से न तो पौद्गलिक कर्मों को देखता-जानता है और न उनसे बंधता ही है; किन्तु जिसप्रकार व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों को देखता-जानता है; उसीप्रकार उनसे बंधता भी है।**

व्यवहारनय से यहाँ आचार्यदेव कह रहे हैं कि आत्मा का रूपी पदार्थों को देखना-जानना दुर्घट भी नहीं है; क्योंकि पर को देखना-जानना तो निरन्तर हो ही रहा है। आत्मा पर को देखता-जानता है – यह बात तो जगप्रसिद्ध है। उदाहरण भी उसी को बनाया जाता है,जो प्रतिवादी को भी स्वीकार हो। जो बात सम्पूर्ण जगत को स्वीकार होती है, वह बात तो वादी-प्रतिवादी – दोनों को स्वीकार होती ही है।

इस बात को यहाँ मिट्टी के बैल और उसे जानने वाले बालक के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है। यद्यपि बालक और मिट्टी के बैल के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है; क्योंकि वे भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और भिन्न-भिन्न पदार्थों के बीच अत्यन्ताभाव होता है; तथापि बालक उस मिट्टी के बैल को जानता-देखता तो है ही।

वह बालक उक्त बैल को देखकर उस पर रींझता है, उसे अपना मानता है, उससे राग करता है। यदि कोई व्यक्ति उसको मारे, पीटे, तोड़े तो वह दुःखी होता है; तोड़-फोड़ करनेवाले से द्वेष करता है। इसप्रकार उक्त अपनापन व राग-द्वेष के कारण वह बालक स्वयं ही दुःखी होता है और बंधन को प्राप्त होता है।

इसीप्रकार यह आत्मा पर-पदार्थों को देखता-जानता हुआ, उनमें अपनापन करता है, उनसे राग-द्वेष करता है और स्वयं ही बंध को प्राप्त होता है।

यद्यपि बालक का, जानने में आनेवाले मिट्टी के बैल से पारमार्थिक संबंध नहीं है; तथापि ज्ञेयरूप बैल के निमित्त से उसके ज्ञान में भी एक बैल बन गया है, बैल का आकार बन गया है; उसके साथ बालक का संबंध है; क्योंकि वह उसके ज्ञान की रचना है; अतः ज्ञानाकार है। वह संबंध उसके निमित्तरूप बैल के साथ के संबंध के व्यवहार को बताता है।

इसीप्रकार यद्यपि आत्मा के जानने में आनेवाले कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का पारमार्थिक संबंध नहीं है; तथापि एकक्षेत्रावगाह रहनेवाले कर्मपुद्‌गल जिसके निमित्त हैं – ऐसे उपयोग में आनेवाले राग-द्वेष भावों के साथ का संबंध कर्मपुद्‌गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार को बताता अवश्य है।

तात्पर्य यह है कि परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न द्रव्यों में जिस प्रकार व्यवहार से ज्ञेय-ज्ञायक संबंध पाया जाता है; उसीप्रकार उनमें व्यवहार से बंध-बंधक भाव भी पाया जाता है ।।१७३-१७४।।

इसप्रकार विगत गाथाओं में जीव और पौद्‌गलिक कर्मों के बंधन का स्वरूप सोदाहरण स्पष्ट करके अब **भावबंध और द्रव्यबंध का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

अथ भावबन्धस्वरूपं ज्ञापयति। अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति –

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बन्धो।।१७५।।
भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो।।१७६।।

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः स बन्धः।।१७५।।
भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः।।१७६।।

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः। तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति।।१७५।।

(हरिगीत)

प्राप्त कर उपयोगमय जिय विषय विविध प्रकार के।
रुष-तुष्ट होकर मुग्ध होकर विविधविध बंधन करे।।१७५।।
जिस भाव से आगत विषय को देखे-जाने जीव यह।
उसी से अनुरक्त हो जिय विविधविध बंधन करे।।१७६।।

उपयोगमयी जो जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह करता है, राग करता है और द्वेष करता है; वह जीव उन मोह-राग-द्वेष के द्वारा संबंधरूप होता है, बंधन को प्राप्त होता है।

जीव विषयागत पदार्थों को जिस भाव से देखता-जानता है; उसी भाव से उपरक्त होता है और उसी भाव से कर्म बाँधता है – ऐसा उपदेश है।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

‘‘सविकल्प (ज्ञान) और निर्विकल्प (दर्शन) प्रतिभासस्वरूप होने से यह आत्मा पूर्णतः उपयोगमय है। काले, पीले या लाल पात्र में रखे हुये स्फटिक मणि के कालेपन, पीलेपन और ललाई से उपरक्त स्वभाववाला स्फटिकमणि जिसप्रकार स्वयं अकेला ही तद्रूप परिणमित होता है; उसीप्रकार यह आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष करता है और मोह-राग-द्वेष के द्वारा उपरक्त (विकारी) आत्मस्वभाववाला होने से स्वयं अकेला ही बंधरूप है; क्योंकि मोह-राग-द्वेषभाव ही इसके द्वितीय है।

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरुक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः। अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ॥१७६॥

साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) प्रतिभासस्वरूप होने से यह आत्मा प्रतिभासित होने योग्य पदार्थ समूह को जिस मोह-राग-द्वेषरूप भाव को देखता-जानता हैं; उसी से उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है, वह स्निग्ध-रूक्षत्व स्थानीय भावबंध है और उसी से पौद्गलिक कर्म बंधते हैं। इसप्रकार यह भावबंध निमित्तक द्रव्यबंध है।''

बंध के होने के लिए दो पदार्थों का होना जरूरी है; क्योंकि अकेले एक पदार्थ में बंध कैसे हो सकता है ? इसलिये यहाँ यह कहा गया है कि आत्मा के बंध में आत्मा एक और मोह-राग-द्वेष दूसरे – इसप्रकार आत्मा और मोह-राग-द्वेष इन दो में बंध हुआ है।

यहाँ तत्त्वप्रदीपिका टीका में स्फटिक मणि का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि जिसप्रकार अत्यन्त स्वच्छस्वभावी स्फटिक मणि काले, पीले और लाल पात्र के संयोग से स्वयं अकेला ही काला, पीला और लाल हो जाता है; उसीप्रकार यह आत्मा विभिन्न पदार्थों को ज्ञेयरूप से प्राप्तकर, जानकर, उनमें अपनापन करता है, उनसे राग-द्वेष करता है तो उन मोह-राग-द्वेष से उपरक्त होने से स्वयं अकेला ही बंधरूप हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न संभव है कि किसी वस्तु का बंध किसी दूसरी वस्तु से ही संभव है, अकेले एक में बंधन कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि यहाँ आत्मा अकेला कहाँ है, साथ में ज्ञेयों के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष भी तो हैं। इसलिए यह भावबंध एक आत्मा और दूसरे मोह-राग-द्वेष के बीच होनेवाला बंध है। इस भावबंध में कर्मोदय उदयरूप से और वे ज्ञेयपदार्थ ज्ञेयरूप से निमित्तमात्र हैं। इन्होंने आत्मा में कुछ भी नहीं किया है; क्योंकि इनमें और आत्मा के बीच में तो अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है। कर्मों के उदयकाल में ज्ञेयों के लक्ष्य से यह आत्मा स्वयं ही मोह और राग-द्वेषरूप परिणमा है। यद्यपि यह मोह-राग-द्वेषभाव आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं; किन्तु दुख का कारण होने से आत्मा की मर्यादा के बाहर है, इसलिए द्वितीय हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि राग-द्वेष-मोह द्वितीय हैं तो फिर 'अकेला ही बंधरूप हो जाता है' – ऐसा क्यों लिखा है ?

उत्तर : परद्रव्य के साथ के बंध के निषेध के लिए – ऐसा लिखा गया है।

अथ पुद्गलजीवतदुभयबन्धस्वरूपं ज्ञापयति। अथ द्रव्यबन्धस्य भावबन्धहेतुकत्वमुज्जीवयति –

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो।।१७७।।
सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति।।१७८।।

स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धो जीवस्य रागादिभिः।
अन्योन्यमवगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः।।१७७।।

आत्मा में तो एक भावबंध ही है। नये द्रव्यकर्मों का बंध तो पुराने द्रव्यकर्मों के साथ स्निग्धता-रूक्षता के आधार पर होता है। वस्तुस्थिति यह है कि इसी भावबंध का निमित्त पाकर नवीन द्रव्यकर्म पूर्व द्रव्यकर्मों के साथ स्निग्धता और रूक्षता के आधार पर बंधन को प्राप्त होते हैं। साथ ही उन द्रव्यकर्मों के प्रदेश आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप से बँधते हैं, प्रकृतिरूप परिणमते हैं, स्थिति के अनुसार ठहरते हैं और काल पाकर फल देकर चले जाते हैं। इसप्रकार यहाँ प्रदेशबंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध – ये चारों ही बंध घटित हो जाते हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि द्रव्यकर्म और भावकर्म में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध नहीं और आत्मा व द्रव्यकर्मों में मात्र एकक्षेत्रावगाह संबंध ही है।।१७५-१७६।।

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि यह जानने-देखनेवाला आत्मा ज्ञेयरूप विषयों को प्राप्त करके मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन करता है। उसके ये मोह-राग-द्वेषादि भाव ही भावबंध हैं और उनके निमित्त से द्रव्यकर्म का बंध होता है।

अब आगामी गाथाओं में **द्रव्यबंध और भावबंध का स्वरूप स्पष्ट कर यह बता रहे हैं कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध ही है।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्पर्श से पुद्गल बंधे अर जिय बंधे रागादि से।
जीव-पुद्गल बंधे नित ही परस्पर अवगाह से।।१७७।।
आतमा सप्रदेश है उन प्रदेशों में पुद्गला।
परविष्ट हों अर बंधें अर वे यथायोग्य रहा करें।।१७८।।

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः।
प्रविशन्ति यथायोग्यं तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते।।१७८।।

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः। यस्तु जीवस्यौपाधिकमोहराद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः। यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः।।१७७।।

अयमात्मा लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशः। अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु कायवाङ्मनोवर्गणालम्बनः परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकायाः स्वयमेव परिस्पन्दवन्तः प्रविशन्त्यपि तिष्ठन्त्यपि गच्छन्त्यपि च। अस्ति चेज्जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावो बध्यंतेऽपि च। ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य भावबन्धो हेतुः।।१७८।।

स्पर्शों से पुद्गल का बंध, रागादि से जीव का बंध और परस्पर अवगाह को पुद्गल-जीवात्मक उभयबंध कहा गया है।

आत्मा सप्रदेशी है और उन प्रदेशों में पुद्गल समूह प्रवेश करते हैं और यथायोग्य रहते हैं और बंधते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचंद्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"स्निग्ध-रूक्षत्व स्पर्शविशेषों के साथ कर्मों का एकत्व परिणाम केवल पुद्गलबंध है और मोह-राग-द्वेषरूप औपाधिक भावों के साथ जीव का एकत्व परिणाम केवल जीवबंध है। जीव और कर्मपुद्गल के परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से जो जीव और पुद्गल का विशिष्टतर परस्पर अवगाह है, वह उभयबंध अर्थात् पुद्गलजीवात्मक बंध है।

लोकाकाश तुल्य असंख्यात प्रदेशी होने से यह आत्मा सप्रदेश है। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा के आलंबनवाला परिस्पन्द (कंपन) जिसप्रकार होता है; उसीप्रकार से कर्मपुद्गल के समूह स्वयमेव कंपन करते हुए प्रवेश करते हैं, रहते हैं और जाते भी हैं तथा यदि जीव के मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों तो बंधते भी हैं।

इसलिए निश्चित होता है कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध है।"

आचार्य जयसेन इन गाथाओं के भाव को मूलतः तो तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; किन्तु दूसरा अर्थ करते हुए कहते हैं कि **प्रवेश करते हैं अर्थात् प्रदेशबंध, ठहरते हैं अर्थात् स्थितिबंध, फल देकर चले जाते हैं अर्थात् अनुभागबंध और बंधते हैं अर्थात् प्रकृतिबंध** – इसप्रकार इन गाथाओं में चारों बंधों की चर्चा आ गई है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि पुराने पौद्गलिक द्रव्यकर्मों के साथ नये पौद्गलिक द्रव्यकर्मों का बंधन नियमानुसार होता है। जिनागम में स्कंधरूप बंध के कुछ नियम हैं। स्निग्ध

अथ द्रव्यबन्धहेतुत्वेन रागपरिणाममात्रस्य भावबन्धस्य निश्चयबन्धत्वं साधयति –

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।।१७९।।

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभ्यां रागरहितात्मा।
एष बन्ध समासो जीवानां जानीहि निश्चयतः ।।१७९।।

और रूक्ष में बंध होता है, दो गुण अधिक हों तो बंध होता है, जघन्यगुणों में बंध नहीं होता आदि नियमों के अनुसार होनेवाला बंध स्पर्श रहित जीव और पुद्गल में कैसे हो सकता है ?

यही कारण है कि यहाँ कहा है कि नये द्रव्यबंध का बंध पुराने द्रव्यबंध के साथ होता है और जीव के साथ मोह-राग-द्वेषादि भावबंध होता है। भावकर्म और द्रव्यकर्मों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध नहीं। द्रव्यकर्मों का जीव के साथ जो एकक्षेत्रावगाह संबंध होता है, उसे यहाँ विशिष्टतर विशेषण से संबोधित किया गया है। विशिष्टतर शब्द के माध्यम से आचार्य यह कहना चाहते हैं कि रागी जीव और पुद्गल कर्म के बीच निश्चय से तो कोई संबंध है ही नहीं; पर जो एकक्षेत्रावगाह संबंध है; वह भी विशेष प्रकार का है; क्योंकि एकक्षेत्रावगाह तो धर्मादि द्रव्यों के साथ भी है; वह वैसा नहीं, जैसा जीव और द्रव्यकर्मों में है। **धर्मादि द्रव्यों के साथ जो एकक्षेत्रावगाह संबंध है, उसमें कर्मोदयादि का निमित्त नहीं है, कोई बंधन नहीं है; किन्तु द्रव्यकर्म और देहादि नोकर्म के साथ होनेवाले एकक्षेत्रावगाह में कर्मोदय निमित्त हैं और सुनिश्चित समय के लिए एक क्षेत्र में रहनेरूप बंधन है ।।१७७-१७८।।**

विगत गाथाओं में द्रव्यबंध और भावबंध का स्वरूप स्पष्ट कर यह बता दिया है कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध है। अब इस १७९वीं गाथा में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि **द्रव्यबंध का हेतु होने से भावबंध ही वास्तविक बंध है, निश्चयबंध है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

रागी बाँधें कर्म छूटें राग से जो रहित हैं।
यह बंध का संक्षेप है बस नियतनय का कथन यह ।।१७९।।

रागी आत्मा कर्म बाँधता है और राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है – यह निश्चय से जीवों के बंध का संक्षेप जानो।

यह गाथा इस प्रकरण के निष्कर्ष की गाथा है और इसमें दो टूक शब्दों में कह दिया गया है कि बंध के कारण एकमात्र रागादि भाव ही हैं।

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते, न वैराग्यपरिणतः, अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते वैराग्यपरिणत एव, बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्य-कर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च, न मुच्यते रागपरिणतः, मुच्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो न बध्यते; ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः ।।१७९।।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''मोह-राग-द्वेष परिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्मों से बंधता है; वैराग्यपरिणत जीव कर्मों से नहीं बंधता। इसीप्रकार मोह-राग-द्वेष परिणत जीव नवीन द्रव्यकर्मों से मुक्त नहीं होता और वैराग्य परिणत जीव ही मुक्त होता है। राग परिणत जीव, सम्पर्क में आनेवाले नवीन द्रव्यकर्मों से और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मों से बंधता ही है, मुक्त नहीं होता और वैराग्यपरिणत जीव सम्पर्क में आनेवाले नवीन द्रव्यकर्मों और पुराने द्रव्यकर्मों से मुक्त ही होता है, बंधता नहीं। इससे निश्चित होता है कि द्रव्यबंध का साधकतम हेतु होने से राग परिणाम ही निश्चय से बंध है।''

आचार्य जयसेन उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हुए अन्त में लिखते हैं कि **रागपरिणाम बंध का कारण है – ऐसा जानकर सम्पूर्ण रागादि विकल्पों के त्यागपूर्वक विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मतत्त्व की भावना निरन्तर भाना चाहिए।**

बंध और मोक्ष के कारणों को अत्यन्त संक्षेप में साररूप में प्रस्तुत करनेवाली इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई है कि मूल बात यह है कि **निश्चय से रागी जीव कर्म बांधता है और रागरहित आत्मा कर्मबंधनों से मुक्त होता है।**

यहाँ रागी जीव से मात्र रागभाव से परिणत जीव ही नहीं लेना, अपितु राग में धर्म मानने रूप मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम – इन तीनों से संयुक्त जीव लेना।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी जीव कर्म बाँधता है।

इसीप्रकार राग रहित का अर्थ भी सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और संयमी जीव समझना चाहिए। निष्कर्ष के रूप में यह समझना कि **रत्नत्रय से रहित जीव कर्मों से बंधता है और रत्नत्रय से परिणत जीव कर्मों से मुक्त होता है। इसप्रकार यह आत्मा जितने-जितने रूप में रत्नत्रय परिणत होता जाता है, उतने-उतने रूप में कर्मों से मुक्त होता जाता है।**

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि निश्चय से रागी अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति। अथ विशिष्ट-परिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति –

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदेसो सुहो व असुहो हवदि रागो ।।१८०।।
सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ।।१८१।।

परिणामाद्बन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः।
अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति रागः ।।१८०।।
शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भणितमन्येषु।
परिणामोऽनन्यगतो दुःखक्षयकारणं समये ।।१८१।।

मिथ्याचारित्र से परिणत जीव कर्मबन्धन को प्राप्त होता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से परिणत जीव कर्मबन्धनों से मुक्त होता है। अतः भव्यजीवों को मिथ्यात्वादि रागभाव से विरक्त और सम्यक्त्वादिरूप वीतरागभाव में अनुरक्त होना चाहिए ।।१७९।।

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि मोह-राग-द्वेषरूप भावबंध ही वास्तविक बंध है, निश्चय बंध है; अब आगामी गाथाओं में उक्त मोह-राग-द्वेष भावों का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

राग-रुष अर मोह ये परिणाम इनसे बंध हो।
राग है शुभ-अशुभ किन्तु मोह-रुष तो अशुभ ही ।।१८०।।
पर के प्रति शुभभाव पुण पर अशुभ तो बस पाप है।
पर दुःखक्षय का हेतु तो बस अनन्यगत परिणाम है ।।१८१।।

परिणामों से बंध होता है और परिणाम मोह-राग-द्वेष से युक्त हैं। उनमें मोह और द्वेष तो अशुभ ही हैं; पर राग शुभ और अशुभ – दोनों रूप होता है।

पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है – ऐसा कहा गया है। जो परिणाम दूसरों के प्रति प्रवर्तमान नहीं है, वह परिणाम समय पर दुःख-क्षय का कारण है अथवा शास्त्रों में ऐसा कहा है कि वह परिणाम दुःख-क्षय का कारण है।

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात्। विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तच्च शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च। विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति ।।१८०।।

द्विविधस्तावत्परिणामः परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च। तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टपरिणामः, स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणामः। तत्रोक्तौ द्वौ विशिष्टपरिणामस्य विशेषौ, शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च। तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम्। अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः। स काले संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ।।१८१।।

आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“द्रव्यबंध विशिष्ट परिणाम से होता है। परिणाम विशिष्टता मोह-राग-द्वेषमयता के कारण है। वह परिणाम शुभत्व और अशुभत्व के कारण दोपने को प्राप्त होता है। उनमें से मोह और द्वेषभाव अशुभरूप होते हैं और रागभाव शुभ और अशुभ – दोनों प्रकार का होता है; क्योंकि राग विशुद्धि और संक्लेश युक्त होता है।

परिणाम दो प्रकार का होता है – परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त। पर के द्वारा उपरक्त होने से परद्रव्यप्रवृत्तपरिणाम विशिष्ट परिणाम है और पर के द्वारा उपरक्त न होने से स्वप्रवृत्तपरिणाम अवशिष्ट परिणाम है।

विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं – शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम। पुण्यरूप पुद्गल के बंध का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गल के बंध का कारण होने से अशुभपरिणाम पाप हैं।

अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है; इसलिए उसके भेद नहीं है। वह अविशिष्ट परिणाम यथाकाल संसार दुःख के हेतुभूत कर्मपुद्गल के क्षय का कारण होने से संसार दुःख का हेतुभूत कर्मपुद्गल का क्षयस्वरूप मोक्ष ही है।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव मूलतः तो तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; परन्तु अन्त में समागत ‘समय’ शब्द का अर्थ ‘परमागम’ और ‘काललब्धि’ करते हैं।

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति। अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति –

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो।।१८२।।

अन्त में किंच कहकर उन्होंने विषयवस्तु का गुणस्थान परिपाटी से विशेष स्पष्टीकरण किया है; जो मूलत: पठनीय है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि बंध और मोक्ष परिणामों से ही होता है, किसी क्रियाविशेष से नहीं। परिणाम दो प्रकार के हैं – परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त। यहाँ परद्रव्यप्रवृत्त परिणामों को विशिष्ट परिणाम और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणामों को अविशिष्ट परिणाम कहते हैं। विशिष्ट परिणाम अर्थात् अशुद्ध परिणाम, शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम के भेद से दो प्रकार के हैं। पुण्यबंध के कारण होने से शुभ परिणामों को पुण्य या पुण्य परिणाम कहते हैं और पापबंध के कारण होने से अशुभ परिणामों को पाप या पाप परिणाम कहते हैं।

अविशिष्ट परिणाम अर्थात् शुद्ध परिणाम एक प्रकार का ही है, उसके कोई भेद नहीं है। जिसप्रकार पुण्यबंध का कारण होने से शुभभाव को पुण्य और पापबंध का कारण होने से अशुभभाव को पाप कह दिया जाता है; उसीप्रकार अविशिष्ट परिणाम अर्थात् शुद्धभाव मोक्ष का कारण होने से मोक्ष ही है – यह कहना अनुचित नहीं है।

ये अशुद्ध – शुभाशुभ परिणाम मोह-राग-द्वेषरूप ही हैं। इनमें मोह अर्थात् दर्शनमोह-मिथ्यात्व और द्वेष तो अशुभरूप ही होते हैं; पर राग शुभ और अशुभ – दोनों प्रकार का होता है; क्योंकि वह राग विशुद्धि और संक्लेशरूप होता है।

इसप्रकार इन मोह-राग-द्वेष भावों को रागभाव और इन मोह-राग-द्वेष भावों से रहित भावों को वीतरागभाव कहते हैं। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को रागभाव और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को वीतरागभाव कहते हैं। रागी जीव बंधन को प्राप्त होता है और रागरहित जीव बंधन से मुक्त होता है। इसका भाव यही है कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र संसार के कारण हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के कारण हैं।।१८०-१८१।।

विगत गाथाओं में किये गये शुभाशुभरूप अशुद्धभावों और शुद्धभावों के स्पष्टीकरण के उपरान्त इन गाथाओं में अब स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति के लिए स्व-पर का भेदविज्ञान कराते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो।।१८३।।

भणिता: पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसा:।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य:।।१८२।।
यो नैव जानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात्।।१८३।।

य एते पृथिवीप्रभृतय: षड्जीवनिकायास्त्रसस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्य:। अत्र षड्जीवनिकायात्मन: परद्रव्यमेक एवात्मा स्वद्रव्यम्।।१८२।।

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयो: स्वपरविभागं पश्यति

(हरिगीत)

पृथ्वी आदि थावरा त्रस कहे जीव निकाय हैं।
वे जीव से हैं अन्य एवं जीव उनसे अन्य है।।१८२।।
जो न जाने इसतरह स्व और पर को स्वभाव से।
वे मोह से मोहित रहे 'ये मैं हूँ' अथवा 'मेरा यह' ।।१८३।।

अब पृथ्वी आदि स्थावर और त्रसरूप जो जीव निकाय कहे गये हैं; वे जीव से अन्य हैं और जीव भी उनसे अन्य है।

जो जीव इसप्रकार स्वभाव को प्राप्त करके पर को और स्व को नहीं जानता; वह मोह से 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' – इसप्रकार अध्यवसान करता है।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"त्रस-स्थावर के भेदपूर्वक जो यह पृथ्वी आदि छह जीवनिकाय माने जाते हैं; वे अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य हैं और जीव भी चेतनत्व के कारण उनसे अन्य है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के लिए आत्मा ही एक स्वद्रव्य है, छह प्रकार के जीवनिकाय आत्मा के लिए परद्रव्य हैं।

जो आत्मा जीव के चेतनत्व और पुद्गल के अचेतनत्वरूप स्वभाव के द्वारा स्व-पर के विभाग को नहीं देखता; वह आत्मा 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' – इसप्रकार मोह से परद्रव्य में अपनेपन का अध्यवसान करता है, कोई दूसरा नहीं। अत: यह निश्चित है कि जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के ज्ञान का, भेदविज्ञान का अभाव ही है। इसप्रकार कहे

स एवाहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः। अतो जीवस्य परद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभावः ॥१८३॥

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति। अथ कथमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति –

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥१८४॥

बिना ही, स्व-सामर्थ्य से ही यह सिद्ध हुआ कि स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के ज्ञान के अभाव का अभाव है अर्थात् स्व-पर के ज्ञान का सद्भाव है। तात्पर्य यह है कि स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान है और परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान का अभाव है।''

इन गाथाओं में मूलरूप से तो यही कहा गया है कि परद्रव्यों में प्रवृत्ति का एकमात्र कारण भेदविज्ञान का अभाव है और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का उपाय एकमात्र भेदविज्ञान है।

पृथ्वीकायिक आदि जो संसारी जीव हैं; वे सभी सदेह हैं। तात्पर्य यह है कि अनादिकाल से आजतक शरीर से इनका वियोग एक समय के लिए भी नहीं हुआ। विग्रहगति में भी, न सही औदारिक-वैक्रियिक शरीर, पर कार्मण और तेजस शरीरों का संबंध तो विग्रहगति में भी रहता ही है। इसप्रकार ये मनुष्यादि पर्यायें एक आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुओं के पिंड के रूप में हैं; तो भी यह अज्ञानी जगत इन्हें जीव कहता है। न केवल अज्ञानी जगत, जिनवाणी में भी प्रयोजनवश सदाचार की सिद्धि के लिए अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से इन मनुष्यादि पर्यायों को जीव कहा गया है।

अरे इन मनुष्यादि पर्यायों में जीव द्रव्य तो मात्र एक ही है, पर परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य तो अनंत हैं। इसप्रकार जीव से अनंतगुणे पुद्गल जिन असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में हों, उन्हें जीव कहना कहाँ तक उचित है – यह एक विचारणीय बात है। उक्त संदर्भ में इन गाथाओं में यह कहा गया है कि ये पृथ्वीकायिक आदि जीवनिकाय अन्य हैं और भगवान आत्मा अन्य है। जो यह नहीं जानता, वह आत्मा अज्ञानी है और जो आत्मा इन दोनों को अन्य-अन्य जानता है, वह भेदज्ञानी आत्मा ज्ञानी है, धर्मात्मा है ॥१८२-१८३॥

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि यह आत्मा त्रस-स्थावर आदि जीव निकायों से भिन्न है; तथापि यह आत्मा उनमें एकत्व-ममत्व करता है और उसके फल में अनन्त दुःख उठाता है।

अब इन गाथाओं में यह कहा जा रहा है कि आखिर आत्मा का कार्य क्या है और पुद्गल परिणाम आत्मा का कार्य क्यों नहीं है – इसप्रकार के संदेह को दूर करते हैं।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ।।१८५।।

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य।
पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ।।१८४।।
गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि।
जीवः पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ।।१८५।।

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति, तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात्। स तं च स्वतंत्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात्। एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म। न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति, तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्त्यसंभवेनाकार्यत्वात्। स तानकुर्वाणो न तेषां कर्ता स्यात्, अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्युः। एवमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म।।१८४।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निज भाव को करता हुआ निजभाव का कर्ता कहा।
और पुद्गल द्रव्यमय सब भाव का कर्ता नहीं ।।१८४।।
जीव पुद्गल मध्य रहते हुए पुद्गलकर्म को।
जिनवर कहें सब काल में ना ग्रहे-छोड़े-परिणमे ।।१८५।।

अपने भावों को करता हुआ यह आत्मा वस्तुतः अपने भाव का ही कर्ता है; पुद्गलद्रव्यमय सर्वभावों का कर्ता नहीं है। पुद्गल के मध्य रहता हुआ भी यह जीव वस्तुतः सदा ही उन पौद्गलिक कर्मों को न तो ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न करता ही है।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''वस्तुतः यह भगवान आत्मा अपने भाव का कर्ता है; क्योंकि वह भाव उसका स्वधर्म है। आत्मा में उसरूप परिणमित होने की शक्ति है। इसलिए वह कार्य अवश्यमेव आत्मा का कार्य है। इसप्रकार यह आत्मा अपने भाव को स्वतंत्रतया करता हुआ, उस भाव का कर्ता है और आत्मा के द्वारा किया गया वह अपना भाव आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से अवश्य ही आत्मा का कर्म है। इसप्रकार अपना परिणाम आत्मा का कर्म है।

परन्तु यह भगवान आत्मा पौद्गलिक भावों को नहीं करता; क्योंकि वे पर के धर्म हैं; इसलिए आत्मा में उसरूप होने की शक्ति न होने से वे आत्मा के कर्म (कार्य) नहीं हैं।

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म, परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात्। यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य। आत्मा तु तुल्यक्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव। ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात्॥१८५॥

इसप्रकार यह आत्मा उन पौद्गलिक भावों को न करता हुआ, उनका कर्ता नहीं होता और वे पौद्गलिक भाव आत्मा के द्वारा न किये जाने से आत्मा के कर्म नहीं हैं।

वस्तुतः बात यह है कि पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार अग्नि लोहे के गोले के ग्रहण-त्याग से रहित होती है; उसीप्रकार यह आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित है। जो जिसका परिणमानेवाला होता है; वह उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं होता। आत्मा परद्रव्य के साथ एकक्षेत्रावगाही होने पर भी परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है। इसलिए यह आत्मा पुद्गलों को कर्मभाव से परिणमानेवाला नहीं है।''

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कहते हैं कि यहाँ 'स्वभाव' शब्द से रागादिभाव लेना चाहिए। वे लिखते हैं कि यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध-बुद्धएकस्वभाव ही कहा गया है; तथापि कर्मबंध के प्रसंग में अशुद्धनिश्चयनय से रागादि परिणाम भी स्वभाव कहलाते हैं। इसप्रकार यहाँ आत्मा को रागादि भावों का कर्ता कहा गया है और पर के कर्तृत्व का निषेध किया गया है।

आचार्य जयसेन की एक बात और भी उल्लेखनीय है। वे कहते हैं कि जिसप्रकार सिद्ध भगवान पुद्गलों के बीच रहते हुए भी परद्रव्य को न तो करते हैं, न ग्रहण करते हैं और न छोड़ते हैं; उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शक्तिरूप से संसारी जीव भी इन सबसे रहित हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह आत्मा अपने विकारी भावों का कर्ता-भोक्ता तो है; परन्तु पर का कर्ता-भोक्ता कदापि नहीं है। इसप्रकार यह भगवान आत्मा परपदार्थों को न तो करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन्हें छोड़ता ही है ।।१८४-१८५।।

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट हो जाने पर कि वस्तुतः यह आत्मा अपने रागादि विकारी भावों का कर्ता होने पर भी परद्रव्यों का कर्ता नहीं है और उनके ग्रहण-त्याग का भी कर्ता नहीं है; अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि परमार्थ से परपदार्थों के कर्तृत्व और ग्रहण-त्याग से रहित होने पर भी यह आत्मा व्यवहार से अपने विकारी भावों को करते हुए कदाचित् कर्मरज से ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है तथा वह कर्मरज ज्ञानावरणादि रूप परिणमित होती है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथात्मनः कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानं हानं चेति निरूपयति। अथ किं कृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरूपयति –

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मं धूलीहिं।।१८६।।
परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।।१८७।।

स इदानीं कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः।।१८६।।
परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः।
तं प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः।।१८७।।

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं संसारावस्थायां निमित्तमात्रीकृतपरद्रव्यपरिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्वात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं, तदेव तस्य स्वपरिणामं निमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभिः पुद्गलधूलीभिर्विशिष्टावगाहरूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते एव।।१८६।।

(हरिगीत)

भवदशा में रागादि को करता हुआ यह आतमा।
रे कर्मरज से कदाचित् यह ग्रहण होता-छूटता।।१८६।।
रागादियुत जब आतमा परिणमे अशुभ-शुभ भाव में।
तब कर्मरज से आवरित हो विविध बंधन में पड़े।।१८७।।

आत्मद्रव्य संसारावस्था में उत्पन्न होनेवाले अपने अशुद्ध परिणामों का कर्ता होता हुआ कर्मरज से कदाचित् ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है।

जब आत्मा राग-द्वेषयुक्त होता हुआ शुभ और अशुभ में परिणमित होता है, तब कर्मरज ज्ञानावरणादिरूप से उसमें प्रवेश करती है।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित होता हुआ भी संसारावस्था में यह आत्मा परद्रव्य के परिणाम को निमित्तमात्र करते हुए केवल स्वपरिणाममात्र का कर्तृत्व अनुभव करता हुआ, उसके इसी परिणाम को निमित्तमात्र करके कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई पुद्गलरज के द्वारा विशिष्ट अवगाहरूप से कदाचित् ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है।

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणामः, नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत्। तथाहि – यथा यदा नवघनाम्बुभूमिसंयोगेन परिणमति तदान्ये पुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैः शाद्वल-शिलीन्ध्रशक्रगोपादिभावैः परिणमन्ते, तथा यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्तः कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यै-र्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते। अतः स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं, न पुनरात्मकृतम्॥१८७॥

जिसप्रकार नये मेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम के साथ अन्य पुद्गलपरिणाम स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं; उसीप्रकार आत्मा के शुभाशुभपरिणामों के समय कर्मपुद्गल परिणाम स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं। जिसप्रकार नये मेघजल के भूमि के संयोग में आने पर अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता और इन्द्रगोप आदि रूप परिणमित होते हैं; उसीप्रकार जब यह आत्मा राग-द्वेष के वशीभूत होता हुआ शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है; तब योग द्वारों से प्रविष्ट होते हुए अन्य कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मों की विचित्रता उनके स्वभावकृत ही है, आत्मकृत नहीं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं के परिणमन का कर्ता स्वयं है। कर्ता के संबंध में कहा गया है कि **स्वतंत्रः कर्ता'**। जो अपने कार्य को स्वतंत्ररूप से करे, उसे कर्ता कहते हैं। जीव द्रव्य अपने निर्मल परिणामों को स्वतंत्रपने करता है; इसलिए वह उनका कर्ता तो है ही; किन्तु अज्ञानावस्था में विकारी परिणामों का कर्ता भी वही है। यद्यपि विकारी भावों में कर्मोदय निमित्त होता है; तथापि वह कर्मोदय तो मात्र निमित्त ही है, कर्ता नहीं। तात्पर्य यह है कि वास्तविक कर्ता तो उपादान ही होता है। कहा गया है कि **यः परिणमति स कर्ता:**[१] जो परिणमित होता है, वही कर्ता होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि ज्ञानी जीव ज्ञानभाव का कर्ता है और अज्ञानी जीव अज्ञानभाव का कर्ता है। इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि यह जीव ज्ञानावस्था में ज्ञानभावों का और अज्ञानावस्था में अज्ञानभावों का कर्ता है। भावकर्म जीव के विकारी परिणाम हैं; अतः अज्ञानावस्था में वह उनका कर्ता है और द्रव्यकर्म पौद्गलिक कार्मणवर्गणाओं के कार्य हैं; अतः उनका कर्ता पुद्गल ही है, जीव नहीं। कहा भी है –

ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुद्गल करै, यह निहचै परवान॥[२]

---

[१] समयसार कलश, कलश ५१

[२] समयसार नाटक, कर्ताकर्मक्रियाद्वार, छन्द-१७, पृष्ठ-८०

ज्ञानी ज्ञानभावों का व अज्ञानी अज्ञानभावों का कर्ता है और पौद्गलिक द्रव्यकर्मों का कर्ता पुद्गल है – यह निश्चयनय का कथन है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि रागादि भाव अज्ञानभाव हैं तो जो रागादि भाव ज्ञानी के पाये जाते हैं; उनका क़र्ता कौन है ?

मिथ्यात्व के साथ रहनेवाले अनन्तानुबंधी संबंधी रागादि का नाम ही अज्ञानभाव है। ऐसा अज्ञानभाव ज्ञानियों के होता ही नहीं है। ऐसा अज्ञानभाव तो अज्ञानियों के ही होता है; अत: अज्ञानी ही उन अज्ञानभावरूप रागादिभावों के कर्ता हैं।

ज्ञानी के होनेवाले अप्रत्याख्यानावरणादि संबंधी रागादि भावों का ज्ञानी कर्ता नहीं; अपितु ज्ञाता ही है; क्योंकि वह उन्हें जानता तो है, पर उनका कर्ता नहीं बनता। अत: वह उन्हें जाननेरूप क्रिया का कर्ता तो है, पर उन रागादि भावों का कर्ता नहीं। पर का कर्ता तो ज्ञानी और अज्ञानी – दोनों ही नहीं हैं।

प्रवचनसार परिशिष्ट में ४७ नयों के प्रकरण में आत्मा को कर्तानय से अप्रत्याख्यानावरणादि रागादि भावों का कर्ता कहा है; पर साथ में वही जीव उसी समय अकर्तानय से उक्त रागादि का अकर्ता भी है – यह भी कहा है।

विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से कथन किया जाता है। अत: कहाँ किस अपेक्षा से कथन किया गया है – इसे बारीकी से समझना चाहिए।

यहाँ तो मूलत: यह कहा गया है कि यद्यपि यह भगवान आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से रागादि का कर्ता होने पर भी पर का कर्ता नहीं है; तथापि असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा अपने रागादि भावों को करते हुए पुद्गल कर्मों को करता है, ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है। उक्त दोनों गाथाओं में से पहली गाथा में निश्चय से पर का अकर्ता बताया और दूसरी गाथा में व्यवहार से कथंचित् पर का कर्ता भी बताया है॥१८६-१८७॥

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के उपरान्त एक गाथा आती है; जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में उपलब्ध नहीं होती।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं॥१३॥

(हरिगीत)

विशुद्धतम परिणाम से शुभतम करम का बंध हो।
संक्लेशतम से अशुभतम अर जघन हो विपरीत से॥१३॥

अथैक एव आत्मा बन्ध इति विभावयति –

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरएहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये।।१८८।।

सप्रदेशः स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः।
कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपितः समये।।१८८।।

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जीष्ठरङ्गादिभिरूपभिश्लिषटमेकं

तीव्र अर्थात् अधिक विशुद्धि होने पर शुभप्रकृतियों का तीव्र अर्थात् उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है और तीव्र संक्लेशपरिणामों से अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अर्थात् उत्कृष्ट बंध होता है तथा इससे विपरीत परिणामों से सभी प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है।

उक्त गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि किसप्रकार के शुभाशुभभावों में से किसप्रकार के भाव से किसप्रकार का बंध होता है। टीका में भी इसी बात को सोदाहरण दुहरा दिया है; अधिक विस्तार से कुछ नहीं कहा है। उक्त संदर्भ में विस्तार से जानने की इच्छा हो तो तत्संबंधी करणानुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए।

परकर्तृत्व-भोक्तृत्व संबंधी जितना भी कथन है, वह सब असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। यद्यपि यह कथन प्रयोजनपुरतः ही उपयोगी है, जानने योग्य है, उपादेय है; तथापि करणानुयोग का मूलाधार भी यही है; क्योंकि करणानुयोग आत्मा के विकारी भावों और पौद्गलिक कार्मणवर्गणाओं में होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक संबंध को आधार बनाकर ही अपनी बात प्रस्तुत करता है।।१३।।

विगत गाथाओं में बंध का स्वरूप निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक स्पष्ट करने के उपरान्त अब आगामी गाथा में यह कहते हैं कि **यह आत्मा स्वयं ही बंध है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सप्रदेशी आतमा रूस-राग-मोह कषाययुत।
हो कर्मरज से लिप्त यह ही बंध है जिनवर कहा।।१८८।।

सप्रदेशी यह आत्मा यथासमय मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज से बद्ध होता हुआ 'बंध' कहा जाता है।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आ. अमृतचंद्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार इस जगत में प्रदेशवाला होने से वस्त्र लोध-फिटकरी आदि से कषायित

रक्तं दृष्टं वासः, तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात् कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य ।।१८८।।

अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति –

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ।।१८९।।

एष बन्धसमासो जीवानां निश्चयेन निर्दिष्टः।
अर्हद्भिर्यतीनां व्यवहारोऽन्यथा भणितः ।।१८९।।

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम्। रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता, तस्यैवो-

---

होता है और कषायित होने से मंजीठादि रंग से सम्बद्ध होता हुआ अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है; उसीप्रकार सप्रदेशी होने से यह आत्मा भी यथाकाल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज से लिप्त होता हुआ अकेला ही बंध है – ऐसा जानना चाहिए; क्योंकि निश्चय का विषय शुद्धद्रव्य है।''

वस्तुत: यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा अपने पर्यायस्वभाव से रागादिरूप परिणत हो रहा है; इसमें कर्मोदयरूप निमित्त का कोई दोष नहीं है।

ध्यान रहे यहाँ उक्त कथन को शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाले शुद्धनिश्चयनय का कथन कहा गया है। अगली गाथा की टीका में इस बात को और भी अधिक स्पष्टरूप से कहा जायेगा। नयों के कथन करनेवाले ग्रन्थों में इसप्रकार के प्रयोग देखने में नहीं आते; अन्यत्र भी विरल ही हैं।।१८८।।

विगत गाथाओं में निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक अनेकप्रकार से संबंधित विषयवस्तु को प्रस्तुत किया गया। अब इस गाथा में यह बताते हैं कि निश्चय-व्यवहार में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है, अपितु अविरोध ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यह बंध का संक्षेप जिनवरदेव ने यतिवृन्द से।
नियतनय से कहा है व्यवहार इससे अन्य है।।१८९।।

अरहंत भगवान ने गणधरादि यतियों के समक्ष निश्चयनय से जीवों के बंध का संक्षिप्त विवरण उक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है; पर व्यवहारनय का कथन इससे भिन्न कहा है।

आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है और वही रागपरिणाम पुण्य-पापरूप द्वैत है।

पादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः। यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं, पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता, तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौ स्त, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो, न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः ॥१८९॥

आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करने वाला है। यह शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।

जो पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है। आत्मा पुद्गल परिणाम का ही कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है। – ऐसा जो नय है, वह अशुद्ध द्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है। यह दोनों नय हैं; क्योंकि शुद्धरूप और अशुद्धरूप – दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है।

किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम होने से ग्रहण किया जाता है; क्योंकि साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक (प्रकाशक) होने से निश्चयनय ही साधकतम है; किन्तु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं; तथापि अन्त में एक प्रश्न उठाकर उसका समाधान इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

''यहाँ प्रश्न है कि आत्मा रागादि को करता-भोगता है – ऐसे लक्षणवाला निश्चयनय कहा, वह उपादेय कैसे हो सकता है ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि आत्मा रागादि को ही करता है; द्रव्यकर्म को नहीं करता। रागादि ही बंध के कारण हैं; जब जीव ऐसा जानता है, तब राग-द्वेष आदि विकल्पजाल को छोड़कर रागादि के विनाश के लिए निज शुद्धात्मा की भावना करता है। इससे रागादि का विनाश होता है और रागादि का विनाश होने पर आत्मा शुद्ध होता है; इसलिए परम्परा से शुद्धात्मा का साधक होने के कारण यह अशुद्धनय भी उपचार से शुद्धनय कहलाता है, निश्चयनय कहलाता है और इसी कारण उपादेय कहा जाता है – ऐसा अभिप्राय है।''

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि यहाँ शुद्धता का अर्थ परद्रव्यों से भिन्नता और अशुद्धता का अर्थ परद्रव्यों से अभिन्नता है। यही कारण है कि यहाँ आत्मा को रागादि

भावों का कर्ता शुद्धनिश्चयनय से कहा गया है; जबकि अन्यत्र लगभग सर्वत्र ही आत्मा को रागादि का कर्ता अशुद्धनिश्चयनय से कहा जाता रहा है।

आचार्य जयसेन का ध्यान भी इस ओर गया था। यही कारण है कि उन्होंने यह कहकर समाधान करने का सफल प्रयास किया है कि परम्परा से शुद्धात्मा का साधक होने से यह अशुद्धनय भी उपचार से शुद्धनय कहलाता है और इसीकारण उपादेय भी कहा जाता है।

आचार्य जयसेन के उक्त कथन में समागत **'परम्परा से शुद्धात्मा का साधक** और **अशुद्धनय भी उपचार से शुद्धनय** कहलाता है और इसीकारण **उपादेय है'** – ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि इनमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि आत्मा को रागादि का कर्ता कहनेवाला नय मूलतः तो अशुद्धनिश्चयनय ही है; पर उसे यहाँ प्रयोजनवश उपचार से शुद्धनिश्चयनय कह दिया गया है। इसीप्रकार यहाँ इसे परम्परा से ही शुद्धात्मा का साधक कहा गया है; साक्षात् साधक नहीं कहा।

यहाँ 'आत्मा रागादिरूप है, रागादि का स्वामी है और रागादि का कर्ता-भोक्ता है' – यह शुद्धनिश्चयनय का कथन है। यह कहकर यह कहना चाहते हैं कि आत्मा स्वयं रागादिरूप परिणमता है, रागादि के स्वामीपने परिणमता है और रागादि के कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप परिणमता है। यह सब आत्मा की पर्यायगत योग्यता के कारण स्वयं से ही होता है; पर के कारण नहीं, कर्मादि के कारण भी नहीं।

यदि इसमें पर की कारणता स्वीकार की जायेगी तो फिर अत्मा इनका कर्ता-भोक्ता भी नहीं रहेगा; क्योंकि **स्वतंत्रः कर्ता** – कर्ता कहते ही उसे हैं; जो अपने परिणमन में स्वतंत्र हो। **पर से निरपेक्षता ही इसकी शुद्धता है, स्वतंत्रता है। यही बताने के लिए इसे शुद्धनिश्चयनय का कथन कहा गया है।**

जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उस परिणति को उसी द्रव्य की कहना शुद्धनिश्चयनय है और उस परिणति को अन्य द्रव्य की कहना अशुद्धनिश्चयनय अर्थात् व्यवहारनय है। उक्त परिभाषा के अनुसार रागादिभाव जीवद्रव्य की परिणति है; अतः उसे जीव की परिणति कहना ही सत्य है, इसकारण यह निश्चयनय है और पर से भिन्नता और अपने से अभिन्नता ही शुद्धता है; इसकारण यह कथन शुद्धनय है; इसप्रकार रागादि का स्वामी, कर्ता-भोक्ता आत्मा को कहना शुद्धनिश्चयनय का कथन है॥१८९॥

विगत गाथा में निश्चय और व्यवहार में अविरोध दिखाने के उपरान्त अब इन गाथाओं में **अशुद्धनय से अशुद्धात्मा और शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है – यह बताते हैं।**

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति। अथ शुद्धनयात् शुद्धात्मलाभ एवेत्यवधारयति –

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ।।१९०।।
णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ।।१९१।।

न त्यजति यस्तु ममतामहं ममेदमिति देहद्रविणेषु।
स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् ।।१९०।।
नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः।
इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता ।।१९१।।

यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयोपजनितमोहः सन् अहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्वं न जहाति स खलु शुद्धात्मपरिणतिरूपं श्रामण्याख्यं मार्गं दूरादपहायाशुद्धात्मपरिणतिरूपमुन्मार्गमेव प्रतिपद्यते। अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ।।१९०।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

तन-धनादि में 'मैं हूँ यह' अथवा 'ये मेरे हैं' सही।
ममता न छोड़े वह श्रमण उनमार्गी जिनवर कहें ।।१९०।।
पर का नहीं ना मेरे पर मैं एक ही ज्ञानात्मा।
जो ध्यान में इस भाँति ध्यावे है वही शुद्धात्मा ।।१९१।।

जो देह-धनादिक में 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' – ऐसे ममत्व को नहीं छोड़ता; वह श्रामण्य को छोड़कर उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

'मैं पर का नहीं हूँ और पर मेरे नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञान हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ' – इसप्रकार जो ध्यान करता है; वह ध्याता ध्यानकाल में आत्मा होता है।

आ.अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक व्यवहारनय में मोहित जो आत्मा 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' – इसप्रकार आत्मीयता से देह और धनादिक परद्रव्यों में ममत्व नहीं छोड़ता; वह आत्मा शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य नामक मार्ग को दूर से ही छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय लेता है।

इससे मिश्चित होता है कि अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है।

यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः, शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन्, नाहं परेषामस्मि, न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसंबंधमुद्धूय, शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सृज्यात्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि, स खल्वेकाग्रचिन्तानिरोधकस्तस्मिन्नैकाग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात्।

अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः ।।१९१।।

मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहकर शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक निश्चयनय के द्वारा मोह दूर किया है जिसने, ऐसा वह आत्मा 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं' – इसप्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामी संबंध को छोड़कर 'मैं एक शुद्ध ज्ञान ही हूँ' – इसप्रकार अनात्मा को छोड़कर आत्मा को ही आत्मरूप से ग्रहण करके परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण एक आत्मा में ही चिन्तवन को रोकता है; वह एकाग्रचिन्तानिरोधक आत्मा उस एकाग्रचित्तानिरोध के समय वास्तव में शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जो व्यक्ति रुपया-पैसा, धन-धान्य, मकान, देश, नगर, गाँव आदि में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि नहीं छोड़ता है; वह श्रामण्य (मुनिपना) को छोड़कर उन्मार्ग का आश्रय लेता हुआ उन्मार्गी हो जाता है और जो व्यक्ति स्त्री-पुत्रादि, धन-धान्य, रुपया-पैसा आदि परपदार्थों में ये मेरे नहीं हैं और मैं इनका नहीं हूँ; ये मेरे स्वामी नहीं हैं और मैं इनका स्वामी नहीं हूँ, मैं इनका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ और ये मेरे कर्ता-भोक्ता नहीं हैं – इसप्रकार पर में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि छोड़कर 'मैं तो एक शुद्धज्ञानमय ही हूँ' – इसप्रकार अपने में अपनापन स्थापित करते हैं; वे उपयोग को पर में से हटाकर अपने में जोड़ते हैं और सन्मार्गी हो जाते हैं, शुद्धात्मा हो जाते हैं।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ भी विगत गाथा के अनुसार राग-द्वेष परिणामों को स्व की मर्यादा में शामिल करके उनका स्वामी, कर्ता-भोक्तापने को शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला निश्चयनय कहा है और परद्रव्यों का स्वामित्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व को अशुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला व्यवहारनय कहा है।

'अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की और शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है' – विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि ध्रुव होने से **एकमात्र शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है और उसके अतिरिक्त देहादि सभी पदार्थ अध्रुव होने से उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथ ध्रुवत्वात् शुद्ध आत्मैवोपलम्भनीय इत्युपदिशति। अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति –

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१९२॥
देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१९३॥

एवं ज्ञानात्मानं दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम्।
ध्रुवमचलमनालम्बं मन्येऽहमात्माकं शुद्धम् ॥१९२॥
देहा वा द्रविणानि वा सुख-दुःखे वाथ शत्रुमित्रजनाः।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥१९३॥

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनानाद्यनन्तत्वात् स्वतःसिद्धत्वाच्च ध्रुवो, न किंचनाप्यन्यत्। शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात्। तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादपचलत्वादनालम्बत्वाच्च। ज्ञानमेवात्मनि बिभ्रतः स्वयं दर्शनभूतस्य चातन्मयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्।

(हरिगीत)

इसतरह मैं आतमा को ज्ञानमय दर्शनमयी।
ध्रुव अचल अवलंबन रहित इन्द्रियरहित शुध मानता ॥१९२॥
अरि-मित्रजन धन्य-धान्य सुख-दुख देह कुछ भी ध्रुव नहीं।
इस जीव के ध्रुव एक ही उपयोगमय यह आतमा ॥१९३॥

इसप्रकार मैं आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ। जीव के शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्रजन – ये सभी ध्रुव नहीं हैं; ध्रुव तो एक उपयोगात्मक आत्मा ही है।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचंद्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"शुद्धात्मा सत् और अहेतुक होने से अनादि-अनंत और स्वतःसिद्ध है; इसलिए इस आत्मा के लिए शुद्धात्मा ही ध्रुव है; अन्य कुछ भी ध्रुव नहीं है। परद्रव्यों से विभाग (भिन्नत्व) और स्वधर्म से अविभाग (अभिन्नत्व) ही आत्मा का एकत्व है और इस एकत्व के कारण ही आत्मा शुद्ध है। ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, अचल और निरालम्बपने के कारण आत्मा एक है। स्वयं ज्ञानात्मक और दर्शनभूत आत्मा का, ज्ञान-दर्शन से रहित परद्रव्यों से भिन्नत्व और स्वधर्मों से अभिन्नत्व ही एकत्व है।

तथा प्रतिनियतस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्मविभागेन चास्त्येकत्वम्।

तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्।

तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। एवं शुद्ध आत्मा, चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैर-ध्रुवैः ।।१९२।।

आत्मनो हि परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन चाशुद्धत्वनिबन्धनं न किंचनाप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेनाद्यन्तवत्त्वात्परतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवमस्ति। ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव। अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे, शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम्।।१९३।।

प्रतिनियत स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्यायों को ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियों और शब्दरूप पर्यायों को जाननेवाले महापदार्थरूप आत्मा का इन्द्रियात्मक परद्रव्यों से भिन्नत्व और स्पर्शादि को जाननेवाले ज्ञानरूप स्वधर्म से अभिन्नत्व ही एकत्व है।

प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली ज्ञेयपर्यायों को ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से अचल – ऐसे आत्मा को ज्ञेयपर्यायरूप परद्रव्य से विभाग अर्थात् भिन्नत्व और तन्निमित्तिक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग अर्थात् अभिन्नत्व होने से एकत्व है।

नित्यरूप से प्रवर्तमान ज्ञेयद्रव्यों के आलम्बन का अभाव होने से जो निरालम्ब है – ऐसे आत्मा का ज्ञेयरूप परद्रव्यों से भिन्नत्व और तन्निमित्तिक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अभिन्नत्व होने से एकत्व है।

इसप्रकार एकत्वस्वरूप आत्मा शुद्ध है; क्योंकि चैतन्यमात्रग्राही शुद्धनय आत्मा को मात्र शुद्ध ही निरूपित करता है। किसी पथिक के शारीरिक अंगों के संसर्ग में आनेवाली मार्ग के अनेक वृक्षों की छाया के समान अन्य जो अध्रुव पदार्थ हैं; उनसे इस आत्मा को क्या प्रयोजन है ?

परद्रव्यों से अभिन्न और परद्रव्यों के द्वारा उपरक्त होनेवाले स्वधर्म से भिन्न होने के कारण, आत्मा से अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य पदार्थ, जो आत्मा को अशुद्धपने का कारण हो, ध्रुव नहीं है; क्योंकि वह असत् और हेतुमान होने से आदि-अन्तवाला और परतःसिद्ध है; ध्रुव तो एक उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है। ऐसा होने से उपलभ्यमान अध्रुव शरीरादि के उपलब्ध होने पर भी मैं उन्हें उपलब्ध नहीं करता और ध्रुव शुद्धात्मा को उपलब्ध करता हूँ।''

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति। अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति –

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणगारो खवेदि सो मोहदुग्गंठि।।१९४।।
जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि।।१९५।।

उक्त गाथाओं में सब कुछ मिलाकर यही कहा गया है कि भगवान आत्मा ज्ञानात्मक है, दर्शनरूप है, अतीन्द्रिय महापदार्थ है, अचल है और निरालम्ब है।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग तो आत्मा के लक्षण हैं और न तो इस भगवान आत्मा का स्वभाव इन्द्रियों के माध्यम से देखने-जानने का है और न इन्द्रियों के माध्यम से देखने-जानने में आये – ऐसा ही है; इसलिए यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महापदार्थ है।

यह भगवान आत्मा ज्ञेयरूप परपदार्थों की पर्यायों के ग्रहण-त्याग से रहित होने पर अचल है और उन्हीं ज्ञेयरूप परपदार्थों का आलम्बन न लेने से निरालम्ब है।

इसप्रकार उक्त पाँच विशेषणों के कारण यह भगवान आत्मा एक है और एक होने से शुद्ध है। तात्पर्य यह है कि यह एकता ही इसकी शुद्धता है। ऐसा शुद्धात्मा ही ध्रुव होने से एकमात्र उपलब्ध करने योग्य है।

आत्मा के संयोग में आनेवाले शरीर, धन, शत्रु, मित्र, संसारिक सुख-दुख आदि सभी संयोग ध्रुव नहीं हैं, अध्रुव हैं; इसलिए उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं।।१९२-१९३।।

'ध्रुव होने से एक आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है; अन्य देहादि सभी संयोग अध्रुव होने से उपलब्ध करने योग्य नहीं है' – विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह समझाते हैं कि **शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोहग्रन्थि का नाश होता है और मोहग्रन्थि के नाश से अक्षय अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है।**

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यह जान जो शुद्धात्मा ध्यावें सदा परमातमा।
दुठ मोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आतमा।।१९४।।
मोहग्रन्थी राग-रुष तज सदा ही सुख-दुःख में।
समभाव हो वह श्रमण ही बस अखयसुख धारण करें।।१९५।।

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा।
साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्॥१९४॥
यो निहतमोहग्रन्थी रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये।
भवेत् समसुखदुःखः स सौख्यमक्षयं लभते॥१९५॥

अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्, ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्, ततः साकारोपयुक्तस्यानाकारोपयुक्तस्य वाविशेषेणाकाग्रचेतनप्रसिद्धेसंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रथनं स्यात्। अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम्॥१९४॥

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं, ततः समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थलक्षणे श्रामण्ये भवनं, ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभः। अतो मोहग्रन्थिभेदादक्षयसौख्यं फलम्॥१९५॥

ऐसा जानकर जो आत्मा विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है; वह चाहे साकार उपयोग (सविकल्प) में हो या अनाकार उपयोग (निर्विकल्प) में हो; वह मोहदुर्ग्रन्थि का नाश अवश्य करता है।

टूट गई है मोहग्रन्थि जिसकी, वह आत्मा राग-द्वेष का क्षय करके सुख-दुःख में समता भाव रखता हुआ श्रमणता में परिणमित होता है और अक्षय सुख प्राप्त करता है।

आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यथोक्त विधि से जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मतत्त्व प्राप्त होता है और उससे अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्र संचेतन लक्षण ध्यान होता है। फिर उस ध्यान के कारण साकार (सविकल्प) उपयोगवाले की अथवा अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवाले की – दोनों की अविशेषरूप से एकाग्र संचेतन की प्रसिद्धि होने से अनादि संस्कार से बंधी हुई अतिदृढ मोह की दुष्ट गाँठ का भेदन हो जाता है।

इसप्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल मोह ग्रन्थि का भेदन-टूटना है।

मोह ग्रन्थि है मूल जिनका – ऐसे राग-द्वेष का क्षय भी इस मोह ग्रन्थि के क्षय से होता है। राग-द्वेष के क्षय से परम मध्यस्थता जिसका लक्षण है – ऐसी सुख-दुःख में समानबुद्धिरूप श्रमणता (मुनिपना) प्रगट होती है और उससे अनाकुलता लक्षण अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। इसप्रकार मोहग्रन्थि के भेदन से अक्षयसुखरूप फल की प्राप्ति होती है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करने में तत्त्वप्रदीपिका

अथैकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति –

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा॥१९६॥

यः क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य।
समवस्थितः स्वभावे स आत्मानं भवति ध्याता॥१९६॥

टीका का अनुकरण करते हुए भी साकार-अनाकार उपयोग के साथ-साथ सागार का अर्थ श्रावक और अणगार का श्रमण भी करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रावक और श्रमण – दोनों की मोह ग्रन्थि का भेद इसी विधि से होता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि श्रावकों और श्रमणों के दर्शनमोहरूपी गाँठ है ही कहाँ ?

जबतक दर्शनमोह की मिथ्यात्व नामक प्रकृति का क्षय (जड़मूल से नाश-सत्ता से नाश) नहीं होता, तबतक एकप्रकार से मोहग्रन्थि विद्यमान ही है। इसप्रकार जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं हैं – ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि अणुव्रती और महाव्रती मुनिराजों के सत्ता में मिथ्यात्व विद्यमान ही है।

इसप्रकार इन गाथाओं में साररूप से यह बताया गया है कि विगत गाथाओं में कहे गये आत्मा का स्वरूप जानकर जो आत्मा आत्मा का अनुभव करता है, ध्यान करता है; वह मोह अर्थात् मिथ्यात्व की गाँठ का भेदन कर देता है, ग्रन्थिभेद कर देता है।

मोह की गांठ का भेदन करने के बाद अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायों का नाश करने के बाद वह आत्मा अप्रत्याख्यानावरणादि राग-द्वेष का क्षय करता है और समताभाव धारण करता हुआ सच्चा श्रमण (मुनिराज) बन जाता है और फिर महाश्रमण (अरिहंत) बनकर अक्षयसुख प्राप्त करता है ॥१९६॥

'शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोहग्रन्थि का नाश और मोहग्रन्थि के नाश से अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है।' – विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि आत्मा का ध्यान अशुद्धता का कारण नहीं होता।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आत्मध्याता श्रमण वह इन्द्रियविषय जो परिहरे।
स्वभावथित अवरुद्ध मन वह मोहमल का क्षय करे॥१९६॥

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्त्यभावाद्विषयविरक्तत्वं स्यात्, ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण इव अनन्यशरणस्य मनसो निरोधः स्यात्। ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात्। तत्तु स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसंचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते।

अतः स्वभावावस्थानरूपत्वेन ध्यानमात्मनोऽनन्यत्वात् नाशुद्धत्वायेति ।।१९६।।

जो संत मोहमल का क्षय करके, विषयों से विरक्त होकर, मन का निरोध करके, स्वभाव में समवस्थित हैं; वे संत आत्मा का ध्यान करनेवाले हैं।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"मोहमल का क्षय करनेवाले आत्मा के, मोहमल जिसका मूल है – ऐसी परद्रव्यप्रवृत्ति का अभाव होने से विषयविरक्तता होती है। उक्त विषयविरक्तता से, समुद्र के मध्यगत जहाज के पक्षी की भांति, अधिकरणभूत द्रव्यान्तरों के अभाव होने से जिसे कोई अन्य शरण नहीं रहा है – ऐसे मन का निरोध होता है।

मन का निरोध होने से, मन जिसका मूल है – ऐसी चंचलता का विलय होने से अनंत सहज चैतन्यात्मक स्वभावसमवस्थान होता है। उस स्वभावसमवस्थान को स्वरूप में प्रवर्तमान, अनाकुल, एकाग्रसंचेतन होने से ध्यान कहा जाता है।

इससे यह निश्चित होता है कि ध्यान स्वभावसमवस्थानरूप होने से और आत्मा से अनन्य होने से अशुद्धता का कारण नहीं होता।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में शेष बातें तो तत्त्वप्रदीपिका के समान ही प्रस्तुत करते हैं; किन्तु उत्थानिका और निष्कर्ष को बदल देते हैं, नकारात्मक बात को सकारात्मक रूप से प्रस्तुत कर देते हैं। तत्त्वप्रदीपिका की उत्थानिका और निष्कर्ष वाक्य में कहा गया है कि आत्मा का ध्यान **अशुद्धता का कारण नहीं है।** इसके स्थान पर तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है कि **शुद्धात्मा के ध्यान से जीव विशुद्ध होता है।**

इसके उपरान्त वे **किंच** कहकर चार प्रकार के ध्यानों की चर्चा करते हैं। ध्यान के चार प्रकारों को भी वे तीन प्रकार से प्रस्तुत करते हैं।

१. प्रथम प्रकार में ध्यान, ध्यान सन्तान, ध्यान चिन्ता और ध्यान का अन्वयसूचन – इन चार की चर्चा करते हैं। इन्हें स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि एकाग्रचित्तानिरोध ध्यान है और वह शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है।

अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान और फिर अन्तर्मुहूर्त तक तत्त्वचिन्तन। इसीप्रकार निरन्तर ध्यान फिर चिन्तन, फिर ध्यान और फिर चिन्तन – इसप्रकार की स्थिति **ध्यानसंतान** है।

जहाँ ध्यान सन्तान के समान ध्यान का परिवर्तन तो नहीं है, पर ध्यान संबंधी चिन्तन है। कभी-कभी ध्यान भी होता है। इस स्थिति को **ध्यानचिन्ता** कहते हैं।

जहाँ बारह भावना आदि वैराग्यरूप चिन्तन हो, वह **ध्यानान्वयसूचन** है।

२. दूसरे प्रकार में ध्याता, ध्यान, ध्यान का फल और ध्येय – इन चार रूपों को प्रस्तुत करते हैं। ३. तीसरे प्रकार में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के रूप में ध्यान को प्रस्तुत करते हैं।

इस गाथा में ध्याता का स्वरूप बताया गया है। कहा गया है कि जिन्होंने मिथ्यात्व का नाश कर दिया है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त कर लिया है; वे भव्यजीव जब विषयों से विरक्त होकर, मन का निरोध करके, स्वभाव में स्थित होते हैं; तब वे आत्मा का ध्यान करनेवाले ध्याता संत होते हैं।

मन के निरोध को यहाँ सागर के मध्य में स्थित जहाज पर बैठे पक्षी के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है। पानी का जहाज जब सागर के किनारे पर था; तब उस पर एक पक्षी बैठ गया। जहाज चल पड़ा और सागर के मध्य में पहुँच गया। अब पक्षी उड़कर जावे तो जावे कहाँ; क्योंकि दूर-दूर तक न कोई पेड़-पौधे दिखाई देते हैं; न मकान।

अत: वह मन मारकर जहाज पर ही बैठा रहता है। यदि उड़ता भी है तो फिर लौटकर जहाज पर ही आना पड़ता है; क्योंकि अन्य आश्रय का अभाव है।

महाकवि सूरदासजी ने भी लिखा है – **जैसे उड़ि जहाज कौ पंक्षी फिर जहाज पर आवे**

इसीप्रकार उक्त तत्त्वज्ञान के आधार पर जब यह जान लिया जाता है कि अपने आत्मा को छोड़कर अन्य कोई पदार्थ आश्रय करने योग्य नहीं है, ध्यान करने योग्य नहीं है; क्योंकि उनके ध्यान से अशान्ति के अतिरिक्त कुछ भी हाथ लगनेवाला नहीं है; तब मन अन्य आश्रय का अभाव होने से आत्मा में ही लगता है। यदि मन कहीं जाता भी है तो फिर लौटकर आत्मा पर ही आता है।

वस्तुत: बात यह है कि वास्तविक सुख-शान्ति आत्मा के आश्रय में ही है, आत्मा के ज्ञान-ध्यान में ही है; अत: एकमात्र आश्रय करने योग्य भी आत्मा ही है ।।१९६।।

विगत गाथा में ज्ञानी श्रावक और मुनिराजों के होनेवाले ध्यान की चर्चा करके अब इन आगामी गाथाओं में **सर्वज्ञ भगवान के ध्यान की चर्चा करते हैं; यह बताते हैं कि केवलज्ञानी किसका ध्यान करते हैं?** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथोपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमासूत्रयति। अथैतदुपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी ध्यायतीत्युत्तरमासूत्रयति –

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ।।१९७।।
सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ।।१९८।।

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः।
ज्ञेयान्तगतः श्रमणो ध्यायति कमर्थमसंदेहः ।।१९७।।
सर्वाबाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः।
भूतोऽक्षातीतो ध्यायत्यनक्षः परं सौख्यम् ।।१९८।।

लोको हि मोहसद्भावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकसद्भावे च सतृष्णत्वादप्रत्यक्षार्थत्वानवच्छिन्नविषयत्वाभ्यां चाभिलषितं जिज्ञासितं संदिग्धं चार्थं ध्यायन् दृष्टः, भगवान् सर्वज्ञस्तु निहतघनघातिकर्मतया मोहाभावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकाभावे च निरस्ततृष्णत्वात्प्रत्यक्षसर्वभावतत्त्व-

---

(हरिगीत)

घन घातिकर्म विनाश कर प्रत्यक्ष जाने सभी को।
संदेहविरहित ज्ञेय ज्ञायक ध्यावते किस वस्तु को ।।१९७।।
अतीन्द्रिय जिन अनिन्द्रिय अर सर्व बाधा रहित हैं।
चहुँ ओर से सुख–ज्ञान से समृद्ध ध्यावे परमसुख ।।१९८।।

घनघातिकर्मों के नाशक, सर्व पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञाता और ज्ञेयों के पार को प्राप्त करनेवाले, सम्पूर्ण ज्ञेयों को जाननेवाले संदेह रहित श्रमण अर्थात् अरहंत भगवान किस पदार्थ का ध्यान करते हैं।

अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत हुआ सर्वबाधारहित परिपूर्ण सुख से और सम्पूर्ण ज्ञान से समृद्ध आत्मा अर्थात् अरहंत भगवान परमसुख का ध्यान करते हैं।

उक्त गाथाओं का भाव आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"मोह का और ज्ञानशक्ति के प्रतिबंधक का सद्भाव होने से, तृष्णा सहित होने से और उनके प्रत्यक्षज्ञान का अभाव होने से, लौकिकजन अपने विषय को भी स्पष्टरूप से नहीं जानते; इसकारण वे लौकिक जन, जिनकी अभिलाषा हो – ऐसे अभिलषित, जिनको जानने की इच्छा हो – ऐसे जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थों का ध्यान करते हुये दिखाई देते हैं; परन्तु घाति कर्मों के अभाव से मोह का अभाव और ज्ञानशक्ति के प्रतिबंधक का

ज्ञेयान्तगतत्वाभ्यां च नाभिलषित, न जिज्ञासति, न संदिह्यति च, कुतोऽभिलषितो जिज्ञासित: संदिग्धश्चार्थ:। एवं सति किं ध्यायति ।।१९७।।

अयमात्मा यदैव सहजसौख्यज्ञानबाधायतनानामसार्वदिक्कासकलपुरुषसौख्यज्ञानायतनानां चाक्षाणामभावात्स्वयमनक्षत्वेन वर्तते तदैव परेषामक्षातीतो भवन् निराबाधसहजसौख्यज्ञानत्वात् सर्वाबाधवियुक्त:, सार्वदिक्कसकलपुरुषसौख्यज्ञानपूर्णत्वात्समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यश्च भवति। एवंभूतश्च सर्वाभिलाषजिज्ञासासंदेहासंभवेऽप्यपूर्वमनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति। अनाकुलत्वसंगतैकाग्रसंचेतनमात्रेणावतिष्ठत इति यावत्। ईदृशमवस्थानं च सहजज्ञानानन्दस्वभावस्य सिद्धत्वस्य सिद्धिरेव ।।१९८।।

अभाव होने के कारण, तृष्णा नष्ट हो जाने के कारण सर्वज्ञ भगवान ने समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लिया है अर्थात् ज्ञेयों के पार को प्राप्त कर लिया है; इसलिए वे सर्वज्ञ भगवान अभिलाषा नहीं रखते, उन्हें जिज्ञासा और संदेह नहीं होता; तब फिर उनके अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कैसे हो सकते हैं ?

यदि ऐसा है तो फिर वे क्या ध्याते हैं, किसका ध्यान करते हैं ?

सहज सुख और ज्ञान की बाधक तथा अपूर्ण और असर्वांग सुख व ज्ञान की आयतन इन्द्रियों के अभाव के कारण जब यह आत्मा स्वयं अनिन्द्रियरूप से वर्तता है; उसी समय दूसरों को इन्द्रियगोचर वर्तता हुआ निराबाध सहजसुख और ज्ञानवाला होने से सर्वबाधा रहित और सर्वप्रकार के सुख और ज्ञान से परिपूर्ण होने से सुख और ज्ञान से समृद्ध होता है।

इसप्रकार यह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और संदेह का असंभव होने पर भी अपूर्व और अनाकुलत्व लक्षण परम सौख्य का ध्यान करता है अर्थात् अनाकुलता के साथ रहनेवाले एक आत्मारूपी विषय के अनुभवनरूप ही स्थित रहता है। इसप्रकार स्थित रहना, सहजज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है – ऐसे सिद्धत्व की प्राप्ति ही है।''

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव सोदाहरण इसप्रकार समझाते हैं –

''जिसप्रकार कोई देवदत्त नामक पुरुष विषयसुख की प्राप्ति के लिए किसी विद्या की आराधनारूप ध्यान करता है; किन्तु जब विद्या सिद्ध हो जाती है और वाञ्छित विषयसुख भी मिल जाता है तो फिर वह उस विद्या की आराधनारूप ध्यान नहीं करता।

उसीप्रकार केवली भगवान केवलज्ञानरूप विद्या की प्राप्ति के लिए और उसके फलस्वरूप अनंतसुख की प्राप्ति के लिए छद्मस्थ दशा में शुद्धात्मा की भावनारूप ध्यान करते थे। अब उस ध्यान से केवलज्ञानरूप विद्या सिद्ध हो गई है तथा उसके फलस्वरूप अनंतसुख भी प्राप्त हो गया है; तब वे किसलिए ध्यान करते हैं अथवा किस पदार्थ का ध्यान करते हैं – शिष्य की ओर से ऐसा प्रश्न है अथवा ऐसा आक्षेप है।

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति –

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।।१९९।।

इस प्रश्न या आक्षेप का दूसरा कारण भी है – पदार्थ के परोक्ष होने पर ध्यान होता है, पर केवली भगवान के तो सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, तब ध्यान कैसे करते हैं ?

इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि वे केवली भगवान अतीन्द्रिय अनंत आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सुख का ध्यान करते हैं, अनुभव करते हैं, उसरूप परिणमन करते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि केवली भगवान के अन्य विषय में चिन्ता का निरोध लक्षण ध्यान नहीं है; किन्तु इस परमसुख के अनुभव को अथवा ध्यान के कार्यभूत कर्मों की निर्जरा को देखकर, उन्हें ध्यान है – ऐसा उपचार से कहा जाता है। सयोग केवली के तीसरा शुक्लध्यान और अयोग केवली के चौथा शुक्लध्यान होता है – ऐसा जो कथन है, उसे उपचार से किया गया कथन जानना चाहिए – ऐसा गाथा का अभिप्राय है।''

उक्त गाथाओं और उनकी टीकाओं में अनेक युक्तियों से इस शंका का समाधान किया गया है कि अरहंत भगवान के न तो अभिलाषा है, न जिज्ञासा है और न किसी भी प्रकार का संदेह ही रहा है; क्योंकि वे वीतरागी और सर्वज्ञ हैं। वीतरागी होने से अभिलाषा नहीं है और सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लेने से जिज्ञासा और सन्देह नहीं हो सकते। इसप्रकार जब कोई कमी नहीं है तो वे ध्यान किसलिए करते हैं और किसका ध्यान करते हैं ?

उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि वे सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए परमसुख का ध्यान करते हैं। आचार्य जयसेन के अनुसार यह कथन उपचरित कथन है; क्योंकि अनंत अतीन्द्रिय सुख प्राप्त हो जाने से वस्तुतः उन्हें ध्यान होता ही नहीं है; परन्तु आगम में ऐसा कहा गया है कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान के अन्तिम दो पाये पाये जाते हैं।।१९७-१९८।।

'जब केवली भगवान को अभिलाषा, जिज्ञासा और सन्देह नहीं है तो फिर वे ध्यान किसलिए करते हैं और किसका करते हैं' – यह प्रश्न और इसका उत्तर विगत गाथाओं में दिया गया है; अब इस गाथा में यह कहते हैं कि **मोक्षमार्ग शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप ही है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निर्वाण पाया इसी मग से श्रमण जिन जिनदेव ने।
निर्वाण अर निर्वाणमग को नमन बारंबार हो।।१९९।।

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्ग समुत्थिताः श्रमणाः।
जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ॥१९९॥

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थंकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूबुः, न पुनरन्यथापि। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो, न द्वितीय इति।

अलं च प्रपञ्चेन। तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तानां सिद्धानां तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्यभावकविभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु।

अवधारितो मोक्षमार्गः, कृत्यमनुष्ठीयते ॥१९९॥

जिन, जिनेन्द्र और श्रमण अर्थात् सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली और मुनिगण पूर्वोक्त मार्ग में आरूढ होकर ही सिद्ध हुए हैं; उन्हें और उक्त निर्वाणमार्ग को नमस्कार हो।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"सभी सामान्य चरमशरीरी, चरमशरीरी तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु यथोक्त शुद्धात्मप्रवृत्ति है लक्षण जिसका – ऐसी विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं; किसी अन्य विधि से आजतक कोई भी सिद्ध नहीं हुआ। इससे निश्चित होता है कि यह एक ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई नहीं। अधिक प्रपंच (विस्तार) से क्या लाभ है ? उस शुद्धात्मतत्त्व में प्रवर्तित सिद्धों को तथा शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को, जिसमें भाव्य और भावक का विभाग अस्त हो गया है – ऐसा नोआगमभावनमस्कार हो।

इसप्रकार मैंने मोक्षमार्ग निर्धारित किया है और मैं उसमें प्रवर्तन कर रहा हूँ।"

उक्त कथन में ध्यान देने की बात यह है कि गाथा में जिन, जिनेन्द्र और श्रमण शब्द आये हैं; जिनका सामान्य अर्थ चरमशरीरी सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली तथा चरमशरीरी और अचरमशरीरी सभी मुनिराज तो हो सकता है; परन्तु यहाँ 'श्रमण' शब्द से अचरमशरीरी अर्थात् उसी भव से मोक्ष नहीं जानेवाले मुमुक्षु भी लिये गये हैं; जिनमें ज्ञानी श्रावक और मुनिराज – सभी आ जाते हैं। साथ में यह लिखा है कि ये सभी शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग से सिद्ध हुए हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही संभव है कि जो अचरमशरीरी हैं; वे सिद्ध कैसे हो सकते हैं ?

आचार्य जयसेन के चित्त में भी यह प्रश्न खड़ा हुआ होगा कि अचरमशरीरियों को सिद्धपना कैसे घटित हो सकता है। यही कारण है कि उन्होंने इसप्रकार की शंका उपस्थित कर उसका निम्नलिखितानुसार समाधान प्रस्तुत किया है –

अथोपसंपद्ये साम्यमिति पूर्वप्रतिज्ञां निर्वहन् मोक्षमार्गभूतां स्वयमपि शुद्धात्मप्रवृत्तिमासूत्रयति –

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि ॥२००॥

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे ॥२००॥

"उसी भव से मोक्ष नहीं जानेवाले अचरम शरीरियों के सिद्धपना कैसे संभव है? यदि कोई ऐसा प्रश्न करे तो उसका उत्तर आगम में इसप्रकार दिया गया है –

तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥

तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, संयम से सिद्ध, चारित्र से सिद्ध, ज्ञान और दर्शन से सिद्ध हुए भगवन्तों को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

इसप्रकार उक्त गाथा में कहे गये क्रम से एकदेश सिद्धता अचरम-शरीरी जीवों के भी मानी गई है।"

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की अंतमंगलाचरणरूप इस गाथा में मुक्तात्माओं और मुक्तिमार्ग को नमस्कार किया गया है। टीका में इस बात पर बल दिया गया है कि मुक्तिमार्ग शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप है और आजतक जो सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे; वे सभी इसी मार्ग से मुक्त हुए हैं। मैं भी इसी मार्ग पर चलकर निर्विकल्परूप से सिद्ध भगवन्तों और मुक्तिमार्ग को नमस्कार कर रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि मेरा यह नमस्कार भेदरूप द्रव्यनमस्कार नहीं है, अपितु अभेदरूप भावनमस्कार है ॥१९९॥

विगत गाथा में सिद्ध भगवान और मोक्षमार्ग को नमस्कार करके एक प्रकार से ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार का अन्तमंगल कर दिया है।

अब इस गाथा में आचार्यदेव **५वी गाथा में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार निर्ममत्व में स्थित होकर ममता के त्याग का संकल्प करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इसलिए इस विधि आतमा ज्ञायकस्वभावी जानकर।
निर्ममत्व में थित मैं सदा ही भाव ममता त्याग कर ॥२००॥

अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावत्मतत्त्वपरिज्ञानपुरस्सरममत्वनिर्ममत्वहानोपादानविधानेन कृत्यान्तरस्याभावात्सर्वारम्भेण शुद्धात्मनिर्वृत्ति प्रवर्ते। तथाहि –

अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव संबंधः, न पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः संबंधाः। ततो मम न क्वचनापि ममत्वं, सर्वत्र निर्ममत्वमेव।

अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबंधस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव स्थित्या स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय

शुद्धात्मा में प्रवृत्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है; इसकारण मैं आत्मा को स्वभाव से ज्ञायक जानकर निर्ममत्व में स्थित रहता हुआ ममता का परित्याग करता हूँ।

इस गाथा के भाव को आ. अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक, ममत्व की त्यागरूप और निर्ममत्व के ग्रहणरूप विधि के द्वारा सर्व आरंभ (उद्यम) से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ; क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है। अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं–

प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के समस्त पदार्थों के साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण संबंध ही है; किन्तु स्व-स्वामि लक्षणादि संबंध नहीं हैं; इसलिए मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है, मैं तो सर्वत्र निर्ममत्व ही हूँ।

एक ज्ञायक भाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त भूत, वर्तमान और भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले अगाध स्वभाव और गंभीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को; मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों; कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों और प्रतिबिम्बित हुए हों; इसप्रकार एक क्षण में ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है, ज्ञेय-ज्ञायक संबंध की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी जो शुद्धात्मा अनंतशक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता; जो अनादि संसार से इसी स्थिति में ज्ञायकभावरूप ही रहा है और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना-माना

यथास्थितमेवातिनि:प्रकम्प: संप्रतिपद्ये। स्वयमेव भवतु चास्यैवं दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरतत्वातसाधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कार: ।।२००।।

जाता रहा है; उस शुद्धात्मा को, यह मैं मोह को उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ जैसा का तैसा ही प्राप्त करता हूँ।

इसप्रकार दर्शनविशुद्धिमूलक समस्त ज्ञान में उपयुक्तता के कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत – ऐसे इस आत्मा को तथा सिद्धभूत परमात्माओं को, उसी में एकपरायणतारूप भाव नमस्कार सदा ही स्वयमेव हो।''

इस गाथा और उसकी टीका में समागत भाव का सारांश यह है कि आत्मार्थी के लिए आत्मपरिज्ञानपूर्वक निर्ममत्व होकर शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करनेयोग्य नहीं है।

आचार्यदेव घोषणा कर रहे हैं कि मेरा समस्त परपदार्थों के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध ही है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई संबंध नहीं। तात्पर्य यह है कि आत्मा का पर के साथ न तो तादात्म्य संबंध है, न स्व-स्वामी संबंध है, न लक्ष्य-लक्षण संबंध है, न गुरु-शिष्य संबंध है, न विशेषण-विशेष्य संबंध है, न गुण-गुणी संबंध है, न वाच्य-वाचक संबंध है, न ग्रहण-ग्राह्य संबंध है, न कर्ता-कर्म संबंध है, न आधार-आधेय संबंध है और न रक्ष्य-रक्षक संबंध है। इसप्रकार आत्मा पर से निर्ममत्व ही है।

ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञायकभाव का सर्वज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से समस्त द्रव्य अपने गुण और पर्यायों सहित ज्ञायकभाव में इसप्रकार ज्ञात होते हैं कि मानो वे ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों और प्रतिबिम्बित हो गये हों।

इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक संबंध की अनिवार्यता के कारण गहराई से संबंधित होने पर भी ज्ञायकभाव ज्ञेयों से भिन्न ही है, भिन्न ही रहता है। इसलिए मैं तो निज ज्ञायकभाव को जैसा उसका मूल स्वभाव है, वैसा ही प्राप्त करता हूँ।

यद्यपि आचार्यदेव अभी साधु अवस्था में ही हैं; तथापि अपने आत्मा को सिद्धात्माओं के साथ स्थापित करते हैं और कहते हैं कि मेरा यह सिद्धात्माओं को अभेदरूप निर्विकल्प भावनमस्कार है।

(शालिनी छन्द)

जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य।
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ।।१०।।

इसके बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा ऐसी प्राप्त होती है, जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ।।१४।।

(हरिगीत)

सुशुद्धदर्शनज्ञानमय उपयोग अन्तरलीन जिन।
बाधारहित सुखसहित साधु सिद्ध को शत्-शत् नमन ।।१४।।

दर्शन से संशुद्ध, सम्यग्ज्ञानरूप उपयोग से सहित, निर्बाधरूप से स्वरूपलीन सिद्ध व साधुओं को बारम्बार नमस्कार हो।

आचार्य जयसेन की टीका में प्राप्त यह गाथा भी इस अधिकार की अन्तमंगलरूप गाथा है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **३ मूढता आदि २५ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन से शुद्ध, संशय आदि दोषों से रहित सम्यग्ज्ञान से सहित, विकल्परहित स्वरूपलीनतारूप वीतरागचारित्र सहित, निराबाध अनंतसुख में लीन सिद्धों अर्थात् अरहंत-सिद्धों को और सिद्धदशा को साधनेवाले साधुओं अर्थात् आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को मैं भक्तिपूर्वक बारम्बार नमस्कार करता हूँ।**

ध्यान रहे मूल गाथा में सिद्ध और साधुओं का ही उल्लेख है; पर टीका में सिद्ध में अरहंत और सिद्धों को तथा साधुओं में आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को भी ले लिया गया है।

इसप्रकार अब प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार का समापन होने जा रहा है। महाधिकार के अन्त में तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र २ शालिनी और १ वसंततिलका – इसप्रकार कुल ३ छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं –

ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम्।
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ।।११।।

(बसन्ततिलका छन्द)

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।।१२।।

(दोहा)

ज्ञेयतत्त्व के ज्ञान के प्रतिपादक जो शब्द।
उनमें डुबकी लगाकर निज में रहें अशब्द ।।१०।।
शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर जग को कर अब ज्ञेय।
स्वपरप्रकाशक ज्ञान ही एकमात्र श्रद्धेय ।।११।।

इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझानेवाले शब्दब्रह्मरूप जैन तत्त्वज्ञान में भलीभांति अवगाहन करके हम मात्र शुद्धात्मद्रव्यरूप एक वृत्ति (परिणति) से सदा युक्त रहते हैं।

यह आत्मा ब्रह्म (परमात्मतत्त्व-सिद्धत्व) को शीघ्र प्राप्त करके असीम विश्व को शीघ्रता से एकसमय में ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ और ज्ञान को आत्मारूप करता हुआ दैदीप्यमान हो रहा है।

उक्त छन्दों में आचार्य अमृतचन्द्रदेव कह रहे हैं कि मैं इस जिनप्रवचन के सारभूत प्रवचनसाररूप जिनवाणी में अवगाहन करके ज्ञेयतत्त्व को भलीभाँति समझकर निजात्मरमणतारूप परिणमित हो रहा हूँ। इसप्रकार मेरा यह आत्मा परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर, सम्पूर्ण विश्व को ज्ञेय रूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ, ज्ञान को आत्मरूप करता हुआ शोभायमान है।।१०-११।।

इस महाधिकार के अन्त में आने वाले ३ छन्दों में से अन्तिम छन्द इसप्रकार है–

(दोहा)

चरण द्रव्य अनुसार हो द्रव्य चरण अनुसार।
शिवपथगामी बनो तुम दोनों के अनुसार ।।१२।।

चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है – इसप्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं; इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु अर्थात् ज्ञानी श्रावक और मुनिराज मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसप्रकार समापन करते हैं कि मानो ग्रन्थ ही समाप्त हो गया हो। ऐसा लगता है कि वे ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का प्रतिपादन ही इस ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य मानते हैं। यही कारण है कि वे आगामी प्रकरण को चूलिका कहते हैं। उसे वे ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन के समान महाधिकार नहीं देना चाहते।

ज्ञान और ज्ञेयपना आत्मा का मूलस्वभाव है। वह आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है; उसमें ज्ञान नामक गुण भी है और प्रमेयत्व नामक गुण भी है।

आत्मा को समझने के लिए आत्मा के ज्ञानस्वभाव को भी जानना चाहिए और उसके ज्ञेयस्वभाव को भी जानना चाहिए। आत्मा के ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव को जाने बिना आत्मा को सही रूप में समझना संभव नहीं है। अतः उक्त दोनों महाधिकारों में इसकी विस्तार से चर्चा की गई।

इन अधिकारों के परिज्ञानपूर्वक आत्मा के ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव को जानकर ज्ञान-ज्ञेयस्वभावी आत्मा में आचरण करने, रमण करने के लिए अन्त में चरणानुयोग सूचक चूलिका लिखते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि अबतक की सम्पूर्ण चर्चा द्रव्यानुयोग संबंधी थी और अब जो चर्चा होगी, वह चरणानुयोग संबंधी होगी। इस बात का संकेत इस अन्तिम छन्द में दिया गया है। कहा गया है कि आचरण द्रव्यानुयोग के ज्ञान-श्रद्धान पूर्वक तदनुसार होता है और द्रव्य का स्वरूप भी उसमें आचरण करने के लिए, लीन होने के लिए ही जाना जाता है।

इसप्रकार यह छन्द न केवल इस अधिकार का समापन है, अपितु इसमें आगामी अधिकार की सूचना भी है। द्रव्य की चर्चा हुई और अब चारित्र की चर्चा आरंभ होगी।

अगले प्रकरण के प्रथम छन्द की संगति भी इस छन्द से बैठती है; इसलिए **तत्त्वानुसार आचरण और आचरण के अनुसार तत्त्व को ग्रहण करते हुए मोक्षमार्ग में आरोहण करना ही सभी आत्मार्थी बन्धुओं का एकमात्र कर्तव्य है।**

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य जयसेन आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में समागत नामों को स्वीकार करते हुए भी इन अधिकारों के नाम तात्पर्यवृत्ति टीका में क्रमशः सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार और सम्यक्-चारित्राधिकार रखते हैं।

इति तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।।२।।

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार का नाम सम्यग्ज्ञानाधिकार रखने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इस अधिकार में अतीन्द्रिय ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता की चर्चा बहुत विस्तार से की गई है।

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार का नाम सम्यग्दर्शनाधिकार इसलिए रखा गया है कि इसमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को समझे बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

जब उक्त दो अधिकार सम्यग्ज्ञानाधिकार और सम्यग्दर्शनाधिकार हो गये तो फिर चरणानुयोग चूलिका को सम्यक्चारित्राधिकार होना ही था।

ऐसा होने पर भी आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इस ग्रंथ को यहीं समाप्त मान लेते हैं। वे इसका कारण देते हुए टीका की अन्तिम पंक्ति में लिखते हैं कि प्रतिज्ञा की पूर्णता हो जाने से ग्रन्थ की पूर्णता यहाँ ही जानना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र इन महाधिकारों को श्रुतस्कन्ध भी कहते हैं। जैसा कि तत्त्वप्रदीपिका टीका के अन्तिम वाक्य में लिखा गया है कि आचार्य अमृतचन्द्र विरचित प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन नामक द्वितीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ।

इसीप्रकार का वाक्य प्रथम महाधिकार के अन्त में भी पाया जाता है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अंतर्गत ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार समाप्त होता है।

●●●

चरणानुयोगसूचक चूलिका

अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका। तत्र –

(इन्द्रवज्रा छन्द)

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ।।१३।।

मंगलाचरण

(दोहा)

ज्ञान-ज्ञेय को जानकर धर चारित्र महान।
शिवमग की परिपूर्णता पावैं श्रद्धावान ।।

आचार्य अमृतचन्द्र इस चूलिका की टीका के प्रथम वाक्य में ही लिखते हैं कि **यह चूलिका दूसरे के लिए लिखी जा रही है। इससे प्रतीत होता है कि आरंभिक दो महाधिकार आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं के लिए ही लिखे थे और अब यह चूलिका दूसरों के लिए लिखी जा रही है।**

वस्तुतः बात यह है कि चरणानुयोग का प्रकरण होने से इसमें उपदेशात्मक भाषा का प्रयोग है; जबकि पहले दो महाधिकार तत्त्वप्रतिपादक हैं; जिन्हें उत्तम पुरुष (First person) की भाषा में लिखा गया है। यह चरणानुयोग सूचक चूलिका मन्दिर के शिखर और उस पर चढ़ाये गये कलश के समान है। ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव के स्वरूप का निरूपणरूपी मंदिर तो बन चुका है; अब उस पर शिखर बनाना है और उसके भी ऊपर कलश चढ़ाना है।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र इसे महाधिकार के रूप में स्वीकार नहीं करते, इसीकारण वे इसे चूलिका कहते हैं; पर आचार्य जयसेन इसे चारित्र महाधिकार कहते हैं। जो कुछ भी हो; पर इसमें जो विषयवस्तु है; वह अपने आप में अत्यन्त उपयोगी और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

चरणानुयोग सूचक चूलिका की तत्त्वप्रदीपिका टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र जो प्रथम छन्द लिखते हैं, उसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

द्रव्यसिद्धि से चरण अर चरण सिद्धि से द्रव्य।
यह लखकर सब आचरो द्रव्यों से अविरुद्ध ।।१३।।

द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि होती है – यह जानकर शुभाशुभभावरूप कर्मों से अविरत अन्य लोग भी द्रव्य से अविरुद्ध चारित्र का आचरण करो।

आचरणप्रज्ञापनाधिकार

(गाथा २०१ से गाथा २३१ तक)

इति चरणाचरणे परान् प्रयोजयति –

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१।।

उत्थानिका के उक्त कलश का आशय यह है कि नित्यानित्यात्मक आत्मवस्तु का मूल स्वरूप समझे बिना किये गये सदाचरण से पुण्य का बंध तो होगा; पर सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक धारण किये चारित्र का जो फल है, उसकी प्राप्ति नहीं होगी।

इसीप्रकार सदाचरण के बिना वस्तु का स्वरूप समझना संभव नहीं है अथवा सम्यग्दर्शन और ज्ञान हो जाने पर भी चारित्र धारण किये बिना मोक्ष की प्राप्ति होनेवाली नहीं है।

इसलिए यही ठीक है कि **द्रव्य की सिद्धि होने पर ही चारित्र की सिद्धि होती है और चारित्र की सिद्धि हो जाने पर ही द्रव्य की सिद्धि होती है। अत: आत्मा का कल्याण करने की भावना रखनेवाले मुमुक्षु भाइयों को चाहिए कि वे द्रव्य के अनुसार चारित्र धारण करें। तात्पर्य यह है कि द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित आत्मवस्तु के भानपूर्वक चारित्र धारण करें।**

मंगलाचरण

(दोहा)

अनागार आचरण से बनते श्रमण महान।
प्रज्ञापन आचरण को सुनो भविक धरि ध्यान।।

आचार्यदेव उत्थानिका की पहली ही पंक्ति में जो लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है –

"अब दूसरों को चारित्र के आचरण करने में युक्त करते हैं।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि 'परेषां और परान्' शब्दों से यह व्यक्त होता है कि यह चरणानुयोगसूचकचूलिका दूसरों के लिए लिखी गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा को आरंभ करने के पहले पंचपरमेष्ठी का स्मरण करनेवाली इस ग्रंथ के मंगलाचरण की पहली, दूसरी और तीसरी गाथा को उद्धृत करते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सुर असुर इन्द्र नरेन्द्र वंदित कर्ममल निर्मलकरन।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन।।१।।

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ।।२।।
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।।३।।
एवं पणमिय सिद्धे जिणवरसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ।।२०१।।

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान्।
प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ।।२०१।।

अवशेष तीर्थंकर तथा सब सिद्धगण को कर नमन।
मैं भक्तिपूर्वक नमूँ पंचाचारयुत सब श्रमणजन ।।२।।
उन सभी को युगपत तथा प्रत्येक को प्रत्येक को।
मैं नमूँ विदमान मानस क्षेत्र के अरहंत को ।।३।।

जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित हैं तथा जिन्होंने घातिकर्म-रूपी मल को धो डाला है; ऐसे तीर्थरूप और धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमान तीर्थंकर को नमस्कार करता हूँ।

विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थंकरों, सर्वसिद्धों और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार से सहित सभी श्रमणों को नमस्कार करता हूँ।

उन सभी को और मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाई द्वीप में सदा विद्यमान रहनेवाले अरहंतों को समुदायरूप से एकसाथ और व्यक्तिगतरूप से प्रत्येक को अलग-अलग वंदन करता हूँ।

आरंभिक मंगलाचरण की इन गाथाओं की संगति २०१वीं गाथा के आरंभिक एवं शब्द से बिठाई गई है और कहा गया है कि इसप्रकार जिनवरवृषभरूप अरहंत परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी और श्रमणों अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों को नमस्कार करके यदि सांसारिक दुःखों से मुक्त होना चाहते हों तो श्रामण्य को धारण करो। मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है—

(हरिगीत)

हे भव्यजन! यदि भवदुखों से मुक्त होना चाहते।
परमेष्ठियों को कर नमन श्रामण्य को धारण करो ।।२०१।।

हे शिष्यगण! यदि तुम दुःखों से छूटना चाहते हो तो पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धों को, जिनवर वृषभ आदि अरहंतों को तथा श्रमणों को बारम्बार नमस्कार करके श्रामण्य को अंगीकार करो।

यथा ममात्मना दु:खमोक्षार्थिना –

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं।।४।।
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती।।५।।[1]

इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मकनमस्कारपुर:सरं विशुद्धदर्शन-ज्ञानप्रधानं साम्यनाम श्रामण्यमवान्तरग्रन्थसंदर्भोभयसंभावितसौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्नं, परेषामात्मापि यदि दु:खमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यताम्।

यथानुभूतस्य तत्प्रत्तिपत्तिवर्त्मन: प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति।।२०१।।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया है–

“जिसप्रकार दुखों से मुक्ति चाहनेवाले मेरे आत्मा ने –

(हरिगीत)

अरहंत सिद्धसमूह गणधरदेवयुत सब सूरिगण।
अर सभी पाठक साधुगण इन सभी को करके नमन।।४।।
परिशुद्ध दर्शनज्ञानयुत समभाव आश्रम प्राप्त कर।
निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ।।५।।

– इसप्रकार अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को प्रणाम-वंदनात्मक नमस्कार करके विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान साम्य नामक श्रामण्य को, जिस श्रामण्य की इस ग्रंथ में कहे गये ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक दो अधिकारों की रचना द्वारा सुस्थिता हुई है उस श्रामण्य को स्वीकार किया है; उसीप्रकार दूसरों के आत्मा भी, यदि दु:खों से मुक्त होना चाहते हैं तो उस श्रामण्य को अंगीकार करो। उस श्रामण्य को अंगीकार करने का यथानुभूत जो मार्ग है; उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं।”

टीका की अन्तिम पंक्ति को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे किसी शिष्य ने आचार्यदेव से ऐसा प्रश्न किया हो कि – आप जिस श्रामण्य को अंगीकार करने की बात कर रहे हो, क्या वह संभव है ? तन पर वस्त्र नहीं रखना, भोजन नहीं करना, भोजन करने में भी अपने हाथ से बनाने की तो बात ही नहीं; यदि कोई स्वयं के लिए बनाए तो उसमें से भी विधिपूर्वक लेना – क्या यह सब संभव है ?

---

[1] ये गाथाएँ भी इसी ग्रन्थ के मंगलाचरण की गाथाएँ हैं।

तब आचार्यदेव ने इस पंक्ति के रूप में उत्तर दिया हो कि **इस मार्ग के प्रणेता हम खड़े हैं न?** स्वयं को 'प्रणेता' कहकर आचार्यश्री शिष्यों को हिम्मत दे रहे हैं।

हमें ये शब्द सुनकर ऐसा लग सकता है कि ये अभिमान से भरे शब्द हैं; किन्तु ये अभिमान से भरे हुए शब्द न होकर आत्मविश्वास से भरे हुए शब्द हैं अर्थात् शिष्यों में आत्मविश्वास भरनेवाले शब्द हैं।

यह वह पंक्ति है, जिस पंक्ति को पढ़ने के बाद गुरुदेवश्री उछल पड़े थे। वे इन शब्दों पर इतने रीझ गये थे, इतने भावविह्वल हो गये थे कि मानो अमृतचन्द्राचार्य साक्षात् ही उनसे यह कह रहे हों कि तुम्हारें पीछे हम खड़े हैं न, क्यों चिन्ता करते हो ?

ग्रंथारंभ में आचार्यदेव ने पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके मोह और क्षोभ से रहित साम्यभाव धारण करने की प्रतिज्ञा की थी और कहा था कि यह साम्यभाव ही चारित्र है, धर्म है। उक्त चारित्र को धारण करने के लिए जिस तत्त्वज्ञान को जानना अति आवश्यक है; उक्त तत्त्वज्ञान की चर्चा ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकारों में करने के उपरान्त आचार्यदेव **कह रहे हैं कि जिसप्रकार ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व को जान कर पंचपरमेष्ठी के नमस्कारपूर्वक हमने चारित्र धारण किया है; यदि तुम दुखों से छूटना चाहते हो तो; उसीप्रकार ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व को समझ कर पंचपरमेष्ठी के स्मरणपूर्वक तुम भी चारित्र धारण करो; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र धारण किये बिना दुःखों से छुटकारा संभव नही है, मुक्ति प्राप्त करना संभव नहीं है। चारित्र अंगीकार करने में यदि तुम्हें कुछ भय लग रहा हो तो हम तुमसे कहते हैं कि तुम चिन्ता न करो, तुम्हारा मार्गदर्शन करने के लिए मुक्तिमार्ग के प्रणेता-जानकार हम खड़े हैं न !**

देखो, आचार्यदेव की वाणी में कितना आत्मविश्वास और करुणाभाव प्रस्फुटित हो रहा है। वे मात्र इस बात को कहते ही नहीं हैं; अपितु अगली गाथाओं और उनकी टीका में मुनिधर्म धारण करने की विधि भी बताते हैं॥२०१॥

विगत गाथा में कहा गया है कि श्रामण्य को धारण करो और अब इन गाथाओं में बता रहे हैं कि दीक्षा धारण करने के पूर्व दीक्षार्थी को क्या-क्या करना चाहिए। सबसे पहले अपने संबंधियों से छुटकारा पाकर पंचाचार धारण करने के लिए आचार्यदेव के पास जाकर अत्यन्त विनयपूर्वक दीक्षा देने की प्रार्थना करनी चाहिए।

इन गाथाओं में छुटकारा पाने और दीक्षा ग्रहण करने की विधि का ही निरूपण है।

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन् पूर्वं किं किं करोतीत्युपदिशति। अथातः कीदृशो भवतीत्युपदिशति –

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ।।२०२।।
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ।।२०३।।

आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ।।२०२।।
श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम्।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ।।२०३।।

यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति।

तथाहि – एवं बन्धुवर्गमापृच्छते, अहो इदंजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः, अस्य जनस्य

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

वृद्धजन तिय-पुत्र-बंधुवर्ग से ले अनुमति।
वीर्य-दर्शन-ज्ञान-तप-चारित्र अंगीकार कर ।।२०२।।
रूप कुल वयवान गुणमय श्रमणजन को इष्ट जो।
ऐसे गणी को नमन करके शरण ले अनुग्रहीत हो ।।२०३।।

दीक्षार्थी सबसे पहले बन्धुवर्ग से पूँछकर, माता-पिता आदि बड़ों से एवं स्त्री-पुत्रादि से छूटकर; ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करके कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट, गुणाढ्य और श्रमणों को अति इष्ट गणी श्रमण से 'मुझे स्वीकार करो' – ऐसा कहकर प्रणाम करता है और अनुग्रहीत होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए तत्त्वप्रदीपिका टीका में लिखते हैं –

"जो श्रमण होना चाहता है; वह पहले अपने बन्धुवर्ग से पूछता है, विदा लेता है; माता-पिता आदि गुरुजनों (बड़े-बूढों) से और स्त्री-पुत्रादि से अपने को छुड़ाता है और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – वह बन्धुवर्ग से इसप्रकार पूछता है, विदा लेता

आत्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत:, तत आपृष्टा यूयं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति: आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति।

अहो इदंजनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदंजनशरीरजनन्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीत:, तत इममात्मानं युवां विमुञ्चतं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति: आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति।

अहो इदंजनशरीररमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसीति निश्चयेन त्वं जानीहि, तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति: स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पति।

अहो इदंजनशरीरपुत्रस्यात्मन्, अस्य जनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि, तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति: आत्मानमेवात्मनोऽनादिजन्यमुपसर्पति। एवं गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति।

तथा अहो कालविनयोपधानबहुमानानिह्ववार्थव्यञ्जनतदुभयसंपन्नत्वलक्षणज्ञानाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे।

है कि अहो ! इस पुरुष के शरीर के बन्धुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ ! इस पुरुष का आत्मा किंचित्मात्र भी तुम्हारा नहीं है – इसप्रकार तुम निश्चय से जानो। इसलिए मैं तुमसे पूछकर विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादि बन्धु के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के जनक (पिता) के आत्मा ! अहो ! इस पुरुष के शरीर की जननी (माता) के आत्मा ! इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है – ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी जनक-जननी के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर की रमणी (स्त्री) के आत्मा ! तुम इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं कराते – ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि-रमणी के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के पुत्र के आत्मा ! तू इस पुरुष के आत्मा का जन्य (उत्पन्न किया गया पुत्र) नहीं है – ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादि-जन्य (पुत्र) के पास जा रहा है। इसप्रकार यह दीक्षार्थी आत्मा, माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ों से और स्त्री-पुत्रादि से स्वयं को छुड़ाता है।

अहो निःशंङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितत्वनिर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि; तथापि त्वां तावदासीदामि यावत् त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे।

अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि; तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे।

अहो अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गलक्षणतपाचार न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि; तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे।

अहो समस्तेतराचारप्रवर्तकस्वशक्त्यनिगूहनलक्षणवीर्याचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि; तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे।

एवं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति च ॥२०२॥

जिसप्रकार बन्धुवर्ग से विदा ली और माता-पिता स्त्री-पुत्रादि से अपने को छुड़ाया; उसीप्रकार अहो ! काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभय सम्पन्न ज्ञानाचार ! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

अहो ! निःशंकितत्व, निकांक्षित्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावनारूप दर्शनाचार ! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

अहो ! मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत, पंचमहाव्रतसहित काय-वचन-मनगुप्ति और ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापनसमितिरूप चारित्राचार! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

अहो ! अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्गरूप तपाचार! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति। तथाहि – आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं, एवंविधश्रामण्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननि:शंङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टं, अन्तरङ्गशुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभावाद्यौवनोद्रेकविक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्टं, नि:शेषितयथोक्तश्रामण्याचरणाचारणविषयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धया मामनुगृहाणेत्युपसर्पन् प्रणतो भवति। एवमियं ते शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति।।२०३।।

अहो समस्त इतर (वीर्याचार के अतिरिक्त अन्य) आचार में प्रवृत्ति करानेवाली स्वशक्ति के अगोपनरूप वीर्याचार ! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता। इसप्रकार यह दीक्षार्थी ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है।

इसके बाद वह दीक्षार्थी प्रणत और अनुगृहीत होता है। इसका विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है – आचरण करने और करानेवाले समस्त विभूति की प्रवृत्ति के समान आत्मरूप श्रामण्यपने के कारण जो श्रमण है; ऐसे श्रामण्य के आचरण करने और कराने में प्रवीण होने से जो गुणाढ्य हैं; सर्व लौकिक जनों के द्वारा नि:शंकतया सेवा करने योग्य होने से और कुलक्रमागत क्रूरतादि दोषों से रहित होने से जो कुलविशिष्ट हैं; अंतरंग शुद्ध रूप का अनुमान करानेवाला बहिरंग शुद्धरूप होने से जो रूपविशिष्ट हैं; बालकत्व और वृद्धत्व से होनेवाली बुद्धिविक्लवता का अभाव होने से तथा यौवनोद्रेक की विक्रिया से रहित बुद्धि होने से जो वयविशिष्ट हैं; और यथोक्त श्रामण्य का आचरण न कराने संबंधी पौरुषेय दोषों को पूर्णत: नष्ट कर देने से प्रायश्चित्तादि के लिए मुमुक्षुओं द्वारा जिनका बहुत आश्रय लिया जाता है; इसलिए जो श्रमणों को अति इष्ट है – ऐसे गणी के निकट अर्थात् शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के साधक आचार्य के निकट 'शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि के लिए मुझे अनुगृहीत करो' – ऐसा कहकर दीक्षार्थी प्रणत होता है और 'तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि हो' – ऐसा कहकर गणी आचार्य द्वारा अनुगृहीत होता है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र के समान सभी को पृथक्-पृथक् संबोधित तो नहीं करते हैं; तथापि सभी को संबोधित करने की चर्चा सामूहिक रूप से

अवश्य कर देते हैं। विशेष बात यह है कि वे बन्धुवर्ग का अर्थ गोत्रवाले करते हैं और यह भी स्पष्ट करते हैं कि यदि इन सबकी अनुमति बिना दीक्षा लेना संभव नहीं होता हो तो फिर कोई भी दीक्षित ही नहीं हो सकेगा। उनके स्पष्टीकरण का भाव इसप्रकार है –

''यहाँ जो गोत्र आदि के साथ क्षमाभाव का व्याख्यान किया है, वह अतिप्रसंग-अमर्यादा के निषेध के लिए किया है। ऐसा नियम नहीं है कि उनके क्षमाभाव के बिना दीक्षा ही संभव न हो; क्योंकि प्राचीनकाल में भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि अधिकतर राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की थी और उनके परिवार में जो कोई मिथ्यादृष्टि हुए; उन्होंने उन पर उपसर्ग किया था।

दूसरी बात यह है कि यदि वे गोत्रवालों को अपना मानते हैं और उन्हें संतुष्ट करने का यत्न करते हैं तो तपस्वी ही नहीं हैं; क्योंकि दीक्षा लेने पर भी गोत्र आदि में ममकार करते हैं तो वे मुनि ही नहीं हैं।''

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार यह है कि जिसे मुनिधर्म की दीक्षा लेनी है; वह सबसे पहले कुटुम्बीजनों को इसकी जानकारी देवें, माता-पिता और स्त्री-पुत्रादि से अपने को छुड़ावे।

मूल गाथा में आपृच्छ और विमोचित शब्दों का प्रयोग है। उसमें भी ऐसा भेद किया गया है कि बन्धुवर्ग से पूछकर और माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि से छुड़ाकर; आज्ञा लेने की तो बात ही नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि पूछने में से आज्ञा लेने की ध्वनि निकाली जा सकती है, पर उसमें भी एक बात यह है कि पूछने की बात माता-पिता और पत्नी-पुत्र से नहीं है, परिवारवालों से है। आज्ञा की बात होती तो वह माता-पिता से ही हो सकती थी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आज्ञा की बात तो है ही नहीं; अनुमति की बात स्वीकार करने में भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि और कुटुम्बीजनों ने अनुमति नहीं दी तो क्या होगा?

यह प्रश्न सभी टीकाकारों के चित्त को आन्दोलित करता रहा है। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो इसका समाधान अनुमति लेने की भाषा को प्रस्तुत करके दिया है, जिसमें दीक्षार्थी एक प्रकार से सूचना ही देता है; निश्चय से तो उनके साथ किसी भी प्रकार के संबंध को स्वीकार ही नहीं करता। अबतक राग के कारण जो व्यवहारादिक संबंध था; राग टूट जाने से अब वह भी नहीं रहा है। **'इसकारण अब मैं दीक्षा लेने के लिए जा रहा हूँ।' – यह भाषा सूचना देने की भाषा है, न कि आज्ञा माँगने की।**

आचार्य जयसेन ने यह तर्क दिया है कि कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं और विरोधी भी हो सकते हैं; ऐसे में उनकी आज्ञा की शर्त कैसे हो सकती है ? दूसरे जब सभी से राग टूट ही गया है तो फिर उनसे आज्ञा की बात कैसे संभव है ?

इसमें एक प्रश्न और भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि यदि ऐसी बात है तो पूछने की और छुड़ाने की बात करने की भी क्या आवश्यकता है?

इसके उत्तर में यह कहा गया है कि **पूछने और छुड़ाने के बहाने जो वैराग्यमय चर्चा की जायेगी; उससे किसी अन्य कुटुम्बीजन को भी वैराग्य हो सकता है और वह भी दीक्षा ले सकता है। इसलिए उक्त प्रसंग आवश्यक माना गया है।**

एक बात यह भी तो है कि दीक्षा लेने के पहले सबको मर्यादित भाषा में सूचना देना आवश्यक है; अन्यथा घरवाले और परिवारवाले आपके अचानक चले जाने से आकुलित हो सकते हैं, पुलिस में रिपोर्ट लिखा सकते हैं; ऐसी स्थिति में पुलिस उन्हें और उनके गुरु को गिरफ्तार कर सकती है। इन सबसे बचने के लिए सूचना देना तो अत्यन्त आवश्यक है।

आजकल दीक्षा देनेवाले आचार्य दीक्षार्थी के माँ-बाप आदि को बुलाते हैं, सबके सामने उसकी अनुमति लेते हैं; तब दीक्षा देते हैं।

होता तो यह है कि तीव्र राग के कारण माता-पिता और स्त्री-पुत्रादि भी आसानी से अनुमति नहीं देते; आखिर दीक्षा लेनेवाले को उन सबकी उपेक्षा करके ही दीक्षा लेनी पड़ती है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तत्त्वप्रदीपिका टीका में जिसप्रकार बन्धुवर्गादि से अनुमति लेने की भाषा का प्रयोग है; उसीप्रकार की भाषा का प्रयोग पंचाचार के संदर्भ में भी है। उन्हें भी संबोधित करके कहा गया है कि निश्चय से तुम मेरे शुद्धात्मा नहीं हो, तुम्हें मैं तबतक के लिए ही अंगीकार करता हूँ, जबतक शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

ऐसी स्थिति में विचारणीय बात यह है कि ध्यानतप जैसे धर्म को भी तबतक के लिए स्वीकार किया जा रहा है, जबतक शुद्धात्मा की उपलब्धि नहीं हो जाती। तो क्या ध्यान नामक तपाचार के काल में भी शुद्धात्मा उपलब्ध नहीं है ?

इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि **उक्त पंचाचारों को व्यवहार पंचाचार या शुभभावरूप पंचाचार या शुभक्रियारूप पंचाचार के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए; निश्चय पंचाचार के रूप में नहीं ।।२०२-२०३।।**

अथातोऽपि कीदृशो भवतीत्युपदिशति –

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ।।२०४।।

नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति ममेह किंचित्।
इति निश्चितो जितेन्द्रिय: जातो यथाजातरूपधर: ।।२०४।।

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति। तथाहि – अहं तावन्न किंचिदपि परेषां भवामि परेऽपि न किंचिदपि मम भवन्ति, सर्वद्रव्याणां परै: सह तत्त्वत: समस्तसंबंधशून्यत्वात्। तदिह षड्द्रव्यात्मके लोके न मम किंचिदप्यात्मनोऽन्यदस्तीति निश्चितमति: परद्रव्यस्वस्वामिसंबंधनिबंधनानामिन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च सन् धृतयथानिष्पन्नात्मद्रव्यशुद्धरूपत्वेन यथाजातरूपधरो भवति ।।२०४।।

विगत गाथाओं में दीक्षा लेने की आरंभिक क्रिया-प्रक्रिया का निरूपण कर अब इस गाथा में दीक्षित साधु का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

रे दूसरों का मैं नहीं ना दूसरे मेरे रहे।
संकल्प कर हो जितेन्द्रिय नग्नत्व को धारण करें ।।२०४।।

'मैं दूसरों का नहीं, दूसरे पदार्थ मेरे नहीं है; इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है' – ऐसा वस्तुस्वरूप निश्चित किया है जिसने, वह दीक्षार्थी जितेन्द्रिय होता हुआ, यथाजातरूपधर अर्थात् जैसा नग्न दिगम्बर पैदा हुआ था, वैसा ही नग्न दिगम्बर रूप धारण करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"उसके बाद वह दीक्षार्थी यथाजातरूपधर होता है। तात्पर्य यह है कि वह सभी वस्त्राभूषण का त्याग कर नग्न दिगम्बर वेष धारण कर लेता है।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

'प्रथम तो मैं किंचित्मात्र भी पर का नहीं हूँ और परपदार्थ भी किंचित्मात्र मेरे नहीं हैं; क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से सभी पदार्थ पर के साथ के संबंध से रहित हैं।

'इसलिए इस षड्द्रव्यात्मक लोक में आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है' – इसप्रकार व्यवस्थित हुई है बुद्धि जिसकी और जो परद्रव्यों के साथ स्व-स्वामी संबंध जिनका आधार है – ऐसी इन्द्रियों और नोइन्द्रियों के जीतने से जितेन्द्रिय हुआ है; वह दीक्षार्थी आत्मद्रव्य का स्वाभाविक शुद्धरूप धारण करने से यथाजातरूपधर होता है अर्थात् नग्न दिगम्बर दशा को धारण करता है।"

अथैतस्य यथाजातरूपधरत्वस्यासंसारानभ्यस्तत्वेनात्यन्तमप्रसिद्धस्याभिनवाभ्यासकौशलोपलभ्यमानायाः सिद्धेर्गमकं बहिरङ्गान्तरङ्गलिङ्गद्वैतमुपदिशति –

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥२०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥२०६॥

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं शुद्धम्।
रहितं हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिङ्गम्॥२०५॥
मूर्च्छारम्भवियुक्तं युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम्।
लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम्॥२०६॥

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो दीक्षार्थी परपदार्थों से एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि तोड़कर अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में ही अपनापन स्थापित कर; उसमें ही जम जाता है, रम जाता है और तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान नग्न दिगम्बर दशा को धारण करता है; वह दीक्षार्थी ही मुक्तिपद को प्राप्त करता है॥२०४॥

इन २०५ व २०६वीं गाथाओं की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **अब अनादि संस्कार से अनभ्यस्त होने से जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है और नये प्रयास के अभ्यास की कुशलता से जो उपलब्ध होता है – उस यथाजातरूपधरपने के बहिरंग और अंतरंग – इन दो लिंगों का उपदेश करते हैं।** तात्पर्य यह है कि इन गाथाओं में द्रव्यलिंग और भावलिंग की चर्चा करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शृंगार अर हिंसा रहित अर केशलुंचन अकिंचन।
यथाजातस्वरूप ही जिनवरकथित बहिलिंग है॥२०५॥
आरंभ-मूर्छा से रहित पर की अपेक्षा से रहित।
शुध योग अर उपयोग से जिनकथित अंतरलिंग है॥२०६॥

श्रमण का बाह्यलिंग (द्रव्यलिंग) सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लोंच वाला और जन्म के समय के रूप जैसे रूपवाला, शुद्ध, हिंसादि से रहित और शारीरिक शृंगार से रहित होता है।

5487

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभाव:, तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसनभूषणधारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्वं च भवत्येव, तदेतद्बहिरंगं लिंगम्।

तथात्मनो यथाजातरूपधरत्वापसारिता यथाजातरूपधरत्वप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावानामभावादेव तद्भावभाविनो ममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य शुभाशुभोपरक्तोपयोगतत्पूर्वकतथाविधयोगाशुद्धियुक्तत्वस्य परद्रव्यसापेक्षत्वस्य चाभावान्मूर्च्छारम्भवियुक्तत्वमुपयोगयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरंगं लिंगम्॥२०५-२०६॥

मूर्च्छा और आरंभ से रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से सहित, पर की अपेक्षा रहित – ऐसा जिनेन्द्रदेव कथित अंतरंग लिंग (भावलिंग) मोक्ष का कारण है।

आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यथोक्त क्रम से जो स्वयं यथाजातरूपधर हुए हैं; उनके अयथाजातरूपधरपने के कारणभूत मोह-राग-द्वेषादि भावों का अभाव होता ही है और उनके अभाव के कारण; जो कि उनके सद्भाव में होते थे – ऐसे १. वस्त्राभूषण का धारण, २. सिर और दाढ़ी-मूछों के बालों का रक्षण, ३. परिग्रह का होना, ४. सावद्य योग से युक्त होना और ५. शारीरिक संस्कार (शृंगार) का करना – इन पाँचों का अभाव भी होता ही है।

इसकारण १. जन्म के समय जैसा नग्नरूप, २. सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लुंचन, ३. शुद्धत्व (अपरिग्रहरूप दशा), ४. हिंसादि पापों से रहितपना और ५. शारीरिक शृंगार का अभाव भी होता ही है; इसलिए यह बहिर्लिंग है।

आत्मा यथाजातरूपधरपने से दूर किये गये अयथाजातरूपधरपने के कारणभूत मोह-राग-द्वेषादि भावों का अभाव होने से, जो उनके सद्भाव में होते थे – ऐसे १. ममत्व और कार्य की जिम्मेदारी लेने के परिणाम, २. शुभाशुभ से उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योग की अशुद्धि से युक्तता तथा ३. परद्रव्य से सापेक्षता – इन तीनों का अभाव होता है; इसलिए उस आत्मा के १. मूर्च्छा और आरंभ से रहितता, २. उपयोग और योग की शुद्धता और ३. पर की अपेक्षा से रहितता होती ही है; इसलिए यह अंतरंग लिंग है।"

द्रव्यलिंग और भावलिंग के संबंध में हमारी बहुत गलत धारणाएँ हैं। 'द्रव्यलिंग' शब्द सुनते ही हमें ऐसा लगने लगता है जैसे मुँह में कड़वाहट-सी आ गई हो। द्रव्यलिंग हमें

बिल्कुल हेय लगता है और भावलिंग साक्षात् मोक्षस्वरूप ही प्रतीत होता है; लेकिन हमें **यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति द्रव्यलिंग और भावलिंग – दोनों के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता।**

सिद्धचक्रमहामण्डलविधान की जयमाला में कहा है –

भावलिंग बिन कर्म खिपाई, द्रव्यलिंग बिन शिवपद जाई।
यो अयोग कारज नहीं होई, तुम गुण कथन कठिन है सोई ।।

हे भगवन् ! द्रव्यलिंग के बिना कोई मोक्ष चला जाय और भावलिंग के बिना कर्मों का नाश हो जाय – जिसप्रकार यह असंभव है; उसीप्रकार तुम्हारें गुणों का कथन करना भी कठिन है। जब मोक्ष के लिए दोनों ही लिंग अनिवार्य हैं, तब एक बुरा और दूसरा अच्छा – यह कैसे हो सकता है ?

यदि कोई कहे कि शास्त्रों में तो द्रव्यलिंगी मुनियों की बहुत निंदा की गई है।

अरे भाई ! जहाँ द्रव्यलिंगी मुनियों की निंदा की बात आती है, वह भावलिंग के बिना जो द्रव्यलिंग है, उसकी निंदा है; भावलिंग के साथ जो द्रव्यलिंग है, उसकी नहीं। वस्तुतः द्रव्यलिंग और भावलिंग तो साथ-साथ ही होते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जिसप्रकार भावलिंग के बिना होनेवाले द्रव्यलिंग की निंदा होती है; उसीप्रकार द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग की भी निंदा होनी चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता।

इसका उत्तर यह है कि **द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग होता ही नहीं है; पर द्रव्यलिंग भावलिंग के बिना हो जाता है।** जब हम किसी को भावलिंगी कहते हैं, तब उसका अर्थ यह होता है कि वह भावलिंगी तो है ही, द्रव्यलिंगी भी है। यही कारण है कि शास्त्रों में भावलिंग की निंदा नहीं है।

इस संबंध में दूसरा विवेचनीय बिन्दु यह है कि **द्रव्यलिंग बाह्यक्रिया का नाम है और श्रामण्य के लिए उसका होना भी अनिवार्य है।** शरीर की नग्नता आदि क्रिया संबंधी भाव, शुभभाव हैं और भावलिंग शुद्धोपयोगरूप है, शुद्धपरिणतिरूप है। यद्यपि द्रव्यलिंग के बिना मोक्ष नहीं होता, तथापि द्रव्यलिंग से भी मोक्ष नहीं होता; क्योंकि **द्रव्यलिंग तो जड़ की क्रिया और शुभभावरूप है और मोक्ष जड़ की क्रिया और शुभभावों से नहीं होता।**

गाथा २०५ में द्रव्यलिंग का जो स्वरूप कहा है, उसमें जो 'यथाजातरूप' कहा है; उसका

तात्पर्य यह है कि जैसा माँ के पेट से जन्म लिया था, वैसा ही रूप। उस रूप के साथ एक लंगोट भी नहीं रख सकते।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मुक्तिमार्ग में इन दोनों का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; पर बात यह है कि शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणतिरूप होने से भावलिंग मुक्ति का साक्षात् कारण है, निश्चयकारण है। **यद्यपि शुभक्रिया और शुभभावरूप होने से द्रव्यलिंग साक्षात् कारण नहीं है, निश्चय कारण नहीं है; तथापि भावलिंग का सहचारी होने से उपचरित कारण है, परम्परा कारण है, व्यवहार कारण है और मुक्तिमार्ग में उसका होना भी अनिवार्य है।**

मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्मों के अभावरूप शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग का नाम भावलिंग है और छटवें गुणस्थान के योग्य पंचमहाव्रतादि के शुभभाव और आगमानुसार नग्न दिगम्बर दशा आदि निर्दोष आचरण का नाम द्रव्यलिंग है।

छटवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलनेवाले मुनिराज और इससे भी ऊपर चौदहवें गुणस्थान तक के सभी मुनिराज भावलिंगी हैं और द्रव्यलिंगी भी हैं। ध्यान रहे अरहंत भगवान भी स्नातक निर्ग्रन्थ मुनिराज ही हैं।

जिन मुनिराजों के बाह्याचरण और शुभभाव तो जिनागमानुसार हों, पर मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायों का अभाव न हो, उन्हें मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी कहते हैं।

जिनके बाह्याचरण और शुभभाव भी आगमानुसार हो और मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायों का अभाव भी हो; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों का अभाव नहीं हो; वे चौथे गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगी हैं।

इसीप्रकार जिनके बाह्याचरण और शुभभाव आगमानुसार हैं और मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव है, पर प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव नहीं है; वे पंचमगुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी हैं।

जिनके बाह्याचरण और शुभभाव भी छटवें गुणस्थान की भूमिका के योग्य हैं और मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों का भी अभाव है; वे सभी भावलिंगी संत हैं।

जिनके न तो मिथ्यात्व व कषायों का अभाव है और न आगमानुसार आचरण ही है; वे न तो द्रव्यलिंगी हैं, न भावलिंगी। उन्हें द्रव्यलिंगी कहना द्रव्यलिंग का अपमान है।

अथैतदुभयलिंगमादायैतदेतत्कृत्वा च श्रमणो भवतीति भवतिक्रियायां बन्धुवर्गप्रच्छनक्रियादिशेषसकलक्रियाणां चैककर्तृकत्वमुद्योतयन्नियता श्रामण्यप्रतिपत्तिर्भवतीत्युपदिशति–

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ।।२०७।।

आदाय तदपि लिंगं गुरुणा परमेण तं नमस्कृत्य।
श्रुत्वा सव्रतां क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमणः ।।२०७।।

ततोऽपि श्रमणो भवितुमिच्छन् लिंगद्वैतमादत्ते, गुरुं नमस्यति, व्रतक्रिये शृणोति, अथोपतिष्ठते, उपस्थितश्च पर्याप्तश्रामण्यसामग्रीकः श्रमणो भवति।

आचार्य कुन्दकुन्द भावपाहुड में धर्मविहीन श्रमणों को नटश्रमण कहते हैं और उनके भेष को गन्ने के फूल के समान बताया है, जिन पर न तो फल ही लगते हैं और न जिनमें गंध ही होती है।[1]

अरे भाई ! यह बात शास्त्राधार से गहराई से समझने की है, इसमें किसी भी प्रकार का हठ ठीक नहीं है। यह विषय अत्यन्त संवेदनशील विषय है; अतः इसके प्रतिपादन में विशेष सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है ।।२०५-२०६ ।।

विगत गाथाओं में द्रव्यलिंग और भावलिंग का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि दीक्षार्थी गुरुमुख से द्रव्यलिंग और भावलिंगरूप मुनिधर्म का स्वरूप सुनकर, समझकर; उन्हें विनयपूर्वक नमस्कार करके मुनिधर्म अंगीकार करता है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो परमगुरु नम लिंग दोनों प्राप्त कर व्रत आचरें।
आत्मथित वे श्रमण ही बस यथायोग्य क्रिया करें ।।२०७।।

परमगुरु के द्वारा प्रदत्त उन दोनों लिंगों को धारण करके, उन्हें नमस्कार करके, व्रत सहित क्रिया को सुनकर, उपस्थित होता हुआ अर्थात् आत्मा के समीप स्थित होता हुआ श्रमण होता है।

उक्त गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इसके बाद श्रमण होने का इच्छुक दीक्षार्थी दोनों लिंगों को धारण करता है, गुरु को नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रिया को सुनता है और उपस्थित होता है। उपस्थित होता हुआ श्रामण्य की सामग्री पर्याप्त होने से श्रमण होता है।

---

[1] अष्टपाहुड़ : भावपाहुड़, गाथा ७१

तथाहि – तत इदं यथाजातरूपधरत्वस्य गमकं बहिरंगमन्तरंगमपि लिंगं प्रथममेव गुरुणा परमेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया संभाव्य तन्मयो भवति।

ततो भाव्यभावकप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुनमस्क्रियया संभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति।

ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्या-ख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोहति।

ततः प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन त्रैकालिककर्मभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युत्पन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति।

ततः समस्तावद्यकर्मायतनं कायमुत्सृज्य यथाजातरूपं स्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति ।।२०७।।

अब इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं – इस यथाजातरूपधरत्व के सूचक बहिरंग व अंतरंग लिंग के धारण की विधि के प्रतिपादक होने से अरहंत भगवान और दीक्षाचार्य व्यवहार से मुनिलिंग के देनेवाले कहे जाते हैं। दीक्षार्थी उक्त देने और लेने की क्रिया से उन्हें सम्मानित करके उनसे तन्मय होता है।

इसके बाद भाव्य-भावकभाव से प्रवर्तित परस्पर मिलन के कारण स्वपरविभाग अस्त होने से सर्वस्वदातार मूल परमगुरु अरहंतदेव और उत्तर परमगुरु दीक्षाचार्य को नमस्कार क्रिया के द्वारा सम्मानित करके भावस्तुतिवंदनामय होता है।

इसके बाद सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा समय (आत्मा) में परिणमित होते हुए आत्मा को जानता हुआ सामायिक में आरूढ़ होता है।

इसके बाद प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रिया को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा त्रैकालिक कर्मों से भिन्न किये जानेवाले आत्मा को जानता हुआ; अतीत-अनागत-वर्तमान, मन-वचन-कायसंबंधी कर्मों से भिन्नता में आरूढ़ होता है।

इसके बाद समस्त सावद्य कर्मों के आयतनभूत काय का उत्सर्ग (उपेक्षा-त्याग) करके यथाजातरूपवाले स्वरूप को, एक को एकाग्रतया अवलम्बित करके रहता हुआ उपस्थित होता है और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र सम्यग्दृष्टिपने के कारण साक्षात् श्रमण होता है।''

अथाविच्छिन्नसामायिकाधिरूढोऽपि श्रमण: कदाचिच्छेदोपस्थापनमर्हतीत्युपदिशति –

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।।२०८।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।।२०९।।

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचेलमस्नानम्।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तं च।।२०८।।
एते खलु मूलगुणा: श्रमणानां जिनवरै: प्रज्ञप्ता:।
तेषु प्रमत्त: श्रमण: छेदोपस्थापको भवति।।२०९।।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि दीक्षार्थी अपने गुरु दीक्षाचार्य को अत्यन्त विनयपूर्वक नमस्कार करके उनसे मुनि जीवन में होनेवाले व्रत और क्रियाओं के बारे में सुनकर समझता है, फिर आत्मा के समीप उपस्थित होता हुआ अर्थात् आत्मध्यान करता हुआ, द्रव्यलिंग और भावलिंग – दोनों को धारण करता हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित नग्न दिगम्बर दशारूप बाह्याचरण को धारण करता हुआ साक्षात् श्रमण बन जाता है।।२०७।।

जब कोई सम्यग्दृष्टि दीक्षार्थी मुनिदीक्षा लेता है, तब अपने गुरु से संबंधित बातों को समझकर, नग्न दिगम्बर दशा धारण कर, केशलुंचन आदि दीक्षा संबंधी सभी प्रक्रिया को पार कर, आत्मा में उपस्थित हो जाता है, आत्मलीन हो जाता है, सप्तम गुणस्थान की भूमिका को प्राप्त हो जाता है।

यह बात विगत गाथा में समझाकर **अब इन गाथाओं में यह कहते हैं कि आत्मध्यान से च्युत होकर जब यह शुभोपयोग में आता है, छटवें गुणस्थान में आता है तो अट्ठाईस मूलगुणों के शुभभाव में आता हुआ छेदोपस्थापक होता है।**

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

व्रत समिति इन्द्रिय रोध लुंचन अचेलक अस्नान व्रत।
ना दन्त-धोवन क्षितिशयन अर खड़े हो भोजन करें।।२०८।।
दिन में करें इकबार ही ये मूलगुण जिनवर कहें।
इनमें रहे नित लीन जो छेदोपथापक श्रमण वह।।२०९।।

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तिवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं, तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमावश्यकमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव।

तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयांगुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ।।२०८-२०९।।

व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, केशलोंच, आवश्यक, अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े आहार और दिन में एक बार आहार – ये श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं। इनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''सर्वसावद्ययोग प्रत्याख्यान स्वरूप एक महाव्रत की व्यक्तियाँ होने से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिरूप पंच महाव्रत और उसी की परिकरभूत पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियरोध, केशलोंच, छह आवश्यक, अचेलकता, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े भोजन और दिन में एक बार भोजन – इसप्रकार ये २८ निर्विकल्प सामायिक संयम के विकल्प (भेद) होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं।

जब श्रमण निर्विकल्प सामायिक संयम में आरूढ़ता के कारण, जिसमें विकल्पों का अभ्यास नहीं है – ऐसी दशा से च्युत होता है; तब 'केवल स्वर्णमात्र के अर्थी को कुंडल, कंकण, अंगूठी आदि को ग्रहण करना भी श्रेय है; ऐसा नहीं है कि सर्वथा स्वर्ण की प्राप्ति ही श्रेय हो' – ऐसा विचार कर मूल गुणों में विकल्प (भेद) रूप से अपने को स्थापित करता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।''

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब मुनिराज अप्रमत्त दशा से प्रमत्त दशा में आते हैं; तब यद्यपि उनके शुद्धोपयोग नहीं है; तथापि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्ध परिणति तो विद्यमान ही है। इसकारण वे संयमी ही हैं।

यह एक प्रश्न हो सकता है कि अप्रमत्त से प्रमत्त में जाना छेदोपस्थापना चारित्र है या प्रमत्त से अप्रमत्त में आना ?

इसका उत्तर यह है कि यह छेदोपस्थापना चारित्र ६वें गुणस्थान से ९वें गुणस्थान तक होता है; अतः इसमें दोनों ही स्थितियाँ आ जाती हैं।

अथास्य प्रव्रज्यादायक इव छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्तीत्याचार्यविकल्पप्रज्ञापनद्वारेणोपदिशति –

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा।।२१०।।

लिङ्गग्रहणे तेषां गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति।
छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणाः।।२१०।।

यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः, यः पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्था-

---

अप्रमत्त से प्रमत्त में जाना छेद है और प्रमत्त से अप्रमत्त में आना उपस्थापन है – इसप्रकार दोनों स्थितियाँ मिलकर छेदोपस्थापन है।

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि हमने तो सुना है कि मूलगुणों में दोष लगना छेद है और उसका परिमार्जन करना उपस्थापना है ?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वह व्यवहार छेदोपस्थापना है और यहाँ जो बात कही जा रही है, वह निश्चय छेदोपस्थापना की है।

इस संबंध में विशेष स्पष्टीकरण अगली गाथाओं में किया जायेगा।।२०८-२०९।।

विगत गाथाओं में छेदोपस्थापना का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त **अब इस गाथा में यह बताते हैं कि दीक्षाचार्य गुरु के अतिरिक्त छेदोपस्थापक गुरु भी होते हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

दीक्षा गुरू जो दे प्रव्रज्या दो भेद युत जो छेद है।
छेदोपस्थापक शेष गुरु ही कहे हैं निर्यापका।।२१०।।

मुनिलिंग ग्रहण के समय दीक्षा देनेवाले गुरु दीक्षाचार्य है और जो भेदों (२८ मूलगुणों) में स्थापित करते हैं और संयम में छेद होने पर पुनर्स्थापित करते हैं – इसप्रकार छेदद्वय में स्थापित करनेवाले शेष गुरु निर्यापक श्रमण हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“लिंग ग्रहण के समय निर्विकल्प सामायिक संयम के प्रतिपादक होने से दीक्षा देनेवाले आचार्य गुरु हैं और उसके बाद उसी समय सविकल्प छेदोपस्थापना के प्रतिपादक होने से

पकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव। ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति ॥२१०॥

अथ छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानमुपदिशति –

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥२११॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥२१२॥

छेद के प्रति उपस्थापक अर्थात् भेद में स्थापित करनेवाले निर्यापक हैं। इनके अतिरिक्त वे भी निर्यापक ही हैं, जो संयम के खण्डित होने पर उसी में पुनर्स्थापित करते हैं। इसप्रकार छेदोपस्थापक निर्यापक दीक्षाचार्य से भिन्न भी हो सकते हैं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका के अनुसार ही करते हैं; तथापि **'अयमत्रार्थः'** कहकर जो स्पष्टीकरण देते हैं; वह इसप्रकार हैं –

''निर्विकल्प समाधिरूप सामायिक से एकदेशच्युति एकदेशछेद है और सर्वथा च्युति सर्वदेशछेद है – इसप्रकार एकदेश और सर्वदेश के भेद से छेद दो प्रकार है। जो उन दोनों में प्रायश्चित्त देकर, संवेग और वैराग्य को उत्पन्न करनेवाले परमागम के वचनों द्वारा संवरण करते हैं; वे निर्यापक शिक्षागुरु और श्रुतगुरु कहलाते हैं तथा दीक्षा देनेवाले आचार्य दीक्षागुरु हैं – ऐसा अभिप्राय है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि दीक्षार्थी के गुरु दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे दीक्षाचार्य, जो उनकी पूरी जाँच-परख करके उन्हें दीक्षा देते हैं और दूसरे वे निर्यापक श्रमण, जो उन्हें २८ मूलगुणों का स्वरूप अच्छी तरह समझाकर उन्हें निर्दोष रीति से पालन करने में मार्गदर्शन करते हैं और दोष लगने पर प्रायश्चित्त विधान से उन्हें पुनर्स्थापित करते हैं।

दीक्षा तो एक बार का काम है; अतः एक आचार्य अनेक लोगों को दीक्षा दे सकता है; पर अधिक संख्या होने पर उन्हें निरंतर संभालनेवाले निर्यापक तो अनेक चाहिए।

अतः दीक्षाचार्य एक और निर्यापक अनेक हो सकते हैं ॥२१०॥

विगत गाथा में गुरु के रूप में दो प्रकार के गुरुओं की चर्चा की है – एक दीक्षाचार्य दीक्षागुरु और दूसरे निर्यापक श्रमण शिक्षागुरु; **अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि जब संयम छेद होता है तो उसका निराकरण किस विधि से होता है ?**

प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायाम्।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया।।२११।।
छेदोपयुक्तः श्रमणः श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते।
आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम्।।२१२।।

द्विविधः किल संयमस्य छेदः, बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च। तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्गः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरंगः।

तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरंगच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथांतरंगच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकयाक्रिययैव प्रतिकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रययालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम्।।२११-२१२।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यदि प्रयत्नपूर्वक रहें पर देहिक क्रिया में छेद हो।
आलोचना द्वारा अरे उसका करें परिमार्जन।।२११।।
किन्तु यदि यति छेद में उपयुक्त होकर भ्रष्ट हों।
तो योग्य गुरु के मार्गदर्शन में करें आलोचना।।२१२।।

यदि प्रथम प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली कायचेष्टा में छेद होता है, दोष लगता है; तो आलोचनापूर्वक क्रिया करनी चाहिये। यदि श्रमण छेद (दोष) में उपयुक्त हुआ हो तो उसे जिनमत में व्यवहारकुशल श्रमण के पास जाकर अपने दोषों का निवेदन करके, वे जैसा उपदेश दें; वैसा करना चाहिए।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"संयम का छेद दो प्रकार का है – बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टा सम्बन्धी छेद बहिरंग छेद है और उपयोग सम्बन्धी छेद अन्तरंग छेद है।

यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा का कथंचित् बहिरंग छेद होता है, तो अन्तरंग छेद से सर्वथा रहित होने से आलोचना पूर्वक क्रिया से उसका प्रतिकार हो जाता है; किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसम्बन्धी छेद होने से छेद में साक्षात् उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधि में कुशल श्रमण के आश्रय से आलोचनापूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा संयम का प्रतिसंधान होता है।"

अथ श्रामणस्य छेदायतनत्वात् परद्रव्यप्रतिबन्धाः प्रतिषेध्या इत्युपदिशति। अथ श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनत्वात् स्वद्रव्य एव प्रतिबन्धो विधेय इत्युपदिशति –

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ।।२१३।।
चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसणमुहम्हि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ।।२१४।।

अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये।
श्रमणो विहरतु नित्यं परिहरमाणो निबन्धान् ।।२१३।।
चरति निबद्धो नित्यं श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे।
प्रयतो मूलगुणेषु च यः स परिपूर्णश्रामण्यः ।।२१४।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि मुनि अवस्था में दो प्रकार के दोष लगते हैं। एक तो काय संबंधी क्रियाओं में और दूसरे अपने उपयोग में। काय संबंधी क्रियाओं में अनजाने में हो गया स्खलन बाह्य छेद है; क्योंकि इसमें जान-बूझकर कुछ नहीं किया गया है; अतः इसका परिमार्जन प्रतिक्रमणपूर्वक की गई आलोचना से ही हो जाता है।

दूसरे में उपयोग संबंधी स्खलन होता है। मुनिधर्म में निषेध्य कार्यों में उपयोग का रंजायमान होना ही अंतरंग छेद है। इसके परिमार्जन के लिए निर्यापक गुरु के पास जाकर स्वयं ही सब निवेदन करना होता है और वे जो भी प्रायश्चित्त दें, उसे सच्चे मन से स्वीकार करके पालन करना होता है ।।२११-२१२।।

विगत गाथाओं में छिन्न संयम और उसके परिमार्जन की विधि बताई गई है।

अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि छेद का आयतन परद्रव्य हैं और श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन स्वद्रव्य है; इसलिए परद्रव्य में प्रतिबंध निषेध्य है और स्वद्रव्य में प्रतिबंध विधेय है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

हे श्रमणजन! अधिवास में या विवास में बसते हुए।
प्रतिबंध के परिहारपूर्वक छेदविरहित ही रहो ।।२१३।।
रे ज्ञान-दर्शन में सदा प्रतिबद्ध एवं मूलगुण।
जो यत्नतः पालन करें बस हैं वही पूरण श्रमण ।।२१४।।

सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जकत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावादेवाछिन्नश्रामण्यम्। अत आत्मन्येवात्मनो नित्याधिकृत्य वासे वा, गुरुत्वेन गुरूनधिकृत्य वासे वा, गुरुभ्यो विशिष्टे वासे वा, नित्यमेव प्रतिषेधयन् परद्रव्यप्रतिबन्धान् श्रामण्ये छेदविहीनो भूत्वा श्रमणो वर्तताम्।।२१३।।

एक एव हि स्वद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगमार्जकत्वेन मार्जितोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनं, तत्सद्भावादेव परिपूर्णं श्रामण्यम्। अतो नित्यमेव ज्ञाने दर्शनादौ च प्रतिबद्धेन मूलगुणप्रयततया चरितव्यं, ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मद्रव्यप्रतिबद्धशुद्धास्तित्वमात्रेण वर्तितव्यमिति तात्पर्यम्।।२१४।।

हे श्रमणजनो! अधिवास (आत्मवास अथवा गुरुओं के सहवास) में या विवास (गुरुओं के वास से भिन्न वास) में बसते हुए परद्रव्य संबंधी प्रतिबंधों (प्रतिबद्धता) का परिहरण करते हुए सदा श्रामण्य में छेद विहीन होकर विहरो। जो श्रमण ज्ञान में और दर्शनादि में सदा प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में सावधानीपूर्वक वर्तन करता है; वह परिपूर्ण श्रामण्यवान है।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"सभी प्रकार के चेतन-अचेतन परद्रव्यों के प्रति प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) उपयोग का उपरंजक होने से निरुपराग उपयोगरूप श्रामण्य के छेद का आयतन है; क्योंकि उसके अभाव में ही अछिन्न श्रामण्य होता है। इसलिए आत्मा में ही आत्मा को स्थापित करके उसमें सदा ही बसते हुए अथवा गुरुओं के सहवास में बसते हुए अथवा गुरुओं के वास से भिन्न वास में बसते हुए, परद्रव्यों के प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) को छोड़ते हुए, हे श्रमण! सदा श्रामण्य में छेदविहीन होकर वर्तन करो।

एक स्वद्रव्य-प्रतिबंध ही उपयोग का परिमार्जन करनेवाला होने से परिमार्जित उपयोगरूप श्रामण्य को परिपूर्णता का आयतन है। उसके सद्भाव में ही परिपूर्ण श्रामण्य होता है। इसलिए ज्ञान में और दर्शनादिक में सदा प्रतिबद्ध रहकर मूलगुणों में सावधानीपूर्वक विचरण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ज्ञानदर्शनस्वभावी शुद्धात्मद्रव्य में प्रतिबद्ध होकर शुद्ध अस्तित्वमात्र से वर्तन करना चाहिए।"

यद्यपि इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुसरण करते हैं; तथापि 'तथाहि' कहकर कुछ विशेष स्पष्टीकरण करते हैं; जो इसप्रकार है –

"मुनिराज, गुरु के पास जितने शास्त्र हों, उन्हें पढ़कर; गुरु से आज्ञा लेकर समान शीलवाले

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् यतिजनासन्नः सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्धोऽपि प्रतिषेध्य इत्युपदिशति। अथ को नाम छेद इत्युपदिशति –

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ।।२१५।।
अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतय त्ति मदा ।।२१६।।

तपस्वियों के साथ, भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से, भव्यों को आनन्द उत्पन्न करते हुए, तप-श्रुत-सत्व-एकत्व-सन्तोषरूप पाँच भावनाओं को भाते हुए; तीर्थंकर परमदेव, गणधरदेव आदि महापुरुषों के चरित्रों को स्वयं भाते हुए और दूसरों को बताते हुए विहार करते हैं।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि मुनिराज चाहे गुरुओं के साथ रहे या उनकी आज्ञा से अकेले विहार करें; किन्तु उन्हें अपने में तो सदा रहना ही चाहिए।

तात्पर्य यह है कि परपदार्थों से किसीप्रकार का राग या संसर्ग उनके मुनित्व को खण्डित करनेवाला है; अतः उन्हें उनसे पूरी तरह दूर ही रहना चाहिए।

मूलतः तो मुनिराज शुद्धोपयोगी ही होते हैं; किन्तु प्रमत्तविरत नामक छटवें गुणस्थान में आने पर वे शुभोपयोग में आ जाते हैं; अतः उनके जीवन में शुभराग भी देखने में आता है; किन्तु वह शुभराग २८ मूलगुणों को सावधानीपूर्वक पालने, जिनागम का गहराई से अध्ययन करने-कराने, उपदेश देने, तत्त्वचर्चा करने तक ही सीमित रहता है और रहना चाहिए; अन्यथा श्रामण्य खण्डित हुए बिना नहीं रहेगा।

जिनमंदिर निर्माण और पंचकल्याणक महोत्सव आदि गृहस्थोचित कार्यों में मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से अपने चित्त को रंजायमान करना श्रामण्य को खंडित करनेवाले कार्य हैं ।।२१३-२१४।।

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि मुनिजनों को हिंसायतन होने से परद्रव्य का प्रतिबंध हेय है और स्वद्रव्य में प्रतिबंध उपादेय है।

अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि अत्यन्त निकट के सूक्ष्म परद्रव्य का प्रतिबंध भी मुनिपने के छेद का आयतन होने से हेय ही है। साथ में यह भी स्पष्ट किया जा रहा है कि छेद क्या है? गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा।
उपधौ वा निबद्धं नेच्छति श्रमणे विकथायाम्।।२१५।।
अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिसु।
श्रमणस्य सर्वकाले हिंसा सा संततेति मता।।२१६।।

श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुमात्रत्वेनादीयमाने भक्ते तथाविधशरीरवृत्त्यविरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरंगनिस्तरंगविश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे, नीरंगनिस्तरंगान्तरंगद्रव्यप्रसिद्ध्यर्थमध्यास्यमाने गिरीन्द्रकन्दरप्रभृतावावसथे, यथोक्तशरीरवृत्तिहेतुमार्गणार्थमारभ्यमाणे विहारकर्मणि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमाने केवलदेहमात्र उपधौ अन्योन्यबोध्यबोधकभावमात्रेण कथंचित्परिचिते श्रमणे, शब्दपुद्गलोल्लाससंवलनकश्चमलितचिद्भित्तिभागायां शुद्धात्मद्रव्यविरुद्धायां कथायां चैतेष्वपि तद्विकल्पाचित्रितचित्तभित्तितया प्रतिषेध्यः प्रतिबन्धः।।२१५।।

(हरिगीत)

आवास में उपवास में आहार विकथा उपधि में।
श्रमणजन व विहार में प्रतिबंध न चाहें श्रमण।।२१५।।

शयन आसन खड़े रहना गमन आदिक क्रिया में।
यदि अयत्नाचार है तो सदा हिंसा जानना।।२१६।।

मुनिराज आहार में, विहार में, आवास में, उपवास में, उपधि (परिग्रह) में, अन्य मुनिराजों में अथवा विकथा में प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) नहीं चाहते।

मुनिराजों की; शयन, आसन, खड़े रहने और गमन आदि में असावधानी पूर्वक की गई चर्या सदा सतत हिंसा मानी गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“(१) मुनिपने के सहकारी कारणभूत शरीर के निर्वाह मात्र के लिए ग्रहण किए जानेवाले आहार में, (२) जिसमें शरीर के निर्वाह का विरोध न आवे और शुद्धात्मद्रव्य में अविकारी निस्तरंग स्थिरता होती जावे – ऐसे अनशन में, (३) नीरंग और निस्तरंग अंतरंग द्रव्य की प्रसिद्धि के लिए सेवन किया जानेवाले ऊँचे पर्वतों की गुफाओं के निवास में, (४) शरीर के निर्वाह के कारणभूत आहार के लिए जानेवाले विहार में, (५) श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं है – ऐसे देह मात्र परिग्रह में, (६) परस्पर में बोध्यबोधकभाव से जिनका कथंचित् परिचय है, ऐसे अन्य मुनिजनों में और (७) शब्दरूप पुद्गलों के संबंध से, जिसमें चैतन्यरूप भित्ति का भाग मलिन होता है, ऐसी शुद्धात्मद्रव्य विरुद्ध कथा

अशुद्धोपयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्, तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा। अतः श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासनस्थानचंक्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव संतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव ॥२१६॥

में भी मुनिराजों के लिए प्रतिबंध निषिद्ध है। तात्पर्य यह है कि इनके संबंध में किए जानेवाले विकल्पों से भी चित्तभूमि को चित्रित होने देना योग्य नहीं है।

वस्तुतः अशुद्धोपयोग छेद है; क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है। वह अशुद्धोपयोग ही हिंसा है; क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हनन होता है।

इसलिए अशुद्धोपयोग बिना नहीं होनेवाली शयन, आसन, स्थान और गमन आदि क्रियाओं में असावधानीपूर्वक आचरण धारावाही हिंसा है, जो छेद से अनन्य ही है, छेदरूप ही है, छेद से भिन्न नहीं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करने में तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं; तथापि **'अयमत्रार्थः'** कहकर जो विशेष बात कहते हैं; वह इसप्रकार है –

''आगम में बताई गई विधि के विरुद्ध आहार-विहारादि तो पहले से ही निषिद्ध है; यहाँ तो यह कह रहे हैं कि योग्य आहार-विहारादि में भी ममत्व नहीं करना चाहिए।

मुनिराजों द्वारा बाह्य व्यापारादि शत्रुओं को तो पहले ही छोड़ दिया गया है; किन्तु भोजन, शयन आदि व्यापार छोड़ना संभव नहीं है। इसलिए अंतरंग क्रोधादि शत्रुओं के निग्रह के लिए, उनके संदर्भ में भी क्लेश नहीं करना चाहिए।''

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार यह है कि यद्यपि मुनिराजों का चेतन-अचेतन पर-पदार्थों के साथ कोई संबंध नहीं रहा है; तथापि शरीर की स्थिति के लिए आहार, अविकारी निस्तरंग स्थिरता के लिए शरीर निर्वाह का अविरोधी अनशन, निर्विघ्न आत्मसाधना के लिए किया जानेवाला गिरिगुफा में निवास, आहार के लिए जाने के लिए विहार, मुनिदशारूप देहमात्र परिग्रह, तत्त्वचर्चा के कारण परिचित मुनिजन और शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य विषयों की कथा – ये सात बातें ऐसी हैं कि जो सन्तों के जीवन में छटवें गुणस्थान की भूमिका में हो सकती हैं; होती हैं। आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि यदि इनसे बच पाना संभव न हो तो भी उनके सम्बन्ध में होनेवाले विकल्पों से चित्त भूमि को चित्रित होने देना योग्य नहीं है।

ये सभी अशुद्धोपयोग की दशा में होनेवाली क्रियाएँ हैं और यहाँ कहा जा रहा है कि

अथान्तरंगबहिरंगत्वेन छेदस्य द्वैविध्यमुपदिशति –

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।।२१७।।

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ।।२१७।।

अशुद्धोपयोगोऽन्तरंगच्छेदः परप्राणव्यपरोपो बहिरंगः। तत्र परप्राणव्यपरोपसद्भावे तद-

---

अशुद्धोपयोग छेद है, हिंसा है; अतः यदि उक्त सात बातों को छोड़ना संभव न हो तो उनमें सावधानी वर्तना अत्यन्त आवश्यक है।

ध्यान देने की बात यह है कि जब अशन, अनशन, गिरिगुफा के निवास, आहार के लिए विहार, देहमात्र परिग्रह, तत्त्वचर्चा के लिए परिचय और बोलना – ये भी निषेध्य हैं; तब देह पोषण के लिए अशन (आहार), प्रतिष्ठा के लिए अनशन, भीड़भाड़ वाले स्थानों में निवास, अनावश्यक अनर्गल विहार, मुनिदशा में पूर्णतः अस्वीकृत परिग्रह, अज्ञानी-अव्रतियों से घना परिचय और व्यर्थ की कथाओं से मनोरंजन – ये सब मुनिदशा में कैसे संभव हैं ?

जब उक्त कार्य भी संभव नहीं है तो फिर मंदिर निर्माण आदि गृहस्थोचित कार्यों को करना-कराना तो बहुत दूर, उनकी अनुमोदना भी कैसे हो सकती है ?

यह एक गंभीरता से विचार करने की बात है ।।२१५-२१६ ।।

विगत गाथाओं में सभी प्रकार के छेदों का निषेध करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह कहते हैं कि छेद अंतरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से।
तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ।।२१७।।

जीव मरे या जिये, किन्तु असावधानीपूर्वक आचरण करनेवाले के हिंसा निश्चित ही है; क्योंकि सावधानी पूर्वक समितियों के पालन करनेवालों को बहिरंग द्रव्यहिंसा मात्र से बंध नहीं होता।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है और परप्राणों का व्यपरोपण (विच्छेद) बहिरंग छेद है।

सद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्ध्यशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेः तथा तद्विनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्ध्यशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्ध्या सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरंग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरंगः। एवमप्यन्तरंगच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरंगछेदोऽभ्युपगम्येतैव ॥२१७॥

इनमें अंतरंग छेद ही बलवान है, बहिरंग नहीं; क्योंकि परप्राणों का छेद हो या न हो, अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होनेवाले असावधानीपूर्वक आचरण से जानने में आनेवाले अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके हिंसा का सद्भाव सुनिश्चित है।

अशुद्धोपयोग के बिना होनेवाले सावधानीपूर्वक आचरण से प्रसिद्ध होनेवाले अशुद्धोपयोग के अभाववाले मुनिराजों को परप्राणों के विच्छेद के सद्भाव में भी बंध का अभाव होने से हिंसा का अभाव सुनिश्चित है।

बहिरंग छेद से अंतरंग छेद ही बलवान है – ऐसा होने पर भी बहिरंग छेद अंतरंग छेद का आयतन मात्र है। इसलिए उसे स्वीकार तो करना ही चाहिए।’’

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव स्पष्ट करने के लिए तत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण करते हैं; तथापि ‘**अयमत्रार्थः**’ कहकर निश्चय और व्यवहार हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है –

‘‘अपने आत्मा में लीनतारूप निश्चयप्राणों के विनाश की कारणभूत रागादि परिणति निश्चय हिंसा है और रागादि की उत्पत्ति से बाह्य में निमित्तभूत परजीवों का घात व्यवहार हिंसा है। इसप्रकार हिंसा दो प्रकार की होती है। किन्तु विशेष यह है कि बाह्यहिंसा हो या न हो स्वस्थभावना (आत्मलीनता) रूप निश्चय प्राणों का घात होने पर निश्चयहिंसा नियम से होती है; इसलिए निश्चय हिंसा ही मुख्य है।’’

उक्त गाथा और उसकी टीकाओं में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि हिंसा और अहिंसा का संबंध जीवों के जीवन और मरण से नहीं है; अपितु अपने उपयोग की शुद्धता-अशुद्धता से है।

पहली बात तो यह है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से शुभाशुभभावरूप अशुद्धोपयोग शुद्धोपयोग का घातक होने से, रागादिभावरूप होने से हिंसा ही है।

दूसरी बात यह है कि चाहे जीव मरें या न मरें, पर अयत्नाचार (असावधानी) पूर्वक प्रवृत्ति करनेवालों को बंध अवश्य होता है।

तीसरी बात यह है कि सावधानीपूर्वक आगमानुसार प्रवृत्ति करनेवालों के निमित्त से

कदाचित् जीवों का घात भी क्यों न हो जावे; तब भी उन्हें जीवों के घात के कारण रंचमात्र भी बंध नहीं होता ।।२१७।।

इसके बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में इसी बात को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त द्वारा दृढ़ करनेवाली दो गाथाएँ प्राप्त होती हैं; जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं हैं। गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं –

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ।।१५।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ।।१६।।

(हरिगीत)

हो गमन ईर्यासमिति से पर पैर के संयोग से।
हों जीव बाधित या मरण हो फिर भी उनके योग से ।।१५।।
ना बंध हो उस निमित्त से ऐसा कहा जिनशास्त्र में।
क्योंकि मूर्च्छा परिग्रह अध्यात्म के आधार में ।।१६।।

मूर्च्छा को ही परिग्रह कहे जाने के समान ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए मुनिराज के द्वारा कहीं जाने के लिए उठाये गये पैर से किसी छोटे प्राणी को बाधा पहुँचने पर या उसके मर जाने पर भी उन मुनिराज को उस प्राणीघात के निमित्त से किंचित्मात्र भी बंध नहीं होता – ऐसा आगम में कहा है।

गाथाओं का उपर्युक्त सामान्य अर्थ करने के उपरान्त आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में दृष्टान्त (उदाहरण) और दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"मूर्च्छा परिग्रहः – इस सूत्र में कहे अनुसार जिसप्रकार अध्यात्मदृष्टि से मूर्च्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार परिग्रह होता है, बाह्य परिग्रह के अनुसार नहीं; उसीप्रकार सावधानीपूर्वक गमनादि करते हुए सूक्ष्म जन्तुओं के घात हो जाने पर भी, जितने अंश में आत्मलीनतारूप परिणाम से चलनरूप रागादि परिणति लक्षण भावहिंसा है; उतने अंश में बंध है, पैरों के संघट्टन (रगड़ना) मात्र से बंध नहीं है। उन मुनिराजों के रागादि परिणति लक्षण भावहिंसा नहीं है, इसकारण बंध भी नहीं है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन गाथाओं में उसी बात को सोदाहरण दुहरा दिया गया है; जो बात २१७वीं गाथा में कही जा चुकी है।।१५-१६।।

अथ सर्वथान्तरंगच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति –

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो।।२१८।।

अयताचारः श्रमणः षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मतः।
चरति यतं यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेपः।।२१८।।

यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्ध्या हिंसक एव स्यात्। यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावः परप्रत्ययबन्धलेशस्याप्यभावाज्जलदुर्ललितं कमलमिव निरुपलेपत्वप्रसिद्धेरहिंसक एव स्यात्। ततस्तैस्तैः सर्वैः प्रकारैरशुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः परप्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात्।।२१८।।

२१७वीं गाथा में कहा है कि अंतरंग छेद ही बलवान है और मूलतः वही बंध का कारण है। अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि **वह अंतरंग छेद सर्वथा त्यागने योग्य है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जलकमलवत निर्लेप हैं जो रहें यत्नाचार से।
पर अयत्नाचारि तो षट्काय का हिंसक कहा।।२१८।।

असावधानीपूर्वक आचरण करनेवाले श्रमण, छहों काय संबंधी जीवों का वध करनेवाले माने गये हैं और यदि वे सदा सावधानीपूर्वक आचरण करते हैं तो जल में कमल की भांति निर्लेप कहे गये हैं।

अमृतचंद्राचार्य इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होनेवाले अप्रयत-आचार (असावधानीपूर्वक आचरण) के द्वारा ज्ञात होनेवाले अशुद्धोपयोग का सद्भाव हिंसक ही है; क्योंकि छह काय के प्राणों के व्यपरोपण के आश्रय से होनेवाले बंध की प्रसिद्धि है। और अशुद्धोपयोग के बिना होनेवाले प्रयत-आचार (सावधानीपूर्वक आचरण) के द्वारा ज्ञात होनेवाले अशुद्धोपयोग का असद्भाव अहिंसक ही है; क्योंकि पर के आश्रय से होनेवाले बंध का अभाव होने से जल में रहते हुए कमल की भांति निर्लेपता (अबंध) की प्रसिद्धि है। इसलिए जिन-जिन प्रकारों से अंतरंग छेद का आयतनभूत परप्राणव्यपरोपरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषेध्य है; उन-उन सभी प्रकारों से अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेद भी पूर्णतः निषेध्य है, त्यागने योग्य है।"

अथैकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वादुपधिस्तद्वत्प्रतिषेध्य इत्युपदिशति –

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ।।२१९।।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में अयताचार का अर्थ निर्मल आत्मानुभूतिरूप भावना लक्षण प्रयत्न से रहित किया है। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभूति के प्रति असावधान होना ही अयताचार है।

उक्त गाथा का अर्थ लिखने के उपरान्त तात्पर्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं –

"शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण शुद्धोपयोगपरिणत पुरुष के, छह काय के जीव समूहरूप लोक में विचरण करते हुए, यद्यपि बाह्य में द्रव्यहिंसा है; तथापि निश्चय हिंसा नहीं है। इसलिए शुद्ध परमात्मा की भावना के बल से निश्चय हिंसा पूर्णत: छोड़ देना चाहिए।"

यद्यपि अयत्नाचार का अर्थ असावधानीपूर्वक आचरण और यत्नाचार का अर्थ सावधानी पूर्वक आचरण माना जाता है; तथापि यह अर्थ व्यवहारनय का कथन ही है; क्योंकि निश्चयनय की अपेक्षा तो अयत्नाचार का अर्थ आत्मा के प्रति असावधानी और यत्नाचार का अर्थ आत्मा के प्रति सावधानी ही है। आचार्य जयसेन के उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है।

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि अयत्नाचारी श्रमण के निमित्त से चाहे जीव मरे, चाहे न मरे; पर उसे छहकाय के जीवों का हिंसक माना गया है। इसीप्रकार यत्नाचारी श्रमण के निमित्त से भले ही सूक्ष्मजीवों का घात हो जाये; तब भी वह जल में रहते हुए भी जल से भिन्न कमल के समान अहिंसक ही है।

अयत्नाचार संबंधी वृत्ति (आत्मा की अरुचि) और प्रवृत्ति (असावधानीपूर्वक आचरण) अंतरंग छेद है और जीवों का वध आदि बहिरंग छेद है। ध्यान रखने की बात यह है कि बहिरंग छेद से अंतरंग छेद बलवान है ।।२१८।।

विगत गाथाओं में जीवों के प्राणव्यपरोपणसंबंधी छेद की बात स्पष्ट की; अब इस गाथा में परिग्रह संबंधी अंतरंग छेद की बात करते हैं, उसके निषेध का उपदेश देते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

बंध हो या न भी हो जिय मरे तन की क्रिया से।
पर परिग्रह से बंध हो बस उसे छोड़े श्रमणजन ।।२१९।।

भवति वा न भवति बन्धो मृते जीवेऽथ कायचेष्टायाम्।
बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्तः सर्वम् ।।२१९।।

यथा हि कायव्यापारपूर्वकस्य परप्राणव्यपरोपस्याशुद्धोपयोगसद्भावासद्भावाभ्यामनैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमनैकान्तिमिष्टं, न खलु तथोपधेः, तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्ध्यदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव।

अत एव भगवन्तोऽर्हन्तः परमाः श्रमणाः स्वयमेव प्रागेव सर्वमेवोपधिं प्रतिषिद्धवन्तः। अत एव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनान्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपधिः प्रतिषेध्यः ।।२१९।।

कायचेष्टापूर्वक जीवों के मरने पर बंध हो अथवा नहीं भी हो; किन्तु उपधि अर्थात् परिग्रह से तो बंध होता ही है; इसलिए श्रमणों (अरहंतदेवों) ने सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ा है।

अमृतचंद्राचार्य तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार काय व्यापारपूर्वक परजीवों के घात को अशुद्धोपयोग के सद्भाव और असद्भाव के द्वारा अनैकान्तिक बंधरूप होने से छेदपना अनैकान्तिक (अनिश्चित – हो भी और नहीं भी हो – ऐसा) माना गया है; उसप्रकार की बात परिग्रह के साथ नहीं है; क्योंकि परिग्रह अशुद्धोपयोग के बिना सर्वथा नहीं होता।

परिग्रह का अशुद्धोपयोग के साथ सर्वथा अविनाभावत्व होने से ऐकान्तिक (नियम से अवश्यंभावी) अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक (नियम से) बंधरूप है। इसलिए परिग्रह को छेदपना भी ऐकान्तिक (अनिवार्य) ही है।

यही कारण है कि परम श्रमण अरहंत भगवन्तों ने पहले से ही स्वयं परिग्रह को छोड़ा है। इसलिए दूसरे श्रमणों को भी अंतरंग छेद के समान समस्त परिग्रह छोड़ना योग्य है; क्योंकि परिग्रह अंतरंग छेद के बिना नहीं होता।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि मारने के भाव बिना काया के निमित्त से जीवों का घात तो हो सकता है; पर रागादि के बिना परिग्रह का संग्रह नहीं हो सकता; इसलिए ऐसा तो कदाचित् हो सकता है कि जीवों का घात होने पर भी बंध न हो; पर ऐसा कभी नहीं हो सकता कि परिग्रह रखने पर भी बंध न हो। इसलिए सबसे पहले सम्पूर्ण परिग्रह को पूर्णतः त्याग देना चाहिए ।।२१९।।

इसके बाद तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसमें वे कहते हैं कि इस संबंध में जो कुछ कहा जा सकता था, वह सब कुछ कह दिया है।

(वसन्ततिलका)

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्तमेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ।।१४।।

अथान्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एवायमुपधिप्रतिषेध इत्युपदिशति –

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो ।।२२०।।

छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

जो कहने के योग्य है कहा गया वह सब्ब।
इतने से ही चेत लो अति से क्या है अब्ब ।।१४।।

जो कहने योग्य था; वह सब अशेषरूप से कह दिया गया है, इतने मात्र से ही कोई चेत जाय, समझ ले तो समझ ले और न समझे तो न समझे; अब वाणी के अतिविस्तार से क्या लाभ है ? क्योंकि निश्चेतन (जड़वत्, नासमझ) के व्यामोह का जाल वास्तव में अति दुस्तर है। तात्पर्य यह है कि नासमझों को समझाना अत्यन्त कठिन है।

यह छन्द अत्यंत मार्मिक है। आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में तो २७८ छन्द लिखे हैं; किन्तु प्रवचनसार की टीका में मात्र २२ छन्द ही लिखे हैं। उन्हीं में से एक महत्त्वपूर्ण छन्द यह भी है।

इस कलश में आचार्यदेव कह रहे हैं कि जो समझाया जा सकता था; वह हमने समझा दिया। जिन्हें समझ में आना होगा, उन्हें इतने से ही समझ में आ जाएगा और जिन्हें समझ में नहीं आना है; उनके लिए कितना ही विस्तार क्यों न करें, कुछ होनेवाला नहीं है; अतएव अब मैं इस चर्चा के विस्तार में जाने से विराम लेता हूँ ।।१४।।

विगत गाथा में बहिरंग और अंतरंग परिग्रह का निषेध किया गया है और अब इस गाथा में यह समझाते हैं कि बहिरंग परिग्रह का निषेध अंतरंग परिग्रह का ही निषेध है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यदि भिक्षु के निरपेक्ष न हो त्याग तो शुद्धि न हो।
तो कर्मक्षय हो किसतरह अविशुद्ध भावों से कहो ।।२२०।।

न हि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथं नु कर्मक्षयो विहितः ।।२२०।।

न खलु बहिरङ्गसंगसद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगताशुद्धत्वस्येवाशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधः, तद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य कैवल्यस्योपलम्भः।

अतोऽशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरंगच्छेदस्य प्रतिषेधं प्रयोजनमपेक्ष्योपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरंगच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ।।२२०।।

यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भिक्षु के भाव की विशुद्धि नहीं होती और जो भाव से अविशुद्ध है, उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है ?

आचार्य अमृतचंद्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“जिसप्रकार छिलके के सद्भाव में चावलों में पाई जानेवाली लालिमारूप अशुद्धता को नहीं हटाया जा सकता; उसीप्रकार बहिरंग परिग्रह के सद्भाव में अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेद का परिहार संभव नही है और अंतरंग छेद के सद्भाव में शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाले केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे ऐसा कहा गया है कि अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेद के निषेधरूप प्रयोजन को ध्यान में रखकर किया जानेवाला परिग्रह का निषेध एक प्रकार से अंतरंग छेद का ही निषेध है।”

आचार्य जयसेन इस गाथा के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखते हैं–

“इससे यह कहा गया है कि जिसप्रकार बाह्य में छिलके का सद्भाव होने पर चावल के अन्दर की शुद्धि होना संभव नहीं है; उसीप्रकार बाह्य परिग्रह की इच्छा विद्यमान होने पर निर्मल आत्मा की अनुभूतिरूप शुद्धि होना संभव नहीं है और यदि विशिष्ट वैराग्यपूर्वक परिग्रह का त्याग होता है तो चित्त की शुद्धि भी होती है; परन्तु प्रसिद्धि, पूजा-प्रतिष्ठा के लाभ की दृष्टि से त्याग करने पर चित्त की शुद्धि नहीं होती।”

‘बाह्य परिग्रह परद्रव्य हैं और परद्रव्यों से आत्मा का कोई बिगाड़-सुधार नहीं होता’ – यद्यपि यह बात परम सत्य है; तथापि मुनिराजों के जबतक तिलतुष मात्र भी बाह्य परिग्रह रहता है; तबतक वास्तविक मुनिदशा प्रगट ही नहीं होती; क्योंकि अन्तर में परिग्रह से एकत्व-ममत्व बिना बाह्य परिग्रह रहता ही नहीं है – ऐसा नियम है। बाह्य परिग्रह की बुद्धिपूर्वक उपस्थिति और उसकी संभाल का भाव रागादिभावरूप ही है। तात्पर्य यह है कि बहिरंग छेद अंतरंग छेद का आयतन है; अतः अंतरंग छेद के त्याग के लिए बहिरंग छेदरूप परिग्रह का पूर्णतः त्याग आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है ।।२२०।।

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में उपर्युक्त भाव की पोषक ३ गाथाएँ प्राप्त होती हैं; जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्राप्त नहीं होती।

वे गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं –

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो।।१७।।
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं ण गेण्हदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि।।१८।।
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता।
पत्तं व चेलखंडं बिभेदि परदो य पालयदि।।१९।।

(हरिगीत)

वस्त्र बर्तन यति रखें यदि यह किसी के सूत्र में।
ही कहा हो तो बताओ यति निरारंभी किसतरह ।।१७।।
रे वस्त्र बर्तन आदि को जो ग्रहण करता है श्रमण।
नित चित्त में विक्षेप प्राणारंभ नित उसके रहे ।।१८।।
यदि वस्त्र वर्तन ग्रहे धोवे सुखावे रक्षा करे।
खो न जावे डर सतावे सतत ही उस श्रमण को ।।१९।।

'साधु वस्त्रों को ग्रहण करता है और उसके पास बर्तन भी होते हैं' – यदि किसी आगम में ऐसा कहा गया है तो सोचने की बात यह है कि वस्त्र और बर्तन रखनेवाला साधु निरावलम्बी और अनारंभी भी कैसे हो सकता है ?

वस्त्र के टुकड़े, दूध के बर्तन तथा अन्य वस्तुओं को यदि वह ग्रहण करता है तो उसके जीवों का घात और चित्त में विक्षेप बना रहता है। वह बर्तन व वस्त्रों को ग्रहण करता है, धूल साफ करता है, धोता है और सावधानीपूर्वक धूप में सुखाता है, इनकी रक्षा करता है और दूसरों से डरता है।।१७-१८-१९।।

२२०वीं गाथा में यह कहा गया है कि उपधि (परिग्रह) का निषेध अंतरंग छेद का ही निषेध है और अब इस २२१वीं गाथा में 'उपधि एकान्तिक अंतरंग छेद है' – इस बात को विस्तार से समझाया जा रहा है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथैकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेर्विस्तरेणोपदिशति –

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि॥२२१॥

कथं तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य।
तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति॥२२१॥

उपधिसद्भावे हि ममत्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य वावश्यंभावित्वात्तथोपधिद्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव। इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः॥२२१॥

अथ कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति–

छेदो जेण ण बिज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता॥२२२॥

(हरिगीत)

उपधि के सद्भाव में आरंभ मूर्छा असंयम।
हो फिर कहो परद्रव्यरत निज आत्म साधे किसतरह॥२२१॥

उपधि (परिग्रह) के सद्भाव में मुनिराजों के मूर्छा, आरंभ या असंयम न हो – यह कैसे हो सकता है तथा परद्रव्यरत साधु आत्मा को कैसे साध सकता है ?

आचार्य अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"उपधि के सद्भाव में ममत्वपरिणामरूप मूर्छा, परिग्रह संबंधी कार्य से युक्त होनेरूप आरंभ अथवा शुद्धात्मस्वरूप का घातक असंयम होता ही है।

आत्मा से भिन्न परद्रव्यरूप परिग्रह में लीनता होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य की साधकता का अभाव होता है। इसकारण उपधि (परिग्रह) के एकान्ततः अंतरंग छेदपना निश्चित होता है। तात्पर्य यह है कि 'उपधि ऐसी है' – ऐसा निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ देना चाहिए।"

इस गाथा के कथन का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि परद्रव्यों में आसक्त साधुओं में मूर्छा, आरंभ और असंयम होता ही है। अतः वे आत्मा की साधना कैसे कर सकते हैं ? ॥२२१॥

विगत गाथाओं में उत्सर्ग मार्ग की चर्चा करने के उपरान्त अब यहाँ किसी के कहीं कभी किसीप्रकार कोई उपधि अनिषिद्ध भी है। ऐसे अपवाद मार्ग का उपदेश करते हैं।

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य।
श्रमणस्तेनेह वर्ततां कालं क्षेत्रं विज्ञाय।।२२२।।

आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः। अयं तु विशिष्टकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः।

यदा हि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशावसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते, तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते। स तु तथा स्थीयमानो न खलूपधित्वाच्छेदः, प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव।

यः किलाशुद्धोपयोगाविनाभावी स छेदः। अयं तु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेदप्रतिषेध एव स्यात्।।२२२।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

छेद न हो जिसतरह आहार लेवे उसतरह।
हो विसर्जन नीहार का भी क्षेत्र काल विचार कर।।२२२।।

आहार-नीहारादिक के ग्रहण-विसर्जन में जिस उपधि का सेवन होता है, उससे सेवन करनेवाले को छेद नहीं होता; इसलिए हे श्रमणो! उक्त उपधियुक्त क्षेत्र-काल को जानकर इस लोक में भले प्रवर्तो अर्थात् प्रवर्तन करो तो कोई हानि नहीं।

आ. अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“आत्मद्रव्य के द्वितीय, पुद्गल का अभाव होने से समस्त ही उपधि निषिद्ध है – यह उत्सर्ग मार्ग (सामान्य नियम) है और विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश को उपधि अनिषिद्ध है – यह अपवादमार्ग है।

जब कोई श्रमण सर्व उपधि के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयम को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश हीन शक्तिवाला होने से उसे प्राप्त करने में असमर्थ होता है; तब उसमें अपकर्षण (अपवाद) करके अनुत्कृष्ट संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बहिरंग साधन मात्र उपधि का आश्रय करता है। इसप्रकार वह उपधि उपधिपने के कारण छेदरूप नहीं है; अपितु छेद के निषेधरूप ही है।

जो उपधि अशुद्धोपयोग बिना नहीं होती, वह छेद है; किन्तु यह तो श्रामण्यपर्याय की सहकारीकारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-नीहारादि के ग्रहण-विसर्जन संबंधी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है; इसलिए छेद के निषेधरूप ही है।”

अथाप्रतिषिद्धोपधिस्वरूपमुपदिशति –

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ।।२२३।।

अप्रतिक्रुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसंयतजनैः।
मूर्च्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ।।२२३।।

यः किलोपधिः सर्वथा बन्धासाधकत्वादप्रतिक्रुष्टः संयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजनाप्रार्थनीयो, रागादिपरिणाममन्तरेण धार्यमाणत्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्च भवति; स खल्वप्रतिषिद्धः। अतो यथोदितस्वरूप एवोपधिरूपादेयो, न पुनरल्पोऽपि यथोदितविपर्यस्तत्स्वरूपः ।।२२३।।

छटवें-सातवें गुणस्थानों में निरन्तर झूलनेवाले मुनिराज जब छटवें गुणस्थान में होते हैं, तब अपवादमार्गी हैं और जब सातवें या उससे ऊपर के गुणस्थानों में होते हैं; तब उत्सर्गमार्गी हैं। उत्सर्गमार्ग में तो किसीप्रकार के परिग्रह (उपधि) का होना संभव ही नहीं है; किन्तु जब वे अपवादमार्ग में होते हैं तो दया का उपकरण पीछी, शुद्धि का उपकरण कमण्डलु और ज्ञान का उपकरण गुरुवचन (शास्त्र) उनके पास पाये जाते हैं; पर उनसे भी उनका एकत्व-ममत्व नहीं होता। **यद्यपि उनके छटवें गुणस्थान में उपयोगरूप आत्मानुभूति नहीं है; तथापि मिथ्यात्व और तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति अवश्य है, उसे ही यहाँ शुद्धोपयोग कहा है। इसकारण उनके पास पीछी, कमण्डलु और शास्त्र होने पर भी उनका मुनित्व खण्डित नहीं होता है ।।२२२।।**

विगत गाथा में अनिषिद्ध उपधि की चर्चा के उपरान्त अब इस गाथा में उसी अनिषिद्ध उपधि का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मूर्छादि उत्पादन रहित चाहे जिसे न असंयमी।
अत्यल्प हो ऐसी उपधि ही अनिंदित अनिषिद्ध है ।।२२३।।

हे श्रमणो ! अनिंदित, असंयत जनों से अप्रार्थनीय और जो मूर्छा पैदा न करे – ऐसी अल्प उपधि को ग्रहण करो।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“जो उपधि बंध की सर्वथा असाधक होने से अनिंदित है, संयमीजनों को छोड़कर अन्य किसी के काम की न होने से असंयतजनों के द्वारा अप्रार्थनीय है और रागादिभावों के बिना धारण की जानेवाली होने से मूर्च्छादि की अनुत्पादक है; वह उपधि वस्तुतः अनिषिद्ध है, उपादेय है; किन्तु उक्त स्वरूप से विपरीत स्वरूपवाली उपधि अल्प भी उपादेय नहीं है।”

इस गाथा में मात्र इतनी बात कही गई है कि जब मुनिराज अपवादमार्ग में होते हैं, तब उनके पास तीन वस्तुएँ हो सकती हैं – दया का उपकरण पीछी, संयम (शुद्धि) का उपकरण कमण्डलु और ज्ञान का उपकरण शास्त्र। ये तीनों वस्तुएँ अनिन्दित, अप्रार्थनीय और रागादि की अनुत्पादक होना चाहिए।

पीछी और कमण्डलु गृहस्थों के काम के नहीं हैं; इसलिए उन्हें कोई माँगेगा नहीं; इसलिए अप्रार्थनीय हैं, कीमती नहीं हैं, इसलिए कोई चुरायेगा नहीं और आकर्षक नहीं हैं; इसकारण राग को उत्पन्न नहीं करेंगे। ये दोनों तो एक-एक ही रखे जाते हैं; पर शास्त्र अनेक रखे जा सकते हैं; अतः अल्प होना चाहिए – यह कहा है; क्योंकि अधिक होंगे तो साथ में ले चलना संभव नहीं होगा।

यदि उक्त तीनों वस्तुएँ ऐसी हों कि जिन्हें बाजार में बेचकर पैसा कमाया जा सकता है, तो उनकी रक्षा के विकल्प हुए बिना नहीं रहेंगे; क्योंकि उन वस्तुओं की चोरी भी हो सकती है और उन्हें कोई माँग भी सकता है।

यह तो आप जानते ही हैं कि मुनिराज प्रातः, दोपहर और सायं को प्रतिदिन तीन बार छह-छह घड़ी की सामायिक करते हैं, आत्मध्यान करते हैं। एक घड़ी २४ मिनिट की होती है। इसप्रकार वे २ घंटे और २४ मिनिट दिन में तीन बार कुल ७ घंटे और १२ मिनट तक प्रतिदिन आत्मध्यान करते हैं। यदि पीछी, कमण्डलु और पोथी कीमती हुईं तो सामायिक के काल में उनकी रक्षा कौन करेगा ? **उक्त वस्तुओं का ग्रहस्थों के काम की नहीं होना ही उनकी रक्षा का सबसे निरापद उपाय है।**

चूँकि ये वस्तुएँ कीमती नहीं हैं; अतः कोई चुरायेगा नहीं और मुनिराजों के चित्त में उनके प्रति एकत्व-ममत्व नहीं है, राग नहीं है; अतः ये उनके चुराये जाने के भय से मुक्त रहेंगे। इसप्रकार उक्त तीनों वस्तुएँ उनके पास होकर भी उनकी नहीं हैं, उनके चित्त को आन्दोलित नहीं करती। यही कारण है कि उन्हें उपधि नहीं माना गया अथवा यह उपधि अपवाद मार्ग में अनिषिद्ध है ॥२२३॥

२२३वीं गाथा में यह कहा गया है कि अपवाद मार्ग में पीछी, कमण्डलु और पोथी की उपधि अनिषिद्ध है और अब यहाँ २२४वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि **वस्तुधर्म तो उत्सर्ग मार्ग ही है, अपवाद मार्ग नहीं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथोत्सर्ग एव वस्तुधर्मो, न पुनरपवाद इत्युपदिशति –

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ।।२२४।।

किं किंचनमिति तर्कः अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि।
संग इति जिनवरेन्द्रा अप्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्तः ।।२२४।।

अत्र श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमानेऽत्यन्तमुपात्तदेहेऽपि परद्रव्यत्वात्परिग्रहोऽयं न नामानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेत्यप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्तो भगवन्तोऽर्हद्देवाः। अथ तत्र शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसंभावनरसिकस्य पुंसः शेषोऽन्योऽनुपात्तः परिग्रहो वराकः किंनाम स्यादिति व्यक्त एव हि तेषमाकूतः। अतोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवादः।

इदमत्र तात्पर्यं, वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम् ।।२२४।।

(हरिगीत)

जब देह भी है परिग्रह उसको सजाना उचित ना।
तो किसतरह हो अन्य सब जिनदेव ने ऐसा कहा ।।२२४।।

जबकि जिनेन्द्र भगवान ने मुमुक्षु के लिए 'देह भी परिग्रह' – ऐसा कहकर देह से भी अप्रतिकर्मपना कहा है; तब उनके अन्य परिग्रह तो कैसे हो सकता है ?

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"यहाँ, श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया गया, ऐसे अत्यन्त नजदीकी शरीर में भी 'यह शरीर परद्रव्य होने से परिग्रह है, वस्तुतः यह अनुग्रह योग्य नहीं है, किन्तु उपेक्षा योग्य है' – ऐसा कहकर उसका साज-शृंगार नहीं करने का उपदेश अरहंत भगवान के द्वारा दिया गया है; तब फिर यहाँ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धि की संभावना के रसिक पुरुषों की दृष्टि में शेष अन्य अप्राप्त परिग्रह अनुग्रह के योग्य कैसे हो सकता है ? ऐसा आशय अरंहतदेव का व्यक्त ही है। इससे निश्चित होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं। यहाँ तात्पर्य यह है कि वस्तु धर्म होने से परम निर्ग्रन्थपना ही अवलम्बन योग्य है।"

इस गाथा में यह कहा गया है कि यद्यपि अपवादमार्ग में वर्तते मुनिराजों का भी मुनित्व खण्डित नहीं होता; तथापि उत्कृष्ट तो उत्सर्गमार्ग ही है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जब अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय का विषय एकक्षेत्रावगाही शरीर भी उपधि है तो फिर उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषय पीछी-कमण्डलु आदि या वस्त्रादि की तो बात ही क्या कहना ?

शरीर की स्थिति तो यह है कि उसे छोड़ा नहीं जा सकता; पर उसमें से अपनत्व तो तोड़ा जा सकता है, उसके प्रति होनेवाला राग तो छोड़ा जा सकता है, उसके साज-शृंगार का भाव तो छोड़ा जा सकता है; यही कारण है कि आचार्यदेव उसका उदाहरण देकर अन्य परिग्रह का पूर्णत: निषेध कर रहे हैं ।।२२४।।

इसके बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में ११ गाथाएँ ऐसी प्राप्त होती हैं, जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं हैं।

उक्त गाथाओं में श्वेताम्बरमत मान्य स्त्री मुक्ति का निषेध किया गया है। पहली गाथा में शंका उपस्थित की गयी है, शेष गाथाओं में उसका समुचित समाधान प्रस्तुत कर अन्त में कैसा पुरुष दीक्षा के योग्य है – यह बताकर प्रकरण को समाप्त कर दिया है।

शंका प्रस्तुत करनेवाली गाथा इसप्रकार है –

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।२०।।

(हरिगीत)

लोक अर परलोक से निरपेक्ष है जब यह धरम।
पृथक् से तब क्यों कहा है नारियों के लिंग को ।।२०।।

श्रमणों में इन्द्र, जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताया गया धर्म जब इस लोक और पर लोक की अपेक्षा नहीं रखता; तब इस धर्म में महिलाओं के लिंग को भिन्न क्यों कहा गया है ?

यह तो आप जानते ही हैं कि अष्टपाहुड में तीन लिंगों की चर्चा की गई है। जिस गाथा में उक्त चर्चा प्राप्त होती है, वह गाथा इसप्रकार है –

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।।[1]

(हरिगीत)

एक जिनवर लिंग है उत्कृष्ट श्रावक दूसरा।
और कोई चौथा है नहीं पर आर्यिका का तीसरा।।

तात्पर्य यह है कि प्रथम तो नग्न दिगम्बर मुनिराजों का लिंग (वेष) है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों (क्षुल्लक-ऐलक) का और तीसरा आर्यिका का। जैनदर्शन में ये तीन लिंग (वेष) स्वीकार किये गये हैं।

---

[1] अष्टपाहुड़ : दर्शनपाहुड़, गाथा १८

प्रथम वेषवाले पुरुष संत तो पूर्णतः नग्न रहते हैं, दूसरे वेष में उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक तो एक लंगोटी और एक खण्ड वस्त्र रखते हैं तथा ऐलक मात्र लंगोटी ही रखते हैं। तीसरा वेष महिलाओं का है, जो आर्यिकायें कहलाती हैं और मात्र एक सफेद साड़ी पहनती हैं।

चूंकि श्वेताम्बर मान्यता में पुरुष साधु भी कपड़े पहनते हैं; अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि महिलाओं के लिए अलग वेष की बात क्यों कही गई ?

उक्त शंका का समाधान आगामी गाथाओं में किया गया है; जो मूलतः इसप्रकार हैं –

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।२१।।
पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुला त्ति णिद्दिठा।।२२।।
संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं।।२३।।
ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं।।२४।।
चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं।।२५।।
लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि।।२६।।
जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा।।२७।।
तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा।।२८।।
वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुच्छारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।।२९।।
जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो।।३०।।

(हरिगीत)

नारियों को उसी भव में मोक्ष होता ही नहीं।
आवरणयुत लिंग उनको इसलिए ही कहा है।।२१।।
प्रकृतिजन्य प्रमादमय होती है उनकी परिणति।
प्रमादबहुला नारियों को इसलिए प्रमदा कहा।।२२।।
नारियों के हृदय में हों मोह द्वेष भय घृणा।
माया अनेकप्रकार की बस इसलिए निर्वाण ना।।२३।।
एक भी है दोष ना जो नारियों में नहीं हो।
अंग भी ना ढके हैं अतएव आवरणी कही।।२४।।
चित्त चंचल शिथिल तन अर रक्त आवे अचानक।
और उनके सूक्ष्म मानव सदा ही उत्पन्न हों।।२५।।
योनि नाभि काँख एवं स्तनों के मध्य में।
सूक्ष्म जिय उत्पन्न होते रहें उनके नित्य ही।।२६।।
अरे दर्शन शुद्ध हो अर सूत्र अध्ययन भी करें।
घोर चारित्र आचरे पर न नारियों के निर्जरा।।२७।।
इसलिए उनके लिंग को बस सपट ही जिनवर कहा।
कुलरूप वययुत विज्ञ श्रमणी कही जाती आर्यिका।।२८।।
त्रिवर्णी नीरोग तप के योग्य वय से युक्त हो।
सुमुख निन्दा रहित नर ही दीक्षा के योग्य हैं।।२९।।
रतनत्रय का नाश ही है भंग जिनवर ने कहा।
भंगयुत हो श्रमण तो सल्लेखना के योग्य ना।।३०।।

निश्चय से महिलाओं को उसी भव में मोक्ष नहीं देखा गया; इसलिए महिलाओं के आवरण सहित पृथक् चिह्न कहा गया है।

महिलाओं की परिणति स्वभाव से ही प्रमादमयी होती है; इसलिए उन्हें प्रमदा कहा गया है। प्रमाद की बहुलता होने से ही उन्हें प्रमदा कहा जाता है।

महिलाओं के मन में मोह, द्वेष, भय, ग्लानि और विचित्र प्रकार की माया निश्चित होती है; इसलिए उन्हें उसी भव से मोक्ष नहीं होता।

इस जीव लोक में महिलायें एक भी दोष से रहित नहीं होती और उनके अंग भी ढके हुए नहीं हैं; इसलिए उनके बाह्य का आवरण कहा है।

महिलाओं में शिथिलता और उनके चित्त में चंचलता होती है तथा अचानक (ऋतुसमय में) रक्त प्रवाहित होता है और उनमें सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है।

महिलाओं के लिंग (योनि स्थान) में, दोनों स्तनों के बीच में, नाभि में और काँख में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है – ऐसा होने पर उनके संयम कैसे हो सकता है ?

यद्यपि महिला सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, आगम के अध्ययन से भी युक्त हो और घोर चारित्र का आचरण भी करती हो; तथापि उसके निर्जरा नहीं होती – ऐसा कहा गया है।

इसलिए जिनेन्द्र भगवान ने उन महिलाओं का लिंग (वेष) वस्त्र सहित कहा है। कुल, रूप, उम्र से सहित जिनागमानुसार अपने योग्य आचरण करती हुईं वे श्रमणी-आर्यिका कहलाती हैं।

तीन वर्णों में से कोई एक वर्णवाला, नीरोग शरीरी, तपश्चरण को सहन करने योग्य उम्र व सुन्दर मुखवाला तथा लोकनिन्दा से रहित पुरुष दीक्षा ग्रहण करने के योग्य होता है।

रत्नत्रय के नाश को जिनेन्द्रदेव ने भंग कहा है और शेष भंग (शरीर के किसी अंग का खण्डित हो जाना, वायु का रोग हो जाना, अंडकोषों का बढ़ जाना आदि) के द्वारा वह सल्लेखना के योग्य नहीं होता।

आचार्य जयसेन ने उक्त गाथाओं की टीका में बहुत कुछ तो गाथाओं में समागत भाव का ही स्पष्टीकरण किया है; फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी हैं कि जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

२६वीं गाथा की टीका में वे स्वयं एक प्रश्न उठाते हैं कि जो दोष महिलाओं में बताये गये हैं; क्या वे दोष पुरुषों में नहीं हैं ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। **यद्यपि ये दोष थोड़े-बहुत पुरुषों में भी पाये जाते हैं; तथापि महिलाओं में बहुलता से पाये जाते हैं। होने मात्र से समानता नहीं होती। क्या विष की कणिका और विष के पर्वत को समान कहा जा सकता है ?**

दूसरी बात यह है कि पुरुषों में वज्रवृषभनाराचसंहनन नामक पहले संहनन के बल से दोषों को नष्ट करनेवाला मुनि के योग्य विशेष संयम होता है। उक्त दोषों की बहुलता से और वज्रवृषभनाराचसंहनन न होने के कारण स्त्रियों में उक्त संयम कैसे हो सकता है ?

प्रश्न – २७वीं गाथा में कहा गया है कि महिलाओं के निर्जरा नहीं होती। मोक्ष नहीं होता – यह बात तो ठीक, पर निर्जरा भी नहीं होती – यह कैसे माना जा सकता है?

अथ केऽपवादविशेषा इत्युपदिशति –

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥२२५॥

इस कथन की अपेक्षा क्या है ?

उत्तर – अरे भाई ! इसका भाव यह है कि उनके उसी भव में कर्मों के क्षय करने योग्य सम्पूर्ण निर्जरा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि प्रथम संहनन का अभाव होने से जिसप्रकार महिलायें सातवें नरक नहीं जातीं; उसीप्रकार मोक्ष भी नहीं जातीं।

प्रश्न – शास्त्र में भावस्त्रियों को तो मोक्ष जाना माना गया है। उक्त कथन का क्या आशय है?

उत्तर – भावस्त्रियों के प्रथम संहनन होता है और द्रव्य स्त्रीवेद का अभाव होने से उसी भव से मोक्ष जानेवाले परिणामों को रोकनेवाला तीव्र कामोद्रेक भी नहीं होता। अत: उन्हें मोक्ष होने में कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न – यदि द्रव्यस्त्रियों को मोक्ष नहीं होता तो फिर आर्यिकाओं में महाव्रत का आरोपण क्यों किया गया है ?

उत्तर – आर्यिकाओं के महाव्रत उपचार से कहे गये हैं और उपचार साक्षात् होने के योग्य नहीं होता।

विशेष बात यह है कि १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ को स्त्री मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि पूर्व भव में सोलहकारण भावनाएँ भाकर तीर्थंकर होते हैं और सम्यग्दृष्टि को स्त्रीवेद का बंध नहीं होता; तब वे स्त्री कैसे हो सकते हैं ? दूसरी बात यह है कि यदि मल्लिनाथ स्त्री थे तो फिर उनकी प्रतिमा स्त्री के रूप में क्यों नहीं लगाई जाती ?

प्रश्न – यदि स्त्रियाँ सदोष होती हैं तो फिर सीता, रुक्मणी, कुन्ती, द्रोपदी, सुभद्रा आदि स्त्रियाँ जिनदीक्षा ग्रहण कर सोलहवें स्वर्ग में कैसे गईं ?

उत्तर – इसमें कोई दोष नहीं; क्योंकि उनके लिए स्वर्ग में जाने का निषेध नहीं है। वहाँ से आकर पुरुष होकर मोक्ष जाने में भी कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि **स्त्रियों का उसी भव से मोक्ष जाने का निषेध है, अन्य भव से पुरुष होकर मोक्ष जाने में कोई दोष नहीं है ॥२०-३०॥**

२२४वीं गाथा में यह कहा गया है कि उत्सर्गमार्ग ही श्रेष्ठ है, अपवादमार्ग नहीं; और अब **इस गाथा में अपवादमार्ग में होनेवाली विशेष बातें समझा रहे हैं।**

उपकरणं जिनमार्गे लिङ्गं यथाजातरूपमिति भणितम्।
गुरुवचनमपि च विनयः सूत्राध्ययनं च निर्दिष्टम्।।२२५।।

यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः, स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनोपकारकारकत्वादुपकरणभूत एव, न पुनरन्यः।

तस्य तु विशेषाः सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंगभूताः कायपुद्गलाः श्रूयमाणतत्कालबोधकगुरुगीर्यमाणात्मतत्त्वद्योतकसिद्धोपदेशवचनपुद्गलाः, तथाधीयमाननित्यबोधकानादिनिधनशुद्धात्मतत्त्वद्योतनसमर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मकसूत्रपुद्गलाश्च, शुद्धात्मतत्त्वव्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणतपुरुषविनीतताभिप्रायप्रवर्तकचित्तपुद्गलाश्च भवन्ति। इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः।।२२५।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जन्मते शिशुसम नगन तन विनय अर गुरु के वचन।
आगम पठन हैं उपकरण जिनमार्ग का ऐसा कथन।।२२५।।

जिनमार्ग में यथाजातरूप नग्न दिगम्बर अवस्था को उपकरण कहा गया है और गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय को भी उपकरण कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"अपवादरूप अनिषिद्ध उपधि श्रामण्य पर्याय की सहकारी कारण के रूप में उपकार करनेवाली होने से उपकरण हैं, अन्य नहीं।

वे उपकरण इसप्रकार हैं – १. सभी प्रकार की कृत्रिमता से रहित, सहजरूप से अपेक्षित यथाजातरूपपने के कारण बहिरंगलिंगभूत काय पुद्गल, २. श्रवण योग्य तत्कालबोधक गुरु द्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व द्योतक उपदेशरूप वचन पुद्गल, ३. अध्ययन किये जाने वाले नित्यबोधक, अनादि-निधन आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्र पुद्गल और ४. शुद्धात्मतत्त्व को व्यक्त करनेवाली दार्शनिक पर्यायोंरूप परिणमित पुरुष के प्रति विनम्रता का अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाले चित्त पुद्गल – ये चार अपवादमार्ग की उपकरणरूप उपधि हैं। इनका अपवाद मार्ग में निषेध नहीं किया गया है।

तात्पर्य यह है कि काय की भांति मन और वचन भी वस्तुधर्म नहीं हैं।"

अथाप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिपालनविधानमुपदिशति –

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२२६॥

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जब मुनिराजों के आत्महित के निमित्तरूप शरीर, गुरुओं के वचन, जिनवाणी पठन और गुरुओं की विनय को भी उपकरण कहकर परिग्रह ही कहा है; तब अन्य परिग्रह की तो बात ही क्या करना ?

दूसरी विशेष बात यह है कि यहाँ जिनवाणी को नित्यबोधक और गुरुवचनों को तत्कालबोधक कहा है। शास्त्र तो हमें सहजभाव से चौबीसों घंटे सर्वत्र उपलब्ध हैं; हम जब चाहें, तब उन्हें पढ़ सकते हैं; पर गुरु के वचन सदा और सर्वत्र उपलब्ध नहीं रहते; वे तो हमें सुनिश्चित क्षेत्र-काल में ही प्राप्त होते हैं; इसलिए शास्त्रों को नित्यबोधक और गुरुवचनों को तत्कालबोधक कहा है।

तीसरी बात यह है कि कोई बात समझ में न आवे तो गुरुजी से पूछ सकते हैं; पर शास्त्रों के साथ यह सुविधा उपलब्ध नहीं है; क्योंकि उनसे हमारी ओर इकतरफा मार्ग (वनवे ट्रैफिक) है। उनकी बात हमें तो उपलब्ध है, पर हम अपनी बात उन तक नहीं पहुँचा सकते।

चौथी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि शास्त्रों के माध्यम से हम हजारों वर्ष पुराने सन्तों के वचनों का भी ज्ञान कर सकते हैं; पर गुरु वचनों में तो वर्तमान गुरुओं पर ही निर्भर रहना होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रों का अध्ययन और गुरुओं के प्रवचन – दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। दोनों की उपयोगिता भी असंदिग्ध है।

यद्यपि इन उपकरणों की उपयोगिता असंदिग्ध है; तथापि यहाँ उन्हें उपधि (परिग्रह) के रूप में ही स्वीकार किया गया है और उन्हें अपवादमार्ग में ही स्वीकार किया गया है, उत्सर्गमार्ग में नहीं ॥२२५॥

विगत गाथा में शरीर को उपधि कहा था, उपकरण कहा था; अब इस गाथा में उक्त अनिषिद्ध उपधि/शरीर के पालन की विधि पर प्रकाश डालते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इहलोक से निरपेक्ष यति परलोक से प्रतिबद्ध ना।
अर कषायों से रहित युक्ताहार और विहार में ॥२२६॥

इहलोकनिरापेक्ष: अप्रतिबद्ध: परस्मिन् लोके।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमण:।।२२६।।

अनादिनिधनैकरूपशुद्धात्मतत्त्वपरिणतत्वादखिलकर्मपुद्गलविपाकात्यन्तविविक्तस्वभावत्वेन रहितकषायात्वात्तदात्वमनुष्यत्वेऽपि समस्तमनुष्यव्यवहारबहिर्भूतत्वेनेहलोकनिरापेक्षत्वात्तथाभविष्यदमर्त्यादिभावानुभूतितृष्णाशून्यत्वेन परलोकाप्रतिबद्धत्वाच्च, परिच्छेद्यार्थोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थतच्छरीरसंभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमण:।

इदमत्र तात्पर्यम् – यतो हि रहितकषाय: ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयोरयुक्त्या प्रवर्तेत। शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव केवलं युक्ताहारविहार: स्यात्।।२२६।।

कषायरहित श्रमण इस लोक से निरपेक्ष और परलोक से अप्रतिबद्ध होने से युक्ताहार-विहारी होते हैं।

इस गाथा के भाव को अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''अनादिनिधन एकरूप शुद्धात्मतत्त्व में परिणत होने से मुनिराज समस्त कर्मपुद्गलों के विपाक से अत्यन्त भिन्न स्वभाव के द्वारा कषायरहित होने से, वर्तमान काल में मनुष्यत्व के होते हुए भी स्वयं समस्त मनुष्य व्यवहार से उदासीन होने के कारण इस लोक के प्रति निरपेक्ष (निस्पृह) हैं तथा भविष्य में होनेवाले देवादि भवों के अनुभव की तृष्णा से शून्य होने के कारण परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध हैं; इसलिए जिसप्रकार घट-पटादि ज्ञेयपदार्थों के जानने के लिए दीपक में तेल डाला जाता है और बाती को सुधारा जाता है; उसीप्रकार शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिए मुनिराज शरीर को युक्ताहार देते हैं और उसके माध्यम से युक्त विहार करते हैं; इसलिए वे युक्ताहारविहारी होते हैं।

यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि कषायरहित होने से मुनिराजों के वर्तमान मनुष्य शरीर के अनुराग से अथवा भावी देव शरीर के अनुराग से आहार-विहार में अयुक्त प्रवृत्ति नहीं होती; किन्तु शुद्धात्मतत्त्व की साधक श्रामण्य पर्याय के पालन के लिए वे युक्ताहारविहारी ही होते हैं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं; तथापि भावार्थ में दीपक के उदाहरण को इसप्रकार सांगोपांग घटित करते हैं –

''इस लोक और परलोक से निरपेक्ष व कषाय रहित होने से वे मुनिराज शरीररूपी दीपक

में ग्रास (कौर) रूपी तेल देकर परमार्थ पदार्थरूप घट-पट को प्रकाशित करते हैं; देखते हैं, जानते हैं। ऐसे मुनिराज ही युक्ताहारविहारी हैं, अन्य नहीं।''

मुनिराजों को न तो कोई वर्तमान भव के भोगों की लिप्सा है और न आगामी भवों में प्राप्त होनेवाले भोगों की आकांक्षा है। यही कारण है कि उनके विहार का प्रयोजन भी आत्मार्थ होता है और उनका आहार भी आत्मसाधना की अनुकूलता के लिए ही होता है। वे आहार के प्रति भी अत्यन्त निस्पृह रहते हैं और विहार के लिए भी सभी प्रकार की प्रतिबद्धताओं से मुक्त रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि वे मुनिराज न तो उदिष्ट आहार लेते हैं और न विहार करने के लिए किसी को वचन देते हैं। वे ३२ अन्तराय और ४६ दोष टालकर निर्दोष आहार लेते हैं और उनका विहार भी सभीप्रकार की लौकिक प्रतिबद्धताओं से मुक्त रहता है।।२२६।।

आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के उपरान्त एक गाथा आती है, जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्राप्त नहीं होती और जिसमें पन्द्रह प्रकार के प्रमादों को गिनाया गया है। गाथा मूलत: इसप्रकार है –

कोहादिएहिं चउहिं वि विकहाहिं तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं।।३१।।

(हरिगीत)

चार विकथा कषायें अर इन्द्रियों के विषय में।
रत श्रमण निद्रा-नेह में परमत्त होता है श्रमण।।३१।।

चार प्रकार की क्रोधादि कषायों से, चार प्रकार की विकथाओं से, पाँच इन्द्रियों के विषयों से, निद्रा से और स्नेह में उपयुक्त होता हुआ श्रमण प्रमत्त होता है।

उक्त कथन से ऐसा लगता है कि प्रमत्तविरत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज क्रोधादि कषायों से युक्त, चार विकथाओं और पाँच इन्द्रियों के विषयों में रत, स्नेहासक्त और निद्रालु होते होंगे, पर बात ऐसी नहीं है; क्योंकि उनके मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है; मात्र संज्वलन संबंधी कषायों का तीव्र उदय होता है। संज्वलन कषाय के उदयानुसार ही अन्य प्रमाद होते हैं। अत: यह नहीं समझना चाहिए कि वे गंदी-गंदी विकथाओं में उलझे रहते होंगे या सोते रहते होंगे।

जो यहाँ उन्हें प्रमादी कहा है, वह तो आत्मध्यानरूप अप्रमत्तदशा अर्थात् शुद्धोपयोगरूप दशा नहीं होने के कारण कहा है; तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति तो उनके

अथ युक्ताहारविहारः साक्षादनाहारविहार एवेत्युपदिशति –

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ।।२२७।।

यस्यानेषण आत्मा तदपि तपः तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहाराः ।।२२७।।

स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभैक्ष्यत्वाच्च युक्ताहारः, साक्षादनाहार एव स्यात्।

निरन्तर विद्यमान ही है। उनका प्रमाद विगत गाथाओं में कही गई उपधि या उपकरणरूप ही होता है; जिसमें निर्दोष आहार-विहार के विकल्प, शास्त्रपठन, गुरुवाणी श्रवण और गुरुओं के प्रति विनय व्यवहार ही आता है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि फिर यहाँ प्रमत्तदशा में पंचेन्द्रियों के विषयों में रत आदि भेदों की चर्चा क्यों की गई है ?

इसका सीधा-सच्चा उत्तर यह है कि प्रमत्तदशा अकेले छटवें गुणस्थान में ही नहीं होती, अपितु पहले से छटवें गुणस्थान तक होती है; आगे के सभी गुणस्थान अप्रमत्त दशा के हैं। शुद्धोपयोगरूप सभी गुणस्थान अप्रमत्त गुणस्थान हैं और शुभाशुभभाववाले सभी गुणस्थान प्रमत्त कहलाते हैं। उक्त पन्द्रह प्रकार का प्रमाद पहले से छटवें गुणस्थान तक अपनी-अपनी भूमिकानुसार पाया जाता है। **छटवें गुणस्थान में होनेवाली प्रमत्तदशा तो पीछी-कमण्डलु, शास्त्र तथा अध्ययन-अध्यापन और विनय व्यवहार तक ही सीमित है ।।३१।।**

२२६वीं गाथा में मुनिराजों को युक्ताहारविहारी बताया गया था; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **युक्ताहारविहारी एक प्रकार से साक्षात् अनाहारविहारी ही हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अरे भिक्षा मुनिवरों की एषणा से रहित हो।
वे यतीगण ही कहे जाते हैं अनाहारी श्रमण ।।२२७।।

एषणा (आहार की इच्छा) रहित आत्मा को युक्ताहार भी तप ही है और आत्मोपलब्धि के लिए प्रयत्नशील श्रमणों की भिक्षा भी एषणारहित होती है; इसलिए वे श्रमण अनाहारी ही हैं।

अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''स्वयं अनशनस्वभावी और एषणादोषशून्य भिक्षुक होने से युक्ताहारी श्रमण साक्षात् अनाहारी ही है। अब इसी बात को विस्तार से समझाते हैं–

तथाहि – यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुद्ध्यमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः, तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात्, इति कृत्वा ये तं स्वयमनशनस्वभावं भावयन्ति श्रमणाः तत्प्रतिषिद्धयेचैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्षं चरन्ति, ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त एव युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबन्धाभावात्साक्षादनाहारा एव भवन्ति। एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तिविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्येतेति ।।२२७।।

अथ कुतो युक्ताहारत्वं सिद्ध्यतीत्युपदिशति –

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ।।२२८।।

समस्त पुद्गलाहार से सदा ही शून्यस्वभावी आत्मा को जानते हुए समस्त अशन की तृष्णा से रहित स्वयं अनशन स्वभावी श्रमण के अनशन नामक तप है; क्योंकि अंतरंग की विशेष बलवत्ता है – ऐसा समझकर जो श्रमण आत्मा को अनशनस्वभावी अनुभव करते हैं और अपनी सिद्धि के लिए एषणाशून्य भिक्षा आचरते हैं; वे आहार करते हुए भी मानो साक्षात् अनाहारी हैं; क्योंकि युक्ताहारविहारी होने के कारण उनके स्वभाव-परभाव निमित्तिक बंध नहीं होता। जिसप्रकार युक्ताहारी साक्षात् अनाहारी है; उसीप्रकार स्वयं अविहारस्वभाववाला और समितिशुद्ध विहारवाला होने से युक्तविहारी साक्षात् अविहारी ही है – ऐसा गाथा में नहीं कहे जाने पर भी समझना चाहिए।’’

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही बताया गया है कि यद्यपि मुनिराज ३२ अन्तराय और ४६ दोष टालकर एषणा समिति पूर्वक आहार करते हैं और ईर्या समिति पूर्वक विहार करते हैं; तथापि उनका अपनापन अनशनस्वभावी और अविहार स्वभावी आत्मा में है; इसकारण वे निश्चयनय से अनाहारी और अविहारी ही हैं; क्योंकि आहार और विहार छोड़ना तो बहिरंग तप है; किन्तु आहार-विहार की तृष्णा रहित होना अंतरंग तप है।

यह तो आप जानते ही हैं कि बहिरंग तप से अंतरंग तप बलवान है ।।२२७।।

विगत गाथा और उसकी टीका में यह समझाया गया है कि युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी ही हैं और अब इस गाथा में उनके युक्ताहारविहारत्व को सिद्ध करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

तनमात्र ही है परिग्रह ममता नहीं है देह में।
शृंगार बिन शक्ति छुपाये बिना तप में जोड़ते ।।२२८।।

केवलदेहः श्रमणो देहे न ममेति रहितपरिकर्मा।
आयुक्तवांस्तं तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम्॥२२८॥

यतो हि श्रमणः श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेन केवलदेहमात्रस्योपधेः प्रसह्याप्रतिषेधकत्वात्केवलदेहत्वे सत्यपि देहे 'किं किंचण' इत्यादिप्राक्तनसूत्रद्योतितपरमेश्वराभिप्रायपरिग्रहेण न नाम ममायं ततो नानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेति परित्यक्तसमस्तसंस्कारत्वाद्रहितपरिकर्मा स्यात्। ततस्तन्ममत्वपूर्वकानुचिताहारग्रहणाभावाद्युक्ताहारत्वं सिद्ध्येत्।

यतश्च समस्तामप्यात्मशक्तिं प्रकटयन्ननन्तरसूत्रोदितेनानशनस्वभावलक्षणेन तपसा तं देहं सर्वारम्भेणाभियुक्तवान् स्यात्, तत आहारग्रहणपरिणामात्मकयोगध्वंसाभावाद्युक्तस्यैवाहारेण च युक्ताहारत्वं सिद्ध्येत॥२२८॥

देहमात्र परिग्रह है जिसके, ऐसे श्रमण ने शरीर में भी ममत्व छोड़कर उसके शृंगारादि से रहित वर्तते हुए अपने आत्मा की शक्ति को छुपाये बिना शरीर को तप के साथ जोड़ दिया है।

अमृतचन्द्राचार्य इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारण के रूप में केवल देहमात्र उपधि को श्रमण बलपूर्वक (हठ से) निषेध नहीं करता; इसलिए केवल देहवाला होने पर भी २२४वीं गाथा में बताये गये परमेश्वर के अभिप्राय को ग्रहण करके 'वस्तुतः यह शरीर मेरा नहीं है, इसलिए अनुग्रह योग्य भी नहीं है, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' – इसप्रकार देह के समस्त संस्कार (शृंगार) से रहित होने से परिकर्मरहित है। इसकारण उनके देह के ममत्व पूर्वक अनुचित आहार के ग्रहण का अभाव होने से युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।

दूसरे आत्मशक्ति को किंचित् मात्र भी छुपाये बिना समस्त आत्मशक्ति को प्रगट करके उन्होंने २२७वीं गाथा में कहे गये अनशनस्वभावी तप के साथ शरीर को सर्वारंभ से युक्त किया है; इसलिए आहार ग्रहण से होनेवाले योगध्वंस का अभाव होने से उनका आहार युक्ताहार (योगी का आहार) है। इसप्रकार उनके युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।"

इस गाथा में मात्र इतनी बात कही गई है कि श्रमण दो प्रकार से युक्ताहारी सिद्ध होता है। पहली बात तो यह है कि उसका ममत्व शरीर पर न होने से वह उचित आहार ही ग्रहण करता है; इसलिए वह युक्ताहारी है। दूसरी बात यह है कि 'आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव ही नहीं है' – ऐसे परिणामरूप योग मुनिराजों के निरंतर वर्तता है; इसलिए वह श्रमण योगी है; उसका आहार युक्ताहार है, योगी का आहार है। तात्पर्य यह है कि वह एषणा समिति पूर्वक आहार लेने से और अनशन स्वभावी होने से युक्ताहारी ही है॥२२८॥

अथ युक्ताहारस्वरूपं विस्तरेणोपदिशति –

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं।।२२९।।

एकः खलु स भक्तः अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्धः।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमांसः।।२२९।।

एककाल एवाहारो युक्ताहारः, तावतैव श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरस्य धारणत्वात्। अनेककालस्तु शरीरानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः, शरीरानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य। अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाप्रतिहतयोगत्वात्। प्रतिपूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथंचित् हिंसायतनीभवन् न युक्तः, प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य। यथालब्ध एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात्। अयथालब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः, विशेषप्रियत्व-

---

विगत गाथा में मुनिराजों को युक्ताहारी सिद्ध किया था और अब इस गाथा में उसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इकबार भिक्षाचरण से जैसा मिले मधु-मांस बिन।
अधपेट दिन में लें श्रमण बस यही युक्ताहार है।।२२९।।

मुनिराजों का वह युक्ताहार भिक्षाचरण से जैसा उपलब्ध हो जाय वैसा, रस की अपेक्षा से रहित नीरस, मधु-मांस से रहित, दिन में एकबार, अल्पाहार (ऊनोदर-अधपेट) ही होता है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"दिन में एक बार आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि उतने से ही श्रामण्यपर्याय का सहकारीकारणरूप शरीर टिका रहता है। एक से अधिक बार आहार लेना युक्ताहार नहीं है; क्योंकि शरीर के अनुराग से ही अनेक बार आहार लिया जाता है; इसलिए वह आहार अत्यन्त हिंसायतन (हिंसा का आयतन – घर) होने से योग्य नहीं है, युक्ताहार नहीं है तथा अनेक बार आहार लेनेवाला साधु शरीरानुराग से सेवन करनेवाला होने से योगी (युक्ताहार का सेवन करनेवाला) नहीं है।

अपूर्णोदर (ऊनोदर-अधपेट) आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि वह योग का घातक नहीं है। पूर्णोदर आहार (भरपेट भोजन) प्रतिहत योगवाला होने से कथंचित् हिंसायतन होता हुआ युक्ताहार नहीं है और पूर्णोदर आहार करनेवाला प्रतिहत योगवाला होने से योगी (युक्ताहार का सेवन करनेवाला) नहीं है।

लक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य। भिक्षाचरणेनैवाहारो युक्ताहारः, तस्यैवारम्भशून्यत्वात्। अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसंभवात्प्रसिद्धहिंसायतनत्वेन न युक्तः, एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य।

दिवस एवाहारो युक्ताहारः, तदेव सम्यगवलोकनात्। अदिवसे तु सम्यगलोकनाभावादनिवार्यहिंसायतनत्वेन न युक्तः, एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य।

अरसापेक्ष एवाहारो युक्ताहारः, तस्यैवान्तःशुद्धिसुन्दरत्वात्। रसापेक्षस्तु अन्तरशुद्ध्या प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः, अन्तरशुद्धिसेवकत्वेन न च युक्तस्य।

अमधुमांस एवाहारो युक्ताहारः, तस्यैवाहिंसायतनत्वात्। समधुमांसस्तु हिंसायतनत्वान्न

यथालब्ध (जैसा मिल गया, वैसा) आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि वही आहार विशेषप्रियतारूप अनुराग से रहित है। अयथालब्ध (अपनी पसन्द का प्रयत्नपूर्वक प्राप्त) आहार तो विशेषप्रियतारूप अनुराग से सेवन किया जाता है; इसलिए अत्यन्त हिंसायतनरूप होने से युक्ताहार नहीं है और अयथालब्ध आहार लेनेवाला विशेषप्रियता रूप अनुराग से सेवन करनेवाला होने से युक्ताहारी योगी नहीं है।

भिक्षाचरण से यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरंभशून्य है। अभिक्षाचरण से प्राप्त आहार में आरंभ होता ही है; इसलिए हिंसायतन है; अतः वह आहार युक्ताहार नहीं है। ऐसे आहार के सेवन में अंतरंग अशुद्धि प्रगट ही है; इसलिए वह आहार करनेवाला साधु युक्ताहारी योगी नहीं है।

दिन का आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि दिन में ही ठीक से देखा जा सकता है। रात्रि में कोई वस्तु ठीक से दिखाई नहीं देती; इसलिए रात्रि का भोजन हिंसायतन होने से युक्ताहार नहीं है और रात्रि भोजन में अंतरंग अशुद्धि व्यक्त ही है; इसलिए रात्रि में भोजन करनेवाला साधु युक्ताहारी योगी नहीं है।

रस की अपेक्षा से रहित आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि वही अंतरंग शुद्धि युक्त है। रस की अपेक्षावाला आहार तो अंतरंग अशुद्धि से अत्यन्त हिंसायतन है; इसलिए युक्ताहार नहीं है। उसका सेवन करनेवाला, अंतरंग अशुद्धि पूर्वक सेवन करता है; इसलिए वह साधु युक्ताहारी योगी नहीं है।

मधु-मांस रहित आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि उसी के हिंसायतनपने का अभाव है। मधु-मांस सहित भोजन तो हिंसायतन होने से युक्ताहार नहीं है और ऐसे आहार के सेवन से अंतरंग अशुद्धि व्यक्त होने से ऐसा आहार करनेवाला साधु युक्ताहारी योगी नहीं है। यहाँ मधु-

युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य। मधुमांसमत्र हिंसायतनोपलक्षणं, तेन समस्तहिंसायतनशून्य एवाहारो युक्ताहारः ।।२२९।।

मांस हिंसायतन का उपलक्षण है; इसलिए 'मधु-मांस रहित आहार ही युक्ताहार है' – इस कथन से यह समझना चाहिए कि समस्त हिंसायतन शून्य आहार ही युक्ताहार है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में गाथा का अर्थ करने के उपरान्त कहते हैं कि निश्चयनय से कही गई ज्ञानानन्द प्राणों की रक्षारूप और रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित भाव-अहिंसा तथा परजीवों के बहिरंग प्राणों के व्यपरोपण की निवृत्ति रूप द्रव्य-अहिंसा – ये दोनों प्रकार की अहिंसा युक्ताहार में ही संभव है। इसलिए जो इससे विपरीत आहार है, वह युक्ताहार नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें भावहिंसा और द्रव्यहिंसा – दोनों का सद्भाव होता है।

इस सबका संक्षिप्त सार यह है कि मुनिराज दिन में एक बार भिक्षावृत्ति से सरस या नीरस, मद्य-मांस से रहित, समस्त हिंसायतन से मुक्त, जैसा जो कुछ प्रासुक आहार, सहजभाव से विधिपूर्वक प्राप्त हो जाय, उसमें से अपने शरीर को टिकाने के लिए वीतराग भाव से थोड़ा-बहुत ग्रहण कर लेते हैं। मुनिराजों का इसप्रकार का आहार ही युक्ताहार है।।२२९।।

इसके बाद तात्पर्यवृत्ति टीका में ३ गाथाएँ प्राप्त होती हैं, जो तत्त्वप्रदीपिका में नहीं हैं। उनमें से आरंभ की दो गाथाएँ तो मांस के दोषों को बतानेवाली ही हैं और अन्त की एक गाथा में यह कहा गया है कि पाणिगत आहार प्रासुक होने पर भी अन्य को नहीं देना चाहिए।

२२९वीं गाथा में युक्ताहार की व्याख्या करते हुए अन्त में यह कहा गया है कि मधु व मांस सर्वथा त्यागने योग्य हैं। उसी संदर्भ में प्रस्तुत आरंभ की दो गाथाओं में मांसाहार के दोषों को विस्तार से समझाया जा रहा है। गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं –

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ।।३२।।
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ।।३३।।

(हरिगीत)

पकते हुए अर पके कच्चे माँस में उस जाति के।
सदा ही उत्पन्न होते हैं निगोदी जीव वस ।।३२।।

जो पके कच्चे माँस को खावें छुयें वे नारि-नर।
जीवजन्तु करोड़ों को मारते हैं निरन्तर ।।३३।।

पके, कच्चे अथवा पकते हुए मांस के टुकड़ों में, उसी जाति के निगोदिया जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए जो पके हुए या बिना पके हुए मांस के टुकड़ों को खाता है अथवा स्पर्श करता है; वह वस्तुत: अनेक करोड़ों जीवों के समूह का घात करता है।

तात्पर्यवृत्ति टीका में भी गाथाओं के भाव को ही दुहरा दिया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक श्रावकाचार में भी इसीप्रकार के दो छन्द प्राप्त होते हैं। लगता तो ऐसा है कि मानो उन्होंने इन्हीं गाथाओं का संस्कृत भाषा में पद्यानुवाद कर दिया है। वे छन्द इसप्रकार हैं –

(आर्या छन्द)

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ।।६७।।
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सतत निचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ।।६८।।

कच्ची, पकी तथा पकती हुई मांसपेशियों में उसी जाति के सम्मूर्च्छन जीवों का निरन्तर उत्पादन होता रहता है। जो जीव कच्ची अथवा पकी हुई मांस की पेशी खाता है अथवा छूता है; वह पुरुष निरन्तर इकट्ठे हुए अनेक जाति के जीव समूह के पिंड का घात करता है।

प्रश्न – क्या मुनिराजों के आहारसंबंधी चर्चा के संदर्भ में मांस-मधु की बात कुछ अटपटी नहीं लगती ? जो वस्तुएँ सामान्य श्रावक भी नहीं खाते, उनके बारे में उक्त प्रसंग में कुछ कहना..........?

उत्तर – यहाँ प्रत्यक्ष मधु-मांस की बात नहीं है, अपितु त्रस जीवों के शरीर को मांस कहते हैं और असावधानी से या अमर्यादित वस्तुओं के सेवन से जो परोक्ष संभावना है, उससे सावधान रहने की बात है। इस लोक में कुछ लोग ऐसे भी तो हैं; जो इसप्रकार के आरोप तीर्थंकर मुनिराज महावीर पर भी लगाते हैं; अत: यह चर्चा यहाँ अनावश्यक नहीं है ।।३२-३३ ।।

तीसरी गाथा इसप्रकार है –

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स।
दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ।।३४।।

अथोत्सर्गापवादमैत्रीसौस्थित्यमाचरणस्योपदिशति –

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि।।२३०।।

बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा।
चर्यां चरतु स्वयोग्यां मूलच्छेदो यदा न भवति।।२३०।।

बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा

(हरिगीत)

जिनागम अविरुद्ध जो आहार होवे हस्तगत।
नहीं देवे दूसरों को दे तो प्रायश्चित योग्य हैं।।३४।।

हाथ में आया हुआ आगम से अविरुद्ध आहार दूसरों को नहीं देना चाहिए। दे दिये जाने पर वह भोजन खाने योग्य नहीं रहता। फिर भी यदि कोई वह भोजन करता है तो वह प्रायश्चित्त के योग्य है।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए टीका में लिखा गया है कि **जो हाथ में आया हुआ आहार दूसरों को नहीं देता है, उससे उसकी मोहरहित आत्मतत्त्व की भावनारूप मोहरहित-वीतरागता ज्ञात होती है। तात्पर्य यह है कि उसे किसी से राग ही नहीं है तो फिर वह किसी को वह आहार देगा ही क्यों ? क्योंकि राग बिना तो आहार दिया नहीं जाता। अरे भाई ! मुनिराज तो आहार लेते हैं; देते नहीं। वे स्वयं तो आहार बनाते नहीं और उनके लिए दूसरों से प्राप्त आहार दूसरे को देने के भावरूप दया उनके वीतरागी व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं है।।३४।।**

२२९वीं गाथा में युक्ताहार की विशेषताएँ बताई गई थीं और अब इस गाथा में उत्सर्ग और अपवादमार्ग की मैत्री दिखाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मूल का न छेद हो इस तरह अपने योग्य ही।
वृद्ध बालक श्रान्त रोगी आचरण धारण करें।।२३०।।

बाल, वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) अथवा ग्लान – रोगी श्रमण, मूल का छेद जैसे न हो, उसप्रकार अपने योग्य आचरण करें।

अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–
“बाल, वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) और रोगी श्रमणों के द्वारा भी, शुद्धात्मतत्त्व के मूल

संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः। बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः।

बालवृद्धश्रान्तग्लानेन संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः।

बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृदाचरणमाचरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः।

अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम्॥२३०॥

साधक संयम का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य अति कठोर आचरण किया जाना ही उत्सर्गमार्ग है। इसीप्रकार बाल, वृद्ध, श्रान्त और रोगी श्रमणों के द्वारा शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का मूलभूत साधन होने से शरीर का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य मृदु आचरण किया जाना ही अपवाद मार्ग है।

बाल, वृद्ध, श्रान्त और रोगी श्रमणों द्वारा शुद्धात्मतत्त्व के मूल साधक संयम का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य अति कठोर आचरण करते हुए भी शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का मूलभूत साधन होने से शरीर का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य मृदु आचरण किया जाना अपवाद सापेक्ष उत्सर्गमार्ग है।

इसीप्रकार बाल, वृद्ध, श्रान्त और रोगी श्रमणों द्वारा शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का मूलभूत साधन होने से शरीर का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य मृदु आचरण करते हुए भी शुद्धात्मतत्त्व के मूल साधक संयम का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य अति कर्कश आचरण करना उत्सर्ग सापेक्ष अपवादमार्ग है।

उक्त कथन में यह कहा गया है कि मुनिराजों को सर्वप्रकार से उत्सर्ग और अपवादमार्ग की मैत्रीपूर्वक अपने आचरण को व्यवस्थित करना चाहिए।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुसरण करते दिखाई देते हैं; तथापि वे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की परिभाषा सरल भाषा में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

अथोत्सर्गापवादविरोधदौ:स्थमाचरणस्योपदिशति –

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ।।२३१।।

"अपने शुद्धात्मा से भिन्न बहिरंग-अंतरंगरूप सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग उत्सर्गमार्ग है और उक्त उत्सर्ग मार्ग में असमर्थ मुनिराजों द्वारा शुद्धात्मा की भावना के सहकारी-कारणभूत कुछ प्रासुक आहार, ज्ञान के उपकरण आदि जिस मार्ग में ग्रहण किये जाते हैं, वह मार्ग अपवादमार्ग है।"

उक्त गाथा में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराजों के संदर्भ में चार मार्गों की चर्चा की है – १. उत्सर्गमार्ग, २. अपवादमार्ग, ३. अपवाद सापेक्ष उत्सर्गमार्ग और ४. उत्सर्ग सापेक्ष अपवादमार्ग।

शुद्धोपयोगरूप सातवें और उसके आगे के गुणस्थानों में उत्सर्गमार्ग ही होता है, जो साक्षात् मुक्ति का कारण है। तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्ध परिणति के साथ रहनेवाले शुभोपयोगरूप छठवें गुणस्थान में अपवादमार्ग होता है; जो देवलोक आदि का कारण है। इसप्रकार मुनिराज अपवाद से उत्सर्ग में और उत्सर्ग से अपवाद में जाते-आते रहते हैं।

यहाँ मूल बात यह है कि बाल, वृद्ध, थकित और रोगी मुनिराज इनमें से कौनसा मार्ग अपनाये ? इसका समाधान करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि वे अपवाद सापेक्ष उत्सर्गमार्ग और उत्सर्ग सापेक्ष अपवादमार्ग को अपनायें।

यदि कोई मुनिराज उत्सर्गमार्ग के हठ से अतिकर्कश आचरण के पालने से मृत्यु को प्राप्त हो गये तो उनका संयम नष्ट हो जायेगा; क्योंकि देवलोक में संयम होता ही नहीं है; अत: यदि संयम की रक्षा करनी है तो ऐसा कठोर आचरण करने का हठ नहीं रखना चाहिए कि जिससे देह ही छूट जाये।

इसीप्रकार मृदु आचरण के लोभ से यदि एकान्तत: मृदु आचरण ही रखा, तब भी संयम कायम नहीं रह सकेगा। इसलिए समझदारी इसी में है कि अपनी शक्ति अनुसार अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग और उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद मार्ग को अपनाया जाना चाहिए ।।२३०।।

विगत गाथा में यह कहा गया है कि उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग में मैत्री पूर्वक आचरण होने से मुनिधर्म में सुस्थितपना रहता है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि यदि इनमें परस्पर मैत्री न रहे, विरोध रहे तो मुनिमार्ग में सुस्थितपना नहीं रहेगा। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

आहारे वा विहारे देशं कालं श्रमं क्षमामुपधिम्।
ज्ञात्वा तान् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी सः ।।२३१।।

अत्र क्षमाग्लानत्वहेतुरुपवासः, बालवृद्धत्वाधिष्ठानं शरीरमुपधिः; ततो बालवृद्धश्रान्तग्लाना एव त्वाकृष्यन्ते। अथ देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहार विहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव, तद्वरमुत्सर्गः।

देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति, तद्वरमपवादः।

देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति, तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः।

(हरिगीत)

श्रमण श्रम क्षमता उपधि लख देश एवं काल को।
जानकर वर्तन करे तो अल्पलेपी जानिये ।।२३१।।

जो श्रमण आहार अथवा विहार में; देश, काल, श्रम, क्षमता और उपधि को जानकर प्रवर्तन करते हैं; वे अल्पलेपी होते हैं।

आचार्य अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"क्षमता और ग्लानता का हेतु उपवास है और बालत्व और वृद्धत्व की अधिष्ठान शरीररूप उपधि है; इसलिए यहाँ टीका में बाल, वृद्ध, श्रान्त और ग्लान ही लिये गये हैं।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि मूल गाथा में क्षमा और उपधि शब्द हैं; तथापि टीका में उनका आशय लेकर बाल, वृद्ध, श्रान्त और ग्लान शब्दों का ही प्रयोग किया गया है।

यदि देश-कालज्ञ भी बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से उसे अल्पलेप होता ही है, लेप का सर्वथा अभाव नहीं होता; इसलिए उत्सर्गमार्ग ही अच्छा है।

यदि देश-कालज्ञ भी बाल-वृद्धत्व-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो उसे मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्पलेप ही होता, अधिक लेप नहीं होता; इसलिए अपवादमार्ग ही अच्छा है।

यदि देश-कालज्ञ भी बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से किये जानेवाले आहार-विहार से होनेवाले अल्पलेप के भय से अपवादमार्ग में प्रवृत्ति न करे तो अति कर्कश आचरण से अक्रम से शरीर का पात करके देवलोक में चला जाता है। वहाँ उसे समस्त संयमामृत का वमन

देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतया-शक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति, तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवाद:।

अत: सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं, तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्ति: स्याद्वाद: ।।२३१।।

हो जाता है और तप करने का अवकाश ही नहीं रहता है; इसकारण महान लेप होता है, क्योंकि वहाँ उसका प्रतिकार अशक्य है; इसलिए अपवाद निरपेक्ष उत्सर्गमार्ग श्रेष्ठ नहीं है।

यदि देश-कालज्ञ भी बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से किये जानेवाले आहार-विहार से होनेवाले अल्पलेप को न गिनकर अपवादमार्ग में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरणरूप होकर असंयत जनों के समान संयम विरोधी होने से उस समय तप करने का अवकाश ही नहीं रहता है; इसकारण महानलेप होता है; क्योंकि उसका प्रतिकार अशक्य है। इसलिए उत्सर्ग निरपेक्ष अपवादमार्ग श्रेष्ठ नहीं है।

इसलिए उत्सर्ग और अपवाद के परस्पर विरोध से होनेवाला दुस्थित आचरण सर्वथा निषेध्य है, त्यागने योग्य है। इसीलिए परस्पर सापेक्ष उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग से जिसकी वृत्ति प्रगट होती है – ऐसा स्याद्वाद ही सर्वथा अनुसरण करने योग्य है।''

इस गाथा का निष्कर्ष यह है कि जबतक शुद्धोपयोग में पूर्णत: लीन न हो जाय, तबतक साधना के लिए उत्सर्ग और अपवादमार्ग की मित्रता को साधना चाहिए। अपनी निर्बलता का लक्ष्य रखे बिना उत्सर्ग मार्ग के आग्रह से अति कर्कश आचरण का हठ नहीं रखना चाहिए। इसीप्रकार उत्सर्गरूप ध्येय की उपेक्षा कर मात्र अपवाद के आश्रय से शिथिलता का सेवन भी नहीं करना चाहिए। इसप्रकार वर्तन करना चाहिए कि जिसमें हठ भी न हो और शिथिलता भी न हो। हठ से कठोर आचरण और शिथिलता से कोमल आचरण – दोनों में ही संयम का नाश होता है। अत: न तो उत्सर्ग के हठ से कठोर आचरण करना चाहिए और न अपवाद के छल से अति मृदु आचरण करना चाहिए। सर्वज्ञ भगवान का मार्ग अनेकान्तरूप है; इसलिए अपनी स्थिति का विचार कर जो भी लाभकर लगे, उसप्रकार से आचरण करना चाहिए।

इसके उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्रदेव चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक महाधिकार में समागत आचरण प्रज्ञापन अधिकार का समापन करते हुए तत्त्वप्रदीपिका टीका में एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम्।।१५।।

इत्याचरणप्रज्ञापनं समाप्तम्।

(मनहरण कवित्त)

उतसर्ग और अपवाद के विभेद द्वारा।
भिन्न-भिन्न भूमिका में व्याप्त जो चरित्र है।।
पुराणपुरुषों के द्वारा सादर है सेवित जो।
उसे प्राप्त कर संत हुए जो पवित्र हैं।।
चित्सामान्य और चैतन्यविशेष रूप।
जिसका प्रकाश ऐसे निज आत्मद्रव्य में।।
क्रमशः पर से पूर्णतः निवृत्ति करके।
सभी ओर से सदा वास करो निज में।।१५।।

हे मुनिवरो ! इसप्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषों के द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा पृथक्-पृथक् अनेक भूमिकाओं में व्याप्त चारित्र को प्राप्त करके, क्रमशः अतुलनिवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और चैतन्यविशेषरूप से प्रकाशित निजद्रव्य में चारों ओर से स्थिति करो।

आचरणप्रज्ञापनाधिकार के समापन पर लिखे गये इस छन्द में इस अधिकार की सम्पूर्ण विषयवस्तु का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उत्सर्ग और अपवाद की मैत्रीवाले इस मुक्तिमार्ग को पुराणपुरुषों ने विशेष आदरपूर्वक अपनाकर मुक्ति प्राप्त की है; इसलिए हे मुनिजनो! तुम भी उन्हीं के समान जगत से पूर्ण निवृत्ति लेकर सामान्य-विशेषात्मक निजद्रव्य में स्थिति करो, लीन हो जाओ। एकमात्र इसमें ही सार है, शेष सब असार संसार है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में चरणानुयोगसूचकचूलिका महाधिकार के अंतर्गत आचरणप्रज्ञापन अधिकार समाप्त होता है।

• • •

मोक्षमार्गप्रज्ञापनाधिकार

(गाथा २३२ से गाथा २४४ तक)

अथ श्रामण्यापरनाम्नो मोक्षमार्गस्यैकाग्र्यलक्षणस्य प्रज्ञापनं तत्र तन्मूलसाधनभूते प्रथममागम एव व्यापारयति –

एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ।।२३२।।

मंगलाचरण

(दोहा)

जिनध्वनि से निज आत्मा जो जाने वे जीव।
नित आतमरत अनुभवी रत्नत्रयी सदीव ।।

आगम और परमागम के अध्ययन-मनन की प्रेरणा देनेवाले इस मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार में आरंभ की गाथाओं में आगम के अभ्यास की उपयोगिता पर भरपूर प्रकाश डालकर उसके बाद आनेवाली गाथाओं में यह बताया जायेगा कि परमागम में प्रतिपादित आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली आत्मानुभूति के बिना अकेले आगम के अभ्यास से कुछ भी होनेवाला नहीं है। **यद्यपि यह परम सत्य है कि आगम के अभ्यास बिना वस्तु का सही स्वरूप समझ में आना संभव नहीं है, अत: आगम का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है; तथापि मुक्ति तो परमागम के अभ्यास पूर्वक होनेवाले शुद्धोपयोग से ही होगी, आगम-परमागम के अभ्यासरूप शुभभाव से नहीं।**

इस मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार की पहली गाथा और ग्रन्थाधिराज प्रवचनसार की २३२वीं गाथा की उत्थानिका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है – ऐसे एकाग्रता लक्षणवाले मोक्षमार्ग के प्रज्ञापन अधिकार में सबसे पहले मोक्षमार्ग के मूल साधनभूत आगम में व्यापार कराते हैं।** तात्पर्य यह है कि आगमाभ्यास करने की प्रेरणा देते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं।
भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ है ।।२३२।।

एकाग्रता को प्राप्त पुरुष श्रमण होते हैं और एकाग्रता पदार्थों के निश्चय करनेवाले को ही होती है तथा पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है; इसलिए आगम का अभ्यास ही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, मुख्य है।

ऐकाग्र्यगतः श्रमणः ऐकाग्र्यं निश्चितस्य अर्थेषु।
निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा ॥२३२॥

श्रमणो हि तावदैकाग्र्यगत एव भवति। ऐकाग्र्यं तु निश्चितार्थस्यैव भवति। अर्थनिश्चयस्त्वागमादेव भवति। तत आगम एव व्यापारः प्रधानतरः, न चान्या गतिरस्ति।

यतो न खल्वागममन्तरेणार्था निश्चेतुं शक्यन्ते, तस्यैव हि त्रिसमयप्रवृत्तत्रिलक्षणसकलपदार्थसार्थयाथात्म्यावगमसुस्थितान्तरङ्गगम्भीरत्वात्।

न चार्थनिश्चयमन्तरेणैकाग्र्यं सिद्ध्येत्, यतोऽनिश्चितार्थस्य कदाचिन्निश्चिकीर्षाकुलितचेतसः समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया, कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया, कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्यन्तविसंस्थुलतया, कृतनिश्चयनिःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात्।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

“एकाग्रता को प्राप्त व्यक्ति ही श्रमण होता है और एकाग्रता पदार्थों का निश्चय करनेवाले व्यक्ति को ही होती है। पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा ही होता है; इसलिए आगम का अध्ययन ही प्रधान है; क्योंकि अन्य कोई गति (उपाय) नहीं है।

वस्तुतः बात यह है कि आगम के अभ्यास बिना पदार्थों का निश्चय (निर्णय) नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह आगम ही त्रिकाल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप तीन लक्षण वाले समस्त पदार्थों के सम्यक् ज्ञान द्वारा सुस्थित है, अंतरंग से गंभीर है।

दूसरी बात यह है कि पदार्थों के निश्चय बिना एकाग्रता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि जिसे पदार्थों का निश्चय नहीं है; वह कभी तो पदार्थों के निश्चय करने की इच्छा से आन्दोलित होता हुआ चंचल और व्याकुल रहता है, कभी पर में कुछ करने की इच्छारूप ज्वर के परवश होता हुआ समस्त पदार्थों को स्वयं सर्जन की इच्छा करता हुआ विश्व व्यापाररूप परिणमित होने से प्रतिक्षण क्षुब्ध रहता है और कभी भोगने की इच्छा से भावित होता हुआ विश्व को स्वयं भोगरूप ग्रहण करके राग-द्वेषरूप कलुषित चितवृत्ति के कारण वस्तुओं के इष्ट-अनिष्ट विभाग द्वारा द्वैत प्रवर्तित करता हुआ प्रत्येक वस्तुरूप परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिरता को प्राप्त होता है; इसलिए उस अनिश्चयी जीव के कृतनिश्चय, निष्क्रिय और निर्भोग अर्थात् युगपद विश्व को पी जाने पर भी विश्वरूप न होनेवाले उस एक निर्भोग आत्मा को नहीं देखने से निरन्तर व्यग्रता ही रहती है, एकाग्रता नहीं होती।

न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्ध्येत्, यतोऽनैकाग्र्यस्यानेकमेवेदमिति पश्यतस्तथाप्रत्ययाभिनिविष्टस्यानेकमेवेदमिति जानतस्तथानुभूतिभावितस्यानेकमेवेदमितिप्रत्यर्थविकल्पव्यावृत्तचेतसा संततं प्रवर्तमानस्य तथावृत्तिदुःस्थितस्य चैकात्मप्रतीत्यनुभूतिवृत्तिस्वरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतिप्रवृत्तदृशिज्ञप्तिवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकाग्र्याभावात् शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपं श्रामण्यमेव न स्यात्।

अतः सर्वथा मोक्षमार्गापरनाम्नः श्रामण्यस्य सिद्धये भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञे प्रकटानेकान्तकेतने शब्दब्रह्माणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम्।।२३२।।

और एकाग्रता के बिना श्रामण्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जिसके एकाग्रता नहीं है, वह पुरुष 'यह अनेक ही है' – ऐसा श्रद्धान करता हुआ इसप्रकार के विश्वास से आग्रही, इसीप्रकार की ज्ञानानन्दानुभूति से भावित और इसीप्रकार के विकल्प से खण्डित चित्त सहित सतत प्रवृत्त होता हुआ इसप्रकार के चारित्र से दुःस्थित होता हैं; इसलिए उसे एक आत्मा की प्रतीति, अनुभूति और प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से प्रवर्तमान दृशि-ज्ञप्ति-वृत्तिरूप एकाग्रता नहीं होने से शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्तिरूप श्रामण्य ही नहीं होता।

अतः मोक्षमार्गरूप श्रामण्य की सिद्धि के लिए मुमुक्षुओं को भगवान श्री अरहंत सर्वज्ञकथित अनेकान्तमयी शब्दब्रह्म में निष्णात होना चाहिए।''

प्रश्न – गाथा और टीका में अकेले आगम के अभ्यास की ही प्रेरणा दी गई है; तो क्या पदार्थों का निश्चय करने के लिए परमागम के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर – अरे भाई ! परमागम भी आगम का ही अंग है; अतः आगम कहने पर उसमें अध्यात्म का प्रतिपादक परमागम भी समाहित हो जाता है। हो सकता है कि आचार्य जयसेन के सामने भी इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित हुआ हो; यही कारण है कि यद्यपि वे इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में अत्यन्त संक्षेप में स्पष्ट करते हैं; तथापि यह स्पष्ट करना नहीं भूलते कि पदार्थों का निश्चय न केवल जीव और कर्मों के भेदों का प्रतिपादन करनेवाले आगम के अभ्यास से ही होता है, अपितु ज्ञानानन्दस्वभावी परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले अध्यात्म नामक परमागम से भी होता है; अतः आगम और परमागम – दोनों का अभ्यास करना चाहिए।

यद्यपि यह बात सत्य ही है; तथापि यहाँ मुख्यरूप से आगमाभ्यास की ही प्रेरणा दी गई है; क्योंकि आगे चलकर आचार्यदेव स्वयं परमागम के अभ्यास की महिमा स्थापित करते हुए कहेंगे कि आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान निरर्थक है।

अथागमहीनस्य मोक्षाख्यं कर्मक्षपणं न संभवतीति प्रतिपादयति –

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।२३३।।

आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं विजानाति।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः।।२३३।।

न खल्वागममन्तरेण परात्मज्ञानं परमात्मज्ञानं वा स्यात्, न च परात्मज्ञानशून्यस्य परमात्मज्ञानशून्यस्य वा मोहादिद्रव्यभावकर्मणां ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां वा क्षपणं स्यात्।

तथाहि – न तावन्निरागमस्य निरवधिभवापगाप्रवाहवाहिमहामोहमलमलीमसस्यास्य

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि आगम और परमागम के अभ्यास बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता और पदार्थों के निश्चय बिना अश्रद्धा जनित तरलता, परकर्तृत्वाभिलाषाजनित क्षोभ और परभोक्तृत्वाभिलाषाजनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता नहीं होती और एकाग्रता बिना एक आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और वर्तनरूप शुद्धात्मप्रवृत्ति न होने से मुनिपना नहीं होता; इसलिए मुमुक्षुओं का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रम्हरूप आगम और परमागम में प्रवीणता प्राप्त करना ही है।।२३२।।

विगत गाथा में सर्वज्ञकथित आगम के अभ्यास की प्रेरणा दी गई; क्योंकि आगम के अभ्यास बिना वस्तुस्वरूप समझना संभव नहीं है और अब इस गाथा में उसी बात को आगे बढाते हुए कह रहे हैं कि **आगमहीन श्रमण के कर्मों का क्षय संभव नहीं है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्व-पर को नहिं जानते।
वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्व-पर को नहिं जानते।।२३३।।

आगमहीन श्रमण आत्मा (स्वयं) को और पर को नहीं जानता। स्व-पर पदार्थों को नहीं जाननेवाला भिक्षु कर्मों का क्षय किसप्रकार कर सकता है?

तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''वस्तुतः बात यह है कि आगम के अभ्यास बिना न तो स्व-परभेदविज्ञान होता है और न त्रिकाली ध्रुव निज परमात्मा का ही ज्ञान होता है। परात्मज्ञान (भेदविज्ञान) और परमात्मज्ञान से शून्य व्यक्ति के द्रव्य मोहादि और भाव मोहादि कर्मों अथवा ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का क्षय नहीं होता।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – अनादि निरवधि संसार-सरिता के प्रवाह को

जगतः पीतोन्मत्तकस्येवावकीर्णविवेकस्याविविक्तेन ज्ञानज्योतिषा निरूपयतोऽप्यात्मात्मप्रदेशनिश्चितशरीरादिद्रव्येषूपयोगमिश्रितमोहरागद्वेषादिभावेषु च स्वपरनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावादयं परोऽयमात्मेति ज्ञानं सिद्ध्येत्। तथा च त्रिसमयपरिपाटीप्रकटितविचित्रपर्यायप्राग्भारागाधगम्भीरस्वभावं विश्वमेव ज्ञेयीकृत्य प्रतपतः परमात्मनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावात् ज्ञानस्वभावस्यैकस्य परमात्मनो ज्ञानमपि न सिद्ध्येत्।

परात्मपरमात्मज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैर्मोहरागद्वेषादिभावैश्च सहैक्यमाकलयतो वध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणां क्षपणं न सिद्ध्येत्, तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानायाः परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां क्षपणमपि न सिद्ध्येत्।

अतः कर्मक्षपणार्थिभिः सर्वथागमः पर्युपास्यः ॥२३३॥

बहाने वाले महामोहमल्ल से मलिन यह आगमहीन जगत, धतूरा पिये हुए मनुष्य की भांति विवेक के नाश को प्राप्त होने से विवेकशून्य ज्ञानज्योति से यद्यपि देखता है; तथापि उसे स्वपरनिश्चायक आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण आत्मा में आत्मप्रदेशस्थित शरीरादि द्रव्यों में तथा उपयोग-मिश्रित मोह-राग-द्वेषादि भावों में 'यह पर है और यह आत्मा (स्व) है' – ऐसा ज्ञान (भेदज्ञान) सिद्ध नहीं होता तथा परमात्मनिश्चायक आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण विचित्र पर्यायों के समूहरूप और अगाध गंभीर स्वभाववाले विश्व को ज्ञेय बनानेवाले प्रतापवंत ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा का ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता।

इसप्रकार परात्मज्ञान और परमात्मज्ञान से शून्य आत्मा को द्रव्यकर्मों के उदय से होनेवाले शरीरादि और तत्संबंधी मोह-राग-द्वेषादि भावों के साथ एकता का अनुभव करने के कारण वध्य-घातक भाव के विभाग का अभाव होने से मोहादि द्रव्य-भावकर्मों का क्षय सिद्ध नहीं होता; तथा परज्ञेयनिष्ठता से प्रत्येक वस्तु के उत्पाद-विनाशरूप परिणमित होने से अनादिकाल से परिवर्तन को प्राप्त ज्ञप्ति का परिवर्तन परमात्मनिष्ठता के अतिरिक्त अनिवार्य होने से ज्ञप्ति-परिवर्तनरूप कर्मों का क्षय भी सिद्ध नहीं होता।

इसलिए कर्मक्षयार्थियों को सभीप्रकार से आगम की उपासना करना चाहिए।''

आचार्य जयसेन विगत गाथा में कही गई अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए इस गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में गोम्मटसार : जीवकाण्ड की गाथा २ और दोहापाहुड की गाथा १२८ का उल्लेख करते हुए अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं –

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु॥२३४॥

"गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और १४ मार्गणायें तथा उपयोग – ये क्रम से बीस प्ररूपणायें कही गई हैं।[1] जो व्यक्ति उक्त गाथा में कहे गये आगम को नहीं जानता और इसीप्रकार जिसके द्वारा अपने शरीर से भिन्न अपना परमार्थ, परमपदार्थ भगवान आत्मा नहीं जाना गया; वह अंधा व्यक्ति दूसरे अंधों को क्या मार्ग दिखायेगा ?[2]

इसप्रकार जो पुरुष दोहापाहुड में कहे गये आगमपद के सारभूत अध्यात्मशास्त्र को नहीं जानता; वह पुरुष............कर्मों का क्षय नहीं कर सकता। इसकारण मोक्षार्थियों को परमागम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका में भी आगम के साथ-साथ अध्यात्म के प्रतिपादक परमागम के अभ्यास की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं।

सब कुछ मिलाकर इस गाथा और उसकी टीकाओं में एक ही बात कही गई है कि **जिस श्रमण को आगम और परमागम का ज्ञान नहीं है; वह श्रमण न तो सही रूप में स्वयं को ही जानता है और न पर को ही पहिचानता है। इसप्रकार स्व को और पर को जाने बिना-पहिचाने बिना अर्थात् दोनों के बीच भेदज्ञान किये बिना कर्मों का नाश कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि कर्मों के नाश के लिए स्व और पर के बीच की सीमा रेखा जानना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इस सीमा रेखा को जाने बिना स्व का ग्रहण और पर का त्याग कैसे संभव है ?**

कर्मों का नाश कर मुक्ति को प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान और स्व और पर के बीच में भेदविज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए आत्मज्ञान और भेदविज्ञान के लिए आत्मार्थियों को आगम और परमागम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए॥२३३॥

विगत गाथा में उक्त तथ्य को प्रस्तुत करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह कहने जा रहे हैं कि **सर्वतो चक्षु (सिद्ध भगवान) बनने के लिए आगमचक्षु होना अनिवार्य है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

---

[1] गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा॥ – गोम्मटसार : जीवकाण्ड, गाथा २

[2] भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहहं परमत्थु।
सो अंधउ अवरहं अंधयह किम दरिसावइ पंथु॥ – दोहापाहुड, गाथा १२८

आगमचक्षुः साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि।
देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धाः पुनः सर्वतश्चक्षुषः ।।२३४।।

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एव शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुषः, शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि, देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः, अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव।

एवममीषु समस्तेष्वपि संसारिषु मोहोपहततया ज्ञेयनिष्ठेषु सत्सु ज्ञाननिष्ठत्वमूलशुद्धात्मतत्त्वसंवेदनसाध्यं सर्वतश्चक्षुस्त्वं न सिद्ध्येत्।

अथ तत्सिद्धये भगवन्तः श्रमणा आगमचक्षुषो भवन्ति। तेन ज्ञेयज्ञानयोरन्योन्यसंवलेनाशक्यविवेचनत्वे सत्यपि स्वपरविभागमारचय्य निर्भिन्नमहामोहाः सन्तः परमात्मानमवाप्य सततं ज्ञाननिष्ठा एवावतिष्ठन्ते। अतः सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षूणां द्रष्टव्यम् ।।२३४।।

(हरिगीत)

साधु आगमचक्षु इन्द्रियचक्षु तो सब लोक है।
देव अवधिचक्षु अर सर्वात्मचक्षु सिद्ध हैं ।।२३४।।

साधु आगमचक्षु होते हैं, सर्वप्राणी इन्द्रियचक्षुवाले हैं, देव अवधिचक्षु हैं और सिद्ध भगवान सर्वतःचक्षु हैं।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“प्रथम तो इस लोक में शुद्धज्ञानमय होने से सिद्ध भगवान ही सर्वतःचक्षु हैं; शेष सभी जीव इन्द्रियचक्षु हैं; क्योंकि उन सभी की दृष्टि तो मूर्त पदार्थों में ही लग रही है। देवगण सूक्ष्म मूर्त द्रव्यों को देखते-जानते हैं; इसलिए अवधि चक्षु कहे जाते हैं; तथापि वे मूर्त द्रव्यों को ही देखते-जानते हैं, इसलिए एक प्रकार से इन्द्रियचक्षु ही हैं। इसप्रकार ये सभी संसारी जीव मोह से उपहत ज्ञेयनिष्ट होने से ज्ञाननिष्ठ शुद्धात्मसंवेदन से सधनेवाले सर्वतःचक्षु नहीं हो सकते।

उक्त सर्वतःचक्षु बनने के लिए ही श्रमण आगमचक्षु होते हैं। ज्ञान में ज्ञेयों के ज्ञात होने से ज्ञान और ज्ञेयों में जो सम्मिलन हुआ है; उसके कारण यद्यपि उनमें भेद करना सहज नहीं है, अशक्य जैसा ही है; तथापि वे श्रमण आगमचक्षु से स्वपरविभाग करके महामोह को भेदते हुए परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं। अतः मुमुक्षुओं को सबकुछ आगमचक्षु से ही देखना चाहिए।”

इसतरह हम देखते हैं कि इस गाथा का सम्पूर्ण बल आगम और परमागम के अभ्यास पर ही है; क्योंकि इन्द्रियज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान से भी ऐसा कुछ जानने में नहीं आता कि जो मुक्तिमार्ग की साधना में उपयोगी हो। तात्पर्य यह है कि बहिर्मुखी इन्द्रियज्ञान तो

अथागमचक्षुषां सर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति –

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः।
जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥२३५॥

आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते, विस्पष्टतर्कणस्य सर्वद्रव्याणामविरुद्धत्वात्। विचित्रगुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते, सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयत्वेनैवागमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः। अतः सर्वेऽर्था आगमसिद्धा एव भवन्ति।

आत्महितकारी है ही नहीं, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान की भी यही स्थिति है; क्योंकि वे भी बहिर्मुखी हैं; मात्र पुद्गल को ही देखते-जानते हैं।

आगम के अभ्यासरूप श्रुतज्ञान ही एकमात्र ऐसा ज्ञान है कि जो आत्महित में साधन बनता है; उसमें सहयोगी मतिज्ञान को भी इसमें शामिल कर सकते हैं। भले ही ये दोनों ज्ञान परोक्षज्ञान हों, पर हैं उपयोगी; पर प्रत्यक्षज्ञान होने पर भी अवधि और मन:पर्ययज्ञान उपयोगी नहीं; क्योंकि वे मात्र पुद्गल को ही जानते हैं, सबको नहीं; जबकि मति-श्रुतज्ञान का विषय सभी पदार्थ हैं।

हाँ, यहाँ एक प्रश्न अवश्य हो सकता है कि सिद्धों के समान अरहंत भगवान भी तो सर्वत:चक्षु ही हैं ?

हाँ, हैं, अवश्य हैं; क्योंकि वे भी अतीन्द्रिय ज्ञानी (केवलज्ञानी) हैं; उन्हें यहाँ सिद्धों में ही शामिल समझना चाहिए ॥२३४॥

विगत गाथा में कही गई बात का ही समर्थन इस गाथा में किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि **आगमरूप चक्षु से सभी कुछ दिखाई देता है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित।
जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर साधें स्वहित ॥२३५॥

अनेकप्रकार की विचित्र गुण-पर्यायों से सहित सभी पदार्थ आगमसिद्ध हैं। उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा देखकर ही जानते हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"सभी द्रव्य आगम द्वारा जाने जाते हैं; क्योंकि सभी द्रव्य विशेष स्पष्ट तर्कणा से अविरुद्ध हैं। आगम से वे सभी द्रव्य विचित्र गुणपर्यायवाले प्रतीत होते हैं; क्योंकि सहप्रवृत्त और

अथ ते श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमनात्।

अतो न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्यं स्यात्॥२३५॥

अथागमज्ञानतत्पूर्वतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति –

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो॥२३६॥

आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य।
नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः॥२३६॥

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्विकया तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य

क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मों में व्यापक अनेकान्तमय होने से आगम को प्रामाणिकता प्राप्त है। इसलिए सभी पदार्थ आगमसिद्ध ही हैं।

वे सभी पदार्थ श्रमणों को स्वयमेव ही ज्ञेयभूत होते हैं; क्योंकि श्रमण विचित्र गुणपर्यायवाले सभी द्रव्यों में व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं।

तात्पर्य यह है कि आगम चक्षुओं से कुछ भी अदृश्य नहीं है, अगम्य नहीं है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि आगम और परमागम के अभ्यास से सभी पदार्थों को जाना जा सकता है; अत: श्रमणजन आगमचक्षु होते हैं॥२३५॥

विगत गाथाओं में आगमज्ञान की प्रतिष्ठा स्थापित करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह समझाते हैं कि आगमज्ञानपूर्वक तत्त्वश्रद्धान और ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक संयम – इसप्रकार ज्ञान, श्रद्धान और संयम की एकता ही मोक्षमार्ग है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिनागम अनुसार जिनकी दृष्टि न वे असंयमी।
यह जिनागम का कथन है वे श्रमण कैसे हो सकें॥२३६॥

'इस लोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है, उसके संयम भी नहीं हो सकता' – ऐसा सूत्र में कहा है तथा जो असंयत है, वह श्रमण कैसे हो सकता है?

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''जो जीव स्याद्वादमयी आगमज्ञानपूर्वक होनेवाली तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण वाली दृष्टि से शून्य हैं, उनके संयम ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि स्वपर के विभाग के अभाव के कारण काया

स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः, सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलाषतया षड्जीवा-निकायघातिनो भूत्वा सर्वतोऽपि कृतप्रवृत्तेः सर्वतो निवृत्त्यभावात्तथा परमात्मज्ञानाभावाद् ज्ञेयचक्रमाक्रमणनिर्गलज्ञप्तितया ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्ध्येत्। असिद्धसंयमस्य तु सुनिश्चितैकाग्र्यगततत्वरूपं मोक्षमार्गापरनाम श्रामण्यमेव न सिद्ध्येत्। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वानां यौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्येत्।।२३६।।

और कषायों के साथ एकता के अध्यवसायी वे जीव विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं होने से छह काय के जीवों के हिंसक होकर सब ओर से प्रवृत्ति करते हैं; इसलिए उनके सर्वतः निवृत्ति का अभाव है।

तात्पर्य यह है कि उनके किसी भी ओर से किंचित्मात्र भी निवृत्ति नहीं है।

दूसरे परमात्मज्ञान के अभाव के कारण ज्ञेयों को क्रमशः जाननेवाली निरर्गल ज्ञप्ति होने से ज्ञानरूप आत्मतत्त्व में एकाग्रता की प्रवृत्ति का अभाव है। इसकारण उनके भी संयम सिद्ध नहीं होता। इसप्रकार उन्हें जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है – ऐसा सुनिश्चित एकाग्र परिणतिरूप श्रामण्य ही सिद्ध नहीं होता। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम – इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में गाथार्थ तो गाथा और तत्त्वप्रदीपिका टीका के अनुसार ही करते हैं, तथापि **'तथाहि'** लिखकर जो स्पष्टीकरण करते हैं; वह इसप्रकार है –

'' 'दोष रहित अपना आत्मा ही उपादेय है' – ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व जिसे नहीं है, वह परमागम के बल से ज्ञानरूप आत्मा को स्पष्ट जानता हुआ भी सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञानी भी नहीं है। इसप्रकार इन दोनों के अभाव से पंचेन्द्रिय विषयों की इच्छा और षट्काय के जीवों के घात से निवृत्त होने पर भी वह संयत नहीं है।''

– ऐसा लिखकर भी वे अन्त में निष्कर्ष इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

''इससे यह निश्चित हुआ कि परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना – इन तीनों का युगपद्पना (एकसाथ होना) ही मुक्ति का मार्ग है।''

उक्त गाथा का सार मात्र इतना ही है कि जिस श्रमण को स्याद्वादमयी आगम के अभ्यास और आत्मानुभूतिपूर्वक आत्मज्ञान नहीं है; वह श्रमण भले ही जिनागमानुसार आचरण करे, व्रतादि का पालन करे, उपवासादि तपश्चरण करे; तथापि उसके संयम होना संभव नहीं है, सम्यक्चारित्र होना संभव नहीं है और इन तीनों की एकता बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता; अतः उक्त श्रमण के मोक्षमार्ग भी नहीं है; इसकारण इनके श्रामण्य भी नहीं है।।२३६।।

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति –

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।२३७।।

न ह्यागमेन सिद्ध्यति श्रद्धान यद्यपि नास्त्यर्थेषु।
श्रद्दधान अर्थानसयंतो वा न निर्वाति।।२३७।।

श्रद्धानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन, तदविनाभाविना श्रद्धानेन च संयमशून्येन, न तावत्सिद्ध्यति। तथाहि – आगमबलेन सकलपदार्थान् विस्पष्टं तर्कयन्नपि, यदि सकलपदार्थज्ञेयाकार-करम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं न तथा प्रत्येति, तदा यथोदितात्मनः श्रद्धानशून्यतया यथोदितमात्मानमननुभवन् कथं नाम ज्ञेयनिमग्नो ज्ञानविमूढो ज्ञानी स्यात्। अज्ञानिनश्च ज्ञेय-द्योतको भवन्नप्यागमः किं कुर्यात्। ततः श्रद्धानशून्यादागमान्नास्ति सिद्धिः।

'आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम की एकता ही मोक्षमार्ग है' – विगत गाथा में यह समझाने के उपरान्त अब इस गाथा में इसी बात को नास्ति से समझाते हैं। कहते हैं कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के अभाव में मोक्षमार्ग घटित नहीं होता।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिनागम से अर्थ का श्रद्धान ना सिद्धि नहीं।
श्रद्धान हो पर असंयत निर्वाण को पाता नहीं।।२३७।।

यदि आगम से पदार्थों का श्रद्धान न हो तो मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी और संयम के बिना पदार्थों का श्रद्धान करनेवाले को भी मुक्ति प्राप्त नहीं होगी।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"श्रद्धानशून्य आगमज्ञान से सिद्धि नहीं होती और आगमज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रद्धान से भी संयमशून्य व्यक्ति को सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

अब इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं – आगम के आधार पर सम्पूर्ण पदार्थों का सतर्क विशेष स्पष्टीकरण करता हुआ भी यदि कोई व्यक्ति सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों से मिलित विशद एक ज्ञानाकार आत्मा की प्रतीति नहीं करता तो आत्मा के श्रद्धान से शून्य होने के कारण, आत्मा का अनुभव नहीं करनेवाला वह ज्ञेयनिमग्न ज्ञानविमूढ जीव ज्ञानी कैसे हो सकता है, ज्ञेयों का प्रकाशक आगम उक्त अज्ञानी जीव के लिए क्या कर सकता है ?

अतः यह सुनिश्चित ही है कि श्रद्धान शून्य आगमज्ञान से कुछ भी सिद्धि नहीं होती।

किंच – सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि, यदि स्वस्मिन्नेव संयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निवसिननिःकम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम संयतः स्यात्। असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्। ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।

अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥२३७॥

दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञेयाकारों से मिलित विशद एक ज्ञानाकार आत्मा का श्रद्धान करता हुआ भी, आत्मा का अनुभव करता हुआ भी यदि कोई व्यक्ति अपने में ही संयमित होकर नहीं रहता; तो अनादि मोह-राग-द्वेष की वासना जनित परद्रव्य में भ्रमण करती स्वेच्छाचारी चित्तवृत्तिवाला वह जीव, वासनारहित स्व में ही रत एक निष्कंप तत्त्व में लीन चित्तवृत्ति का अभाव होने से संयत कैसे हो सकता है ? इसप्रकार के असंयत व्यक्ति का, आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान और आत्मा की अनुभूतिरूप ज्ञान क्या कर सकता है ? इससे यह सुनिश्चित होता है कि संयमशून्य ज्ञान-श्रद्धान से भी सिद्धि नहीं होती।

इसप्रकार आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम के युगपदपने का अभाव होने पर मोक्षमार्ग घटित नहीं होता।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को दीपक के उदाहरण से इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

'' 'कुएं में गिरने से बचना ही हितकर है' – इसप्रकार की श्रद्धा से रहित व्यक्ति का दीपक क्या कर सकता है ? उसीप्रकार आगम से आत्मा के स्वरूप को जानता हुआ व्यक्ति भी यदि 'एक मात्र मेरा आत्मा ही मेरे लिए उपादेय है' – ऐसे श्रद्धान से रहित हो, तो आगम उसका क्या कर सकता है ?

दूसरी बात यह है कि वही दीपक सहित पुरुष अपने पौरुष के बल से कुएं में गिरने से बचता नहीं है तो उसका श्रद्धान, दीपक व नेत्र (दृष्टि) क्या कर सकते हैं ?

उसीप्रकार यह ज्ञान-श्रद्धान सहित जीव भी स्वरूपस्थिरता के बल से रागादि विकल्प रूप असंयम से निवृत्त नहीं होता है तो उसके ज्ञान और श्रद्धान क्या कर सकते हैं ?

इससे यह सिद्ध होता है कि परमागम के ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व में से दो या एक से मोक्ष नहीं होता, अपितु तीनों की एकता से ही होता है।''

इस गाथा का अभिप्राय मात्र यह है कि न तो आगम से पदार्थों के ज्ञान-श्रद्धान बिना मुक्ति

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्त्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानस्य मोक्षमार्गसाधकतमत्वं द्योतयति –

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ।।२३८।।

यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभिः।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ।।२३८।।

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटिभिः कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्तत्वात्

की प्राप्ति होती है और न संयम के बिना आगमानुसार ज्ञान-श्रद्धान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। मुक्ति की प्राप्ति तो मात्र उन्हीं को होती है; जिनके आगम के अनुसार आत्मानुभूतिपूर्वक हुए ज्ञान-श्रद्धान के साथ-साथ शुद्धोपयोगरूप संयम भी हो। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता और परिपूर्णता ही मुक्ति प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।।२३७।।

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है' – विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह कहते हैं कि उक्त तीनों के युगपत् होने पर भी मुक्ति का साधकतम कारण तो आत्मज्ञान ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

विज्ञ तीनों गुप्ति से क्षय करें श्वासोच्छ्वास में।
अज्ञ उतने कर्म नाशे जनम लाख करोड़ में ।।२३८।।

जितने कर्म अज्ञानी सौ हजार करोड़ भवों में क्षय करता है; उतने कर्म ज्ञानी तीन योग (मन-वचन-काय) से गुप्त होने से, त्रिगुप्ति का धारी होने से उच्छ्वास मात्र में क्षय कर देता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"अज्ञानी के जितने और जो कर्म क्रमपरिपाटी से और अनेकप्रकार के बालतपादिरूप उद्यम से पकते हुए, उपात्त राग-द्वेष से सुख-दुखादि विकारभावरूप परिणमित होने से आगामी कर्मों को बांधते हुए एक लाख-करोड़ भवों में महाकष्ट से कटते हैं; ज्ञानी के उतने और वही कर्म आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभाव के युगपत्पने के अतिशय प्रसाद से प्राप्त हुई शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञानीपन से और मन-वचन-कायरूप तीन

प्रचण्डोपक्रमपच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदु:खादिविकार: पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति।

अत: आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम्॥२३८॥

गुप्तियों के सद्भाव से, राग-द्वेष के छोड़ने से समस्त सुख-दु:खादिरूप विकार अत्यन्त निरस्त होने से; आगामी कर्मबंध न करता हुआ उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है।

इससे आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्त्व के युगपत् होने पर भी आत्मज्ञान को ही मोक्षमार्ग में साधकतम स्वीकार करना चाहिए।''

इसप्रकार उक्त सभी ग्रन्थों में 'अनेक प्रतिकूलताओं में भी उग्र तप करते हुए भी अज्ञानी जीव के जितने कर्मों का नाश होता है; उतने कर्मों को ज्ञानी त्रिगुप्ति के बल से श्वांसमात्र में क्षय कर देता है' – यह कहा गया है; किन्तु छहढाला नामक ग्रन्थ में पण्डित दौलतरामजी एक लाख करोड़ भवों के स्थान पर मात्र एक करोड़ भव की बात करते हैं।

उनका कथन मूलत: इसप्रकार है –

कोटि जनम तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥

आत्मज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों तक निरन्तर तप करते रहने पर भी अज्ञानी के जो और जितने कर्म झड़ते हैं; वे और उतने ही कर्मों को ज्ञानीजन त्रिगुप्ति के बल से क्षण भर में नष्ट कर देते हैं।

यदि इस अन्तर को हम यह कहकर टाल दें कि छन्द में स्थान की कमी के कारण ऐसा हो गया होगा; तथापि एक बात यह भी तो है कि अज्ञानी के निर्जरा होती ही कहाँ हैं; जिससे ज्ञानी की निर्जरा की तुलना की जा सके ? **वस्तुत: बात यह भी तो है कि बालतपादि के काल में अज्ञानी के जो कर्म झड़ते हैं; उस काल में आगामी कर्मबन्धन होते रहने से उक्त कर्म के झड़ने को मुक्ति के कारणरूप निर्जरा कहना मात्र उपचरित कथन ही है।**

एक बात यह भी विचारणीय है कि तप मुख्यत: मनुष्य गति में होता है और जब यह जीव दो हजार सागर को त्रसपर्याय प्राप्त करता है; तब उसमें मनुष्य के भव तो मात्र ४८ ही होते हैं। ऐसी स्थिति में एक लाख करोड़ भव होना कैसे संभव होगा ?

वस्तुत: बात यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रहित तप की निरर्थकता तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित तप की महिमा बताने के लिए ही उक्त कथन किया गया है।

यदि यह सत्य है तो फिर एक करोड़ और एक लाख करोड़ से क्या फर्क पड़ता है; क्योंकि दोनों कथनों से हमारे चित्त में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक किये गये तप से होनेवाली निर्जरा की महिमा तो आ ही जाती है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जो आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में **शत सहस कोटि (एक लाख करोड़) भवों** की बात कहते हैं; वे ही आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड की पाँचवीं गाथा में एक हजार करोड़ वर्ष की बात लिखते हैं। दर्शनपाहुड़ की उक्त गाथा इसप्रकार है–

सम्मत्तविरहिया णं सुठ्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।५।।

(हरिगीत)

यद्यपि करें वे उग्रतप शत-सहस-कोटि वर्ष तक।
पर रत्नत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व विरहित साधु सब।।५।।

एक हजार करोड़ वर्ष तक उग्र तपरूप आचरण करते हुए भी सम्यक्त्व रहित साधु पुरुष बोधिलाभ को प्राप्त नहीं करते।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दर्शनपाहुड़ की गाथा में तो यह लिखा है कि एक हजार करोड़ वर्ष तप करते हुए भी सम्यक्त्व से रहित होने के कारण अज्ञानी बोधिलाभ प्राप्त नहीं करते और यहाँ प्रवचनसार में अज्ञानी के एक लाख करोड़ भवों तक तप करके कर्म झड़ने और ज्ञानी के श्वांस मात्र में उतने ही कर्म झड़ने की बात है।

इन दोनों कथनों में महान अन्तर है; क्योंकि एक मनुष्य भव में एक करोड़ वर्ष तो हो सकते हैं; क्योंकि चौथे काल के आरंभ में मनुष्यों की आयु एक करोड़ पूर्व तक हो सकती है। भगवान ऋषभदेव की आयु ८४ लाख पूर्व थी। परन्तु एक लाख करोड़ मनुष्य भव होने में तो अपरिमित काल लग सकता है; क्योंकि दो हजार सागर में तप करने योग्य तो अधिक से अधिक २४ भव ही मिलते हैं। उसके बाद एकेन्द्रिय पर्याय में चले जाने पर अपरिमित काल तक दुबारा त्रसपर्याय में आना संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में आप कल्पना कर सकते हैं कि एक लाख करोड़ मनुष्य भवों के प्राप्त होने में कितना समय लगेगा।

सम्यक्त्वविरहित साधुओं को एक हजार करोड़ वर्ष तक तप करने पर भी बोधिलाभ (रत्नत्रय की प्राप्ति) नहीं हो; इसमें तो कोई अतिशयोक्ति है ही नहीं। यदि यह भी लिख देते कि उन्हें अनन्त काल तक बोधि की प्राप्ति नहीं होगी; तो भी कोई बात नहीं थी; क्योंकि सम्यक्त्व से रहित व्यक्तियों को तो बोधिलाभ कभी होनेवाला है ही नहीं।।२३८।।

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्यनुशास्ति –

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ।।२३९।।

परमाणुप्रमाणं वा मूर्च्छा देहादिकेषु यस्य पुनः।
विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरोऽपि।।२३९।।

यदि करतलामलकीकृतसकलागमसारतया भूतभवद्भावि च स्वोचितपर्यायविशिष्टमशेषद्रव्यजातं जानन्तमात्मानं जानन् श्रद्दधानः संयमयंश्चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽपि मनाङ्मोहमलोपलिप्तत्वात् यदा शरीरादिमूर्च्छोपरक्ततया निरुपरागोपयोगपरिणतं कृत्वा ज्ञानात्मानमात्मानं नानुभवति तदा तावन्मात्रमोहमलकलङ्ककीलिकाकीलितैः कर्मभिरविमुच्यमानो न सिद्ध्यति।

यद्यपि विगत गाथाओं में आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व की महिमा का गुणगान किया गया है और उनकी असंदिग्ध उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है; तथापि अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि **आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व का युगपतपना भी कुछ नहीं कर सकता।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

देहादि में अणुमात्र मूर्च्छा रहे यदि तो नियम से।
वह सर्व आगम धर भले हो सिद्धि वह पाता नहीं ।।२३९।।

जिसके शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा वर्तती है; भले ही वह सम्पूर्ण आगम क पाठी हो; तथापि सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

“सम्पूर्ण आगम का सार हाथ में रखे आंवले के समान जानकर जो पुरुष भूत-वर्तमान-भावी स्वोचित पर्यायों के साथ सम्पूर्ण द्रव्यसमूह को जानने वाले आत्मा को जानता है; उसका श्रद्धान करता है और संयमित रखता ~~है~~; उक्त पुरुष के आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपत्पना होने पर भी, यदि वह किंचित्मात्र भी मोहमल से लिप्त होने से शरीरादि के प्रति मूर्च्छा से उपरक्त रहने से निर्मल उपयोग में परिणत करके ज्ञानमात्र आत्मा का अनुभव नहीं करता; तो वह पुरुष मोहकलंकरूपी कीले से बंधे कर्मों से न छूटता हुआ सिद्ध नहीं होता।

अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव ।।२३९।।

इसलिए आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्त्व का युगपत्पना भी अकिंचत्कर है, कार्यकारी नहीं है।''

इस गाथा में ऐसे अनेक बिन्दु है; जो स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखते हैं। जैसे – **सव्वागमधरो वि** – सर्वागम का धारक अर्थात् सम्पूर्ण आगम को जाननेवाला भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। यह कैसे हो सकता है; क्योंकि सर्वागम का धारी तो श्रुतकेवली होता है और वह तो आत्मज्ञानहीन हो ही नहीं सकता है ?

यह बात आचार्य अमृतचन्द्र के चित्त में भी उपस्थित हुई होगी, यही कारण है कि वे उक्त पद का अर्थ करते समय लिखते हैं कि **सर्वागम का सार जाननेवाला भी....।**

यहाँ सर्व आगमधर का अर्थ द्वादशांग का पाठी न लेकर ११ अंग और ९ पूर्व का पाठी लेना होगा; क्योंकि मिथ्यादृष्टि को अधिक से अधिक ११ अंग और ९ पूर्वों का ज्ञान ही हो सकता है। इसीप्रकार इस गाथा में कथित **मूर्च्छा** का आशय **देहादि में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व से ही है।**

सबकुछ मिलाकर निष्कर्ष यह है कि ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी एवं उक्त आगम में प्रतिपादित तत्त्वों की व्यवहार श्रद्धा से सम्पन्न तथा महाव्रतादि का धारी व्यक्ति भी यदि देहादि में एकत्व-ममत्व धारण करता हुआ त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा की अनुभूतिपूर्वक उसमें अपनापन नहीं रखता तो वह मोक्षमार्गी नहीं है, मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः यह सहज ही सिद्ध है कि आत्मज्ञानशून्य व्यक्ति के श्रद्धान, ज्ञान और संयम निरर्थक ही है।।२३९।।

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा ऐसी आती है; जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं।
सो संजमो त्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण।।३५।।

(हरिगीत)

अनारंभी त्याग विषयविरक्त और कषाय क्षय।
ही तपोधन संतों का सम्पूर्णतः संयम कहा।।३५।।

प्रव्रज्या अर्थात् तपश्चरण अवस्था में त्याग, अनारंभ, विषयों से विरक्तता और कषायों के क्षय को विशेष रूप से संयम कहा गया है।

इसकी टीका में आचार्य जयसेन त्याग, अनारंभ आदि सभी विशेषणों के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि **सब ओर से अपने शुद्धात्मा को ग्रहण कर बहिरंग-अंतरंग परिग्रह की**

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं साधयति –

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ।।२४०।।

पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः पंचेन्द्रियसंवृतो जितकषायः।
दर्शनज्ञानसमग्रः श्रमणः स संयतो भणितः ।।२४०।।

यः खल्वनेकान्तकेतनागमज्ञानबलेन सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् समितिपञ्चकाङ्कुशितप्रवृत्तिप्रवर्तितसंयमसाधनीकृतशरीरपात्रः क्रमेण निश्चलनिरुद्धपंचेन्द्रियद्वारतया समुपरतकायवाङ्-

---

निवृत्ति त्याग है, अपने निष्क्रिय शुद्ध द्रव्य में ठहर कर, मन, वचन और काय संबंधी व्यापार से निवृत्ति अनारंभ है, विषयों से रहित अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख में तृप्त होकर पंचेन्द्रिय संबंधी सुख की इच्छा का त्याग विषय-विराग है; कषायरहित शुद्धात्मा की भावना के बल से क्रोधादि कषायों का त्याग कषाय क्षय है।

इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि त्याग, अनारंभ, विषयों से विरक्ति और कषायों का क्षय ही संयम है।।३५।।

'आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व भी कार्यकारी नहीं है' – विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में आत्मज्ञानसहित आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपदपने की सार्थकता सिद्ध करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

तीन गुप्ति पाँच समिति सहित पंचेद्रियजयी।
ज्ञानदर्शनमय श्रमण ही जितकषायी संयमी ।।२४०।।

तीन गुप्ति और पाँच समितियों से सहित, पाँच इन्द्रियों का संवरवाला, कषायों को जीतनेवाला और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण श्रमण संयत कहा गया है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जो अनेकान्त निकेतन आगम के बल से, समस्त पदार्थों के ज्ञेयाकारों से मिलित विशद एक ज्ञानाकार आत्मा का श्रद्धान और अनुभव (ज्ञान) करता हुआ आत्मा में ही नित्य निश्चलवृत्ति को चाहता हुआ संयम के साधनरूप शरीर को समितियों से अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा और पंचेन्द्रियों के निश्चल निरोध द्वारा मन-वचन-काय के व्यापार से विराम को प्राप्त, परद्रव्य में भ्रमण में निमित्तभूत कषायसमूह और आत्मा के परस्पर मिलन के कारण अन्यत्र एकरूप हो जाने पर भी स्वभाव भेद के कारण उसे परद्रव्य में निश्चित करके आत्मा में ही

मनोव्यापारो भूत्वा चिद्वृत्तेः परद्रव्यचङ्क्रमणनिमित्तमत्यन्तमात्मना सममन्योन्यसंवलनादेकीभूतमपि स्वभावभेदात्परत्वेन निश्चित्यात्मनैव कुशलो मल्ल इव सुनिर्भरं निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति, स खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धोदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात्संयत एव स्यात्। तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्ध्यति ।।२४०।।

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य कीदृग्लक्षणमित्यनुशास्ति –

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।२४१।।

समशत्रुबन्धुवर्गः समसुखदुःखः प्रशंसानिन्दासमः।
समलोष्टकाञ्चनः पुनर्जीवितमरणे समः श्रमणः ।।२४१।।

कुशल मल्ल की भांति मर्दन करके अक्रम से उसे मार डालता है; वह पुरुष सकल परद्रव्य से शून्य होने पर भी, विशुद्ध दर्शन-ज्ञानमात्र स्वभावरूप आत्मतत्त्व में नित्य-निश्चल परिणति उत्पन्न होने से साक्षात् संयत ही है। ऐसे आत्मा को आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व तथा आत्मज्ञान का युगपतपना सिद्ध होता है।''

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में समिति, गुप्ति, पंचेन्द्रियजय, जितकषाय को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक समझाया है, जो मूलतः पठनीय है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आत्म-रमणतारूप निश्चयचारित्रपूर्वक पाँच समितियों के पालक, तीन गुप्तियों के धारक, पंचेन्द्रियों के निरोधक और जितकषायी (कषायों को जीतनेवाले) संत ही संयत हैं और ऐसे संतों के ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आत्मज्ञान का युगपत्पना सिद्ध होता है ।।२४०।।

विगत गाथा में आत्मज्ञान सहित आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम की एकतारूप मुक्तिमार्ग का स्वरूप समझाया है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि उक्त मार्ग में चलनेवाले संत कैसे होते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

कांच-कंचन, बन्धु-अरि, सुख-दुःख; प्रशंसा-निन्द में।
शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ।।२४१।।

जिन्हें शत्रु और बन्धुवर्ग, सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, सोना और मिट्टी का ढेला तथा जीवन और मरण समान हैं, इन सभी में जिनका समताभाव है; वे श्रमण हैं।

संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः। ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम्। तत्र शत्रुबन्धुवर्गयोः सुखदुःखयोः प्रशंसानिन्दयोः लोष्टकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च समम् अयं मम परोऽयं स्वः, अयमाह्लादोऽयं परितापः, इदं ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिञ्चित्कर इदमुपकारकमिदं ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वैतस्य, सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्वभावमात्मानमनुभवतः, शत्रुबन्धुसुखदुःखप्रशंसानिन्दालोष्टकाञ्चनजीवितमरणानि निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किलसर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मकज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम्।।२४१।।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"संयम, सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र है; चारित्र धर्म है; धर्म साम्य है और मोहक्षोभ रहित आत्मपरिणाम ही साम्य है; इसलिए साम्य संयत का लक्षण है। शत्रु व बन्धुवर्ग में, सुख व दुख में, प्रशंसा व निन्दा में, मिट्टी के ढेले व सोने में और जीवन व मरण के संदर्भ में शत्रु पर है व बन्धुवर्ग स्व हैं, सुख आह्लाद है व दुख परिताप है, प्रशंसा उत्कर्षण (उन्नति) है व निन्दा अपकर्षण (अवनति) है, मिट्टी का ढेला मेरे लिए अकिंचित्कर है व सोना उपकारक है, जीवन स्थायित्व है व मरण विनाशक है – इसप्रकार के मोह के अभाव के कारण जिसे सर्वत्र ही राग-द्वेष का द्वैत प्रगट नहीं होता और जो सतत् विशुद्ध ज्ञानदर्शन-स्वभावी आत्मा का अनुभव करता है – इसप्रकार शत्रु-बन्धु, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी-सोना और जीवन-मरण को निर्विशेषतया ही ज्ञेयरूप जानकर ज्ञानात्मक आत्मा में जिसकी परिणति अचलित हुई है; उस पुरुष को सर्वतः साम्य है। यह संयत का लक्षण है। ऐसे संयत पुरुष को आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व का युगपतपना तथा आत्मज्ञान का युगपतपना सिद्ध है।"

मुनिराजों के समताभाव का निरूपण करते हुए पंडित दौलतरामजी छहढाला की छठवीं ढाल में जो पंक्तियाँ लिखते हैं; वे ऐसी लगती हैं कि मानो उन्होंने इस गाथा का पद्यानुवाद ही कर दिया है। वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं –

अरि-मित्र-महल-मसान, कंचन-काँच, निन्दन-थुतिकरन।
अर्धावतारन-असिप्रहारन, में सदा समता धरन।।६।।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में यही कहा गया है कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानसहित चारित्र धारण करके मुनिराज शत्रु और बन्धु वर्ग में, लौकिक सुख-दुःख में, प्रशंसा-निन्दा में, सोना और मिट्टी में तथा जीवन और मरण में समान भाव रखते हैं, समता भाव रखते हैं। न तो शत्रुओं से द्वेष करते हैं और न भाई-बहिनों से राग ही रखते हैं; न लौकिक अनुकूलता में अपने को सुखी अनुभव करते हैं और न प्रतिकूलता में दुख ही मानते हैं; न प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं

अथेदमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति –

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ।।२४२।।

दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु।
ऐकाग्र्यगत इति मतः श्रामण्यं तस्य परिपूर्णम् ।।२४२।।

ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण, ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण, ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च, त्रिभिरपि यौगपद्येन भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे इति संयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावर्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः। तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन ऐकाग्र्यं

और न निन्दा सुनकर खेद-खिन्न होते हैं। इसीप्रकार सोना और मिट्टी में भी उन्हें कोई अन्तर भासित नहीं होता। अधिक क्या कहें, उन्हें तो जीवन-मरण में भी सर्वप्रकार समभाव रहता है ।।२४१ ।।

विगत गाथा में सच्चे संतों का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि एकाग्रता लक्षणवाला श्रामण्यरूप मोक्षमार्ग आत्मज्ञान सहित आगमज्ञान, तत्त्वश्रद्धान और संयतपने की एकरूपता में ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शन-चरण में युगपत सदा आरूढ़ हो।
एकाग्रता को प्राप्त यति श्रामण्य से परिपूर्ण हैं ।।२४२।।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीनों में जो एक साथ आरूढ है, एकाग्रता को प्राप्त है; उसके परिपूर्ण श्रामण्य है – ऐसा शास्त्रों में कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''ज्ञेय और ज्ञानतत्त्व की यथार्थ प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन पर्याय, अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान पर्याय और ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर से निवृत्ति से रचित परिणतिरूप चारित्र पर्याय – इन तीनों पर्यायों और आत्मा की भाव्य-भावकता द्वारा उत्पन्न अतिगाढ इतरेतर मिलन के बल से इन तीनों पर्यायरूप युगपत् अंग-अंगीभाव से परिणत आत्मा के आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है; वह संयतत्व ही एकाग्रता लक्षण वाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है – ऐसा मोक्षमार्ग है – ऐसा जानना चाहिए। वह श्रामण्यरूप मोक्षमार्ग भेदात्मक होने से 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है' – इसप्रकार पर्याय प्रधान व्यवहारनय से उसका प्रज्ञापन है और वह मोक्षमार्ग अभेदात्मक होने से 'एकाग्रता मोक्षमार्ग है' – इसप्रकार द्रव्यप्रधान निश्चयनय से

मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन, विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्तिः ॥२४२॥

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं-
स्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य यः।
द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दता-
मास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्चितेः ॥१६॥

उसका प्रज्ञापन है तथा समस्त पदार्थ भेदाभेदात्मक होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और एकाग्रता – दोनों मोक्षमार्ग हैं – इसप्रकार प्रमाण से उसका प्रज्ञापन है।''

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता सच्चा मुनिधर्म है, मुनिपना है। श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन पर्याय, ज्ञान और ज्ञेयतत्त्व की यथार्थ प्रतीतिरूप है; ज्ञानगुण की सम्यग्ज्ञान पर्याय, यथार्थ अनुभूतिरूप है और चारित्र गुण की सम्यक्चारित्ररूप पर्याय, क्रियान्तर से निवृत्ति पूर्वक होनेवाली परिणतिरूप है। इन तीनों की एकता ही मुक्तिमार्ग है ॥२४२॥

इस गाथा के बाद की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(मनहरण कवित्त)

इसप्रकार जो प्रतिपादन के अनुसार।
एक होकर भी अनेक रूप होता है ॥
निश्चयनय से तो मात्र एकाग्रता ही।
पर व्यवहार से तीनरूप होता है ॥
ऐसे मोक्षमार्ग के अचलालम्बन से।
ज्ञाता-दृष्टाभाव को निज में ही बाँध ले ॥
उल्लसित चेतना का अतुल विलास लख।
आत्मीकसुख प्राप्त करे अल्पकाल में ॥१६॥

इसप्रकार प्रतिपादक के अभिप्रायानुसार एक होने पर भी अनेक होता हुआ एक लक्षणपने को तथा त्रिलक्षणपने को प्राप्त मुक्तिमार्ग को, ज्ञाता-दृष्टा आत्मा में लीन होकर यह लोक अचलरूप से अवलम्बन करे; जिससे यह लोक उल्लसित चेतना के अतुल विकास को अल्पकाल में प्राप्त कर ले।

अथानैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति। अथैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वमवधारयन्नुपसंहरति –

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ।।२४३।।
अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ।।२४४।।

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टिं वा द्रव्यमन्यदासाद्य।
यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ।।२४३।।
अर्थेषु यो न मुह्यति न हि रज्यति नैव द्वैषमुपयाति।
श्रमणो यदि स नियतं क्षपयति कर्माणि विविधानि ।।२४४।।

यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति, सोऽवश्यं ज्ञेयभूतंद्रव्यमन्यदासीदति।

इस कलश में यही कहा गया है कि वक्ता के अभिप्रायानुसार एक होकर भी अनेक होता हुआ यह मुक्ति का मार्ग एक और त्रिलक्षणपने को प्राप्त होता है।

आचार्य कहते हैं कि हे जगत के जीवो ! एक मात्र इसका ही अचल रूप से अवलम्बन करो; क्योंकि इससे ही जीव अल्पकाल में पूर्णानन्द को प्राप्त होते हैं ।।१६।।

आगामी गाथायें इस मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार की अन्तिम गाथाएँ हैं। अत: इन गाथाओं में पूरे अधिकार का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए **एकाग्रता ही मोक्षमार्ग है और अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं है** – यह स्पष्ट करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अज्ञानि परद्रव्याश्रयी हो मुग्ध राग-द्वेषमय।
जो श्रमण वह ही बाँधता है विविध विध के कर्म सब ।।२४३।।
मोहित न हों जो लोक में अर राग-द्वेष नहीं करें।
नियम से वे श्रमण ही क्षय करें विध-विध कर्म सब ।।२४४।।

यदि श्रमण अन्यद्रव्य का आश्रयपूर्वक अज्ञानी होता हुआ मोह-राग-द्वेष करता है तो वह विविध कर्मों से बंधता है और यदि पदार्थों में मोह-राग-द्वेष नहीं करता है तो वह ज्ञानी श्रमण नियम से विविध कर्मों को खपाता है।

इन गाथाओं के भाव को आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"जो मुनि ज्ञानात्मक आत्मा को मुख्यरूप से नहीं भाता; वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यों का

तदासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमज्ञानीभूतो मुह्यति वा, रज्यति वा, द्वेष्टि वा, तथाभूतश्च बध्यत एव, न तु विमुच्यते। अत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत्।।२४३।।

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति, स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति। तदनासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति, न रज्यति, न द्वेष्टिः, तथाभूतः सन् मुच्यत एव, न तु बध्यते। अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत्।।२४४।।

आश्रय अवश्य करता है। परद्रव्यों का आश्रय करनेवाला वह मुनि ज्ञानात्मक आत्मा से भ्रष्ट अज्ञानी होता हुआ मोह-राग-द्वेष करता है और बंध को प्राप्त होता है; मुक्त नहीं होता।

इसलिए अनेकाग्रता को मोक्षमार्गत्व सिद्ध नहीं होता।

और जो मुनिराज ज्ञानात्मक आत्मा को मुख्यरूप से भाते हैं; वे मुनिराज ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यों का आश्रय नहीं करते। परद्रव्यों का आश्रय नहीं करनेवाले वे मुनिराज ज्ञानात्मक आत्मा से भ्रष्ट न होकर ज्ञानी होते हुए, मोह-राग-द्वेष नहीं करते और वे मुक्त ही होते हैं; बंध को प्राप्त नहीं होते। इसलिए एकाग्रता को ही मोक्षमार्गत्व सिद्ध होता है।''

तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए जो निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, उसका भाव इसप्रकार है –

''जो मुनिराज निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा निज में एकाग्र होकर निजात्मा को नहीं जानते हैं; उनका चित्त बाह्यविषयों में जाता है, अपने ज्ञानानन्द स्वभाव से च्युत होता है; इसलिए वे मोह-राग-द्वेषरूप परिणमते हैं और अनेकप्रकार के कर्मों से बँधते हैं। इसकारण मुमुक्षुओं को एकाग्ररूप से अपने स्वरूप की भावना करना चाहिए।

और जो मुनिराज देखे हुए, सुने हुए, भोगे हुए भोगों की इच्छारूप अपध्यान के त्यागपूर्वक अपने स्वरूप की भावना भाते हैं; उनका मन बाह्यविषयों में नहीं जाता। बाह्य पदार्थों की चिन्ता का अभाव होने से वे निर्विकार चैतन्यचमत्कार से च्युत नहीं होते। रागादि का अभाव होने से उनके विविधप्रकार के विविध कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को निश्चल मन से अपने आत्मा की भावना करना चाहिए।

इसप्रकार वीतरागचारित्रसंबंधी विशेष कथन सुनकर कुछ लोग कहते हैं कि सयोग केवलियों के भी एकदेश चारित्र है, परिपूर्ण चारित्र तो अयोगी के अन्तिम समय में होगा। इसकारण अभी हमारे लिए तो सम्यक्त्वभावना और भेदज्ञान की भावना ही पर्याप्त है, चारित्र तो बाद में होगा।

इति मोक्षमार्गप्रज्ञापनम् ।।

उनकी शंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि अभेदनय से ध्यान ही चारित्र है और वह ध्यान केवलियों के उपचार से कहा गया है; इसीप्रकार चारित्र भी उपचार से कहा है।

सम्पूर्ण रागादि विकल्पजालरहित शुद्धात्मानुभूति लक्षण सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक छद्मस्थ का वीतरागचारित्र ही कार्यकारी है; क्योंकि उससे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है; इसलिए उसमें ही प्रयत्न करना चाहिए।''

प्रश्न – यहाँ कहा गया है कि ध्यान और चारित्र केवली भगवान के उपचार से कहे गये हैं। यह भी कहा गया है कि छद्मस्थों का वीतराग चारित्र ही कार्यकारी है। उक्त सन्दर्भ में प्रश्न यह है कि शुक्लध्यान के अन्तिम दो पाये तो सयोग केवली और अयोग केवलियों के ही होते हैं तथा उनके पूर्ण वीतरागता भी है ही – ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि सयोग केवली और अयोग केवलियों के ध्यान व चारित्र कहना उपचरित कथन है। यह भी कैसे जाना जा सकता है कि सयोग केवलियों के एकदेश चारित्र है; क्योंकि परिपूर्ण चारित्र तो अयोगी के अन्तिम समय में होगा? शास्त्रों में यह भी तो लिखा है कि पंचम गुणस्थान वालों के एकदेश चारित्र अर्थात् एकदेशव्रत और मुनिराजों के सकलचारित्र अर्थात् महाव्रत होते हैं।

उत्तर – अरे भाई, यह सब सापेक्ष कथन हैं। जिनागम में विविध प्रकरणों में विविध अपेक्षाओं से विविधप्रकार के कथन किये जाते हैं। अत: जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे सावधानी से समझना चाहिए। यहाँ अपेक्षा यह है कि हम छद्मस्थों को तो वही ध्यान, ध्यान है और वही चारित्र चारित्र है; जो हमें अतीन्द्रियसुख और अतीन्द्रियज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति कराये।

इसप्रकार इन गाथाओं में दो टूक शब्दों में यह कहा गया है कि ज्ञेयभूत परद्रव्यों का आश्रय करनेवाले, ज्ञानात्मक आत्मा से भ्रष्ट अज्ञानी जीव कर्मों से बंधते हैं और ज्ञेयभूत परद्रव्य का आश्रय नहीं करनेवाले, ज्ञानात्मक आत्मा का आश्रय कर कर्मों से मुक्त होते हैं; इसलिए अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं है और एकाग्रता मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में चरणानुयोगसूचकचूलिका महाधिकार के अंतर्गत मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार समाप्त होता है।

●●●

शुभोपयोगप्रज्ञापनाधिकार

(गाथा २४५ से गाथा २७० तक)

अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम्। तत्र शुभोपयोगिनः श्रमणत्वेनान्वाचिनोति –

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ।।२४५।।

श्रमणाः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये।
तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवाः सास्रवाः शेषाः ।।२४५।।

ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि, जीवितकषायकणतया, समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते, ते तदुपकण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो, नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभिधीयते।

मंगलाचरण

(दोहा)

शुद्धोपयोगी श्रमण के जो होते शुभभाव।
वे ही शुभ उपयोग हैं भाषी श्री जिनराज ।।

चरणानुयोगसूचकचूलिका में समागत आचरणप्रज्ञापन, मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार के उपरान्त अब शुभोपयोगप्रज्ञापन अधिकार आरंभ करते हैं।

इस अधिकार की पहली और प्रवचनसार की २४५वीं इस गाथा में **गौणरूप से शुभोपयोगियों को भी श्रमण बताया जा रहा है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी श्रमण हैं शुभोपयोगी भी श्रमण।
शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब ।।२४५।।

शास्त्रों में कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी श्रमण हैं। उनमें शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं और शेष अर्थात् शुभोपयोगी सास्रव हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"**यहाँ यह कहा जा रहा है कि श्रामण्य परिणति की प्रतिज्ञा करके भी जो कषाय कण के जीवित होने से, समस्त परद्रव्यों से निवृत्तिरूप सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व में परिणतिरूप शुद्धोपयोग भूमिका में आरोहण करने में असमर्थ हैं; वे शुभोपयोगी जीव – जो**

'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं॥'

– इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवाय:। तत: शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयु: श्रमणा:। किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभि: समं समकाष्ठत्वं न भवेत्, यत: शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव। इमे पुनरनवकीर्णकषाय-कणत्वात्सास्रवा एव। अत एव च शुद्धोपयोगिभि: सममगी न समुच्चीयन्ते, केवलमन्वाचीयन्त एव॥२४५॥

शुद्धोपयोग की भूमिका के अत्यन्त नजदीक निवास कर रहे हैं, कषाय ने जिनकी शक्ति कुण्ठित की है और अत्यन्त आतुर मनवाले हैं; वे श्रमण, श्रमण हैं या नहीं ?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा।
पर प्राप्त करते स्वर्ग सुख ही शुभोपयोगी आतमा॥११॥

उक्त प्रतिपादन ग्यारहवीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने स्वयं किया है; इसलिए शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय (एकसाथ रह सकने रूप संबंध) है। अत: शुभोपयोगी भी श्रमण हैं; क्योंकि उनके (तीन कषाय के अभावरूप) धर्म का सद्भाव है, किन्तु वे शुद्धोपयोगियों के समान नहीं हैं; क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों को निरस्त किया होने से निरास्रव ही हैं और शुभोपयोगी के कषायकण अविनष्ट होने से सास्रव ही हैं। यही कारण है कि इन्हें शुद्धोपयोगियों के साथ नहीं लिया जाता; पीछे से गौणरूप में ही लिया जाता है।''

ध्यान रहे यहाँ सातवें गुणस्थान और ऊपर के ध्यानारूढ़ मुनिराजों को शुद्धोपयोगी और जिनके मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति तो प्रगट हो गई है; पर उपयोग देवादि की भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय आदि शुभभावों में लगा रहता है; उन्हें शुभोपयोगी मुनिराज कहा गया है। ध्यान रहे यहाँ मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनिराजों को शुभोपयोगी नहीं कहा जा रहा है। उक्त संदर्भ में इसी गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है–

''निज शुद्धात्मा के बल से सम्पूर्ण शुभ-अशुभ संबंधी संकल्प-विकल्प रहित होने से शुद्धोपयोगी मुनिराज निरास्रव ही हैं; शेष शुभोपयोगी मुनिराज मिथ्यात्व और विषय-कषायरूप अशुभ आस्रव का निरोध होने पर भी पुण्यास्रव सहित हैं – ऐसा भाव है।''

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह बात कही गई है कि शुद्धोपयोग में लीन मुनिराज ही निरास्रवी हैं, छठवें गुणस्थान के शुभभावों में स्थित मुनिराज सास्रवी हैं। यहाँ यह बात

अथ शुभोपयोगिश्रमणलक्षणमासूत्रयति। अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति–

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया।।२४६।।
वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि।।२४७।।

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु।
विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या।।२४६।।
वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः।
श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम्।।२४७।।

सकलसंगसंन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य, परेषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थितेष्वर्हदादिषु, शुद्धात्मवृत्तिमात्रावस्थिति-

---

विशेष ध्यान देने योग्य है कि छठवें गुणस्थान तक जिन प्रकृतियों की बंधव्युच्छुत्ति नहीं हुई है; उन प्रकृतियों का ही आस्रव-बंध उन्हें होता है।।२४५।।

विगत गाथा में शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी – दो प्रकार के श्रमणों की चर्चा करने के उपरान्त अब इन २४६ एवं २४७वीं गाथाओं में शुभोपयोगी मुनियों का स्वरूप और प्रवृत्तियाँ बतलाते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

वात्सल्य प्रवचनरतों में अर भक्ति अर्हत् आदि में।
बस यही चर्या श्रमणजन की कही शुभ उपयोग है।।२४६।।
श्रमणजन के प्रति बंदन नमन एवं अनुगमन।
विनय श्रमपरिहार निन्दित नहीं है जिनमार्ग में।।२४७।।

श्रमणों में पायी जानेवाली अरहंतादि की भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य भाव युक्त शुभचर्या है।

श्रमणों के प्रति वंदन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान (खड़े होना) और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति तथा उनका श्रम दूर करना राग चर्या में निन्दित नहीं है।

आ. अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“सकल संग के संन्यास रूप श्रामण्य होने पर भी कषायांश के आवेश वश से केवल शुद्धात्मपरिणतिरूप से रहने में स्वयं अशक्त मुनिराज के अर्थात् केवल शुद्धात्मपरिणतिरूप से

प्रतिपादकेषु प्रवचनाभियुक्तेषु च भक्त्या वत्सलतया च प्रचलितस्य, तावन्मात्ररागप्रवर्तित-परद्रव्यप्रवृत्तिसंवलितशुद्धात्मवृत्तेः, शुभोपयोगि चारित्रं स्यात्। अतः शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रत्वलक्षणम्।।२४६।।

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया, समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दन-नमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत्।।२४७।।

रहनेवाले अर्हंतादिक तथा शुद्धात्मपरिणतिरूप से रहने का प्रतिपादन करनेवाले प्रवचनरत जीवों के प्रति भक्ति तथा वात्सल्य से चंचल चित्त श्रमण के, मात्र उतने राग से प्रवर्तमान परद्रव्यप्रवृत्ति के साथ शुद्धात्मपरिणति मिलित होने के कारण शुभोपयोगी चारित्र है। इससे ऐसा कहा गया है कि शुद्धात्मा का अनुराग युक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।

शुभोपयोगियों के शुद्धात्मा के अनुराग युक्त चारित्र होता है; इसलिए जिन्होंने शुद्धात्म-परिणति प्राप्त की है – ऐसे श्रमणों के प्रति जो वंदन-नमस्कार, अभ्युत्थान, अनुगमनरूप विनीत वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणति की रक्षा की निमित्तभूत ऐसी जो श्रम दूर करने की वैयावृत्तिरूप प्रवृत्ति है; वह शुभोपयोगियों के लिए दूषित नहीं है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को प्रस्तुत करते हुए निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं –

''इससे यह कहा गया है कि स्वयं शुद्धोपयोगरूप लक्षण परम सामायिक में ठहरने के लिए असमर्थ मुनि के शुद्धोपयोग के फलस्वरूप केवलज्ञान परिणत अन्य जीवों के प्रति और उसीप्रकार शुद्धोपयोग के आराधक जीवों के प्रति जो भक्तिभाव है, वह शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है। शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग में लिप्त मुनिराजों को रत्नत्रय की आराधना करनेवाले शेष पुरुषों के विषय में इसप्रकार की शुभोपयोगरूप प्रवृत्तियाँ योग्य ही हैं।''

इन गाथाओं में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है कि अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी और मिथ्यात्व का अभाव कर देनेवाले छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज भावना तो निरन्तर यही रखते हैं कि सदा शुद्धोपयोग में रहें; पर पर्यायगत कमजोरी के कारण जब यह संभव नहीं रहता; तब वे अरहंतादि की भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्यभाव से प्रवर्तते हैं। यदि वे शुभोपयोगी मुनिराज सच्चे सन्तों को वंदन, नमस्कार, उनकी विनय और वैयावृत्ति करते हैं तो भी वे निंदनीय नहीं हैं।।२४६-२४७।।

विगत गाथाओं में शुभोपयोगी श्रमणों का स्वरूप और प्रवृत्तियाँ बताने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि ऐसी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियों के ही होती हैं।

अथ शुभोपयोगिनामेवैवंविधाः प्रवृत्तयो भवन्तीति प्रतिपादयति। अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति –

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ।।२४८।।
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ।।२४९।।

दर्शनज्ञानोपदेशः शिष्यग्रहणं च पोषणं तेषाम्।
चर्या हि सरागाणां जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च ।।२४८।।
उपकरोति योऽपि नित्यं चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य।
कायविराधनरहितं सोऽपि सरागप्रधानः स्यात् ।।२४९।।

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसंग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्रपूजोपदेशप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति, न शुद्धोपयोगिनाम् ।।२४८।।

प्रतिज्ञातसंयमत्वात् षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उपदेश दर्शन-ज्ञान पूजन शिष्यजन का परिग्रहण।
और पोषण ये सभी हैं रागियों के आचरण ।।२४८।।
तनविराधन रहित कोई श्रमण पर उपकार में।
नित लगा हो तो जानना है राग की ही मुख्यता ।।२४९।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण तथा उनका पोषण और जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश सरागियों की चर्या है।

जो श्रमण काय की विराधना से रहित चार प्रकार के श्रमण संघ का नित्य उपकार करता रहता है, वह श्रमण भी राग की प्रधानता वाला ही है।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"अनुग्रह करने की भावनापूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपदेश की प्रवृत्ति, शिष्य ग्रहण और उनके पोषण की प्रवृत्ति तथा जिनेन्द्र पूजन के उपदेश की प्रवृत्ति शुभोपयोगियों के ही होती है, शुद्धोपयोगियों के नहीं।

संयम की प्रतिज्ञा होने से छह काय के जीवों की विराधना से रहित, शुद्धात्मपरिणति के

चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति, न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम्।।२४९।।

रक्षण में निमित्तभूत, चार प्रकार के श्रमणसंघ का उपकार करने की प्रवृत्ति भी राग की प्रधानता के कारण शुभोपयोगियों के ही होती है; शुद्धोपयोगियों के कदापि नहीं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव प्रस्तुत करते हुए एक प्रश्न उपस्थित करते हैं कि **''शुभोपयोगियों के भी किसी समय शुद्धोपयोग रूप भावना दिखाई देती है और शुद्धोपयोगियों के भी किसी समय शुभोपयोगरूप भावना देखी जाती है; श्रावकों के भी सामायिक आदि के समय शुद्धभावना देखी जाती है। ऐसी स्थिति में शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगियों में भेद करना कैसे संभव है ?''**

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि **''आपका कहना ठीक ही है; परन्तु जो अधिकतर शुभोपयोगरूप आचरण करते हैं, यद्यपि वे किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावना करते हैं; तथापि वे शुभोपयोगी ही कहलाते हैं तथा जो शुद्धोपयोगी हैं, वे भी किसी समय शुभोपयोगरूप वर्तते हैं; तो भी वे शुद्धोपयोगी ही हैं।**

जिसप्रकार जिस वन में आम्र के पेड़ अधिक हों, उस वन में कुछ नीम के भी पेड़ क्यों न हों, पर उसे आम्रवन ही कहते हैं। इसीप्रकार यहाँ शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगियों के संदर्भ में भी समझना चाहिए।''

एक अपेक्षा यह भी तो हो सकती है कि अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से होनेवाली शुद्धपरिणति सम्पन्न मुनिराज शुद्धोपयोग के काल में शुद्धोपयोगी हैं और शुभोपयोग के काल में शुभोपयोगी हैं। इसप्रकार **छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी संत शुद्धोपयोगी भी हैं और शुभोपयोगी भी हैं। श्रेणी का आरोहण करनेवाले सभी मुनिराज शुद्धोपयोगी ही हैं।**

साधु शब्द के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के विशिष्ट अर्थों को भी आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि **''अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि हैं, ऋद्धिप्राप्त साधु ऋषि हैं। क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी – दोनों श्रेणियों में आरूढ साधु यति हैं और अन्य सभी साधु अनगार हैं।**

ऋषि चार प्रकार के होते हैं – राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि को प्राप्त साधु राजर्षि है, बुद्धि और औषधि ऋद्धि सहित साधु ब्रह्मर्षि हैं, आकाशगमन ऋद्धि सम्पन्न साधु देवर्षि हैं तथा केवलज्ञानी परमर्षि हैं। इन सभी के सुख-दुख आदि विषयों में समताभाव होने से सभी श्रमण हैं।''

अथ प्रवृत्तेः संयमविरोधित्वं प्रतिषेधयति –

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०॥

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्त्यर्थमुद्यतः श्रमणः।
न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणां स्यात् ॥२५०॥

यो हि परेषां शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्त्यप्रवृत्त्या स्वस्य संयमं विराधयति स गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते। अतो या काचन प्रवृत्तिः सा सर्वथा संयमाविरोधेनैव विधातव्याः। प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ॥२५०॥

उक्त गाथाओं में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि शुद्धोपयोगी मुनिराजों के तो किसी भी प्रकार की सराग चर्या होती ही नहीं है; छठवें गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी सन्तों की भी सराग चर्या मर्यादित ही होती है। जो भी होती है, उसमें आत्मकल्याणकारी तत्त्वोपदेश, शिष्यों का ग्रहण और वे धर्ममार्ग में लगे रहें – इस भावना से परिपोषण और गृहस्थों को तत्त्व उपदेश के साथ-साथ जिनपूजनादि करने का उपदेश ही होता है ॥२४८-२४९॥

विगत गाथाओं में शुभोपयोगी साधुओं की विराधना रहित प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट कर **अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि विराधना सहित प्रवृत्ति अनगारों की नहीं, श्रावकों की ही होती है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो श्रमण वैयावृत्ति में छह काय को पीड़ित करें।
वह गृही ही हैं क्योंकि यह तो श्रावकों का धर्म है ॥२५०॥

जो श्रमण वैयावृत्ति के लिए उद्यमी वर्तता हुआ छह काय के जीवों को पीड़ित करता है; वह श्रमण, श्रमण ही नहीं है, गृहस्थ है; क्योंकि छह काय की विराधना सहित वैयावृत्ति श्रावकों का धर्म है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"दूसरे मुनिराजों की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा के अभिप्राय से वैयावृत्ति की प्रवृत्ति करता हुआ श्रमण अपने संयम की विराधना करता है। गृहस्थ धर्म में प्रवेश करनेवाला वह श्रमण श्रामण्य से च्युत होता है। इसलिए प्रत्येक श्रमण को वही प्रवृत्ति करनी चाहिए, जो किसी भी रूप में संयम की विरोधी न हो; क्योंकि प्रवृत्ति में भी संयम ही साध्य है।"

अथ प्रवृत्तेर्विषयविभागं दर्शयति –

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।।२५१।।

जैनानां निरपेक्षं साकारानाकारचर्यायुक्तानाम्।
अनुकम्पयोपकारं करोतु लेपो यद्यप्यल्पः ।।२५१।।

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्तिः सा खल्वेकान्तमैत्रीपवित्रितचित्तेषु

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यहाँ श्रावकों को छह काय के जीवों का विराधक बताया गया है। क्या यह उचित है ?

अरे भाई ! इसमें उचित-अनुचित की क्या बात है ? यहाँ तो यह कहा गया है कि जिन श्रावकों के द्वारा अपनी आजीविका आदि में भूमिकानुसार होनेवाले आरंभ-परिग्रह में, जिससे बचना संभव नहीं है – त्रस-स्थावर जीवों की जैसी विराधना होती है; उन श्रावकों के द्वारा श्रमणों की वैयावृत्ति में भी उसप्रकार की विराधना हो तो हो; पर श्रमणों के जीवन में तो – ऐसी विराधना होनी ही नहीं चाहिए। श्रावकों को त्रस-स्थावर जीवों की विराधना करना चाहिए – ऐसी कोई बात यहाँ नहीं है।

भूमिकानुसार होनेवाली त्रस-स्थावर जीवों की विराधना भी यदि श्रावक स्वयं के उपचार के लिए करे तो तत्संबंधी भाव अशुभभाव हैं और सन्तों के उपचार के लिए करे तो तत्संबंधी भाव शुभभाव हैं। ध्यान रहे यहाँ त्रस-स्थावर जीवों की विराधना करने की बात नहीं है; अपितु श्रावक अवस्था में भूमिकानुसार होनेवाली हिंसा की बात है ।।२५०।।

विगत गाथा में 'मुनिराजों द्वारा की जानेवाली वैयावृत्ति पूर्णतः अहिंसक होती है' – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में शुभोपयोगी मुनिराजों द्वारा की जानेवाली प्रवृत्ति के विषय को दो भागों में विभाजित करते हैं –

(हरिगीत)

दया से सेवा सदा जो श्रमण-श्रावकजनों की।
करे वह भी अल्पलेपी कहा है जिनमार्ग में।।२५१।।

यद्यपि अल्पलेप होता है; तथापि साकार-अनाकार जैनों का अथवा श्रावक और मुनिराजों का अनुकम्पा से निरपेक्षतया उपकार करो।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकाररूप प्रवृत्ति करने से भी अल्पलेप होता है; तथापि

शुद्धेषु जैनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तप्रवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोपलम्भेतर-सकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा, न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्याशुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपत्तेरिति ।।२५१।।

अनेकान्त से मैत्री रखनेवाले जैनों के प्रति एवं शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शन में प्रवर्तमान परिणति के कारण साकार-अनाकार चर्यावालों के प्रति, शुद्धात्मा की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही उपकार करनेरूप प्रवृत्ति का निषेध नहीं है; किन्तु अत्यल्प-लेपवाली होने से सबके प्रति सभी प्रकार से वह प्रवृत्ति अनिषिद्धि हो – ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उसप्रकार की प्रवृत्ति से पर की और निज की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती।''

उक्त कथन में यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र **सागारणगारचरिय** पद का अर्थ साकार और अनाकार उपयोगरूप चर्चावाले करते हैं; तथापि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त पद का अर्थ सागार (श्रावक) और अनगार (मुनिराज) करते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि यद्यपि अनुकंपापूर्वक की गई परोपकाररूप प्रवृत्ति से अल्पलेप होता है; तथापि यदि वह अनुकंपा शुभोपयोगी सन्तों द्वारा शुद्धात्मा की उपलब्धि की भावना से, शुद्धात्मा के साधकों की की जाती है तो उसका निषेध नहीं है।

परन्तु, यद्यपि उक्त प्रवृत्ति से अल्पलेप ही होता है; तथापि यदि वह शुद्धात्मा के साधकों से भिन्न अन्य लोगों की, शुद्धात्मा की साधना से अन्य अपेक्षा से की जाती है तो शुभोपयोगी सन्तों के लिए उसका निषेध ही है; क्योंकि इससे अपनी व अन्य श्रमणों की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती।।२५१।।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा ऐसी प्राप्त होती है, जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्राप्त नहीं होती। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा।।३६।।

(हरिगीत)

भूखे-प्यासे दुःखीजन लख दुखित मन से जो पुरुष।
दया से हो द्रवित बस वह भाव अनुकंपा कहा।।३६।।

क्षुधातुर (भूखे) तृषातुर (प्यासे) अथवा दुखी प्राणियों को देखकर जो मन में दुख होता है, उसके कारण उस दुखी प्राणी पर दया करना ही अनुकम्पा है।

अथ प्रवृत्तेः कालविभागं दर्शयति। अथ लोकसंभाषणप्रवृत्तिं सनिमित्तविभागं दर्शयति। अथैवमुक्तस्य शुभोपयोगस्य गौणमुख्यविभागं दर्शयति –

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए।।२५२।।
वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।।२५३।।

इस गाथा की टीका में आचार्य जयसेन लिखते हैं कि यह अनुकम्पा ज्ञानियों के स्वरूप स्थिरतारूप भावना को नष्ट न करते हुए संक्लेशपरिणाम को दूर करने के लिए होती है; परन्तु अज्ञानियों के संक्लेशरूप ही होती है।

ध्यान रहे यह गाथा पंचास्तिकाय संग्रह में १३७वीं गाथा के रूप में है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत पंचास्तिकायसंग्रह की आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयव्याख्या टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि –

''यह अनुकम्पा के स्वरूप का कथन है, तृषादि दुख से पीड़ित किसी प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार (उसके दुख को दूर करने का उपाय) करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो, निचली भूमिका में विहरते हुए जन्मार्णव में निमग्न जगत के अवलोकन से मन में किंचित् खेद होना है।''

इस गाथा में अनुकम्पा (दया) का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसे दुखरूप बताया गया है। दूसरे प्राणी के दुख को देखकर अपने हृदय में जो दुख होता है और उसे दूर करने का जो भाव होता है; वह दुखरूप भाव ही अनुकम्पा है। तात्पर्य यह है कि यह अनुकम्पा का परिणाम भी दुखरूप परिणाम है, मोहरूप परिणाम है।।३६।।

२५१वीं गाथा में प्रवृत्ति के विषय में विभाग की बात आरंभ की थी; अब इन गाथाओं में कालविभागादि की बात स्पष्ट करते हैं। साथ में यह भी बताते हैं कि लौकिकजनों के सम्पर्क का क्या नियम है ? गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

श्रम रोग भूखरु प्यास से आक्रान्त हैं जो श्रमणजन।
उन्हें लखकर शक्ति के अनुसार वैयावृत करो।।२५२।।
ग्लान गुरु अर वृद्ध बालक श्रमण सेवा निमित्त से।
निंदित नहीं शुभभावमय संवाद लौकिकजनों से।।२५३।।

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परे त्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं॥२५४॥

रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा श्रमेण वा रूढम्।
दृष्ट्वा श्रमणं साधुः प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या॥२५२॥
वैयावृत्त्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्।
लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता॥२५३॥
एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम्।
चर्या परेति भणिता तयैव परं लभते सौख्यम्॥२५४॥

यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः स्यात्, स शुभोपयोगिनः स्वशक्तया प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः। इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव॥२५२॥

समधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्त्यनिमित्तमेव शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसंभाषणं प्रसिद्धं, न पुनरन्यनिमित्तमपि॥२५३॥

प्रशस्त चर्या श्रमण के हो गौण किन्तु गृहीजन।
के मुख्य होती है सदा अर वे उसी से सुखी हो॥२५४॥

रोग से, क्षुधा (भूख) से, तृषा (प्यास) अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्ति करो।

रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ की बातचीत निन्दित नहीं है।

यह वैयावृत्तरूप प्रशस्त चर्या श्रमणों के गौणरूप से और गृहस्थों को मुख्य रूप से होती है – ऐसा शास्त्रों में कहा गया है; क्योंकि गृहस्थ उसी से परमसुख को प्राप्त करते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त मुनिराजों को शुद्धात्मपरिणति से च्युत करनेवाले उपसर्गादि का समय शुभोपयोगी मुनिराज की अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिकार करने की इच्छारूप प्रवृत्ति का काल है और उससे अतिरिक्त समय का काल अपनी शुद्धात्मपरिणति की प्राप्ति के लिए निवृत्ति का काल है।

शुद्धात्मपरिणति प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से ही शुभोपयोगी श्रमण का शुद्धात्मपरिणति शून्य लोगों से बातचीत करना प्रसिद्ध है, शास्त्रों में निषिद्ध नहीं है; किन्तु अन्य निमित्त से भी प्रसिद्ध हो – ऐसा नहीं है।

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्-गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि, स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां, रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ।।२५४।।

इसप्रकार शुद्धात्मा की प्रकाशक सर्वविरति को प्राप्त श्रमणों के कषायकण के सद्भाव से शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप शुभोपयोग गौणरूप प्रवर्तित होता है; क्योंकि वह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध राग से संबंधित है।

सर्वविरति के अभाव में मुनि भूमिका के योग्य शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव होने से कषाय के सद्भाव के कारण शुभोपयोगी गृहस्थों के मुख्य है।

जिसप्रकार ईंधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है; उसीप्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है; इसलिए वह शुभोपयोग क्रमशः (परम्परा से) निर्वाण सुख का कारण है।''

इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं कि ''शुभोपयोगी मुनिराज आत्मस्थिरतारूप भावना को नष्ट करनेवाले रोगादि का प्रसंग होने पर वैयावृत्ति करते हैं; शेष समय में अपना अनुष्ठान करते हैं।

जब कोई शुभोपयोगयुक्त आचार्य, सराग चारित्रलक्षण शुभोपयोगियों की अथवा वीतराग चारित्र लक्षण शुद्धोपयोगियों की वैयावृत्ति करते हैं; उस समय उस वैयावृत्ति के निमित्त से लौकिकजनों से सम्भाषण करते हैं, शेष समय में नहीं – ऐसा भाव है।

जब कोई मुनिराज अन्य मुनिराजों की वैयावृत्ति करते हैं तो शरीर से निर्दोष वैयावृत्ति करते हैं एवं वचन से धर्मोपदेश रूप वैयावृत्ति करते हैं। औषधि, अन्न, पान आदि गृहस्थों के अधीन है। इसकारण वैयावृत्तिरूप धर्म गृहस्थों के मुख्य है, मुनियों के गौण है।''

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि रोगी, बाल और वृद्ध मुनिराजों के साथ गुरुओं को लेना तो उचित नहीं; क्योंकि रोगी, बाल और वृद्ध मुनिराज तो अशक्त हैं, पर गुरुजन तो अशक्त नहीं हैं। इसप्रकार का विकल्प आचार्य जयसेन को भी रहा होगा; यही कारण है कि उन्होंने विकल्प (दूसरे अर्थ) के रूप में गुरु शब्द का अर्थ स्थूलकाय भी किया है; क्योंकि काय की स्थूलता (मोटापा) भी एक बीमारी है, अशक्ति है।

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति। अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये दर्शयति। अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये एव व्याख्याति –

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि।।२५५।।
छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि।।२५६।।
अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु।।२५७।।

इसप्रकार इन गाथाओं में यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि शुभोपयोगी मुनिराज विना कारण सदा ही दूसरे मुनिराजों की सेवा में नहीं लगे रहते; अपितु जब कभी किसी शुद्धात्मपरिणति प्राप्त मुनिराज को, स्वस्थभाव को नाश करनेवाला विशेष रोग हो जाय; उस समय शुभोपयोगी सन्तों को उनकी सेवा करने का भाव आता है और उनकी सेवा करने रूप यथायोग्य प्रवृत्ति भी होती है; शेष कांल में तो वे शुद्धात्मपरिणति प्राप्त करने के पुरुषार्थ में ही संलग्न रहते हैं।

शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध मुनिराजों की सेवा के निमित्त से ही वे शुभोपयोगी सन्त शुद्धात्मपरिणति शून्य लोगों से बातचीत करते हैं, अन्य किसी कारण से वे उनसे बातचीत नहीं करते।

वस्तुतः बात यह है कि वैयावृत्ति के शुभभाव और तदनुसार प्रवृत्ति मुख्यरूप से ज्ञानी गृहस्थों (श्रावकों) के पाई जाती है, शुभोपयोगी सन्तों के जो यह गौणरूप से ही कही है। सम्यग्दृष्टि श्रमण और सम्यग्दृष्टि श्रावक – दोनों को श्रद्धा की अपेक्षा शुद्धात्मा का आश्रय समान ही है; किन्तु चारित्र अपेक्षा मुनिराजों को शुद्धोपयोग की मुख्यता है और गृहस्थों को शुभोपयोग की मुख्यता है। यही कारण है कि दवाई आदि के लिए सामान्यजनों से सम्पर्क करने का भाव और तदर्थ प्रयास जितना गृहस्थ को सहज है, उतना सन्तों को नहीं।।२५२-२५४।।

विगत गाथाओं में शुभोपयेगियों के द्वारा की जानेवाली वैयावृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करके अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि कारण की विपरीतता से फल में विपरीतता होती है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

राग: प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम्।
नानाभूमिगतानीह बीजानीव सस्यकाले।।२५५।।
छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत:।
न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते।।२५६।।
अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु।
जुष्टं कृतं वा दत्तं फलति कुदेवेषु मनुजेषु।।२५७।।

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं, तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात्।।२५५।।

(हरिगीत)

एकविध का बीज विध-विध भूमि के संयोग से।
विपरीत फल शुभभाव दे बस पात्र के संयोग से।।२५५।।
अज्ञानियों से मान्य व्रत-तप देव-गुरु-धर्मादि में।
रत जीव बाँधे पुण्यहीनरु मोक्ष पद को ना लहें।।२५६।।
जाना नहीं परमार्थ अर रत रहें विषय-कषाय में।
उपकार सेवा दान दें तो जाय कुनर-कुदेव में।।२५७।।

जिसप्रकार इस जगत में अनेकप्रकार की भूमियों में पड़े हुए एक से बीज धान्यकाल में विपरीतरूप से फलते हैं; उसीप्रकार प्रशस्तराग वस्तुभेद (पात्रभेद) से विपरीतरूप से फलता है।

जो छद्मस्थविहित वस्तुओं में अर्थात् छद्मस्थ के द्वारा कथित देव-शास्त्र-गुरु-धर्मादि में एवं व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान और दान में रत होता है; वह जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं होता; किन्तु सातात्मक (लौकिक सुखरूप) भाव को प्राप्त होता है।

जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है और जो विषय-कषाय में अधिक है; ऐसे पुरुषों की सेवा उपकार या दान कुदेवरूप में और कुमनुष्यरूप में फलते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार एक समान बीज होने पर भी भूमि की विपरीतता से निष्पत्ति की विपरीतता होती है; उसीप्रकार प्रशस्त रागरूप शुभोपयोग एक समान होने पर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है; क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी है।

सर्वज्ञकथित वस्तुओं में युक्त शुभोपयोग का फल पुण्य संचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है।

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव। तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं, तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्यापसद-प्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ।।२५६।।

यानि हि छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं, ते खलु शुद्धात्मपरिज्ञानशून्यतयान-वाप्तशुद्धात्मवृत्तितया चाविदितपरमार्था विषयकषायाधिकाः पुरुषाः तेषु शुभोपयोगात्मकानां जुष्टोपकृतदत्तानां या केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं, तत्कुदेवमनुजत्वम् ।।२५७।।

वह कारण की विपरीतता से विपरीत ही होता है। छद्मस्थ कथित वस्तुयें कारण विपरीतता है और उनमें व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान और दान में रत रूप से युक्त शुभोपयोग का फल मोक्षशून्य केवल अधम पुण्य की प्राप्ति है। यह फल की विपरीतता है और वह फल सुदेव व सुमनुष्यत्व है। छद्मस्थ कथित वस्तुएँ कारणविपरीतता है। वे विपरीत कारण शुद्धात्मज्ञान से शून्यता के कारण परमार्थ से अजान और शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त न करने के कारण विषय-कषायरत पुरुष हैं। उनके प्रति शुभ उपयोगात्मक जीवों की सेवा, उपकार या दान करनेवाले जीवों को जो केवल अधम पुण्य की प्राप्तिरूप फल विपरीतता है; वह कुदेव, कुमनुष्यत्व है।''

उक्त गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखते हैं –

''जो निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते और पुण्य को ही मुक्ति का कारण कहते हैं; उन्हें ही यहाँ छद्मस्थ शब्द से ग्रहण किया गया है, गणधरदेवादि को नहीं। इसीप्रकार शुद्धात्मा के उपदेश से रहित छद्मस्थ अज्ञानियों से जो दीक्षित हैं; उन्हें छद्मस्थविहित वस्तुएँ कहा गया है। उन पात्रों के संसर्ग से जो व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान और दानादि करते हैं, वे भी शुद्धात्मा की भावना के अनुकूल नहीं हैं। इसकारण वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते; सुदेव, सुमनुष्यत्व को प्राप्त करते हैं – ऐसा अर्थ है।

विषय-कषायों के अधीन होने से, विषय-कषाय रहित शुद्धात्मस्वरूप की भावना से रहित पुरुषों में ये सब करने से, ये कुदेवादि रूप में फलते हैं।''

उक्त गाथाओं और उनकी टीकाओं में सबकुछ मिलाकर यही कहा गया है कि जिसप्रकार बीज एक समान होने पर भी भूमि के भेद से फसल में अन्तर आ जाता है; उसीप्रकार शुभभाव समान होने पर भी ज्ञानी और अज्ञानी को एकसा फल नहीं मिलता; भिन्न-भिन्न मिलता है; केवल भिन्न-भिन्न ही नहीं, अपितु परस्पर विपरीत फल मिलता है।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये तत्त्वों के श्रद्धानपूर्वक होनेवाले शुभभाव परम्परा मोक्ष के कारण कहे गये हैं; किन्तु अज्ञानी छद्मस्थ कथित तत्त्व विपरीतता के कारण हैं; अतः उनकी

अथ कारणवैपरीत्यात् फलमविपरीतं न सिध्यतीति श्रद्धापयति। अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं दर्शयति –

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ।।२५८।।
उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ।।२५९।।

यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु।
कथं ते तत्प्रतिबद्धाः पुरुषाः निस्तारका भवन्ति ।।२५८।।
उपरतपापः पुरुषः समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु।
गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ।।२५९।।

श्रद्धा करनेवालों के शुभभाव एकाध भव में अनुकूलता प्रदान करके अन्ततोगत्वा निगोद में ले जाते हैं। उन्हें जो एकाध भव की अनुकूलता प्राप्त होती है; वह सुदेव और सुमनुष्यत्व रूप भी हो सकती है और भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों या कुमनुष्यों के रूप में भी हो सकती है।

अतः शुभभाव और उनके फल में प्राप्त होनेवाली क्षणिक अनुकूलता में सुखबुद्धि छोड़कर वीतरागी सर्वज्ञदेव कथित तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।।२५५-२५७।।

विगत गाथाओं में 'कारण की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है' – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि कारण की विपरीतता से अविपरीत फल नहीं मिलता, अविपरीत फल तो अविपरीत कारण से ही होता है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

शास्त्र में ऐसा कहा कि पाप विषय-कषाय हैं।
जो पुरुष उनमें लीन वे कल्याणकारक किसतरह ।।२५८।।
समभाव धार्मिकजनों में निष्पाप अर गुणवान हैं।
सन्मार्गगामी वे श्रमण परमार्थ मग में मगन हैं ।।२५९।।

शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि जब विषय-कषाय पाप हैं, तब उनसे प्रतिबद्ध (विषय-कषायों में लीन) पुरुष निस्तारक (पार लगाने वाले) कैसे हो सकते हैं?

जिसका पापभाव रुक गया है, जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान है और जो गुणों का सेवन करनेवाला है, वह पुरुष सुमार्ग का भागी होता है।

विषयकषायास्तावत्पापमेव, तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तदनुरक्ता अपि पापानुरक्तत्वात् पापमेव भवन्ति। ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यायापि न कल्प्यन्ते, कथं पुनः संसारनिस्तारणाय। ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिद्ध्येत्।।२५८।।

उपरतपापत्वेन, सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन, गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यपरिणतिनिवृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी, स श्रमणः स्वयं परस्य मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम्।।२५९।।

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं व्याख्याति –

असुभोवयोगरहिदा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।।२६०।।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"विषयकषाय तो पाप ही हैं, विषयकषायवान पुरुष भी पाप हैं और उन विषयकषायवान पुरुषों में अनुरक्त जीव भी पाप में अनुरक्त होने से पाप ही हैं। इसलिए जब विषयकषायवान पुरुष स्वानुरक्त पुरुषों को, पुण्य के कारण भी नहीं होते तो फिर वे संसार से निस्तारक कैसे हो सकते हैं ? इसलिए उनसे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता।

पाप के रुक जाने से सभी धार्मिकों के प्रति स्वयं मध्यस्थ होने से और गुण समूह का सेवन करने से जो श्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपत् परिणति से रचित एकाग्रतारूप सुमार्ग के भागी हैं; वे श्रमण स्व और पर को मोक्ष व पुण्य के आयतन हैं; इसलिए वे अविपरीत फल के कारण हैं – ऐसी प्रतीति करना चाहिए।"

इन गाथाओं में यही स्पष्ट किया गया है कि जो पुरुष विषय-कषाय के पोषण में मग्न हैं, विषय-कषाय की पूर्ति को सुख मानते हैं; ऐसे अज्ञानी जीवों का विषय-कषाय के पोषणरूप उपकार करना धर्मरूप कैसे हो सकता है, धर्म का कारण भी कैसे हो सकता है; वह तो साक्षात् पाप है। ऐसे पापी जीव स्व-पर का कल्याण कैसे कर सकते हैं। उनकी सेवा करना कल्याण का कारण नहीं है।

जो ज्ञानी जीव स्व-पर के बीच भेदज्ञान करनेवाले हैं, विषय-कषायों से विरक्त हैं; वे ज्ञानी जीव ही स्व-पर का कल्याण करनेवाले हैं। अतः उनकी सेवा करना भी कल्याण का कारण है।।२५८-२५९।।

जो बात विगत गाथाओं में समझाई गई है; अब उसी बात को इस गाथा में विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अशुभोपयोगरहिताः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ता वा।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्तः ॥२६०॥

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः, सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः, स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति, तद्भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः ॥२६०॥

(हरिगीत)

शुद्ध अथवा शुभ सहित अर अशुभ से जो रहित हैं।
वे तार देते लोक उनकी भक्ति से पुणबंध हो ॥२६०॥

अशुभोपयोग से रहित जो मुनिराज शुद्धोपयोग से या शुभोपयोग से सहित होते हैं, वे मुनिराज लोगों को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिवान जीव प्रशस्त पुण्य को प्राप्त करते हैं।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''मोह, द्वेष और अप्रशस्त राग के उच्छेद से अशुभोपयोग से रहित मुनिराज समस्त कषायोदय के विच्छेद से कभी शुद्धोपयोग युक्त और कभी प्रशस्त राग के विपाक से शुभोपयोग से युक्त होते हैं। वे मुनिराज स्वयं मोक्षायतन होने से लोक को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिभाव से जिन लोगों का प्रशस्तभाव रहता है, वे लोग पुण्य के भागी होते हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को सरल-सुबोध भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

''शुद्धोपयोग और शुभोपयोग परिणत पुरुष पात्र हैं। निर्विकल्प समाधि के बल से, शुभाशुभ उपयोग से रहित काल में, कभी वीतरागलक्षण शुद्धोपयोग से सहित तथा कभी मोह, द्वेष और अशुभराग से रहित काल में, सरागलक्षण शुभोपयोग सहित होते हुए भव्यजीवों को तारते हैं और उनके प्रति भक्ति रखने वाले श्रेष्ठ भक्त स्वर्ग प्राप्त करते हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं।''

उक्त गाथा में यह कहा गया है कि सर्वप्रकार से सेवा के पात्र तो शुद्धोपयोगी सन्त ही हैं। साथ में जो शुभोपयोगी सन्त मिथ्यात्व और तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से उत्पन्न शुद्धपरिणति से सम्पन्न हैं; पर अभी शास्त्रादि लिखने, पढने-पढानेरूप शुभोपयोग में है; वे भी सर्वप्रकार से सेवा करने योग्य हैं; परन्तु विषय-कषाय में संलग्न लोगों की सेवा कल्याणकारी नहीं है ॥२६०॥

अब आगामी गाथाओं में आचार्यदेव विगत गाथाओं में प्ररूपित विषयवस्तु को विस्तार से समझाते हैं और श्रमणाभासों की सभी प्रवृत्तियों का निषेध करते हैं।

अथाविपरीतफलकारणाविपरीतकारणसमुपासनप्रवृत्तिं सामान्यविशेषतो विधेयतया सूत्रद्वैतेनोपदर्शयति। अथ श्रमणाभासेषु सर्वाः प्रवृत्तीः प्रतिषेधयति –

दिट्ठा पगदं वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो।।२६१।।
अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि।।२६२।।
अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं।।२६३।।

दृष्ट्वा प्रकृतं वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः।
वर्ततां ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः।।२६१।।
अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कारः।
अञ्जलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकानां हि।।२६२।।
अभ्युत्थेयाः श्रमणाः सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः।
संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीया हि श्रमणैः।।२६३।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जब दिखें मुनिराज पहले विनय से वर्तन करो।
भेद करना गुणों से पश्चात् यह उपदेश है।।२६१।।
गुणाधिक में खड़े होकर अंजलि को बाँधकर।
ग्रहण-पोषण-उपासन-सत्कार कर करना नमन।।२६२।।
विशारद सूत्रार्थ संयम-ज्ञान-तप में आढ्य हों।
उन श्रमणजन को श्रमणजन अति विनय से प्रणमन करें।।२६३।।

प्रकृत वस्तु अर्थात् जिसका प्रकरण चल रहा है – ऐसी नग्न दिगम्बर दशा को देखकर हे श्रमण ! प्रथम तो अभ्युत्थान आदि क्रियाओं द्वारा उनका योग्य सत्कारादि करो; बाद में गुणानुसार भेद करना – ऐसा उपदेश है।

शास्त्रों में, गुणों में अधिक के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, हाथ जोड़ना और प्रणाम करना कहा है।

श्रमणों के द्वारा जिनसूत्रों के मर्मज्ञ और संयम, तप और ज्ञान में समृद्ध श्रमण; अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं।

श्रमणानामात्मविशुद्धिहेतौ प्रकृते वस्तुनि तदनुकूलक्रियाप्रवृत्त्या गुणातिशयाधानमप्रतिषिद्धम्॥२६१॥

श्रमणानां स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धाः॥२६२॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसंयमतपःस्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा, इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव॥२६३॥

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आत्मविशुद्धि की हेतुभूत प्रकृत वस्तु अर्थात् जिनका प्रकरण चल रहा है, उन श्रमणों के प्रति उनके योग्य क्रियारूप प्रवृत्ति से गुणाधिकतानुसार यथायोग्य व्यवहार करने का श्रमणों के लिए निषेध नहीं है।

अपने से अधिक गुणवान के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, सत्कार, अंजलिकरण और प्रणामरूप प्रवृत्तियाँ श्रमणों को निषिद्ध नहीं हैं।

सूत्र और पदार्थों के विशद् ज्ञान द्वारा जिनके संयम, तप और स्वतत्त्व का ज्ञान प्रवर्तता है; केवल उन श्रमणों के प्रति ही अभ्युत्थानादि प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध हैं; उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासों के प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं में समागत अभ्युत्थानादि शब्दों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि –

''स्वागतार्थ सामने जाना अभ्युत्थान है; स्वीकार करना ग्रहण है; शुद्धात्म भावना के सहकारी कारण के हेतु से सेवा करना उपासना है; शुद्धात्मभावना के सहकारी कारण के हेतु से भोजन, शयन आदि की चिन्ता करना पोषण है; भेदाभेदरत्नत्रयरूप गुण को प्रकाशित करना सत्कार है; अंजलि बाँधकर नमस्कार करना अजंलिकरण है और नमस्कार हो – ऐसा वचन बोलना प्रणाम है।

जो बहुश्रुत (बहुत से शास्त्रों के विशेषज्ञ) तो हैं, पर चारित्र में अधिक नहीं हैं; वे भी यथायोग्य वंदन करने योग्य हैं; क्योंकि वे परमागम के अभ्यासी हैं।

उनकी वंदना करने का दूसरा कारण यह भी है कि वे पहले से ही सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञान में दृढ़तर हैं।''

उक्त गाथाओं और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका के प्रतिपादन की विशेषता यह है कि गाथाओं में तो यह कहते हैं कि यदि कोई मुनिराज सामने से आ रहे हों तो उनकी नग्न दिगम्बर

अथ कीदृश: श्रमणाभासो भवतीत्याख्याति –

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे।।२६४।।

न भवति श्रमण इति मत: संयमतप: सूत्रसंप्रयुक्तोऽपि।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान्।।२६४।।

आगमज्ञोऽपि, संयतोऽपि, तप:स्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधान: श्रमणाभासो भवति।।२६४।।

दशा देखकर सर्वप्रथम खड़े होकर उनकी विनय और उन्हें यथायोग्य नमस्कारादि करना चाहिए। गुणों के अनुसार भेद करना तो उसके बाद की बात है। तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से तो सभी की विनय करना चाहिए। बाद में गुणाधिकता के अनुसार भेद करके विनय में यथायोग्य अन्तर किया जाना चाहिए। इसी बात को टीका में इसप्रकार लिखते हैं कि मुनिराजों की सामान्य विनय और गुणाधिकों की विशेष विनय का जिनागम में निषेध नहीं है।

तात्पर्य यह है कि करने योग्य तो एकमात्र शुद्धोपयोग ही है; किन्तु शुभोपयोग के काल में यदि उक्त विनयादि क्रियायें होती हैं तो उनसे उनका मुनित्व खण्डित नहीं होता। पुण्यबंध की कारणरूप ऐसी क्रियायें मुनि भूमिका में अनुचित नहीं हैं; किन्तु उनसे बंध ही होगा, निर्जरा नहीं। यद्यपि श्रमणों के प्रति विनय-वैयावृत्ति आदि का निषेध नहीं है; तथापि श्रमणाभासों के प्रति तो निषेध ही है।।२६१-२६३।।

विगत गाथाओं में 'श्रमणों के साथ, श्रमणों और श्रावकों को कैसा व्यवहार करना चाहिए' – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अन्त में यह कहा गया है कि श्रमणाभासों के प्रति तो उक्त विनय-व्यवहार सर्वथा निषिद्ध ही है; अत: अब इस गाथा में यह बताते हैं कि वे श्रमणाभास कैसे होते हैं ? गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सूत्र संयम और तप से युक्त हों पर जिनकथित।
तत्त्वार्थ को ना श्रद्धहें तो श्रमण ना जिनवर कहें।।२६४।।

जो श्रमण सूत्र, संयम और तप से संयुक्त होने पर भी यदि जिनवरकथित आत्मप्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता; तो वह श्रमण श्रमण नहीं है – ऐसा आगम में कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"आगम के ज्ञाता तथा संयम और तप में स्थित होने पर भी जो श्रमण; अपने आत्मा के द्वारा ज्ञेयरूप से पिये (जाने) जानेवाले अनन्त पदार्थों से भरे हुए आत्मप्रधान इस विश्व का श्रद्धान नहीं करते, वे श्रमणाभास हैं।"

अथ श्रामण्येन सममननुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति। अथ श्रामण्येनाधिकं हीनमिवाचरतो विनाशं दर्शयति। अथ श्रामण्येनाधिकस्य हीनं सममिवाचरतो विनाशं दर्शयति –

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ।।२६५।।
गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ।।२६६।।
अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ।।२६७।।

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ।।२६५।।
गुणतोऽधिकस्य विनयं प्रत्येषको योऽपि भवामि श्रमण इति।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तसंसारी ।।२६६।।
अधिकगुणाः श्रामण्ये वर्तन्ते गुणाधरैः क्रियासु।
यदि ते मिथ्योपयुक्ता भवन्ति प्रभ्रष्टचारित्राः ।।२६७।।

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट रूप में यह कहा गया है कि यद्यपि आगम के ज्ञाता हों, संयम और तप को धारण करनेवाले हों; तथापि यदि आत्मा है प्रधान जिसमें – ऐसे इस लोक का जिन्हें श्रद्धान नहीं हो तो वे श्रमण, श्रमण नहीं हैं, श्रमणाभास हैं।

विगत गाथा में श्रमणाभास का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि **जो श्रमण सच्चे श्रमण का आदर नहीं करते अथवा स्वयं गुणहीन होने पर भी गुणवालों से विनय कराना चाहते हैं अथवा स्वयं महान होने पर भी अपने से हीन श्रमणों को वंदनादि करते हैं, वे सभी सच्चे श्रमण नहीं हैं।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो श्रमणजन को देखकर विद्वेष से वर्तन करें।
अपवाद उनका करें तो चारित्र उनका नष्ट हो।।२६५।।
स्वयं गुण से हीन हों पर जो गुणों से अधिक हों।
चाहे यदि उनसे नमन तो अनंतसंसारी हैं वे।।२६६।।
जो स्वयं गुणवान हों पर हीन को वंदन करें।
दृगमोह में उपयुक्त वे चारित्र से भी भ्रष्ट हैं।।२६७।।

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेषादपवदत: क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेषकषायित्वाच्चारित्रं नश्यति ।।२६५।।

स्वयं जघन्यगुण: सन् श्रमणोऽहमपीत्यवलेपात्परेषां गुणाधिकानां विनयं प्रतीच्छन् श्रामण्यावलेपवशात् कदाचिदनन्तसंसार्यपि भवति ।।२६६।।

स्वयमधिकगुणा गुणाधरै: परै: सह क्रियासु वर्तमाना मोहादसम्यगुपयुक्तत्वाच्चारित्राद्भ्रश्यन्ति ।।२६७।।

जो श्रमण शासनस्थ अर्थात् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित श्रमण को देखकर द्वेष से उनका अपवाद करता है और सत्कारादि क्रियाओं से सहमत नहीं होता; उस श्रमण का भी चारित्र नष्ट हो जाता है। गुणों में हीन होने पर भी 'मैं भी श्रमण हूँ' – ऐसा मानकर जो श्रमण गुणवालों से नमस्कार करवाना चाहता है; वह श्रमण अनंत संसारी है।

स्वयं अधिक गुणवाला होने पर भी अन्य गुणहीनों को वंदनादि करते हैं; वे भी मिथ्योपयुक्त होने से चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जो श्रमण द्वेष के कारण आगमानुसार आचरणवाले ज्ञानी श्रमण का भी अपवाद करता है और उसके प्रति विनयादि क्रियायें करने में सम्मत नहीं होता; कषायानुरंजित होने से उस श्रमण का चारित्र नष्ट हो जाता है।

स्वयं जघन्यगुणवाला होने पर भी जो श्रमण 'मैं भी श्रमण हूँ' – इसप्रकार के अभिमान के कारण अधिक गुणवाले श्रमणों से विनय चाहता है; वह श्रमण अभिमान के कारण कदाचित् अनंत संसारी भी हो सकता है।

जो स्वयं गुणवान होने पर भी अन्य गुणहीन श्रमणों की वंदनादि करते हैं, वे श्रमण मोह के कारण मिथ्याभावों में युक्त होते हुए चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।''

उक्त गाथाओं में वर्णित विषयवस्तु के संदर्भ में यह आशंका होना स्वाभाविक ही है कि क्या यह कथन अत्यन्त कठोर नहीं है? जरा सी भूल के कारण उन्हें भ्रष्ट कहना, अनंत संसारी कहना कहाँ तक ठीक है ? अरे भाई! किसी भी भूल में भूलसुधार की गुंजाइश तो सदा ही रहती है। इसप्रकार की आशंका आचार्य जयसेन के हृदय में भी उत्पन्न हुई होगी। यही कारण है कि इन गाथाओं की टीका में वे स्वयं ही उक्त आशंकाओं का निरसन करते हुए लिखते हैं –

''यद्यपि यह बात तो स्पष्ट ही है कि रत्नत्रय मार्ग में स्थित मुनिराज को देखकर यदि कोई मुनि कदाचित् मात्सर्यवश दोष ग्रहण करता है, तो वह चारित्र से भ्रष्ट होता है; तथापि बाद में यदि वह आत्मनिंदा करके दोष ग्रहण से निवृत्त हो जाता है, अपवाद करना छोड़ देता है तो दोष नहीं है; यदि कुछ समय बाद छोड़ता है तो भी दोष नहीं है।

हाँ, यदि वह वहाँ ही अनुबंध कर तीव्र कषाय के कारण अतिप्रसंग करता है, बार-बार वही करता है तो फिर चारित्र से भ्रष्ट होता ही है।''

उक्त कथन का भाव स्पष्ट करते हुए इसके आगे वे लिखते हैं –

''इसका भाव यह है कि बहुश्रुतों को अल्पश्रुत तपस्वी मुनियों का दोष ग्रहण नहीं करना चाहिए; अल्पश्रुतमुनियों को भी कुछ भी पाठमात्र ग्रहण कर, बहुश्रुत मुनियों का दोष ग्रहण नहीं करना चाहिए; किन्तु सारपद ग्रहण कर आत्मभावना ही करना चाहिए; क्योंकि राग-द्वेष की उत्पत्ति होने पर बहुश्रुतों को श्रुत का फल नहीं मिलता और तपस्वियों को तप का फल नहीं मिलता। अत: परस्पर दोष ग्रहण करना ठीक नहीं है।''

उक्त स्पष्टीकरण २६५वीं गाथा के संदर्भ में दिया गया है। ऐसा ही स्पष्टीकरण वे २६६वीं व २६७वीं गाथाओं के संदर्भ में भी देते हैं; जो इसप्रकार है –

''यदि पहले अभिमान के कारण अधिक गुणवालों से विनय की इच्छा करता है; परन्तु बाद में विवेक के बल से आत्मनिंदा करता है तो अनंत संसारी नहीं होता। हाँ, यदि मिथ्याभिमान से प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के लिए दुराग्रह करता है तो फिर अनंत संसारी होता ही है। अथवा यदि कुछ समय बाद भी आत्मनिंदा करता है तो भी अनंत संसारी नहीं होता।

स्वयं चारित्र गुण में अधिक हों; फिर भी यदि ज्ञानादि गुणों की वृद्धि के लिए बहुश्रुतों की वंदनादि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं तो दोष नहीं है; परन्तु यदि मात्र प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के लिए वन्दनादि करते हैं तो अतिप्रसंग से दोष होता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि वन्दनादि क्रियाओं या तत्त्वविचार आदि में भी जहाँ राग-द्वेष होते हैं; वहाँ सभी जगह दोष ही दोष हैं।

यदि कोई कहे कि यह तो आपकी कल्पना है, आगम में तो कहीं ऐसा है नहीं।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, सभी आगम राग-द्वेष को दूर करने के लिए ही है; किन्तु जो मुनिराज उत्सर्ग-अपवादरूप से आगम संबंधी नय विभाग को नहीं जानते, वे ही राग-द्वेष करते हैं, अन्य कोई नहीं।''

आचार्य जयसेन बात तो वही करते हैं, जो आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र ने कही है; पर वे यह भी कहते हैं कि भूलसुधार की गुंजाइश तो सर्वत्र ही होती है। ऐसा कैसे हो सकता है कि एक समय की भूल का फल अनंत काल तक भोगना पड़े ?

जबतक भूल में है, तबतक तो उसका फल भोगना ही होगा; किन्तु जब भूल मिट जाये तो फिर कल्याण होना भी सुनिश्चित ही है; क्योंकि सभी जीव अनादि से तो भूल में ही हैं; पर अनेक जीव भूल मेट कर सिद्ध अवस्था भी प्राप्त करते रहे हैं और करते रहेंगे। मारीचि और राजा श्रेणिक जैसे लोग इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

5487.

अथासत्संगं प्रतिषेध्यत्वेन दर्शयति। अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति –

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।।२६८।।
णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि।।२६९।।

निश्चितसूत्रार्थपदः समितकषायस्तपोऽधिकश्चापि।
लौकिकजनसंसर्गं न त्यजति यदि संयतो न भवति।।२६८।।
नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः।
स लौकिक इति भणितः संयमतपःसंप्रयुक्तोऽपि।।२६९।।

मारीचि तो भगवान महावीर बनकर मुक्ति प्राप्त कर ही चुके हैं और राजा श्रेणिक भी निकट भविष्य में ही महापद्म तीर्थंकर पद प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करनेवाले हैं।

यहाँ तो मात्र तत्काल या कुछ समय बाद भूल सुधारने की बात कही है; परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि यह जीव अनंतकाल के बाद भी अपनी भूल सुधार कर कर्मों से मुक्त हो सकता है। अत: भूल तो जितनी जल्दी सुधर जाय, उतना ही अच्छा है।

यहाँ जो कुछ कहा गया है, उसका उद्देश्य तो भूल न करने और कदाचित् भूल हो जाय तो जल्दी से जल्दी भूल सुधार कर लेने की प्रेरणा देना ही है।।२६५-२६७।।

विगत गाथाओं में श्रमणचर्या और परस्पर व्यवहार की चर्चा करने के उपरान्त अब असत्संग अर्थात् लौकिकजनों के संग का निषेध करते हुए लौकिकजनों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

**सूत्रार्थविद जितकषायी अर तपस्वी हैं किन्तु यदि।
लौकिकजनों की संगति न तजे तो संयत नहीं।।२६८।।
निर्ग्रन्थ हों तपयुक्त संयमयुक्त हों पर व्यस्त हों।
इहलोक के व्यवहार में तो उसे लौकिक ही कहा।।२६९।।**

जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को अर्थात् ज्ञातृतत्त्व (आत्मा) को निश्चित किया है, कषायों का शमन किया है और जो विशेष तपस्वी हैं, यदि वह भी लौकिक जनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता है तो वह भी संयत नहीं है।

जो मुनिराज निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित होने के कारण संयम और तप से युक्त हों, उन्हें भी इस लोक संबंधी कार्य में प्रवर्तित होने से लौकिक ही कहा गया है।

यतः सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्ष्मणः शब्दब्रह्मणस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्ष्मणो विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्ष्मणो ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन, निरुपरागोपयोगत्वात् समितकषायत्वेन, बहुशोऽभ्यस्तनिष्कम्पोपयोगत्वात्तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसंयत एव स्यात्। ततस्तत्संगः सर्वथा प्रतिषेध्य एव।।२६८।।

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याधूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते।।२६९।।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“सत् लक्षणवाला सम्पूर्ण विश्व और उसका वाचक सत् लक्षणवाला शब्दब्रह्म – इन दोनों के ज्ञेयाकार ज्ञातृतत्त्व में एकसाथ ज्ञात होने से, उन दोनों का अधिष्ठानभूत सत् लक्षणवाले ज्ञातृतत्त्व का निश्चय किया होने से, जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को निश्चित किया है; निरुपराग उपयोग के कारण जिसने कषायों को शमित किया है और निष्कंप उपयोग का बहुशः अभ्यास करने से अधिक तपवाला – इन तीन कारणों से जो मुनिराज भलीभांति संयत हों; वे भी लौकिकजनों के संयोग से असंयत ही होते हैं; क्योंकि जिसप्रकार अग्नि के संयोग से पानी में विकार होता है; उसीप्रकार लौकिकजनों की संगति से श्रमणों में विकार अवश्यंभावी है।

इसलिए लौकिक सम्पर्क पूर्णतः निषेध करने योग्य ही है।

परमनिर्ग्रन्थरूप दीक्षा ली होने से संयम और तप के भार को वहन करनेवाले श्रमण भी यदि मोह की बहुलता से शुद्धचेतन व्यवहार को छोड़कर निरन्तर मनुष्य व्यवहार के द्वारा चक्कर खाने से लौकिक कर्मों से निवृत्त न हो तो उन्हें भी लौकिक ही कहा जाता है।”

आचार्य जयसेन तो तात्पर्यवृत्ति में लिखते हैं कि स्वयं आत्मा की भावना करनेवाला होने पर भी यदि असंयमी जनों का संग नहीं छोड़ता है तो अग्नि की संगति में रहनेवाले जल के समान अति परिचय से रागादिभावरूप विकृत भावों को प्राप्त होता है।

वे लौकिकजन की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि भेदाभेद रत्नत्रय को नष्ट करनेवाले प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के निमित्तभूत ज्योतिष, मन्त्रवाद, वैद्यसंबंधी आदि इस लोकसंबंधी जीवन के उपायभूत कार्य करनेवाला साधु भी लौकिकजन ही हैं।

इन गाथाओं में लौकिकजनों से सम्पर्क बढ़ाने का बड़ी ही कठोरता से निषेध किया गया है; क्योंकि लौकिकजनों का समागम आत्मसाधना में बाधक ही है, साधक नहीं। यहाँ तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि भले ही जिनागम का ज्ञाता हो, मंदकषायी हो, तपस्वी हो; पर यदि वह श्रमण लौकिक लोगों का संसर्ग नहीं छोड़ता है तो वह असंयमी ही है।

अथ सत्संगं विधेयत्वेन दर्शयति –

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ।।२७०।।

तस्मात्समं गुणात् श्रमणः श्रमणं गुणैर्वाधिकम्।
अधिवसतु तत्र नित्यं इच्छति यदि दुःखपरिमोक्षम् ।।२७०।।

यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्, ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंङ्गात्गुणरक्षा शीततरतुहिनर्शकरासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात् गुणवृद्धिः ।।२७०।।

यहाँ लौकिकजनों का स्वरूप भी बताया गया है। लौकिकजन तो लौकिक हैं ही; किन्तु वे साधु भी लौकिकजनों में ही आते हैं; जो प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के निमित्तभूत, ज्योतिष से भविष्य आदि बताते हैं, मंत्र-तंत्र करते हैं और लौकिक जीवन के उपाय बताते हैं। आत्मा का कल्याण चाहनेवाले श्रमणों को उनका समागम नहीं करना चाहिए ।।२६८-२६९।।

विगत गाथाओं में असत्संग का निषेध करके अब इस गाथा में एकमात्र सत्संग ही करने योग्य है – ऐसा दिखाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यदि चाहते हो मुक्त होना दुखों से तो जान लो।
गुणाधिक या समान गुण से युक्त की संगति करो ।।२७०।।

इसलिए यदि दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो हे श्रमणो ! समान गुणवाले अथवा अधिक गुणवाले श्रमणों के संग सदा निवास करो।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“आत्मा परिणाम स्वभाववाला है; इसलिए अग्नि के संग में रहते हुए पानी के समान संयमी श्रमण भी लौकिकजनों के संग से असंयमी हो जाता है। इसलिए दुःखों से मुक्ति चाहने वाले श्रमणों को समान गुणवाले श्रमणों के साथ अथवा अधिक गुणवाले श्रमणों के साथ सदा निवास करना चाहिए।

इसप्रकार शीतलघर के कोने में रखे हुए शीतल जल की भाँति समान गुणवालों की संगति से गुणों की रक्षा होती है और अधिक शीतल बर्फ के संपर्क में रहनेवाले शीतल पानी के समान अधिक गुणवालों की संगति करने से गुणों में वृद्धि होती है।”

शुभोपयोगाधिकार की इस अन्तिम गाथा में लौकिकजनों के संसर्ग में न रहकर; जिनमें हमसे अधिक गुण हैं, उनकी संगति में रहने की बात कही गई है। यदि अधिक गुणवालों का

समागम संभव न हो तो समान गुणवालों की संगति रहना चाहिए। जिसप्रकार अग्नि के संयोग से पानी गर्म हो जाता है; उसीप्रकार लौकिकजनों के संसर्ग से संयमी भी असंयमी हो जाते हैं।

सत्संगति का लाभ बताते हुए आचार्यदेव टीका में तीन उदाहरण देते हैं। प्रथम अग्नि के संयोग में रखे हुए जल का, दूसरा शीतल घर के कोने में रखे हुए घड़े का और तीसरा बर्फ के संसर्ग में रखे हुए घड़े का।

जिसप्रकार अग्नि के संयोग में रहनेवाला जल गर्म हो जाता है; उसीप्रकार लौकिकजनों के संसर्ग से श्रमण असंयमी हो जाते हैं; जिसप्रकार शीतल घर के कोने में रखे हुए घड़े के ठंडे जल की रक्षा होती है, वह गर्म नहीं हो पाता; उसीप्रकार समान गुणवालों का संगति से अपने सद्गुणों की रक्षा होती है और जिसप्रकार बर्फ की संगति में रखे हुए घड़े का जल अधिक शीतल हो जाता है; उसीप्रकार अधिक गुणवालों की संगति से हमारे गुणों में वृद्धि होती है।

इसलिए श्रमणों को सदा ही या तो अधिक गुणवालों की संगति में रहना चाहिए या फिर समान गुणवालों की संगति में रहना चाहिए।

यद्यपि यह सम्पूर्ण कथन श्रमणों के लिए ही किया गया है; तथापि श्रावकों को भी इसका लाभ लेना चाहिए। इस बात का उल्लेख कविवर वृन्दावनदासजी भी इसप्रकार करते हैं –

(दोहा)

यों मत चित में जानियौ, मुनिकहँ यह उपदेश।
श्रावक को तो नहिं कह्यौ, मूल ग्रंथ में लेश ।।८०।।
मुनि के मिष सबको कह्यौ, न्याय रीति निरबाह।
जिहि मग में नृप पग धरै, प्रजा चलै तिहि राह ।।८१।।
ऐसो जानि हिये सदा, जिन आगम अनुकूल।
करो आचरन हे भविक, करम जलैं ज्यों तूल ।।८२।।

चूंकि मूल ग्रन्थ में तो यह कहीं नहीं कहा है कि यह उपदेश श्रावकों के लिए भी है। इसलिए हे श्रावकजनो ! तुम यह मत समझना कि यह सब उपदेश मुनियों के लिए ही है। मुनियों के बहाने यह न्याय और रीति-नीति का उपदेश सभी को दिया गया है।

जिसप्रकार जिस रास्ते पर राजा चलता है, प्रजा भी उसी रास्ते पर चलने लगती है; उसीप्रकार मुनियों के समान ही श्रावकों को भी सत्संगति में रहना ही श्रेयस्कर है। ऐसा जानकर, इस बात को हृदय में धारण कर सदा ही सभी को जिनागम के अनुकूल आचरण करना चाहिए। ऐसा करने से आग के सम्पर्क में आई हुई रुई के समान कर्म भी क्षण भर में भस्म हो जाते हैं। यह शुभोपयोग प्रज्ञापनाधिकार की अन्तिम गाथा है। इसके उपरान्त इस अधिकार

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः
सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात्।
हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्ताररम्योदयां
ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम्॥१७॥

—इति शुभोपयोगप्रज्ञापनम्।

का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(मनहरण)

इसप्रकार शुभ उपयोगमयी किंचित् ही।
शुभरूप वृत्ति का सुसेवन करके॥
सम्यक्प्रकार से संयम के सौष्टव से।
आप ही क्रमशर निरवृत्ति करके॥
अरे ज्ञानसूर्य का है अनुपम जो उदय।
सब वस्तुओं को मात्र लीला में ही लख लो॥
ऐसी ज्ञानानन्दमयी दशा एकान्ततः।
अपने में आप ही नित अनुभव करो॥१७॥

इसप्रकार शुभोपयोगजनित किंचित् प्रवृत्ति का सेवन करके यति सम्यक्त्व सहित संयम के सौष्ठव से क्रमशः परमनिवृत्ति को प्राप्त होता हुआ; जिसका रम्य उदय समस्त वस्तु समूह के विस्तार को लीलामात्र में प्राप्त हो जाता है, जान लेता है; हे मुनिवरो! ऐसी शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभावी दशा का एकान्ततः अपने में आप ही नित्य अनुभव करो।

अधिकार के अन्त में आचार्यदेव आत्मा का अनुभव करने की प्रेरणा देते हुए यह कहते हैं कि भले ही भूमिकागत कमजोरी के कारण कुछ काल शुभोपयोग में जावे; फिर भी सम्यग्दर्शन सहित संयम के बल से इन शुभभावों के भी परम निवृत्ति को प्राप्त कर श्रमण जन लीलामात्र में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए श्रमणजनो ! ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली ध्रुव अपने आत्मा में अपनापन करो; उसमें ही समा जावो।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में चरणानुयोगसूचकचूलिका महाधिकार के अंतर्गत शुभोपयोगप्रज्ञापन अधिकार समाप्त होता है।

●●●

पंचरत्न अधिकार

(गाथा २७१ से गाथा २७५ तक)

अथ पञ्चरत्नम्।

(शार्दूलविक्रीडित)

तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो-
द्वैतीयीकमथार्हतो भगवत: संक्षेपत: शासनम्।
व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं
जीयात्संप्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिभै: पञ्चभि:॥१८॥

मंगलाचरण

(दोहा)

भावलिंग के बिना यह द्रव्यलिंग संसार।
द्रव्य भाव दोनों मिले मुक्ति मुक्ति का द्वार॥

इसप्रकार शुभोपयोग अधिकार के समाप्त हो जाने के बाद शेष पाँच गाथाओं के समूह को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में पंचरत्न नाम से अभिहित करते हैं।

उक्त पंचरत्न गाथाओं को आरंभ करने के पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव मंगलाचरण के रूप में एक छन्द लिखते हैं। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(मनहरण)

अब इस शास्त्र के मुकुटमणि के समान।
पाँच सूत्र निरमल पंचरत्न गाये हैं॥
जो जिनदेव अरहंत भगवन्त के।
अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशें हैं॥
अद्भुत पंचरत्न भिन्न-भिन्न पंथवाली।
भव-अपवर्ग की व्यतिरेकी दशा को॥
तप्त-संतप्त इस जगत के सामने।
प्रगटित करते हुये जयवंत वर्तो॥१८॥

अब इस शास्त्र के कलगी के अलंकार के समान अर्थात् चूड़ामणि (मुकुटमणि) के समान यह पाँच सूत्ररूप निर्मल पंचरत्न, जो अरहंत भगवान के अद्वितीय समग्र शासन को संक्षेप में सम्पूर्णत: प्रकाशित करते हैं; वे पंचरत्न विलक्षण पंथवाली संसार व मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रगट करते हुए जयवंत वर्तो।

अथ संसारतत्त्वमुद्घाटयति –

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।।२७१।।

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये।
अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम्।।२७१।।

ये स्वयमविवेकतोऽन्यथैव प्रतिपाद्यार्थानित्यमेव तत्त्वमिति निश्चयमारचयन्तः सततं समुपचीयमानमहामोहमलमलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति, ते खलु समये स्थिता अप्यनासादितपरमार्थश्रामण्यतया श्रमणाभासाः सन्तोऽनन्तकर्मफलोपभोगप्राग्भारभयंकर-मनन्तकालमनन्तभावान्तरपरावर्तैरनवस्थितवृत्तयः संसारतत्त्वमेवावबुध्यताम्।।२७१।।

इस मंगलाचरण के छन्द में आगामी पाँच गाथाओं को पंचरत्न नाम से अभिहित किया गया है और उन्हें कलगी के अलंकार के समान सम्पूर्ण प्रवचनसार का चूड़ामणि बताया गया है तथा यह कहा गया है कि इन पाँच गाथाओं में पूरे प्रवचनसार का सार समाहित है।।१८।।

इस गाथा में संसारतत्त्व के स्वरूप का उद्घाटन किया गया है; जो इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अयथार्थग्राही तत्त्व के हों भले ही जिनमार्ग में।
कर्मफल से आभरित भवभ्रमे भावीकाल में।।२७१।।

भले ही वे द्रव्यलिंगी मुनिराज जिनशासन में ही क्यों न हों; तथापि वे 'तत्त्व यह है' – इसप्रकार निश्चयवान वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थ (गलत) रूप में ग्रहण करते हैं; अतः वे अनन्त कर्मफलों से भरे हुए चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करेंगे।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"जो द्रव्यलिंगी श्रमण स्वयं के अविवेक से पदार्थों के स्वरूप को अन्यथा ही जानकर, स्वीकार कर 'तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वरूप ऐसा ही है' – ऐसा निश्चय करते हुए; निरन्तर एकत्रित किये जानेवाले महामोहमल से मलिन चित्तवाले होने से नित्य ही अज्ञानी रहते हैं; वे भले ही जिनमार्ग में स्थित हों; तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वस्तुतः श्रमणाभास ही हैं। अनंत कर्मफल के उपभोग के भार से भयंकर अनन्तकालतक अनन्त भवान्तररूप परावर्तनों से अनवसित वृत्तिवाले रहने से उन द्रव्यलिंगी मुनिराजों को संसारतत्त्व जानना।"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित होकर भी जिन्होंने नग्न दिगम्बर वेष धारण कर लिया है – ऐसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी

अथ मोक्षतत्त्वमुद्घाटयति –

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो।।२७२।।

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा।
अफले चिरं न जीवति इह स संपूर्णश्रामण्यः।।२७२।।

यस्त्रिलोकचूलिकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चयनिवर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचावियुक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात्, स खलु संपूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्मफलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन् द्वितीयभावपरावर्ताभावात् शुद्धस्वभावावस्थितवृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम्।।२७२।।

मुनि ही वस्तुतः संसार हैं, संसारतत्त्व हैं। मुनिधर्म को बदनाम करनेवाले ऐसे वेषधारी श्रमण अपरिमित काल तक संसार में ही परिभ्रमण करेंगे।।२७१।।

विगत गाथा में संसारतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कर अब इस गाथा में मोक्षतत्त्व का स्वरूप समझाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यथार्थग्राही तत्त्व के अर रहित अयथाचार से।
प्रशान्तात्मा श्रमण वे ना भवभ्रमे चिरकाल तक।।२७२।।

जो श्रमण पदों और पदार्थों के निश्चयवाले होने से प्रशान्तात्मा हैं और अन्यथा आचरण से रहित हैं; सम्पूर्ण श्रामण्यवाले वे श्रमण, कर्मफल से रहित हैं और वे इस संसार में चिरकाल तक नहीं रहते।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जो श्रमण त्रिलोक की चूलिका के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका के प्रकाशवाले होने से और पदार्थों के वास्तविक निश्चय से उत्सुकता का निवर्तन करके स्वरूप मंथर रहने से सतत् प्रशान्तात्मा तथा स्वरूप में अभिमुखरूप से विचरते होने के कारण अयत्नाचार रहित होने से नित्य ज्ञानी हैं; वे सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण मोक्षतत्त्व हैं; क्योंकि उन्होंने पूर्व के समस्त कर्मों के फल को लीलामात्र में नष्ट कर दिया है और वे नये कर्मों के फल को उत्पन्न नहीं करते; इसलिए पुनः प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त न होते हुए भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित रहते हैं।"

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्घाटयति –

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहिरत्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा ।।२७३।।

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम्।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः ।।२७३।।

अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसङ्गतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हुए तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुकरण करते हैं; तथापि अन्त में निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि **मोक्षतत्त्वरूप परिणत पुरुष ही अभेदनय से मोक्षस्वरूप जानना चाहिए।**

विगत गाथा से एकदम विपरीत इस गाथा में यह कहा गया है कि आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित निर्दोष चारित्र धारण करनेवाले भावलिंगी श्रमण ही मोक्षतत्त्व हैं और वे लीलामात्र में अष्टकर्मों का नाशकर अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त कर लेंगे।

इन उक्त दोनों गाथाओं में मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी श्रमणों को संसारतत्त्व और सम्यग्दृष्टि भावलिंगी श्रमणों को मोक्षतत्त्व कहा गया है।।२७२।।

विगत गाथाओं मे संसारतत्त्व व मोक्षतत्त्व का निरूपण करने के उपरान्त अब इस गाथा में **मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का उद्घाटन करते हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यथार्थ जाने अर्थ को दो विध परिग्रह छोड़कर।
ना विषय में आसक्त वे ही श्रमण शुद्ध कहे गये ।।२७३।।

पदार्थों को भली प्रकार जानते हुए जो श्रमण बहिरंग और अंतरंग परिग्रह को छोड़कर विषयों में आसक्त नहीं हैं; वे शुद्ध कहे गये हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''जो अनेकान्त के द्वारा ज्ञात सम्पूर्ण ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के यथावस्थित स्वरूप में प्रवीण, समस्त बहिरंग और अंतरंग संगति के परित्याग से अंतरंग में प्रकाशमान, अनंत शक्ति सम्पन्न चैतन्य से भास्वर आत्मतत्त्व के स्वरूप को भिन्न करनेवाले और इसीकारण आत्मतत्त्व की वृत्ति स्वरूपगुप्त व सुसुप्त समान प्रशान्त रहने से विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त

समस्तानुभाववन्तो भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकवाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम् ।।२७३।।

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति –

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ।।२७४।।

शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम्।
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै ।।२७४।।

यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणं साक्षान्मोक्षमार्गभूतं श्रामण्यं तच्च

नहीं होनेवाले सकल महिमावान भगवान शुद्ध हैं, शुद्धोपयोगी हैं; उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना चाहिए; क्योंकि वे अनादि संसार से बंद, विकट, कर्मकपाट (कर्मरूपी किवाड़) को तोड़ने-खोलने के अति प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं।''

२७२वीं गाथा में भावलिंगी श्रमणों को मोक्षतत्त्व कहा था और अब इस २७३वीं गाथा में उन्हीं को मोक्ष का साधनतत्त्व कहा जा रहा है, मोक्षमार्ग कहा जा रहा है। इसका सीधा-सच्चा अर्थ यह है कि निज भगवान आत्मा को जानकर, पहिचानकर, उसी में अपनापन स्थापित कर, उसी में समा जानेवाले नग्न दिगम्बर श्रमण ही मोक्ष तत्त्व हैं और वे ही मोक्षमार्ग तत्त्व हैं। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण धर्मतत्त्व भावलिंगी नग्न दिगम्बर सन्तों में ही समाहित है।।२७३।।

विगत गाथा में जिन शुद्धोपयोगी श्रमणों को मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व के रूप में स्थापित किया गया है; अब इस गाथा में उन्हीं शुद्धोपयोगी श्रमणों का सर्व मनोरथों के स्थान के रूप में अभिनन्दन करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

है ज्ञान-दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है।
हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है ।।२७४।।

शुद्ध अर्थात् शुद्धोपयोगी को श्रामण्य कहा है, शुद्ध को ही दर्शन और ज्ञान कहा है और शुद्ध को ही निर्वाण होता है। सिद्ध होनेवाले शुद्धोपयोगियों को और सिद्धों को बारम्बार नमस्कार हो।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप से प्रवर्तमान एकाग्रता लक्षण साक्षात् मोक्षमार्गरूप श्रामण्य शुद्ध (शुद्धोपयोगी) के ही होता है। समस्त भूत, वर्तमान और

शुद्धस्यैव। यच्च समस्तभूतभवद्भाविव्यतिरेककरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्यविशेषप्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञानं च तत् शुद्धस्यैव। यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहजज्ञानानन्दमुद्रितदिव्यस्वभावं निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव। यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासुस्थितात्मस्वभावोपलम्भगम्भीरो भगवान् सिद्धः स शुद्ध एव। अलं वाग्विस्तरेण सर्वमनोरथस्थानस्य मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावकभावत्वात्प्रत्यस्तमितस्वपरविभागो भावनमस्कारोऽस्तु ।।२७४।।

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलेन योजयन् शास्त्रं समापयति –

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि।।२७५।।

भावी व्यतिरेकों के साथ मिलित अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक विश्व के सामान्य और विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप दर्शन-ज्ञान भी शुद्ध के ही होते हैं। निर्विघ्न खिला हुआ सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला दिव्य निर्वाण भी शुद्ध के ही होता है और टंकोत्कीर्ण परमानन्द अवस्थारूप से सुस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गंभीर सिद्धदशा को शुद्ध (शुद्धोपयोगी) ही प्राप्त करते हैं। अधिक कहने से क्या लाभ है ? सर्व मनोरथों के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप शुद्ध को; जिसमें परस्पर अंग-अंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्यता के कारण स्व-पर विभाग अस्त हो गया है – ऐसा भाव नमस्कार हो।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि यहाँ यह कहा गया है कि इस मोक्ष के कारणभूत शुद्धोपयोग के माध्यम से सम्पूर्ण इष्ट मनोरथ सिद्ध होते हैं – ऐसा मानकर, शेष मनोरथों को छोड़कर, इसमें ही भावना करना चाहिए।

इस गाथा में निष्कर्ष के रूप में यह कह दिया गया है कि शुद्धोपयोगी सन्तों के ही सच्चा श्रामण्य (मुनिपना) है और वे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न हैं। अधिक क्या कहें – एक उनको ही मोक्ष की प्राप्ति होनेवाली है। इसलिए हम सिद्धदशा प्राप्त करने में संलग्न शुद्धोपयोगी सन्तों और सिद्धों को बारम्बार नमस्कार करते हैं।।२७४।।

पंचरत्नसंबंधी विगत चार गाथाओं में संसारतत्त्व, मोक्षतत्त्व और मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का स्वरूप और मोक्षतत्त्व और उसके साधनतत्त्व की महिमा बताकर अब इस अन्तिम गाथा में; न केवल पंचरत्न अधिकार की अन्तिम गाथा में, अपितु प्रवचनसार परमागम की इस अन्तिम गाथा में शिष्यजनों को शास्त्रफल से जोड़ते हुए इस शास्त्र का समापन करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्तः।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति ॥२७५॥

यो हि नाम सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्रस्वरूपव्यवस्थितवृत्तसमाहितत्वात् साकारानाकारचर्यया युक्तः सन् शिष्यवर्गः स्वयं समस्तशास्त्रार्थविस्तरसंक्षेपात्मकश्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन केवलमात्मानमनुभवन् शासनमेतद्‌बुध्यते स खलु निरवधित्रिसमयप्रवाहावस्थायित्वेन सकलार्थसार्थात्मकस्य प्रवचनस्य सारभूतं भूतार्थस्वसंवेद्यदिव्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति ॥२७५॥

(हरिगीत)

जो श्रमण-श्रावक जानते जिनवचन के इस सार को।
वे प्राप्त करते शीघ्र ही निज आतमा के सार को ॥२७५॥

जो साकार-अनाकार चर्या से युक्त रहता हुआ इस शासन (उपदेश) को जानता है; वह अल्पकाल में ही प्रवचन के सार (भगवान आत्मा) को प्राप्त करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शन मात्र स्वरूप में अवस्थित परिणति में लगा होने से साकार-अनाकार चर्या से युक्त जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के विस्तार-संक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक केवल आत्मा का अनुभव करता हुआ इस उपदेश को जानता है; वह शिष्यवर्ग वस्तुतः भूतार्थ स्वसंवेद्य दिव्य ज्ञानानन्दस्वभावी, पूर्वकाल में अननुभूत, तीनों काल के निरवधि प्रवाह में स्थायी होने से सम्पूर्ण पदार्थों के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।"

ध्यान रहे उक्त गाथा की इस तत्त्वप्रदीपिका टीका में, गाथा में समागत **लहुणा कालेण** पद की उपेक्षा हो गई है; जबकि जयसेनीय तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त पद का अर्थ **अल्पकाल में** उपलब्ध है।

दूसरी बात यह है कि यहाँ तत्त्वप्रदीपिका टीका में गाथा में समागत **सागारणगार** पद का अर्थ साकार-अनाकार (ज्ञान-दर्शन) उपयोग किया है और जयसेनीय तात्पर्यवृत्ति टीका में श्रावक और साधु किया गया है।

पण्डित देवीदासजी एवं वृन्दावनदासजी ने भी **सागारणगार** पद का अर्थ करने में और **लहुणा कालेण (अल्पकाल में)** पद का प्रयोग करने में आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका का अनुकरण किया है।

इति तत्त्वप्रदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां प्रवचनसारवृत्तौ चरणानुयोगसूचिका चूलिका नाम तृतीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥३॥

ग्रन्थाधिराज प्रवचनसार की इस अन्तिम गाथा में जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों के सार इस प्रवचनसार में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को, ज्ञानतत्त्व को, ज्ञेयतत्त्व को और श्रमणों के आचरण संबंधी सम्पूर्ण प्रकरण को जो गहराई से समझेंगे, तदनुसार अपने जीवन को ढालेंगे; उन्हें अल्पकाल में ही मुक्ति की प्राप्ति होगी॥२७५॥

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में चरणानुयोगसूचकचूलिका महाधिकार के अंतर्गत पंचरत्न अधिकार समाप्त होता है।

●●●

हमें आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है, जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे, जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्ड रूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ भी नहीं सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे सम्भव हो ? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्ड रूप से पढ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं, उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं ? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय-कषाय में है।

‘रुचि अनुयायी वीर्य’ के नियमानुसार हमारी सम्पूर्ण शक्ति वहीं लगती हैं, जहाँ रुचि होती है। स्वाध्याय तप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिए हमें आध्यात्मिक साहित्य में अनन्य रुचि जागृत करनी होगी।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१११-११२

परिशिष्ट

सैंतालीस नय

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते।

मंगलाचरण

(दोहा)

अनंत धर्ममय आत्म के प्रतिपादक नय नंत।
कहना संभव हैं नहीं सैंतालीस कहंत॥

आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार और चरणानुयोगसूचक चूलिका के रूप में विभाजित आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार परमागम यद्यपि यहाँ समाप्त हो जाता है; तथापि आचार्य अमृतचन्द्र परिशिष्ट के रूप में एक अधिकार और लिखते हैं, जिसमें प्रमुखरूप से ४७ नयों की चर्चा की गई है।

यह भगवान आत्मा के धर्मों का विश्लेषण है। समयसार में भगवान आत्मा में उछलती हुई अनन्त शक्तियों का विवेचन किया गया है और प्रवचनसार में आत्मा में सदा विद्यमान अनन्त धर्मों का विवेचन है। न तो अनन्त शक्तियों का ही विश्लेषण संभव है और न अनन्त धर्मों का ही; अतः समयसार में नमूने के रूप में ४७ शक्तियों का वर्णन है और प्रवचनसार में ४७ धर्मों का, नयों का।

समयसार श्रद्धाप्रधान ग्रन्थ है; अतः उसमें श्रद्धेय शक्तियों का वर्णन है और प्रवचनसार ज्ञानप्रधान ग्रन्थ है; अतः इसमें ज्ञेयरूप धर्मों एवं उन्हें जाननेवाले नयों का प्रतिपादन है।

इन ४७ नयों के माध्यम से जो आत्मार्थी, भगवान आत्मा के ४७ धर्मों को जानकर तथा समयसार की 'आत्मख्याति' टीका में प्रतिपादित भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों को पहिचान कर अनन्तशक्तियों से सम्पन्न, अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता भगवान आत्मा में अपनत्व स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है; उसी में जम जाता है, रम जाता है, उसी में तल्लीन हो जाता है; वह चार घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियों का नाशकर अनन्तचतुष्टयरूप अरहंत दशा को प्राप्त करता है; अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य एवं अनन्त-अतीन्द्रिय-आनन्दरूप परिणमित हो जाता है। जो अनन्तसुखी होना चाहते हैं, वे अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता निज भगवान आत्मा की आराधना अवश्य करें।

आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनय-व्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात्।

परिशिष्ट का आरंभ आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं –

"'यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है' – यदि ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है और अब पुनः कहते हैं।

प्रथम तो आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है; क्योंकि वह अनन्तधर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से प्रमेय होता है।"

जिन ४७ नयों से यहाँ आत्मा का वर्णन किया गया है, वे ४७ नय इसप्रकार हैं :-

(१) द्रव्यनय, (२) पर्यायनय, (३) अस्तित्वनय, (४) नास्तित्वनय, (५) अस्तित्वनास्तित्वनय, (६) अवक्तव्यनय, (७) अस्तित्व-अवक्तव्यनय, (८) नास्तित्व-अवक्तव्यनय, (९) अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय, (१०) विकल्पनय, (११) अविकल्पनय, (१२) नामनय, (१३) स्थापनानय, (१४) द्रव्यनय, (१५) भावनय, (१६) सामान्यनय, (१७) विशेषनय, (१८) नित्यनय, (१९) अनित्यनय, (२०) सर्वगतनय, (२१) असर्वगतनय, (२२) शून्यनय, (२३) अशून्यनय, (२४) ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय, (२५) ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय, (२६) नियतिनय, (२७) अनियतिनय, (२८) स्वभावनय, (२९) अस्वभावनय, (३०) कालनय, (३१) अकालनय, (३२) पुरुषकारनय, (३३) दैवनय, (३४) ईश्वरनय, (३५)अनीश्वरनय, (३६) गुणीनय, (३७) अगुणीनय, (३८) कर्तृनय, (३९) अकर्तृनय, (४०) भोक्तृनय, (४१) अभोक्तृनय, (४२) क्रियानय, (४३) ज्ञाननय, (४४) व्यवहारनय, (४५) निश्चयनय, (४६) अशुद्धनय, (४७) शुद्धनय।

४७ नयों की उक्त नामावली पर गहराई से दृष्टि डालने पर एक बात स्पष्ट होती है कि सप्तभंगी संबंधी सप्तनयों एवं चारनिक्षेप संबंधी चार नयों को छोड़कर शेष सभी ३६ नय परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों को विषय बनाने वाले होने से १८ जोड़ों के रूप में दिये गये हैं। जैसे :- नित्यनय-अनित्यनय, सर्वगतनय-असर्वगतनय, कालनय-अकालनय आदि।

इस जगत में विद्यमान प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है। अनन्तगुणों के समान, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले नित्य-अनित्यादि अनंत धर्मयुगल भी प्रत्येक वस्तु में पाये जाते हैं।

तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम्।।१।। पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम्।।२।।

अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा भी एक द्रव्य है, एक वस्तु है; अतः उसमें भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगल पाये जाते हैं।

भगवान आत्मा में विद्यमान अनंतधर्मों में से एक-एक धर्म को विषय बनानेवाले सम्यक् श्रुतज्ञान के अंशरूप नय भी अनन्त होते हैं, हो सकते हैं। उन अनन्तनयों के समुदायरूप सम्यक्श्रुतज्ञान प्रमाण है और अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा प्रमेय है।

निज भगवान आत्मा का गहराई से परिचय प्राप्त करने के लिए सम्यक्श्रुतज्ञान के अंशरूप ४७ नयों द्वारा यहाँ भगवान आत्मा के ४७ धर्मों का प्रतिपादन किया जा रहा है; क्योंकि न तो भगवान आत्मा के अनंतधर्मों का प्रतिपादन ही संभव है और न उन्हें जाननेवाले अनन्तनयों को भी वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

इन ४७ नयों द्वारा भगवान आत्मा के ४७ धर्मों के सम्यक्परिज्ञान से भगवान आत्मा के शेष अनंतधर्मों का भी अनुमान किया जा सकता है और सम्यक्श्रुतज्ञान के अंशरूप अनंतनयों का भी अनुमान लगाया जा सकता है, सबसे बड़ी बात तो यह है कि सम्यक्श्रुतज्ञान द्वारा अनन्त धर्मात्मक एक धर्मी आत्मा का अनुभव भी किया जा सकता है।

इसी भावना से आचार्य अमृतचन्द्र ने इन ४७ नयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है –

“वह अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य द्रव्यनय से पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है और पर्यायनय से तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादिमात्र है।।१-२।।”

यद्यपि वस्त्र में अनेक ताने-बाने होते हैं, विविध आकार-प्रकार होते हैं, विविध रंग-रूप भी होते हैं, तथापि सब-कुछ मिलाकर वह वस्त्र वस्त्रमात्र ही है। ताने-बाने आदि भेद-प्रभेदों में न जाकर उसे मात्र वस्त्र के रूप में ही देखना-जानना द्रव्यनय है; अथवा द्रव्यनय से वह वस्त्रमात्र ही है। ठीक इसीप्रकार **चेतनास्वरूप भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शनरूप गुणपर्यायें भी हैं, तथापि गुणपर्यायरूप भेदों की दृष्टि में न लेकर भगवान आत्मा को एक चैतन्यमात्र जानना द्रव्यनय है; अथवा द्रव्यनय से भगवान आत्मा चिन्मात्र है।**

इसीप्रकार यद्यपि वस्त्र वस्त्रमात्र ही है, तथापि उसमें ताने-बाने, आकार-प्रकार एवं रंग-रूप आदि भी तो हैं ही। वस्त्र को वस्त्रमात्र न देखकर उसमें विद्यमान ताने-बाने आदि पर दृष्टि डालकर देखने पर वह ताने-बानेवाला, लाल-पीला एवं छोटा-बड़ा भी तो दिखाई

देता है। उसीप्रकार यद्यपि द्रव्यनय से भगवान आत्मा चिन्मात्र ही है, तथापि उसमें जानने-देखनेरूप परिणमन भी तो पाया जाता है। **भगवान आत्मा को चिन्मात्र न देख कर, उसमें विद्यमान ज्ञान-दर्शनादिरूप परिणमन को देखकर उसे ज्ञान-दर्शनादिवाला, जानने-देखनेवाला जानना पर्यायनय है; अथवा पर्यायनय से भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शनादि मात्र है।**

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि **द्रव्यनय से भगवान आत्मा पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है और पर्यायनय से तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादि मात्र है।**

नय जाननेरूप भी होते हैं और कहनेरूप भी। **'ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं'** - इस परिभाषा के अनुसार नय ज्ञानरूप अथवा जाननेरूप होते हैं तथा **'वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं'** - इस परिभाषा के अनुसार नय कथनरूप होते हैं।

कथनरूप नयों के अनुसार कथन करने पर इसप्रकार भी कह सकते हैं कि **द्रव्यनय से भगवान आत्मा पटमात्र की भाँति चिन्मात्र कहा जाता है और पर्यायनय से उसी भगवान आत्मा को तन्तुवाला की भाँति ज्ञान-दर्शनवाला भी कहा जाता है।**

तात्पर्य यह है कि आत्मा को पटमात्र की भाँति चिन्मात्र कहना द्रव्यनय है और तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञान मात्र कहना पर्यायनय है।

भगवान आत्मा अनन्तधर्मों का अखण्ड पिण्ड है। अनन्तधर्मात्मक यह भगवान आत्मा अनन्तनयात्मक श्रुतज्ञानरूप प्रमाण का विषय है। **इस अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा में चैतन्यसामान्य है स्वरूप जिसका, ऐसा एक 'द्रव्य' नामक धर्म भी है। इस द्रव्य नामक धर्म को विषय बनाने वाले नय का नाम ही द्रव्यनय है। इसीप्रकार इस भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शनादिरूप परिणमित होना है स्वभाव जिसका, ऐसा एक 'पर्याय' नामक धर्म भी है। इस पर्याय नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम पर्यायनय है।**

मूलनयों की चर्चा में जिन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों की चर्चा की गई थी, उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों से ये द्रव्यनय और पर्यायनय भिन्न हैं।

वहाँ तो सम्पूर्ण वस्तु को द्रव्य और पर्याय - इन दो अंशों में विभाजित कर बात कही गई थी, वस्तु के द्रव्यांश को ग्रहण करनेवाले नय को द्रव्यार्थिकनय और पर्यायांश को ग्रहण करनेवाले नय को पर्यायार्थिकनय कहा गया था; पर यहाँ तो वस्तु के अनन्तधर्मों में से एक 'द्रव्य' नामक धर्म को ग्रहण करनेवाले नय को द्रव्यनय और 'पर्याय' नामक धर्म को ग्रहण करनेवाले नय को पर्यायनय कहा गया है।।१-२।।

अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ।।३।। नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत्परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ।।४।।

अस्तित्वनास्तित्वनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ।।५।।

द्रव्यनय और पर्यायनय के बाद अस्तित्व-नास्तित्व संबंधी सप्तभंगी के आधार पर सात नय लिये गये हैं, जो इसप्रकार हैं -

"वह आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्ववाला है; नास्तित्वनय से अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान दशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति क्रमशः पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्ववाला है एवं अस्तित्वनास्तित्वनय से लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए और संधान-अवस्था में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति क्रमशः स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्वनास्तित्ववाला है।।३-५।।"

भगवान आत्मा में विद्यमान अनन्तधर्मों में एक अस्तित्व नामक धर्म भी है, जो भगवान आत्मा के अस्तित्व को टिकाए रखता है। अस्तित्व नामक धर्म के कारण ही भगवान आत्मा सत्तास्वरूप है। यह अस्तित्व नामक धर्म अकेले भगवान आत्मा में ही नहीं, सभी पदार्थों में है। सभी पदार्थों में अपना-अपना अस्तित्वधर्म है और वे सभी पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व धर्म से ही टिके हुए हैं। किसी भी पदार्थ को अपने अस्तित्व को टिकाये रखने के लिए किसी अन्य के सहारे की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि यह बात पूर्णतः सत्य है कि सभी पदार्थों में अपना-अपना अस्तित्वधर्म है; तथापि यहाँ आत्मा के अस्तित्व की बात चल रही है। यहाँ डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख, लोहमय बाण का उदाहरण देकर भगवान आत्मा के अस्तित्वधर्म को समझाया गया है।

जिसप्रकार कोई बाण स्वद्रव्य की अपेक्षा से लोहमय है, स्वक्षेत्र की अपेक्षा से डोरी

और धनुष के मध्य स्थित है, स्वकाल की अपेक्षा से संधानदशा में है अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खैंची हुई दशा में है और स्वभाव की अपेक्षा से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है। इसप्रकार जैसे बाण स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्तित्ववाला है, उसीप्रकार भगवान आत्मा अस्तित्वनय से अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्ववाला है।

स्वयं के सम्पूर्ण गुण-पर्यायों के पिण्ड को स्वद्रव्य कहते हैं, स्वयं के असंख्य आत्मप्रदेशों को स्वक्षेत्र कहते हैं, स्वयं की वर्तमान समय की अवस्था को स्वकाल कहते हैं एवं प्रत्येक गुण की तत्समय की पर्याय की ओर झुके हुए त्रिकाली शक्तिरूप-गुणरूप भाव को स्वभाव कहते हैं। द्रव्य=द्रव्यगुणपर्यायरूप वस्तु, क्षेत्र=प्रदेश, काल=पर्याय एवं भाव=गुण, धर्म, स्वभाव, शक्तियाँ।

जिसप्रकार लोहमयपना तीर का स्वद्रव्य है; उसीप्रकार गुणपर्यायमयपना भगवान आत्मा का स्वद्रव्य है। जिसप्रकार डोरी और धनुष के बीच में रहा हुआ तीर का आकार ही तीर का स्वक्षेत्र है; उसीप्रकार अपने जिन असंख्यात प्रदेशों में भगवान आत्मा रहता है, वे असंख्यात प्रदेश ही उसका स्वक्षेत्र हैं। जिसप्रकार लक्ष्य के सन्मुख संधानीकृत अवस्था ही तीर का स्वकाल है; उसीप्रकार वर्तमान जिस अवस्था में आत्मा विद्यमान है, वह अवस्था ही आत्मा का स्वकाल है। जिसतरह निशान के सन्मुख रहनेरूप जो तीर का भाव है, वही उसका स्वभाव है; उसीप्रकार समय-समय की पर्यायरूप से परिणमित होने की शक्तिरूप जो भाव है, वही भाव भगवान आत्मा का स्वभाव है।

इसप्रकार भगवान आत्मा अपने गुण-पर्यायों के पिण्डरूप स्वद्रव्य से, अपने असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र से, वर्तमान वर्तती पर्यायरूप स्वकाल से एवं शक्तिरूप स्वभाव से अस्तित्वधर्मवाला है। अस्तित्वधर्म में स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव - ये चार बातें समाहित हैं। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व इन चार बातों में ही समाहित है।

वस्तु के अस्तित्व की यह एक सहज प्रक्रिया ही है। कौन, कहाँ, कब और क्यों - इन प्रश्नों के उत्तर बिना किसी व्यक्ति का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रत्येक वस्तु के संबंध में इन चार प्रश्नों के उत्तर आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं। कौन=द्रव्य, कहाँ=क्षेत्र, कब=काल, क्यों=भाव।

मैं आपसे कहूँ कि वह आपसे मिलना चाहता है, तो आपके मस्तिष्क में उक्त चार प्रश्न एक साथ ही खड़े हो जावेंगे। आप तत्काल ही पूछेंगे कि कौन मिलना चाहता है,

कहाँ मिलना चाहता है, कब मिलना चाहता है और क्यों मिलना चाहता है ? इन चार प्रश्नों का उत्तर पाये बिना न तो आप कोई उत्तर ही दे सकते हैं और न आपकी जिज्ञासा ही शान्त हो सकती है; क्योंकि मिलनेरूप क्रिया की सम्पन्नता के लिए इन जिज्ञासाओं का समाधान अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य है। इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना आप 'हाँ' और 'ना' कुछ भी तो न कह सकेंगे। 'हाँ' और 'ना' कहने के लिए इन चारों का जानना अत्यन्त आवश्यक है। कमशः प्रत्येक प्रश्न के उत्तर के आधार पर आप मिलने न मिलने का निर्णय करेंगे।

कौन मिलना चाहता है - इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि बाँझ का बेटा आपसे मिलना चाहता है तो आप मुस्करा कर कहेंगे :- क्यों मजाक करते हो ? बाँझ के बेटे का इस लोक में गुणपर्यायरूप अस्तित्व ही नहीं है तो फिर उससे कैसे मिला जा सकता है ?

यदि यह कहा जाय कि आपसे सीमन्धर भगवान मिलना चाहते हैं तो भी आप कहेंगे कि उनकी गुण-पर्यायमय सत्ता तो है, पर इस क्षेत्र में जब वे हैं ही नहीं तो फिर उनसे मिलना कैसे संभव है ?

कुन्दकुन्दाचार्य तो गुणपर्यायरूप वस्तु हैं एवं भरतक्षेत्र के ही आचार्य हैं, वे आपसे मिलना चाहते हैं - यदि यह कहा जाय तब भी आप यही कहेंगे कि इस समय वे यहाँ कहाँ हैं?

यदि यह कहा जाय कि आपसे राजीव गाँधी मिलना चाहते हैं तो भी आप यही कहेंगे कि आखिर क्यों ? उनको मेरे से क्या अपेक्षा हो सकती है ? वर्तमान में मैं उनके क्या काम आ सकता हूँ ?

जिसप्रकार मिलनेवाले व्यक्ति, मिलने का स्थान, मिलने का समय और मिलने का प्रयोजन स्पष्ट हुए बिना मिलना संभव नहीं होता; उसीप्रकार स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय के स्पष्ट हुए बिना वस्तु का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय ही भगवान आत्मा का अस्तित्व है - इसी बात को नयों की भाषा में इस रूप में कहा जाता है कि अस्तित्वनय से भगवान आत्मा अस्तित्ववाला है। स्वचतुष्टय ही भगवान आत्मा का अस्तित्वधर्म है और आत्मा के उस अस्तित्वधर्म को अथवा अस्तित्वधर्म की मुख्यता से अनन्तधर्मात्मक आत्मा को विषय बनानेवाला नय ही अस्तित्वनय है।

अस्तित्वधर्म के समान ही भगवान आत्मा में एक नास्तित्वधर्म भी है। जिसप्रकार स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्तित्वधर्म है और उसे विषय बनानेवाला अस्तित्वनय है; उसीप्रकार परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्तित्वधर्म है और उसे विषय बनानेवाला नास्तित्वनय है। जिसप्रकार अस्तित्वधर्म भगवान आत्मा के अस्तित्व को कायम रखता है; उसीप्रकार नास्तित्वधर्म उसे पर से भिन्न एवं पर से सम्पूर्णतः असंपृक्त रखता है। अपने अस्तित्व को टिकाए रखनेवाला अस्तित्वधर्म है और पर के हस्तक्षेप को रोकनेवाला नास्तित्वधर्म है। इसप्रकार ये दोनों ही धर्म भगवान आत्मा को अपने से अभिन्न एवं पर से भिन्न रखते हैं।

जिस बाण के उदाहरण से यहाँ अस्तित्वधर्म को समझाया गया है, उसी बाण के उदाहरण से नास्तित्व को भी समझाया गया है।

जिसप्रकार कोई बाण स्वद्रव्य की अपेक्षा से लोहमय है, स्वक्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य स्थित है, स्वकाल की अपेक्षा से संधानदशा में है और स्वभाव की अपेक्षा लक्ष्योन्मुख है; परन्तु वही बाण परबाण की अपेक्षा से अलोहमय है, परबाण के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य अस्थित है, परबाण के काल की अपेक्षा से संधानदशा में नहीं रहा हुआ है एवं परबाण के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योन्मुख भी है।

उसीप्रकार यह भगवान आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्वमय होने पर भी परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्वमय है।

इस संदर्भ में आप्तमीमांसा में समागत आचार्य समन्तभद्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है-

"सदैव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥१५॥

स्वरूपादिचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से वस्तु के अस्तित्व को कौन बुद्धिमान स्वीकार नहीं करेगा ? इसीप्रकार पररूपादिचतुष्टय अर्थात् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा वस्तु के नास्तित्व को भी कौन बुद्धिमान स्वीकार नहीं करेगा?

यदि कोई व्यक्ति इसप्रकार अस्तित्व और नास्तित्वधर्मों को स्वीकार नहीं करता है तो उसके मतानुसार वस्तु की व्यवस्था ही सिद्ध नहीं होगी।"

अस्तित्वधर्म को भावधर्म और नास्तित्वधर्म को अभावधर्म भी कहते हैं। भाव (सदभाव)

के समान अभाव भी वस्तु का एक धर्म है, पर वह अभावधर्म भी अभावरूप न होकर भावान्तररूप है।

तात्पर्य यह है कि नास्तित्वधर्म (अभावधर्म) की सत्ता भी वस्तु में अस्तित्वधर्म (भावधर्म) के समान ही है, नास्तित्वधर्म की भी भगवान आत्मा में अस्ति है। **वह अभावधर्म भावान्तर स्वभावरूप है, गधे के सींग के समान अभावरूप नहीं है। अभाव तो उसका नाम है, क्योंकि उसका कार्य अपने आत्मा में परपदार्थों के अप्रवेशरूप है, अभावरूप है।**

वह नास्तिधर्म स्वयं अभावरूप नहीं है, उसका स्वरूप अपने में पर के अभावरूप है। इस संदर्भ में 'युक्त्यनुशासन' की निम्नांकित कारिका ध्यान देने योग्य है :-

"भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो, भावांतरं भाववदर्हतस्ते।

हे अरहंत भगवान ! तुम्हारे मत में भाव के समान भावान्तरस्वभावरूप अभाव भी वस्तु का एक धर्म होता है।"

जिनागम में अभाव चार प्रकार के बताये गये हैं, जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं :- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव।

अभावधर्म की सिद्धि करते हुए आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में लिखते हैं –

"भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ।।९।।
कार्यद्रव्यमनादि स्याद् प्राग्भावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्यप्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्।।१०।।
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्याऽपोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा।।११।।

हे भगवन ! पदार्थों का सर्वथा सद्भाव ही मानने पर अभावों का अर्थात् अभावधर्म का अभाव मानना होगा। अभावधर्म की सत्ता स्वीकार नहीं करने पर सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जावेंगे, सभी पदार्थ अनादि-अनन्त हो जावेंगे, किसी का कोई पृथक् स्वरूप ही न रहेगा, जो कि आपको स्वीकार नहीं है।

प्रागभाव का अभाव मानने पर सभी कार्य (पर्यायें) अनादि हो जावेंगे। इसीप्रकार प्रध्वंसाभाव नहीं मानने पर सभी कार्य (पर्यायें) अनन्त हो जावेंगे।

यदि अन्योन्याभाव को नहीं मानेंगे तो सभी दृश्यमान (पुद्गल) पदार्थ वर्तमान में एकरूप हो जावेंगे और अत्यन्ताभाव के नहीं मानने पर सभी पदार्थों (द्रव्यों) के त्रिकाल एकरूप हो जाने से किसी भी द्रव्य या पर्याय का व्यपदेश (कथन) भी न बन सकेगा।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि भाव (अस्तित्व) के समान अभाव (नास्तित्व) भी वस्तु का एक सद्भावरूप धर्म है।

यद्यपि नास्तित्वधर्म को परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा समझाया जाता है; तथापि वह पर का धर्म नहीं, भगवान आत्मा का ही धर्म है; उसकी सत्ता का आधार भी पर नहीं, निज भगवान आत्मा ही है। यह नास्तित्वधर्म ही स्व और पर के बीच की अभेद्य दीवार है, इसके कारण ही सभी पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता कायम रहती है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक आत्मा दूसरे आत्मारूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप नहीं होती; क्योंकि एक का दूसरे में अभाव है।

यह अभावधर्म ही भेदविज्ञान का मूल है, देह और आत्मा की पृथक्ता का भान करानेवाला है; अतः इसका स्वरूप जानना अत्यन्त उपयोगी है।

भाई ! जबतक नास्तित्वधर्म का स्वरूप हमारे ख्याल में नहीं आवेगा, तबतक पर से भिन्न निज आत्मा की सच्ची पहचान संभव नहीं है। निजभगवान आत्मा की सच्ची पहचान बिना धर्म का आरंभ भी कैसे होगा? नास्तित्वधर्म का सच्चा स्वरूप समझने के लिए जिनागम में प्रतिपादित चार अभावों को गहराई से समझना चाहिए।

जिसप्रकार वस्तु के अस्तित्वधर्म को भावधर्म एवं नास्तित्वधर्म को अभावधर्म भी कहते हैं, उसीप्रकार अस्तित्वधर्म को विषय बनानेवाले अस्तित्वनय को भावनय एवं नास्तित्वधर्म को विषय बनानेवाले नास्तित्वनय को अभावनय भी कह सकते हैं।

जिसप्रकार भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में एक अस्तित्वधर्म है, एक नास्तित्वधर्म है; उसीप्रकार एक अस्तित्व-नास्तित्वधर्म भी है। जिसप्रकार अस्तित्वधर्म स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह भगवान आत्मा के अस्तित्व को कायम रखता है, टिकाये रखता है; नास्तित्वधर्म परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह भगवान आत्मा को पर से भिन्न रखता है, पर से संपूर्णतः असंपृक्त रखता है; उसीप्रकार अस्तित्व-नास्तित्वधर्म स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह परस्पर विरुद्ध प्रतीत

अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ।।६।।

होनेवाले अस्तित्व-नास्तित्व धर्मों की सत्ता को एक साथ एक ही आत्मा में रखने का महान कार्य सम्पन्न करता है।

तात्पर्य यह है कि भले ही वाणी से अस्तित्व और नास्तित्वधर्मों को एक साथ कहा न जा सके, पर भगवान आत्मा में उनके एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा का एक धर्म ऐसा भी है, जिसके कारण ये धर्म एक ही आत्मा में एक साथ अविरोधपने रह सकते हैं। **अस्तित्व-नास्तित्व धर्म का अर्थ ही यह है कि आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि उसमें अस्तित्व एवं नास्तित्व विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म एक साथ रहते हैं।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा में विद्यमान अस्तित्व, नास्तित्व एवं अस्तित्वनास्तित्व नामक धर्मों को जाननेवाले या कहनेवाले अस्तित्वनय, नास्तित्वनय एवं अस्तित्व-नास्तित्वनय नामक तीन नय हैं ।।३-५।।

सप्तभंगी संबंधी उक्त तीन नयों की चर्चा के उपरांत अब अवक्तव्यनय की बात करते हैं–

“लोहमय तथा अलोहमय, डोरी व धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी व धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए तथा संधान-अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अवक्तव्यनय से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है।।६।।”

भगवान आत्मा के अनन्त धर्मों में अस्तित्वादि धर्मों के समान एक अवक्तव्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा वचनों द्वारा युगपत् सम्पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस अवक्तव्य धर्म को विषय बनानेवाले सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश को अवक्तव्यनय कहते हैं। शास्त्रों में यह बारम्बार आता है कि आत्मा वचन-अगोचर है, अनुभवगम्य है। यह सब कथन भगवान आत्मा के अवक्तव्य धर्म का ही है, अवक्तव्यस्वभाव का ही है। भगवान आत्मा का ऐसा सूक्ष्म स्वभाव है कि वह वाणी की पकड़ में युगपत् सम्पूर्णतः नहीं आता।

यद्यपि यह बात सत्य है कि भगवान आत्मा में अवक्तव्य नामक धर्म होने से उसका स्वभाव अवक्तव्य है; तथापि अवक्तव्यधर्म के समान उसमें एक वक्तव्य नामक धर्म भी है;

अतः वह कथंचित् वक्तव्य भी है। इसप्रकार वह न सर्वथा वक्तव्य ही है और न सर्वथा अवक्तव्य ही; वह कथंचित् वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य है। आत्मवस्तु का ऐसा ही अनेकान्तात्मक स्वरूप है।

यदि हम किसी भी वस्तु को सर्वथा 'अवाच्य' ('अवक्तव्य') कहें तो यह कथन स्ववचनबाधित ही होगा, क्योंकि हम स्वयं उसे अवाच्य (अवक्तव्य) शब्द से वाच्य बना रहे हैं। यह वचन तो उसीप्रकार का होगा, जिसप्रकार कोई व्यक्ति दूसरे से कहे कि मेरा आज मौनव्रत है। 'मेरा आज मौनव्रत है' - ऐसा कहकर स्वयं ही उसने अपने मौनव्रत को भंग किया है। इसीप्रकार 'आत्मा अवक्तव्य है' - ऐसा कहकर हम स्वयं आत्मा को 'अवक्तव्य' शब्द से वाच्य बना रहे हैं।

वस्तुतः बात तो ऐसी है कि किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण पक्षों को, गुण-धर्मों को एक साथ कहना संभव न होने से सभी वस्तुएँ कथंचित् अवाच्य हैं और वस्तु के विभिन्न धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन शक्य होने से सभी वस्तुएँ कथंचित् वाच्य भी हैं।

यद्यपि जिससमय स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से भगवान आत्मा में अस्तित्वधर्म है, उसीसमय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्तित्वधर्म भी है; तथापि जिससमय अस्तित्वधर्म का प्रतिपादन किया जा रहा हो, उसीसमय नास्तित्वधर्म का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है; पर क्रम से उनका प्रतिपादन संभव है।

भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों का या परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनन्तधर्मयुगलों का युगपद् प्रतिपादन असंभव होना अवक्तव्य नामक धर्म का कार्य है और क्रमशः प्रतिपादन संभव होना वक्तव्य नामक धर्म का कार्य है।

यद्यपि ४७ नयों में वक्तव्य नामक कोई नय नहीं है और सप्तभंगी में वक्तव्य नामक कोई भंग भी नहीं है, तथापि सभी ४७ नयों से आत्मा को वाच्य तो बनाया ही जा रहा है, यदि भगवान आत्मा कथंचित् भी वाच्य नहीं होता अर्थात् उसमें वाच्य बनने की शक्ति, स्वभाव, धर्म नहीं होता तो वह प्रमाण-नयों से वाच्य भी कैसे बनाया जा सकता था ? अतः उसमें वाच्य नामक धर्म भी है ही।

सप्तभंगी के आरम्भ के तीन भंग वक्तव्य और अन्त के चार भंग अवक्तव्य के हैं। जिसप्रकार सप्तभंगी के अंतिम तीन भंगों को हम इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य और अस्तिनास्ति-अवक्तव्य; उसीप्रकार आरम्भ के तीन भंगों को इसप्रकार भी व्यक्त कर सकते है कि अस्तिवक्तव्य, नास्तिवक्तव्य, अस्तिनास्तिवक्तव्य।

अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकांतरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ।।७।।

नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च नास्तित्ववदवक्तव्यम् ।।८।।

यदि भगवान आत्मा सर्वथा ही अवक्तव्य होता तो समस्त जिनवाणी निरर्थक होती; क्योंकि समस्त जिनवाणी एकप्रकार से भगवान आत्मा के प्रतिपादन के लिए ही तो समर्पित है तथा यदि भगवान आत्मा वाणी द्वारा पूरी तरह बताया जा सकता होता तो फिर शास्त्रों को पढ़कर या गुरुमुख से आत्मा का स्वरूप सुनकर सभी आत्मज्ञानी हो गये होते। इसप्रकार हम देखते हैं कि भगवान आत्मा अवक्तव्यनय से कथंचित् अवक्तव्य भी है ।।६।।

इसप्रकार अवक्तव्यनय के प्रतिपादन के उपरान्त अब अस्ति-अवक्तव्यनय, नास्ति-अवक्तव्यनय और अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यनयों की चर्चा करते हैं –

"लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला अवक्तव्य है ।।७।।

अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला अवक्तव्य है ।।८।।

अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखप्राक्तविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्य क्षेत्रकालभावैश्चास्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम् ।।९।।

लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में नहीं रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में न रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व वाला-नास्तित्ववाला अवक्तव्य है।।९।।"

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा में एक अस्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म है, एक नास्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म है तथा एक अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म भी है। उन्हें विषय बनानेवाले सम्यक्श्रुतज्ञान के अंशरूप क्रमशः अस्तित्व-अवक्तव्यनय, नास्तित्व-अवक्तव्यनय एवं अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक अस्तित्वधर्म और एक अवक्तव्यधर्म तो पहले ही कहे जा चुके हैं, फिर यह तीसरा अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म कहने का क्या प्रयोजन है ? क्या यह धर्म अस्तित्व और अवक्तव्य दोनों को मिलाकर है? इसीप्रकार का प्रश्न नास्तित्व-अवक्तव्य एवं अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म के संबंध में भी संभव है।

अरे भाई ! अस्तित्व और अवक्तव्य - इन दोनों धर्मों को मिलाकर वह अस्तित्व-अवक्तव्य धर्म कहा हो - ऐसा नहीं है, परन्तु अस्तित्व और अवक्तव्य - इन दोनों धर्मों से भिन्न अस्तित्व-अवक्तव्य नामक एक स्वतन्त्र धर्म है। जिसप्रकार श्रुतज्ञान के अनन्तनयों में अस्तित्वनय आदि सात नय भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार उन सात नयों के विषयभूत आत्मवस्तु में सात धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं।

ये अस्तित्व, नास्तित्व आदि सात प्रकार के धर्म वस्तु के स्वभाव में ही हैं। अस्तित्व और नास्तित्व - ये दोनों ही धर्म वस्तु में हैं; अन्य पाँच धर्म नहीं है - ऐसा नहीं है।

यदि वस्तु में सातों धर्म नहीं होते तो उनका कथन भी नहीं होता, क्योंकि वाचक वाच्य को ही तो बताता है।

आत्मा में स्व की अपेक्षा अस्तित्व है, पर की अपेक्षा नास्तित्व है - इन दोनों धर्मों का प्रतिपादन क्रमशः ही हो सकता है, एक साथ नहीं - इस अपेक्षा से आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यधर्मवाला है। इस धर्म के नाम में तीन शब्द आये हैं; अतः उनके वाच्यरूप तीन भिन्न-भिन्न धर्म नहीं समझना, किन्तु तीनों के वाच्यरूप एक धर्म है - इसप्रकार समझना।

सप्तभंगी संबंधी सात नयों के विषयभूत अस्तित्वादि धर्म सभी पदार्थों के मूलभूत धर्म हैं। भगवान आत्मा भी एक पदार्थ है, परमपदार्थ है; अतः उसमें भी ये पाये ही जाते हैं। पर से भिन्न निज भगवान आत्मा की सम्यक् जानकारी के लिए इन सात धर्मों का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

अस्तित्वधर्म यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से है; अतः किसी भी पदार्थ को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए पर की या पर के सहयोग की रंच भी आवश्यकता नहीं है। भगवान आत्मा का अस्तित्व भी स्वचतुष्टय से ही है; अतः उसे स्वयं की सत्ता बनाये रखने के लिए पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

नास्तित्वधर्म यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ में परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप परचतुष्टय की नास्ति है; अतः किसी भी परपदार्थ का कोई भी हस्तक्षेप अन्य पदार्थ में संभव नहीं है। यह भगवान आत्मा भी नास्तित्वधर्म से सम्पन्न है; अतः हमें पर के हस्तक्षेप की आशंका से व्याकुल होने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

पर का सहयोग भी एकप्रकार का हस्तक्षेप ही है। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में पूर्णतः अभाव ही है, अप्रवेश ही है, तो फिर परस्पर सहयोग का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

अस्तित्वनास्तित्वधर्म के कारण ही परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले उक्त अस्तित्व एवं नास्तित्वधर्म वस्तु में एकसाथ रहते हैं। भले ही उनका एक साथ कहना संभव न हो, पर वे रहते तो वस्तु में एक साथ ही हैं। **कहने में क्रम और रहने में अक्रम (युगपद) - यही स्वभाव है अस्तित्वनास्तित्वधर्म का।**

अस्तित्वनय स्व में स्वचतुष्टय की अस्ति, नास्तित्वनय स्व में परचतुष्टय की नास्ति

एवं अस्तित्वनास्तित्वनय कथन में क्रम पड़ने पर भी स्व में अस्ति और नास्ति - इन दोनों धर्मों की युगपत् अस्ति बताता है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा भी धर्म है, जिसके कारण ये परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अस्तित्व-नास्तित्वधर्म उसमें एक साथ रहते हैं। अस्तित्व एवं नास्तित्वधर्म के एक साथ रहनेरूप स्वभाव का नाम ही अस्ति-नास्तिधर्म है और इस धर्म को विषय बतानेवाला नय ही अस्तित्व-नास्तित्वनय है।

नास्तित्वधर्म में भले पर की अपेक्षा लगती हो, पर वह पररूप नहीं है, वह आत्मवस्तु का स्वरूप ही है। इसीप्रकार उसका नाम भले ही नास्तित्व है, पर उसकी वस्तु में नास्ति नहीं, अस्ति है। तात्पर्य यह है कि अस्तित्वधर्म तो अस्तिरूप है ही, नास्तित्वधर्म भी अस्तिरूप है और अस्तित्वनास्तित्वधर्म भी अस्तिरूप ही है। भगवान आत्मा में रहनेवाले सभी धर्म अस्तिरूप ही हैं, कोई भी धर्म नास्तिरूप नहीं है।

भगवान आत्मा में अस्तित्व एवं नास्तित्व - इन दोनों के एक साथ रहने पर भी उनका कथन एक साथ संभव नहीं है। ऐसा ही स्वभाव है आत्मवस्तु का। आत्मवस्तु के इस स्वभाव का नाम ही अवक्तव्यधर्म है। इस अवक्तव्यधर्म को जाननेवाले ज्ञानांश का नाम ही अवक्तव्यनय है।

'आत्मा है या नहीं ?' - इस प्रश्न का उत्तर एक साथ नहीं दिया जा सकता। यह एक शब्द में नहीं बताया जा सकता। न तो 'है' ही कहा जा सकता है और न 'नहीं है' ही कहा जा सकता है। यही कहना होगा कि स्वचतुष्टय की अपेक्षा है और परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं है; पर इन दोनों बातों के कहने में क्रम पड़ता है, अतः क्रम से ही बताया जा सकता है, एक साथ नहीं। **एक साथ नहीं बताया जा सकता - बस इसी का नाम अवक्तव्यधर्म है।**

प्रश्न - एक साथ नहीं बताया जा सकता - यह तो वाणी की कमजोरी है, इसे आत्मा का धर्म कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर - भाई ! आत्मा के स्वभाव में ही यह विशेषता है कि वह वाणी द्वारा एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता। आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही अवक्तव्यस्वभाव या अवक्तव्यधर्म है। यह धर्म बताता है कि अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता यह भगवान आत्मा वचनों से युगपत् नहीं बताया जा सकता है; पर ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है।

प्रश्न - अवक्तव्यनय से कहा नहीं जा सकता, पर अवक्तव्यनय से जाना तो जा सकता है ?

उत्तर - भाई ! ऐसी बात नहीं है। अवक्तव्यनय से कहा भी जा सकता है और जाना भी जा सकता है; पर मात्र यही कहा जा सकता है कि भगवान आत्मा अवक्तव्य है और मात्र यही जाना जा सकता है कि वह अवक्तव्य है।

तात्पर्य यह है कि अवक्तव्यनय से उसके अवक्तव्यधर्म को ही जाना जा सकता है; अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता धर्मी आत्मा को जानने के लिए तो नयातीत होकर ही जानना होगा; क्योंकि वह तो श्रुतप्रमाणपूर्वक अनुभव से प्रमेय होता है - यह बात आरंभ में ही कही जा चुकी है।

अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म का स्वरूप भी यही है कि आत्मा की अस्ति तो है, पर वह अस्तित्व के अतिरिक्त भी बहुत कुछ और भी है, उसमें नास्तित्वधर्म भी है, पर वह सब इस समय कहा नहीं जा सकता। इसप्रकार वह अस्तित्वमय और अवक्तव्यरूप एक साथ है। अस्तित्वमय और अवक्तव्यरूप एक साथ होनेरूप भी एक धर्म आत्मा में है, जिसका नाम है अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म। इस धर्म को जानने या कहनेवाला नय ही अस्तित्व-अवक्तव्यनय है।

यह धर्म यही बताता है कि 'है, पर अवक्तव्य है; अवक्तव्य है, पर है'। अत: वचन से विराम लेकर इस भगवान आत्मा के अस्तित्व में समा जाना ही श्रेयस्कर है।

नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म आत्मा में पर की नास्ति एवं आत्मा की अनिर्वचनीयता को एक साथ बताता है। आत्मा में पर की नास्ति है - यह तो कहा, पर आत्मा इतना ही तो नहीं और भी अनन्तधर्मों की अस्ति आत्मा में है, अस्तित्वधर्म तो है ही, पर अभी अनन्तधर्मों का कहना संभव नहीं है - यह प्रकृति है नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म की, जिसे नास्तित्व-अवक्तव्यनय विषय बनाता है।

अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय यह बताता है कि अस्तित्व भी है, नास्तित्व भी है; पर एक साथ वे कहे नहीं जा सकते हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा अस्तित्ववाला भी है, नास्तित्ववाला भी है और अवक्तव्य भी है - सब कुछ एकसाथ है।

एक-एक नय से भगवान आत्मा के एक-एक धर्म को ही जाना जा सकता है; आत्मा के स्वरूप का गहराई से परिचय प्राप्त करने के लिए यह जरूरी भी है; पर अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता भगवान आत्मा को जानने के लिए तो इन नयों से आत्मा को जानकर, इनसे विराम लेना होगा; अन्यथा विकल्पातीत, नयातीत नहीं हुआ जा सकेगा।

विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत् सविकल्पम्।।१०।। अविकल्पनयेनैक-पुरुषमात्रवदविकल्पम्।।११।।

इसप्रकार तीसरे से नौवें नय तक ये सप्तभंगी सम्बन्धी सात नय हैं। इन सप्तभंगी सम्बन्धी सात नयों को विशेष समझने के लिए जिनागम में प्रतिपादित 'सप्तभंगी' सिद्धान्त को गहराई से समझना चाहिए।।७-९।।

सप्तभंगी संबंधी नयों की चर्चा के उपरान्त अब विकल्पनय और अविकल्पनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य विकल्पनय से बालक, कुमार और वृद्ध - ऐसे एक पुरुष की भाँति सविकल्प है और अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प है।।१०-११।।"

यहाँ 'विकल्प' का अर्थ भेद है और 'अविकल्प' का अर्थ अभेद है। जिसप्रकार एक ही पुरुष बालक, जवान और वृद्ध - इन अवस्थाओं को धारण करनेवाला होने से बालक, जवान एवं वृद्ध - ऐसे तीन भेदों में विभाजित किया जाता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा भी ज्ञान, दर्शनादि गुणों एवं मनुष्य, तिर्यंच, नरक, देवादि अथवा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि पर्यायों के भेदों में विभाजित किया जाता है।

तथा जिसप्रकार बालक, जवान एवं वृद्ध अवस्थाओं में विभाजित होने पर भी वह पुरुष खण्डित नहीं जो जाता, रहता तो वह एक मात्र अखण्डित पुरुष ही है। उसीप्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुणों एवं नरकादि अथवा बहिरात्मादि पर्यायों के द्वारा भेद को प्राप्त होने पर भी भगवान आत्मा रहता तो एक अखण्ड आत्मा ही है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक विकल्प नामक धर्म है, जिसके कारण आत्मा गुण-पर्यायों के भेदों में विभाजित होता है; अत: इसे भेद नामक धर्म भी कह सकते हैं। इस विकल्प (भेद) नामक धर्म को विषय बनानेवाला नय विकल्पनय है। इसीप्रकार भगवान आत्मा में एक अविकल्प नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा अभेद-अखण्ड रहता है, अत: इसे अभेद नामक धर्म भी कह सकते हैं।

इस अभेद नामक धर्म को विषय बनानेवाला नय ही अविकल्पनय है। इन विकल्प और अविकल्प नयों को क्रमशः भेदनय और अभेदनय भी कहा जा सकता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा में विद्यमान गुण-पर्याय भेदों को विषय बनानेवाला नय विकल्पनय और एक अभेद अखण्ड आत्मा को विषय बनाने वाला नय अविकल्पनय है।

नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि ।।१२।। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलालम्बि ।।१३।। द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि ।।१४।। भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि ।।१५।।

अनन्तधर्मात्मक आत्मा के अनन्तधर्मों में एक भेदधर्म है और एक अभेदधर्म है, जिन्हें विकल्पधर्म और अविकल्पधर्म भी कहते हैं। इन विकल्पधर्म और अविकल्पधर्म को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः विकल्पनय और अविकल्पनय हैं ।।१०-११।।

विकल्पनय और अविकल्पनय के विवेचन के उपरान्त अब चार निक्षेप संबंधी नयों की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य नामनय से नामवाले की भाँति शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है, स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्वपुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है, द्रव्यनय से बालकसेठ और श्रमणराजा की भाँति अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है और भावनय से पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति वर्तमान पर्यायरूप से उल्लसित - प्रकाशित - प्रतिभासित होता है ।।१२-१५।।"

उक्त चार नय निक्षेपों सम्बन्धी नय हैं। भगवान आत्मा में नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव नामक चार धर्म हैं, जिन्हें उक्त चार नय क्रमशः अपना विषय बनाते हैं।

जगत में जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी किसी न किसी नाम से जाने जाते हैं। बिना नाम का कोई भी पदार्थ जगत में नहीं है। आत्मा भी एक पदार्थ है; अतः वह भी 'आत्मा' - इस नाम से जाना जाता है। यदि आत्मा में नाम नामक धर्म नहीं होता तो फिर उसका प्रतिपादन संभव नहीं था।

जिसप्रकार आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मा किसी नाम द्वारा जाना जाता है; उसीप्रकार एक ऐसा भी धर्म है, जिसके कारण आत्मा स्थापना द्वारा भी जाना जा सकता है। आत्मा की स्थापना किसी न किसी पुद्गल में की जाती है; अतः यहाँ कहा गया है कि आत्मद्रव्य स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्वपुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है।

जिसप्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना की जाती है, उसीप्रकार किसी भी पुद्गलपिण्ड में आत्मा की भी स्थापना की जा सकती है। जिस वस्तु में जिस व्यक्ति की स्थापना की जाती है, उस वस्तु के देखने पर वह व्यक्ति खयाल में आता है - इसप्रकार वह वस्तु स्थापना के द्वारा उस व्यक्ति का ज्ञान करानेवाली हुई।

यह स्थापना तदाकार भी हो सकती है और अतदाकार भी। तदाकार स्थापना में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि जिस व्यक्ति की स्थापना जिन पुद्गलपिण्डों में की जा रही है, वे पुद्गलपिण्ड उसी व्यक्ति के आकार में होने चाहिए। जैसे कि गाँधीजी की स्थापना गाँधी के चित्र में या गाँधीजी की तदाकार प्रतिमा में करना। अतदाकार स्थापना में इसकी आवश्यकता नहीं होती, हम किसी भी आकार की वस्तु में किसी की भी स्थापना कर सकते हैं। जैसे कि बिना हाथी-घोड़े के आकार की शतरंज की गोटों में हाथी-घोड़ों की कल्पना करना।

नाम और स्थापना के समान आत्मा में एक द्रव्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा अपनी भूतकालीन एवं भविष्यकालीन पर्यायोंरूप दिखाई देता है। जिसप्रकार सेठ का बालक भविष्य का सेठ ही है; अत: उसे वर्तमान में भी सेठजी कह दिया जाता है अथवा जो राजा मुनि हो गया है, उसे मुनि-अवस्था में भी राजा कहा जाता है। - ये सब द्रव्यनय के ही कथन हैं।

इसप्रकार के कथन लोक में ही नहीं, जिनागम में भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। क्या आगम में यह लिखा नहीं मिलता है कि भरत चक्रवर्ती मोक्ष गये ? वस्तुत: बात तो यह है कि कोई भी व्यक्ति चक्रवर्ती पद पर रहते हुए मोक्ष नहीं जा सकता है। भरत ने जब चक्रवर्ती पद त्यागकर मुनिदीक्षा ली, तब वे मोक्ष गये। मोक्ष तो भरत मुनि गये, किन्तु भूतपर्याय का वर्तमानपर्याय में आरोप करके यही कहा जाता है कि भरत चक्रवर्ती मोक्ष गये।

इसीप्रकार आदिनाथ से लेकर महावीर तक सभी तीर्थंकर वर्तमान में तो सिद्धदशा में हैं; तथापि उन्हें हम आज भी तीर्थंकर ही कहते हैं। भगवान का जन्म कहना भी इसी नय का कथन है, क्योंकि जिस जीव का अभी जन्म हुआ है, वह अभी तो बालक ही है, पर भविष्य में भगवान बननेवाला है; अत: उसे अभी भी 'भगवान' कहने का व्यवहार लोक में प्रचलित है।

भगवान आत्मा में द्रव्यधर्म नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मा भूतकालीन और भविष्यकालीन अर्थात् नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायरूप कहा जाता है। उस द्रव्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम द्रव्यनय है।

सैंतालीस नयों में पहले नय का नाम भी द्रव्यनय है और इस चौदहवें नय का नाम भी द्रव्यनय है। नाम एक से होने पर भी इन दोनों नयों के स्वरूप में अन्तर है। प्रथम द्रव्यनय के

साथ पर्यायनय आया है और इस द्रव्यनय के साथ भावनय आया है। वहाँ द्रव्यनय और पर्यायनय - ऐसा जोड़ा है और यहाँ द्रव्यनय और भावनय - ऐसा जोड़ा है। **प्रथम द्रव्यनय का विषय सामान्य चैतन्यमात्र द्रव्य है और इस द्रव्यनय का विषय भूत-भावी पर्यायवाला द्रव्य है।**

जिसप्रकार द्रव्यनय से भगवान आत्मा भूत और भविष्यकालीन पर्याय के रूप में जाना जाता है; उसीप्रकार भावनय से वह वर्तमानपर्यायरूप से जाना जाता है। इस बात को आचार्यदेव पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री का उदाहरण देकर समझाते हैं।

जिसप्रकार पुरुष के भेष में रहकर पुरुष के समान व्यवहार करनेवाली स्त्री पुरुष जैसी ही प्रतीत होती है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी वर्तमान में प्रवर्तित होने से वर्तमानपर्यायरूप ही प्रतिभासित होता है। सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा सम्यग्दृष्टी कहा जाता है, सम्यग्दृष्टी के रूप में जाना भी जाता है। सम्यग्दर्शन से युक्त जीव को जीव न कहकर सम्यग्दृष्टी कहना या जानना ही भावनय है।

भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण यह आत्मा वर्तमान पर्यायरूप से जाना जाता है, कहा जाता है। उस धर्म का नाम है भावधर्म और उसे जाननेवाले श्रुतज्ञान के अंश का नाम है भावनय।

आत्मद्रव्य के भूत और भावी पर्यायों से युक्त जानना द्रव्यनय है और वर्तमान पर्याय से युक्त जानना भावनय है। जिसप्रकार पूजन करते हुए मुनीम को पुजारी भी कहा जा सकता है और मुनीम भी, भावनय से वह पुजारी है और द्रव्यनय से मुनीम।

वर्तमान में पूजन करनेरूप पर्याय से युक्त होने से उसे पुजारी कहना उपयुक्त ही है; तथापि भूत और भावी पर्यायों की युक्तता से विचार करने पर वह मुनीम ही प्रतीत होता है; क्योंकि पूजन के पहले वह मुनीमी ही करता रहा है और बाद में भी मुनीमी ही करने वाला है।

जो व्यक्ति उसके सम्पूर्ण जीवन से एकदम अपरिचित है, वह उसे पूजा करते देखकर यही कहेगा कि पुजारीजी ! क्या मैं भी आपके साथ पूजन कर सकता हूँ; किन्तु जो उसे व उसके सम्पूर्ण जीवन को जानता है, वह यही कहेगा कि मुनीमजी ! क्या मैं भी आपके साथ पूजन कर सकता हूँ; इसीप्रकार पूजन करते हुए राजा को प्रयोजनवश पुजारी और राजा दोनों ही कहा जा सकता है।

पूजन कराते हुए प्रतिष्ठाचार्य भी यह कहते हुए सुने जाते हैं कि सभी पुजारी हाथ में अर्घ ले लें, साथ में उन्हीं पुजारियों में से किसी से यह भी कहते देखा जा सकता है कि सेठजी ! आपने अर्घ क्यों नहीं लिया ?

भूतकालीन एवं भविष्यकालीन तीर्थंकरों की मूर्तिप्रतिष्ठा स्थापनानय के साथ-साथ द्रव्यनय का विषय भी है; क्योंकि स्थापनानय तो मात्र पौद्गलिकमूर्ति में चेतन परमात्मा की प्रतिष्ठा को विषय बनायेगा, पर यहाँ तो जिन तीर्थंकर आत्माओं की जिस अरहंतपर्याय की स्थापना मूर्ति में की जा रही है, वे आत्मा वर्तमान में उस पर्यायरूप से परिणमित नहीं हो रहे हैं, उनमें से भूतकालीन तीर्थंकर तो वर्तमान में सिद्धपर्यायरूप से परिणमित हो रहे हैं और भावी तीर्थंकर अभी देवादि किसी पर्याय में होंगे।

अतः आत्मा को भूतकालीन और भविष्यकालीन पर्यायों के रूप में देखनेवाला द्रव्यनय के बिना भूतकालीन और भविष्यकालीन तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा का व्यवहार संभव नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर जिन्हें हम वर्तमान चौबीसी कहते हैं, वे ऋषभादि तीर्थंकर भी भूतकालीन ही हैं; क्योंकि वे वर्तमान में सिद्धदशा में ही हैं। वर्तमानदशारूप परिणमित तो सीमन्धरादि विद्यमान बीस तीर्थंकर ही हैं; क्योंकि वे ही अभी अरहंत-अवस्था में विद्यमान हैं।

अतः सीमन्धरादि तीर्थंकर अरहंतों की प्रतिष्ठा स्थापनानय एवं द्रव्यनय के आश्रित है। नामनय का उपयोग तो अनिवार्य है ही; क्योंकि इसके बिना तो यह कहना ही संभव नहीं कि यह प्रतिमा अमुक तीर्थंकर की है।

इसप्रकार मूर्तिप्रतिष्ठा का समस्त व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भावनयों के आधार पर प्रचलित व्यवहार है। यही कारण है कि निक्षेप की परिभाषा इसप्रकार दी गई है कि नयों के द्वारा प्रचलित लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं। इसप्रकार का लोकव्यवहार मात्र जिनेन्द्रप्रतिष्ठाओं में ही नहीं, अपितु लोक के अन्य व्यवहारों में भी प्रचलित है। चित्रकला, मूर्तिमाला आदि अनेक चीजों का आधार यही नय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि नामधर्म, स्थापनाधर्म, द्रव्यधर्म और भावधर्म - आत्मा के ये चार धर्म ज्ञेय हैं और इनके आधार पर आत्मा को जाननेवाले श्रुतज्ञान के अंशरूप नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय - **ये चार नय ज्ञान हैं और इनके आधार पर प्रचलित लोकव्यवहार रूप चार निक्षेप हैं ।।१२-१५।।**

सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि ।।१६।। विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि ।।१७।।

चार निक्षेप संबंधी नयों की चर्चा के उपरान्त अब सामान्यनय और विशेषनय की चर्चा करते हैं –

''आत्मद्रव्य सामान्यनय से हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति व्यापक है और विशेषनय से उसके एक मोती की भाँति अव्यापक है ।।१६-१७ ।।''

जिसप्रकार हार या माला के प्रत्येक पुष्प में अथवा कंठी के प्रत्येक मोती में डोरा व्याप्त रहता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा अपने सम्पूर्ण गुण व पर्यायों में व्याप्त रहता है।

तथा जिसप्रकार उसी कंठी या हार का एक मोती अन्य मोतियों में अथवा सम्पूर्ण कंठी या हार में व्याप्त नहीं रहता; उसीप्रकार भगवान आत्मा की एक पर्याय अन्य पर्यायों में अथवा सम्पूर्ण आत्मद्रव्य में व्याप्त नहीं रहती।

भगवान आत्मा में एक सामान्य नामक धर्म है, जिसके कारण वह भगवान आत्मा अपने प्रत्येक गुण व अपनी प्रत्येक पर्याय में व्याप्त रहता है। आत्मा के इस सामान्यधर्म को जानने या कहनेवाले नय को सामान्यनय कहते हैं। इसीप्रकार भगवान आत्मा में एक विशेष नामक धर्म है, जिसके कारण भगवान आत्मा की एक पर्याय अन्य पर्यायों में अथवा सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त नहीं होती। आत्मा के इस विशेषधर्म को जानने या कहनेवाले नय को विशेषनय कहते हैं।

आत्मद्रव्य में स्वभावगत ही ऐसी विशेषता है कि वह अपने सम्पूर्ण गुणपर्यायों में व्याप्त रहता है, इसकारण उसे व्यापक कहा जाता है तथा एक ऐसी भी विशेषता है कि उसकी एक पर्याय सम्पूर्ण द्रव्य में नहीं व्यापती, अन्य पर्यायों में भी नहीं व्यापती, इसकारण उसे अव्यापक भी कहा जाता है। इसी बात को नयों की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि आत्मा सामान्यनय से व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

'आत्मा व्यापक है' - इसका अर्थ लोक में ऐसा भी लिया जाता है कि वह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, पर यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा अपने चैतन्यलोक में व्याप्त है, अपने सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों में व्याप्त है, फैला हुआ है, पसरा हुआ है। भगवान आत्मा का परपदार्थों में व्याप्त होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

प्रवचनसार की २३ वीं गाथा में जो आत्मा को सर्वगत कहा गया है, उसका अर्थ तो

नित्यनयेन नटवदवस्थायि ।।१८।। अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि ।।१९।।

मात्र इतना है कि वह सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के स्वभाववाला है। उसमें साफ-साफ लिखा है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है और ज्ञेय सम्पूर्ण लोकालोक है; इसलिए आत्मा सर्वगत है। वहाँ तो मात्र सबको जानने की बात है और यहाँ आत्मा अपने सामान्य स्वभाव के कारण अपने गुणों व पर्यायों में पूर्णतः व्याप्त है - यह कहा जा रहा है।

प्रवचनसार की २३ वीं गाथा संबंधी बात सर्वगतनय और असर्वगतनय के प्रकरण में यथास्थान की जावेगी; यहाँ तो सामान्य और विशेष - इन दोनों नयों के माध्यम से मात्र इतना कहा जा रहा है कि आत्मा अपनी सम्पूर्ण पर्यायों में तो व्याप्त है, पर उसकी प्रत्येकपर्याय आत्मा में त्रिकाल व्याप्त नहीं है; क्योंकि उसकी एक पर्याय दूसरी पर्याय में व्याप्त नहीं है।

प्रश्न - भावनय और द्रव्यनय के प्रकरण में भी तो कुछ इसीप्रकार कहा था ? उनमें और इसमें क्या अन्तर है ?

उत्तर - यह भगवान आत्मा भावनय से वर्तमानपर्यायरूप प्रतिभासित होता है, द्रव्यनय से भूत-भावीपर्यायरूप से प्रतिभासित होता है और इस सामान्यनय से भूत, वर्तमान और भविष्य - इन तीनों काल की पर्यायों में व्याप्त प्रतिभासित होता है।

सामान्यनय से अर्थात् द्रव्य-अपेक्षा आत्मा सर्व पर्यायों में व्याप्त है, पर विशेषनय से अर्थात् पर्याय-अपेक्षा आत्मा सर्व पर्यायों में व्याप्त नहीं है; इसलिए यह कहा जाता है कि आत्मा सामान्यनय से व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

वस्तुतः बात यह है कि द्रव्य और पर्याय में व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध होता है। द्रव्य व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। पर्याय व्याप्य है - इसका अर्थ यह हुआ कि वह व्यापक नहीं है। 'व्यापक नहीं है' को ही 'अव्यापक है' - इसप्रकार कहा जाता है। इसप्रकार यह प्रतिफलित हुआ कि द्रव्य-अपेक्षा आत्मा व्यापक है और पर्याय-अपेक्षा अव्यापक है।

इसी को नयों की भाषा में इसप्रकार कहते हैं कि सामान्यनय से आत्मा व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।।१६-१७।।

सामान्यनय और विशेषनय की चर्चा के उपरान्त अब नित्यनय और अनित्यनय की चर्चा करते हैं –

''आत्मद्रव्य नित्यनय से नट की भाँति अवस्थायी है और अनित्यनय से राम-रावण की भाँति अनवस्थायी है।१८-१९।।''

जिसप्रकार राम-रावण आदि के नित बदलते भिन्न-भिन्न अनेक स्वाँग रखने पर भी नट राम-रावण नहीं हो जाता, नट ही रहता है। वह स्वाँग चाहे जो भी रखे, पर उसका नटपना कायम रहता है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा नर-नारकादि पर्यायों को बदल-बदल कर धारण करता हुआ भी आत्मा ही रहता है। ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही नित्यधर्म है। इस धर्म को जाननेवाले या कहनेवाले नय का नाम नित्यनय है। इसी बात को इसतरह भी कह सकते हैं कि आत्मा नित्यनय से अवस्थायी (नहीं बदलने वाला) है।

जिसप्रकार आत्मा में एक नित्य नामक धर्म है; उसीप्रकार एक अनित्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा नित्य स्थायी रहकर भी निरन्तर बदलता रहता है। इस अनित्य नामक धर्म को जानने या कहनेवाले नय का नाम अनित्यनय है। इसी बात को इसप्रकार भी कह सकते हैं कि आत्मा अनित्यनय से अनवस्थायी (नित बदलनेवाला) है।

जिसप्रकार नट नित्य एक नटरूप रहकर भी राम-रावणादि के स्वाँगरूप होता रहता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा भी नित्य एक आत्मरूप रहकर भी मनुष्यादि पर्यायों को धारण करता हुआ नित बदलता ही रहता है; अतः अनवस्थायी है, अनित्य है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा नित्यनय से प्रतिसमय अवस्थायी (नित्य) है और अनित्यनय से प्रतिसमय अनवस्थायी (अनित्य) है। इसप्रकार भगवान आत्मा नित्य (अवस्थायी) भी है और अनित्य (अनवस्थायी) भी है।

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले नित्य और अनित्य धर्म आत्मा में एकसाथ ही रहते हैं, इसकारण यह भगवान नित्य बदलकर भी कभी नहीं बदलता है और नहीं बदलकर भी नित्य बदलता रहता है।

सीधी-सी बात यह है कि जिसप्रकार राम-रावण के स्वाँग नट के नटपने के विरोधी नहीं, निषेधक नहीं हैं तथा नट का नटपना राम-रावण स्वाँगों का विरोधी नहीं है; क्योंकि वे एकसाथ रह सकते हैं।

जैसे :- नट, राम और नट तो एकसाथ रह सकता है, पर वह राम और रावण रूप एकसाथ नहीं रह सकता है। जब वह राम का वेष धारण करेगा, तब रावण का वेष नहीं धर सकता है और जब रावण का का वेष धारण करेगा, तब राम का नहीं धर सकता है। **अतः स्वाँग तो परस्पर विरोधी हैं, पर नट और स्वाँग परस्पर विरोधी नहीं हैं।**

सर्वगतनयेनविस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति ॥२०॥ असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति ॥२१॥

भले ही विरोधी दिखते हों, पर विरोधी हैं नहीं; क्योंकि एक ही काल में यदि हम उसे स्वाँग की अपेक्षा देखेंगे तो राम दिखेगा और स्वाँगधर्त्ता की अपेक्षा देखेंगे तो नट दिखेगा।

रमेश नामक नट राम का पाठ कर रहा हो, उस समय कोई प्रश्न करे :- 'यह कौन है?' तो इसके एक साथ दो उत्तर दिये जा सकते हैं; कोई कहे राम और कोई कहे रमेश। दोनों में से एक भी उत्तर गलत नहीं है; क्योंकि वह राम और रमेश एकसाथ है।

ठीक इसीप्रकार आत्मा में रहनेवाले नित्य और अनित्य धर्म भले ही विरोधी प्रतीत होते हों, पर वे परस्पर विरोधी नहीं हैं; क्योंकि वे दोनों एकसाथ एक आत्मा में रहते हैं।

यह भगवान आत्मा द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है; अतः द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य है। ऐसा नित्य-अनित्य होनेरूप इसका स्वभाव ही है। स्थायीरूप रहने के स्वभाव को नित्यधर्म कहते हैं और बदलते रहनेरूप स्वभाव को अनित्यधर्म कहते हैं।

इन नित्य-अनित्य धर्मों को जाननेवाले ज्ञान को या कहनेवाले वचनों को क्रमशः नित्यनय और अनित्यनय कहा जाता है॥१८-१९॥

नित्यनय और अनित्यनय की चर्चा के उपरान्त अब यहाँ सर्वगत और असर्वगतनय की चर्चा आरंभ करते हैं –

"आत्मद्रव्य सर्वगतनय से खुली हुई आँख की भाँति सर्ववर्ती (सब में व्याप्त होनवाला) है और असर्वगतनय से मींची हुई (बंद) आँख की भाँति (आत्मवर्ती) अपने में रहनेवाला है ॥२०-२१॥"

जिसप्रकार सब में घूमने-फिरनेवाली होने से खुली आँख को सर्वगत कहा जाता है; उसीप्रकार सबको देखने-जानने के स्वभाववाला होने से भगवान आत्मा को सर्वगत कहा जाता है।

जिसप्रकार बन्द आँख अपने में ही रहती है; उसीप्रकार सबको देखने-जानने के स्वभाववाला होने पर भी, सबको देखते-जानते हुए भी, भगवान आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों के बाहर नहीं जाता, अपने में ही रहता है; अतः असर्वगत है, आत्मगत है।

इसप्रकार सर्वगतनय से आत्मा सर्वगत है और असर्वगतनय से आत्मगत है, असर्वगत है।

इन सर्वगत और असर्वगत नयों के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों में रहकर भी, अपने असंख्य प्रदेशों के बाहर नहीं जाकर भी लोकालोक को जानता है, देखता है, जान सकता है, देख सकता है। आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही सर्वगतधर्म है।

भले ही यह भगवान आत्मा सबको जाने, पर इसे पर को जानने के लिए अपने आत्मप्रदेशों को छोड़कर पर में जाने की आवश्यकता नहीं है; अपने आत्मप्रदेशों में रहकर ही यह पर को जानने की सामर्थ्यवाला है। चूँकि यह कभी भी अपने आत्मप्रदेशों के बाहर नहीं जाता है; अत: यह आत्मगत ही है। इस आत्मगतपने को ही असर्वगत भी कहते हैं।

इसप्रकार भगवान आत्मा में एक सर्वगत नामक धर्म है और एक असर्वगत नामक धर्म है। आत्मा के सर्वगतधर्म को अथवा सर्वगतधर्म की ओर से आत्मा को देखनेवाले नय को सर्वगतनय और असर्वगतधर्म को या असर्वगतधर्म की ओर से आत्मा को देखनेवाले नय को असर्वगतनय कहते हैं।

इसी बात को इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि आत्मा सर्वगतनय से सर्ववर्ती है, सबमें व्याप्त रहनेवाला है और असर्वगतनय से आत्मा आत्मवर्ती है, अपने में ही रहनेवाला है, अपने में ही व्याप्त है, सबमें नहीं।

प्रश्न – जिसप्रकार खुली आँख देखती है और बन्द आँख नहीं देखती; उसीप्रकार सर्वगतनय से आत्मा सबको देखता-जानता है और असर्वगतनय से सबको देखता-जानता नहीं है - ऐसा सीधा-सा अर्थ क्यों नहीं लेते ?

उत्तर – इन दोनों नयों के माध्यम से आचार्यदेव पर को जानने और नहीं जानने की बात नहीं बताना चाहते हैं; अपितु आत्मा के स्वभाव की इस विशेषता को स्पष्ट करना चाहते हैं कि वह अपने आत्मप्रदेशों में स्थित रहकर भी लोकालोक के सम्पूर्ण पदार्थों को जान सकता है, देख सकता है। सम्पूर्ण लोक को देखने-जानने के लिए उसे सम्पूर्ण लोक में जाने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा अपने में ही सीमित रहकर भी सम्पूर्ण लोक को देख-जान सकता है और सम्पूर्ण लोक को देख-जानकर भी आत्मप्रदेशों से बाहर नहीं जाता। भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। आत्मा के इस स्वभाव का प्रतिपादन ही दोनों नयों का मूल प्रयोजन है।

शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि।।२२।। अशून्यनयेन लोकाक्रांतनौवन्मिलितोद्भासि।।२३।।

अत: यहाँ उदाहरण में जो खुली आँख और बन्द आँख की बात कही है, उसका अर्थ आचार्यदेव को मात्र इतना ही अभीष्ट है कि खुली आँख चारों ओर घूमती है और बन्द आँख अपने में ही रहती है। आँख जानती है और नहीं जानती है - यह बात यहाँ है ही नहीं।।२०-१२।।

सर्वगतनय और असर्वगतनय की चर्चा के उपरान्त अब शून्यनय और अशून्यनय की चर्चा करते हैं –

''आत्मद्रव्य शून्यनय से शून्य (खाली) घर की भाँति एकाकी (अकेला-अमिलित) भासित होता है और अशून्यनय से लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति मिलित भासित होता है।।२२-२३।।''

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञानस्वभाव में अनन्त ज्ञेय (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते हैं; तथापि कोई भी ज्ञेय (पदार्थ) भगवान आत्मा में मिल नहीं जाता। तात्पर्य यह है कि अनन्त पदार्थों को जानकर भी यह भगवान आत्मा सूने घर की भाँति उनसे खाली ही रहता है। इस भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि अनन्त पदार्थों को जानकर भी वह उनसे अमिलित रहता है, अलिप्त रहता है, शून्य रहता है।

भगवान आत्मा के इस अलिप्तस्वभाव को, अमिलितस्वभाव को, शून्यस्वभाव को ही शून्यधर्म कहते हैं और इस शून्यधर्म को विषय बनानेवाले सम्यग्ज्ञान के अंश को शून्यनय कहते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि कोई भी पदार्थ भगवान आत्मा में मिलता नहीं है; तथापि यह भगवान आत्मा उन्हें जानता अवश्य है। **यदि इस जानने को ही मिलना कहें तो यह भी कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति अनन्त ज्ञेयों (पदार्थों) से भरा हुआ है, मिलित है, अशून्य है।**

भगवान आत्मा के इस अशून्यस्वभाव को ही अशून्यधर्म कहते हैं और इस अशून्यधर्म को विषय बनानेवाले सम्यग्ज्ञान के अंश को अशून्यनय कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक शून्य नामक धर्म है और एक अशून्य नामक धर्म है तथा इनके कारण भगवान आत्मा शून्य भी है और अशून्य भी है।

शून्य नामक धर्म यह बताता है कि भगवान आत्मा अनन्त ज्ञेयों (पदार्थों) को

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम्॥२४॥ ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिंबसंपृक्तदर्पणवदनेकम्॥२५॥

जानकर भी उनसे शून्य (खाली - अमिलित) ही रहता है और अशून्य नामक धर्म यह बताता है कि ज्ञेयों (परपदार्थों) का आत्मा में अप्रवेश रहकर भी यह भगवान आत्मा ज्ञेयों के ज्ञान से शून्य नहीं रहता, अशून्य (भरा हुआ - मिलित) रहता है।

आत्मा के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले इन धर्मों का ज्ञान कराना ही इन दोनों नयों का उद्देश्य है।

आत्मा के शून्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले ज्ञान को व कहनेवाले वचन को शून्यनय कहते हैं और अशून्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले ज्ञान को व कहनेवाले वचन को अशून्यनय कहते हैं। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मद्रव्य शून्यनय से सूने घर की भाँति ज्ञेयों से शून्य है और अशून्यनय से मनुष्यों से भरे हुए जहाज की भाँति ज्ञेयों से अशून्य है॥२२-२३॥

शून्यनय और अशून्यनय की चर्चा के उपरान्त अब ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय की चर्चा करते हैं –

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति एक है और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति अनेक है॥२५॥''

सर्वगत और असर्वगतनय से ज्ञान-ज्ञेय प्रकरण ही चल रहा है। वस्तुतः बात यह है कि भगवान आत्मा का परपदार्थों के साथ ज्ञान-ज्ञेय संबंध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध तो है ही नहीं, इस ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध की भी क्या स्थिति है - इस बात को ही इन नयों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है।

सर्वगत और असर्वगत नयों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया था कि यह भगवान आत्मा अपने प्रदेशों में सीमित रहकर भी सम्पूर्ण लोकालोक को जान सकता है; जानता है। सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के कारण ही इसे सर्वगत कहा जाता है तथा अपने प्रदेशों के बाहर न जाने के कारण आत्मगत अथवा असर्वगत कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अपने प्रदेशों के बाहर नहीं जाकर भी जब यह भगवान आत्मा लोकालोक के सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानता है तो फिर सम्पूर्ण लोकालोकरूप

ज्ञेय ज्ञान में आते होंगे ? तो क्या यह भगवान आत्मा लोकालोकरूप सम्पूर्ण ज्ञेयों से भरा हुआ है ?

इसके उत्तर में शून्य और अशून्य नयों के माध्यम से यह बताया गया है कि किसी भी ज्ञेय पदार्थ ने ज्ञान में प्रवेश नहीं किया; अतः ज्ञान ज्ञेयों से शून्य ही है, खाली ही है; तथापि वे ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात अवश्य हुए हैं, यदि ज्ञात होने को ही आना कहें तो ज्ञान ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है।

ज्ञेयों से शून्य कहने से कोई यह न मान ले कि वह ज्ञेयों को जानता ही नहीं; अतः यह कहा गया कि आत्मा ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है। इसीप्रकार अशून्य अर्थात् भरा हुआ कहने से कोई यह न जान ले कि ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट हो गये हैं, ज्ञान और ज्ञेय एकमेक हो गये हैं; इसलिए यह कहा गया कि आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है।

सर्वगत, असर्वगत, शून्य एवं अशून्य नयों के माध्यम से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है; पर उनमें जाता नहीं, उनमें प्रवेश नहीं करता। इसीप्रकार ज्ञेय ज्ञान द्वारा जाने तो जाते हैं, पर वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते। ज्ञान ज्ञान में रहता है और ज्ञेय ज्ञेय में रहते हैं; दोनों के अपने में सीमित रहने पर भी ज्ञान द्वारा ज्ञेय जाने जाते हैं।

इसी वस्तुस्थिति को ये नय इसप्रकार व्यक्त करते हैं :- सब ज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा सर्वगत है और ज्ञेयों में न जाने के कारण असर्वगत है तथा ज्ञान में ज्ञेयों के अप्रवेश के कारण आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है और ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है।

इतना जान लेने पर भी यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि ज्ञान में ज्ञात होते हुए ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं या अभिन्न हैं; वे ज्ञेय ज्ञान से अद्वैत हैं, एकमेक हैं या द्वैत हैं, अनेक हैं ?

इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए यहाँ कहा जा रहा है कि ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से अभिन्न हैं, अद्वैत हैं, एक हैं और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से भिन्न हैं, द्वैत हैं, अनेक हैं।

जिसप्रकार अनेक प्रकार के ईंधन को जलाती हुई अग्नि उस ईंधन से अभिन्न ही है, एक ही है, अद्वैत ही है; उसीप्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों को जानता हुआ आत्मा उनसे अभिन्न ही है, एक ही है, अद्वैत ही है - यही कहना है ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय का। यहाँ अभिन्न, एक एवं अद्वैत एकार्थवाची ही हैं।

वस्तुतः यहाँ यह कहना चाहते हैं कि जिसप्रकार जलता हुआ ईंधन अग्नि ही तो है, अग्नि के अतिरिक्त और क्या है ? उसीप्रकार जानने में आते हुए ज्ञेय ज्ञान ही तो हैं, ज्ञान के अतिरिक्त और क्या हैं ? तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जलता हुआ ईंधन और अग्नि एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, अद्वैत ही हैं; उसीप्रकार जानने में आते हुए ज्ञेय और ज्ञान एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, अद्वैत ही हैं।

ज्ञानज्ञेयद्वैतयन का कहना यह है कि जिसप्रकार पदार्थों के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण उन प्रतिबिम्बित पदार्थों से भिन्न ही है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भिन्न ही है।

जिसप्रकार प्रतिबिम्बित पदार्थों से दर्पण की यह भिन्नता ही द्वैतता है, अनेकता है; उसीप्रकार ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भगवान आत्मा की यह भिन्नता ही द्वैतता है, अनेकता है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, एक भी है और अनेक भी है, अद्वैत भी है और द्वैत भी है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक ज्ञानज्ञेय-अद्वैतधर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों से अभिन्न (अद्वैत) भासित होता है तथा एक ज्ञानज्ञेयद्वैतधर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा अपने ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों से भिन्न (द्वैत) भासित होता है।

इन ज्ञानज्ञेय-अद्वैत एवं ज्ञानज्ञेयद्वैत धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय हैं।

इसप्रकार सर्वगत, असर्वगत, शून्य, अशून्य, ज्ञानज्ञेय-अद्वैत तथा ज्ञानज्ञेयद्वैतनयों के माध्यम से आत्मा का परपदार्थों के साथ जो ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है; उसका स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है, पर न तो ज्ञान ज्ञेयों में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में ही आते हैं। दोनों अपने-अपने स्वभाव में सीमित रहने पर भी ज्ञान जानता है और ज्ञेय जानने में आते हैं। ज्ञाता भगवान आत्मा और ज्ञेय लोकालोकरूप सर्व पदार्थों का यही स्वभाव है।

ज्ञाता भगवान आत्मा के उक्त स्वभाव का प्रतिपादन करना ही उक्त छह नयों का प्रयोजन है। ज्ञेयों को सहजभाव से जानना भगवान आत्मा का सहज स्वभाव है। अतः न

नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि ।।२६।। अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ।।२७।।

तो हमें परपदार्थों को जानने की आकुलता ही करना चाहिए और न नहीं जानने का हठ ही करना चाहिए; **पर्यायगत योग्यतानुसार जो ज्ञेय ज्ञान में सहजभाव से ज्ञात हो जावें, उन्हें वीतराग भाव से जान लेना ही उचित है; अन्य कुछ विकल्प करना उचित नहीं है; आकुलता का कारण है। आत्मा के इस सहजज्ञानस्वभाव को ही ये छह नय अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।**

उक्त छह नयों की चर्चा के उपरान्त अब नियतिनय और अनियतिनय की चर्चा करते हैं—

"आत्मद्रव्य नियतिनय से, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है – ऐसी अग्नि की भाँति नियतस्वभावरूप भासित होता है और अनियतिनय से, जिसकी उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है – ऐसे पानी की भाँति अनियतस्वभावरूप भासित होता है।"

जिसप्रकार उष्णता अग्नि का नियतस्वभाव है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का चैतन्यभाव - ज्ञानानन्दस्वभाव नियतस्वभाव है और जिसप्रकार उष्णता पानी का अनियतस्वभाव है; उसीप्रकार राग-द्वेष-मोहरूप अथवा मतिज्ञानादिरूप परिणत होना आत्मा का अनियत स्वभाव है। त्रिकाल एकरूप रहनेवाले स्वभाव को नियतस्वभाव कहते हैं और परिवर्तनशील स्वभाव को अनियतस्वभाव कहा जाता है।

उष्णता अग्नि का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव है; अतः वह उसका नियतस्वभाव है। इसीप्रकार चैतन्यभाव-ज्ञानानन्दस्वभाव-जानना-देखना भगवान आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, इसलिए वह भगवान आत्मा का नियतस्वभाव है।

नियत अर्थात् निश्चित, कभी न बदलनेवाला, सदा एकरूप रहनेवाला और अनियत अर्थात् अनिश्चित, निरन्तर परिवर्तनशील।

पानी का नियतस्वभाव तो शीतलता ही है, पर अग्नि के संयोग में आने पर गर्म भी हो जाता है। यह गर्म होना यद्यपि उसका नियतस्वभाव नहीं है, तथापि उसका वह स्वभाव ही न हो - ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उसके स्वभाव में यदि गर्म होना होता ही नहीं तो वह अग्नि के संयोग में भी गर्म नहीं होता। अग्नि के संयोग में गर्म होना भी उसके स्वभाव का ही अंग है। उसके इस स्वभाव का नाम ही अनियतस्वभाव है, परिवर्तनशील स्वभाव है, पर्यायस्वभाव है।

अग्नि का गर्म होना उसका द्रव्यगत स्वभाव है; अत: नियतस्वभाव है और पानी का गर्म होना उसका पर्यायगत स्वभाव है; अत: अनियतस्वभाव है।

इसीप्रकार भगवान आत्मा का नियतस्वभाव तो चैतन्यभाव ही है, जानना-देखना ही है; पर वह कर्मादिक के योग में रागादिरूप या मतिज्ञानादिरूप या मनुष्यादिरूप भी परिणत हो जाता है। रागादिरूप परिणमित होना भगवान आत्मा का नियतस्वभाव नहीं है; तथापि उसका वह स्वभाव ही न हो - ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उसके स्वभाव में यदि राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित होना होता ही नहीं तो कर्मादिक के योग में भी वह रागादिरूप परिणमित नहीं होता। अत: कर्मादिक के योग-वियोग में रागादिरूप या मतिज्ञानादिरूप परिणमित होना भी उसके स्वभाव का ही अंग है। भगवान आत्मा के इस स्वभाव का नाम अनियतस्वभाव है, परिवर्तनशील स्वभाव है, पर्यायस्वभाव है।

भगवान आत्मा का चैतन्यभावमय होना, ज्ञानानंदस्वभावरूप होना द्रव्यगत स्वभाव है; अत: नियतस्वभाव है और राग-द्वेष-मोहरूप होना, मतिज्ञानादिरूप होना पर्यायगत स्वभाव है; अत: अनियतस्वभाव है।

एकमात्र परमपारिणामिक भाव आत्मा का नियतस्वभाव है, शेष सभी भाव-औपशमिक, क्षायिक, क्षायोमशमिक एवं औदयिक भाव - आत्मा के अनियतस्वभाव हैं; क्योंकि परमपारिणामिक भाव को छोड़कर शेष कोई भी भाव त्रिकाल एकरूप नहीं रहते।

भगवान आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष व मनुष्यादि औदयिकभाव, मतिज्ञानादि क्षयोपशमभाव, केवलज्ञानादि क्षायिकभाव सदा एक से नहीं रहते; कभी राग होता है, कभी द्वेष होता है; कभी राग मंद होता है, कभी तीव्र होता है; कभी आत्मा मनुष्यपर्यायरूप होता है, कभी देवपर्यायरूप होता है; कभी मतिज्ञानी होता है, कभी केवलज्ञानी होता है - यह सब भगवान आत्मा के अनियतस्वभाव के कारण ही होता है।

नियतस्वभाव के कारण भगवान आत्मा सदा एकरूप रहता है, एक रहता है और अनियतस्वभाव के कारण सदा बदलता रहता है, परिवर्तनशील रहता है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा का त्रिकालीस्वभाव नियतस्वभाव है और क्षणिकस्वभाव अनियतस्वभाव है। कभी न बदलनेवाला स्वभाव नियतस्वभाव है और प्रतिसमय बदलनेवाला स्वभाव अनियतस्वभाव है।

सभी पदार्थों के समान भगवान आत्मा भी प्रतिसमय बदलकर कभी नहीं बदलता

स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि ।।२८।। अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि ।।२९।।

है और कभी नहीं बदलकर भी प्रतिसमय बदलता रहता है। भगवान आत्मा की इन दोनों विशेषताओं को स्पष्ट करना ही नियतिनय और अनियतिनय का मूल प्रयोजन है।

भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक नियति नामक धर्म भी है और एक अनियति नामक धर्म भी है। नियति नामक धर्म के कारण भगवान आत्मा सदा चैतन्यरूप रहता है, जड़रूप नहीं होता और अनियति नामक धर्म के कारण जड़रूप नहीं होकर भी चिद्विवर्तों में निरन्तर बदलता रहता है।

भगवान आत्मा के इन नियतिधर्म और अनियतिधर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः नियतिनय और अनियतिनय हैं।

ध्यान रहे कि इन नियतिनय और अनियतिनयों का पर्यायों की क्रमबद्धता और अक्रमबद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है ।।२६-२७।।

नियतिनय और अनियतिनय की चर्चा के उपरान्त अब स्वभावनय और अस्वभावनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य स्वभावनय से, जिसकी किसी के द्वारा नोक नहीं निकाली जाती, ऐसे पैने काँटे की भाँति संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से, जिसकी नोक लुहार के द्वारा संस्कार करके निकाली गई है, ऐसे पैने बाण की भाँति, संस्कार को सार्थक करनेवाला है ।।२८-२९।।"

नियतिनय और अनियतिनय के माध्यम से आत्मा के त्रिकाल एकरूप रहनेवाले नियतस्वभाव एवं नित्य परिवर्तनशील अनियतस्वभाव का दिग्दर्शन करने के उपरान्त अब स्वभावनय और अस्वभावनय के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि **आत्मा के नियतस्वभाव को संस्कारों द्वारा बदलना संभव नहीं है, पर अनियतस्वभाव को संस्कारित किया जा सकता है।**

जिसप्रकार भगवान आत्मा का स्वभाव अग्नि की उष्णता के समान नियत भी है और पानी की उष्णता के समान अनियत भी है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा स्वभावनय से स्वाभाविक नोकवाले काँटे के समान संस्कारों को निरर्थक करनेवाला भी है और अस्वभावनय से बनाई गई बाण की नोक की भाँति संस्कारों को सार्थक करनेवाला भी है।

यहाँ स्वभावनय और अस्वभावनय को स्वाभाविक नोकवाले काँटे और कृत्रिम नोकवाले बाण के उदाहरण से समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार काँटे की नोक किसी ने बनाई नहीं है, असंस्कारित है, अकृत्रिम है, काँटे का मूल स्वभाव है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का मूल स्वभाव असंस्कारित है, अकृत्रिम है, किसी का बनाया हुआ नहीं है; उसमें किसी भी प्रकार का संस्कार संभव नहीं है। अत: वह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला कहा गया है।

तथा जिसप्रकार बाण की नोक लुहार द्वारा बनाई गई है; अत: संस्कारित है, कृत्रिम है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव में संस्कार किया जा सकता हैं; अत: अस्वभावनय से भगवान आत्मा संस्कारों को सार्थक करनेवाला कहा गया है।

भगवान आत्मा में स्वभाव नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण भगवान आत्मा के द्रव्यस्वभाव को, मूलस्वभाव को अच्छे-बुरे संस्कारों द्वारा संस्कारित नहीं किया जा सकता। आत्मा के इस स्वभाव नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम स्वभावनय है।

जिसप्रकार भगवान आत्मा में एक स्वभाव नामक धर्म है और उसके कारण द्रव्यस्वभाव को संस्कारित किया जाना संभव नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में एक अस्वभाव नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा के पर्यायस्वभाव को संस्कारित किया जा सकता है। आत्मा के इस अस्वभाव नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम अस्वभावनय है।

जिस वस्तु का जो मूलस्वभाव होता है, उसमें संस्कारों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। करोड़ों उपाय करने पर भी जिसप्रकार अग्नि के उष्णस्वभाव में परिवर्तन किया जाना संभव नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के चेतनस्वभाव में, ज्ञानानन्दस्वभाव में संस्कारों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि वह किसी भी स्थिति में अचेतन नहीं हो सकता।

इसे ही और अधिक स्पष्ट करें तो यह भी कह सकते हैं कि करोड़ों वर्ष तप करने पर भी अभव्य भव्य नहीं हो जाता; इसीप्रकार अनन्तकाल तक अनन्तमिथ्यात्वादि का सेवन करते रहने पर भी कोई भव्य अभव्य नहीं हो जाता; क्योंकि स्वभावनय से आत्मा संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है; तथापि मिथ्यादृष्टी, सम्यग्दृष्टी हो सकता है; सम्यग्दृष्टी, मिथ्यादृष्टी भी हो सकता है; क्योंकि अस्वभावनय से भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव को, अनियतस्वभाव को संस्कारित किया जाना संभव है।

कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ।।३०।।
अकालनयेन कृत्रिमोष्मपच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ।।३१।।

यदि भगवान आत्मा में अस्वभाव नामक धर्म नहीं होता तो फिर उसके पर्यायस्वभाव में भी संस्कार डालना संभव नहीं होता, मिथ्यात्व का अभाव कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का अवसर भी नहीं रहता; इसप्रकार अनन्त काल से अनन्त दुःखी जीवों को अपने अनन्त दुःखों को मेटने का अवसर ही प्राप्त न होता।

यह अस्वभाव नामक धर्म भी आत्मा का एक स्वभाव ही है। इसके कारण ही अनादिकालीन कुसंस्कारों का अभाव होकर सुसंस्कार पड़ते हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से संस्कारों को सार्थक करनेवाला है।।२८-२९।।

स्वभावनय और अस्वभावनय की चर्चा के उपरान्त अब कालनय और अकालनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और अकालनय से कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल के समान समय पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है।।३०-३१।।"

'यद्यपि आत्मा के मूलस्वभाव को संस्कारित नहीं किया जा सकता है; तथापि पर्यायस्वभाव को संस्कारित कर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है' - यह बात स्वभावनय और अस्वभावनय के माध्यम से स्पष्ट हो जाने पर **यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अस्वभावधर्म के कारण संस्कार को सार्थक करनेवाले इस आत्मा की सिद्धि किसप्रकार होती है?**

– इस प्रश्न का उत्तर ही अब कालनय-अकालनय एवं पुरुषकारनय-दैवनय के माध्यम से दिया जा रहा है।

जिसप्रकार अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाला डलपक (डाली पर पकनेवाला) आम पकनेरूप कार्य की सिद्धि के लिए काल पर आधारित है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अपनी मुक्तिरूप सिद्धि के लिए कालनय से काल पर आधारित है तथा जिसप्रकार कृत्रिम गर्मी देकर पाल में पकाये जानेवाला आम अपने पकनेरूप कार्य की सिद्धि के लिए काल पर आधारित नहीं है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अपनी मुक्तिरूप सिद्धि के लिए अकालनय से काल पर आधारित नहीं है।

भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक काल नामक धर्म भी है और एक अकाल नामक धर्म भी है। आत्मा के इन काल और अकाल नामक धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमश: कालनय और अकालनय हैं।

प्रश्न – कालनय से तो काल आने पर ही मुक्ति होती है; पर अकालनय से तो समय के पूर्व ही मुक्ति हो जाती है न ? क्या इसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि पुरुषार्थहीनों के कार्य तो काल आने पर ही होते हैं, पर पुरुषार्थी जीव तो अपने पुरुषार्थ द्वारा समय से पहले ही कार्यसिद्धि कर लेते हैं।

उत्तर – नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता। कार्य तो सभी स्वकाल में ही होते हैं। अन्य अनन्त धर्मों के समान कालधर्म और अकालधर्म भी सभी आत्माओं में समानरूप से एकसाथ विद्यमान हैं। ऐसा नहीं है कि किसी में कालधर्म हो और किसी में अकालधर्म।

मुक्तिरूपी कार्य भी सभी जीवों के स्वसमयानुसार पुरुषार्थपूर्वक ही होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी को तो पुरुषार्थ करना पड़े और किसी को बिना पुरुषार्थ के ही मुक्ति हो जावे। ऐसा भी नहीं होता कि किसी की मुक्ति तो काल आने पर ही हो और किसी की अकाल में ही हो जावे। जितने भी जीवों की मुक्ति आजतक हुई है या भविष्य में होगी, सभी की मुक्ति आवश्यक पुरुषार्थपूर्वक स्वकाल में ही हुई है और होगी भी पुरुषार्थपूर्वक स्वकाल में ही।

कालधर्म और अकालधर्म प्रत्येक आत्मा में प्रतिसमय विद्यमान हैं और उनके कार्य भी एकसाथ ही होते हैं। अत: मुक्तिरूपी कार्य में कालनय और अकालनय एक ही आत्मा में एकसाथ घटित होते हैं।

'काल माने समय पर और अकाल माने समय से पहले' – यहाँ काल और अकाल का यह अर्थ अभीष्ट नहीं है, अपितु 'काल माने काललब्धिरूप कारण और अकाल माने काललब्धि के अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थादिकारण' – यह अर्थ अभीष्ट है।

यहाँ दिये गये अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम एवं कृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के उदाहरण से भी यही बात सिद्ध होती है; क्योंकि यहाँ अकृत्रिमगर्मी से पकनेवाले आम के पकाव को काल पर आधारित कहा गया है और कृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के पकाव को अकाल अर्थात् पुरुषार्थादि पर आधारित कहा गया है।

यहाँ यह कदापि अभीष्ट नहीं है कि अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाला आम तो समय पर ही

पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ।। ३२।।
दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ।।३३।।

पकता है; परन्तु कृत्रिम गर्मी से पकनेवाला आम समय से पहले ही पक जाता है। पकते तो दोनों सुनिश्चित स्वकाल में ही हैं तथा दोनों पकते भी गर्मी के कारण ही हैं। दोनों में से कोई भी आम न तो असमय में ही पकता है और न बिना गर्मी के ही पकता है। अत: दोनों में दोनों ही कारण समान रूप से विद्यमान हैं।

यद्यपि दोनों में ही दोनों कारण समान रूप से विद्यमान हैं; तथापि जब कालनय से कथन करेंगे, तब काल की मुख्यता से बात कही जायगी और जब अकालनय से कथन करेंगे, तब अकाल अर्थात् अन्य पुरुषार्थादि कारणों की मुख्यता से बात कही जायेगी।

इसीप्रकार आत्मा की सिद्धि अर्थात् मुक्तिरूपी कार्य पर भी घटित कर लेना चाहिए। मुक्तिरूपी कार्य होता तो पुरुषार्थादि कारणों के साथ समय पर ही है; न तो बिना पुरुषार्थ के होता है और न असमय में ही; पर जब कालनय से बात कही जाती है तो यह कहा जाता है कि कालनय से यह भगवान आत्मा काल पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और जब अकालनय से कथन किया जाता है तो यह कहा जाता है कि यह भगवान आत्मा अकाल पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है अथवा काल पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है अथवा पुरुषार्थादि कारणों पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है।।३०-३१।।

इसप्रकार कालनय और अकालनय की चर्चा के उपरान्त अब पुरुषकारनय और दैवनय की चर्चा करते हैं –

आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से, जिसे पुरुषार्थ द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषार्थवादी के समान यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से, जिसे पुरुषार्थवादी द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त हुआ है और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है, ऐसे दैववादी के समान अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।।३२-३३।।''

'इस भगवान आत्मा की दु:खों से मुक्ति यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य ?' - इस प्रश्न का उत्तर यहाँ पुरुषकारनय और दैवनय के माध्यम से दिया जा रहा है।

यहाँ पुरुषकारनय और दैवनय को पुरुषार्थवादी और दैववादी के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है। किसी पुरुषार्थवादी व्यक्ति ने बड़े यत्न से नीबू के पेड़ उगांये या मधुछत्तों का संग्रह किया। उन पेड़ों से या उन मधुछत्तों में से एक पेड़ या एक मधुछत्ता उसने अपने मित्र

दैववादी (भाग्यवादी) को दे दिया। सद्भाग्य से इस दैववादी (भाग्यवादी) को उस नीबू के पेड़ में या मधुछत्ते में एक बहुमूल्य माणिक्य की भी प्राप्ति हो गई।

उक्त घटना को उदाहरण बनाकर यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है कि जिसप्रकार पुरुषार्थवादी को तो नीबू के पेड़ों या मधुछत्तों की प्राप्ति बड़े प्रयत्न से हुई है, किन्तु दैववादी को बिना ही प्रयत्न के नीबू का पेड़ और मधुछत्ते के साथ-साथ बहुमूल्य माणिक्य की भी प्राप्ति हो गई; उसीप्रकार यह आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

इसप्रकार इस भगवान आत्मा की सिद्धि यत्नसाध्य भी है और अयत्नसाध्य भी है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक पुरुषकार अथवा पुरुषार्थ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा यत्नसाध्य सिद्धिवाला है अर्थात् पुरुषार्थ से सिद्धि प्राप्त करनेवाला है और इस भगवान आत्मा में एक दैव नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

ये दोनों धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ रहते हैं; अतः वह एकसाथ ही यत्नसाध्य सिद्धिवाला और अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है। ऐसा नहीं है कि कभी यत्नसाध्य सिद्धिवाला हो और कभी अयत्नसाध्य सिद्धिवाला। ऐसा भी नहीं है कि कोई आत्मा यत्नसाध्य सिद्धिवाला हो और कोई आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला हो; क्योंकि ये दोनों धर्म एकसाथ ही प्रत्येक आत्मा में रहते हैं। अतः इन्हें एक ही आत्मा में एकसाथ ही घटित होना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जब मुक्तिरूपी कार्य सम्पन्न होता है, तब वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मसन्मुखता के पुरुषार्थपूर्वक ही होता है और उस समय कर्मों का अभाव भी नियम से होता ही है। इसप्रकार उक्त मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि में आत्मा के पुरुषार्थ नामक धर्म का भी योगदान है और दैव नामक धर्म का भी योगदान है।

प्रत्येक व्यक्ति के मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि की वास्तविक स्थिति तो यही है। इसे ही पुरुषकारनय और दैवनय की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि यह भगवान आत्मा पुरुषकारनय से यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

इसप्रकार नियतिनय-अनियतिनय, स्वभावनय-अस्वभावनय, कालनय-अकालनय एवं पुरुषकारनय - दैवनय-इन आठ नयों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्तिरूपी

ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ।।३४।। अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्डीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ।।३५।।

कार्य की सिद्धि में आत्मा के नियतधर्म-अनियतधर्म, स्वभावधर्म-अस्वभावधर्म, कालधर्म-अकालधर्म एवं पुरुषकारधर्म-दैवधर्म - इन सभी धर्मों का समान योगदान है। प्रकारान्तर से यह कार्यसिद्धि में पंचसमवायों की उपयोगिता का ही विशद व्याख्यान है; क्योंकि उक्त आठ नयों में प्रकारान्तर से स्वभाव, काल, भवितव्य, पुरुषार्थ और निमित्त - ये पाँचों समवाय समाहित हो जाते हैं।

जब कार्य होता है, तब ये पाँचों ही समवाय नियम से होते ही हैं और उसमें उक्त आठ नयों के विषयभूत आत्मा के आठ धर्मों का योगदान भी समान रूप से होता ही है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं; उसे अपनी सिद्धि के लिए यहाँ-वहाँ झाँकने की या भटकने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि जब परमपारिणामिक भावरूप नियतस्वभाव के आश्रय से यह भगवान आत्मा अपने पर्यायरूप अनियतस्वभाव को संस्कारित करता है; तब स्वकाल में कर्मों का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति होती ही है। तात्पर्य यह है कि परमपारिणामिक भावरूपं त्रिकाली ध्रुव आत्मा को केन्द्र बनाकर जब श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणमित होते हैं; तब ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप सिद्धदशा प्रगट हो जाती है और इसमें ही उक्त आठ धर्म या आठ नय व पंच समवाय समाहित हो जाते हैं ।।३२-३३ ।।

इसप्रकार पुरुषकारनय और दैवनय की चर्चा करने के उपरान्त अब ईश्वरनय और अनीश्वरनय की चर्चा करते हैं –

''आत्मद्रव्य ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतंत्रता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जाने वाले सिंह के समान स्वतंत्रता को भोगनेवाला है ।।३४-३५।।''

मातृहीन बालकों को अपना दूध पिलाकर आजीविका करनेवाली महिलाओं को धायमाता कहा जाता है। पुराने समय में ऐसी अनेक धायमातायें गाँव-गाँव में दुकान खोलकर बैठती थीं। जिन माताओं के दूध कम होता था, वे मातायें अपने बालकों को या मातृहीन बालकों को उनके परिवारवाले लोग ऐसी धायमाताओं की दुकान पर ले जाकर यथासमय दूध पिला लाते थे।

ऐसे मातृहीन बालक या कम दूधवाली माताओं के बालक जब अपने परिवारवालों के साथ यात्रा पर जा रहे हों, तो उन्हें भूख मिटाने के लिए रास्ते में आनेवाले गाँवों में होनेवाली धायमाताओं की दुकानों पर निर्भर रहना पड़ता था, जिसमें उन्हें भारी पराधीनता रहती थी।

प्रथम तो अपनी माता का दूध पीने जैसी स्वतन्त्रता धायमाता के दूध पर निर्भर रहने में संभव नहीं है; क्योंकि स्वयं की माता जैसा स्वाभाविक स्नेह एवं चाहे जब दूध पीने की सुविधा धायमाता के यहाँ कैसे प्राप्त हो सकती है ? वह तो अपने बालक की आवश्यकता की पूर्ति के उपरान्त शेष बचे दूध को ही, एक निश्चित समय पर ही, किसी दूसरे बालक को पिला सकती है। दूसरे, दुकान पर जाकर पीना भी तो सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरे, बालक यदि पथिक का हो तो वह परतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है; क्योंकि भूखे बालक को हर स्थान पर धाय की दुकान मिल जाना सहज संभव तो नहीं है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने धायमाता की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले पथिक के बालक का उदाहरण देकर परतन्त्रता के स्वरूप को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है।

इस भगवान आत्मा को भी संसार-अवस्था में इसीप्रकार की परतन्त्रता का उपभोग करना पड़ता है। यद्यपि इस परतन्त्रता में कर्मोदय निमित्त होता है; तथापि पर के कारण ही आत्मा को परतन्त्रता भोगनी पड़ती हो - ऐसी बात नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव में ही ऐसी विशेषता पड़ी है कि वह स्वयं कर्माधीन होकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होता है और परतन्त्रता को भोगता है।

भगवान आत्मा की इस विशेषता का नाम ही ईश्वरधर्म है और इस ईश्वरधर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम ईश्वरनय है। अतः कहा गया है कि यह भगवान आत्मा ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता भोगनेवाला है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में ईश्वरधर्म के समान एक अनीश्वर नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह के समान स्वतंत्रता को भोगनेवाला है। इसी अनीश्वर नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय को अनीश्वरनय कहते हैं।

ईश्वरनय को धाय की दुकान पर दूध पिलाये जाने वाले पथिक के बालक का उदाहरण देकर समझाया गया था और अब यहाँ हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह का उदाहरण देकर अनीश्वरनय को समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार जंगल का राजा शेर जंगल में हिरण को फाड़कर अत्यन्त स्वच्छन्दतापूर्वक उसे खा रहा हो तो उस शेर को कौन रोकनेवाला है ? उसीप्रकार यह चैतन्यराजा भगवान आत्मा अपने असंख्यप्रदेशी स्वराज्य में अपने आत्मोन्मुखी सम्यक् पुरुषार्थ से अन्तर्स्वरूप में एकाग्र होकर अत्यन्त स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करें तो उसे कौन रोकनेवाला है ? - इसी तथ्य का उद्घाटन इस अनीश्वरनय द्वारा किया जाता है।

अनीश्वर अर्थात् जिसका कोई अन्य ईश्वर न हो। जो स्वयं ही अपना ईश्वर हो, उसे ही यहाँ अनीश्वर कहा है। अनीश्वरनय से इस भगवान आत्मा का कोई अन्य ईश्वर नहीं है, यह स्वयं ही अपना ईश्वर है; इसीलिए यह अनीश्वर है। यह अपने अतीन्द्रिय आनन्द को भोगने में पूर्णत: समर्थ है, स्वाधीन है, ईश्वर है।

ईश्वरनय से यह भगवान आत्मा पराधीनता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से स्वाधीनता को भोगनेवाला है। इन दोनों नयों का ज्ञान भगवान आत्मा में एकसाथ विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि दोनों अपेक्षाएँ उसके प्रमाणज्ञान में समान रूप से प्रतिभासित होती रहती हैं। यद्यपि प्रतिपादन काल में मुख्य-गौण व्यवस्था होती है; तथापि भगवान आत्मा के प्रमाणज्ञान में तो सब-कुछ स्पष्ट रहता ही है।

यहाँ, अनीश्वरनय से तो भगवान आत्मा की स्वाधीनता सिद्ध की ही है, पर ईश्वरनय से भी एकप्रकार से स्वाधीनता ही सिद्ध की है; क्योंकि पराधीनता भोगने का धर्म भी उसके स्वभाव में ही विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि कर्म या अन्य निमित्त उसे पराधीन नहीं करते, अपितु वह स्वयं की भूल से ही पराधीन होता है, कर्माधीन होता है, पर का आश्रय लेकर उसे ईश्वरता प्रदान करता है और उसके अधीन होकर दु:ख भोगता है।

यदि भगवान आत्मा के स्वभाव में ही इसप्रकार की विशेषता नहीं होती तो उसे कोई पराधीन नहीं कर सकता था। भगवान आत्मा के पर्याय में पराधीन होने के इस स्वभाव का नाम ही ईश्वरधर्म है और इसे जाननेवाला नय ईश्वरनय है।

ध्यान रहे, यह पराधीनता मात्र पर्यायस्वभाव तक ही सीमित है, द्रव्यस्वभाव में इसका प्रवेश नहीं है; क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो सदा स्वाधीन ही रहता है। अपने इसी द्रव्यस्वभाव को ईश्वरता प्रदान कर यह भगवान आत्मा स्वाधीनता का उपभोग करता है। भगवान आत्मा के इस स्वाधीन स्वभाव का नाम ही अनीश्वरधर्म है और इसे विषय बनानेवाले नय का नाम अनीश्वरनय है।

गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ।।३६।। अगुणिनयेनोपाध्याय-विनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ।।३७।।

इसीलिए यहाँ ईश्वरनय और अनीश्वरनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्मद्रव्य ईश्वरनय से धाय की दूकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्तदापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह के समान स्वतन्त्रता को भोगनेवाला है ।।३४-३५।।

इसप्रकार ईश्वरनय और अनीश्वरनय की चर्चा करने के उपरान्त अब गुणीनय और अगुणीनय की चर्चा करते हैं –

“आत्मद्रव्य गुणीनय से शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार के समान गुणग्राही है और अगुणीनय से शिक्षक के द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार को देखनेवाले प्रेक्षक पुरुष के समान केवल साक्षी है ।।३६-३७ ।।”

यहाँ भगवान आत्मा के गुणग्राहक स्वभाव एवं साक्षीभाव स्वभाव को शिक्षक से शिक्षा ग्रहण करते बालक और शिक्षक से शिक्षा ग्रहण करते बालक को वीतरागभाव से - अनासक्त भाव से - साक्षीभाव से देखनेवाले पुरुष के उदाहरणों से समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार शिक्षक के द्वारा सिखाये जाने पर बालक भाषा आदि सीख लेता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी गुरु के उपदेश को ग्रहण कर ले - ऐसी शक्ति से सम्पन्न है। भगवान आत्मा की इसी शक्ति का नाम गुणीधर्म है और आत्मा के इसी गुणी नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम गुणीनय है।

जिसप्रकार शिक्षा ग्रहण करते बालक को देखनेवाला पुरुष शिक्षा ग्रहण नहीं करता, अपितु मात्र साक्षीभाव से देखता ही रहता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा पर से कुछ भी ग्रहण नहीं करता, मात्र उसे साक्षीभाव से जानता-देखता ही है। भगवान आत्मा की साक्षी भाव से जानने-देखने की इस शक्ति का नाम ही अगुणीधर्म है और इस अगुणी नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम ही अगुणीनय है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है कि जिसके कारण वह उपदेश ग्रहण करने में समर्थ है और एक ऐसा भी धर्म है कि जिसके कारण वह पर का उपदेश ग्रहण न करके मात्र उसे साक्षीभाव से जान लेता है। इन दोनों धर्मों के नाम ही क्रमशः गुणीधर्म और अगुणीधर्म हैं।

कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ।।३८।। अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ।।३९।।

यदि भगवान आत्मा में गुणीधर्म न होता तो फिर देशनालब्धि संभव न होती, तीर्थंकर भगवान के उपदेश का लाभ भी भगवान आत्मा को प्राप्त नहीं हो पाता; क्योंकि जब वह उसे ग्रहण ही नहीं कर पाता तो लाभ कैसे होता ? इसीप्रकार यदि अगुणीधर्म नहीं होता तो फिर इसे सभी उपदेशों को ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता; क्योंकि साक्षीभाव से मात्र जान लेने की शक्ति का अभाव होने से किसी भी उपदेश से अलिप्त रह पाना संभव नहीं होता।

उक्त दोनों धर्मों के प्रतिपादन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस भगवान आत्मा में सदुपदेश को ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान है और अवांछित उपदेश को साक्षीभाव से जानकर उसकी उपेक्षा करने की शक्ति भी विद्यमान है। इसप्रकार **यह भगवान आत्मा गुणग्राही भी है और अगुणग्राही अर्थात् साक्षीभाव से रहनेवाला भी है।**

गुणीधर्म और अगुणीधर्म - ये दोनों धर्म आत्मा के ही धर्म हैं; अत: गुणीनय और अगुणीनय दोनों नय आत्मा को ही बताते हैं। अन्य नयों के समान इन दोनों नयों का उद्देश्य भी भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करना ही है।

यहाँ अगुणीधर्म का अर्थ न तो दुर्गुणों का सद्भाव ही है और न सद्गुणों का अभाव ही, अपितु परोपदेश को साक्षीभाव से जान लेना मात्र है ।।३६-३७ ।।

इसप्रकार गुणीधर्म और अगुणीधर्म की चर्चा के उपरान्त अब कर्तृनय और अकर्तृनय की चर्चा करते हैं –

''आत्मद्रव्य कर्तृनय से रँगरेज के समान रागादि परिणामों का कर्त्ता है और अकर्तृनय से अपने कार्य में प्रवृत्त रँगरेज को देखनेवाले पुरुष की भाँति केवल साक्षी है ।।३८-३९ ।।''

कपड़ा रँगने का काम करनेवाले पुरुष को रँगरेज कहा जाता है। एक रँगरेज कपड़ा रँग रहा हो और उसी समय कोई दूसरा पुरुष वहीं खड़ा-खड़ा वीतराग भाव से उसे कपड़ा रँगते हुए देख रहा हो - ऐसी स्थिति में यदि कपड़ा अच्छा रँगा जाये तो रँगरेज को प्रसन्नता होती है और यदि अच्छा न रँगा जावे तो उसे खेद होता है; परन्तु वीतराग भाव से उसे देखनेवाले पुरुष को किसी भी स्थिति में न तो प्रसन्नता ही होती है और न खेद ही होता है; वह तो उसे साक्षीभाव से मात्र जानता-देखता ही रहता है।

उक्त स्थिति को उदाहरण बनाकर यहाँ कर्तृनय और अकर्तृनय समझाये जा रहे हैं।

जिसप्रकार रँगरेज कपड़ा रँगने की क्रिया का कर्त्ता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा कर्तृनय से अपने में उत्पन्न रागादि परिणामों का कर्त्ता है, और जिसप्रकार कपड़ा रंगते हुए उस रँगरेज को वीतराग भाव से देखनेवाला अन्य पुरुष कपड़ा रंगने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है, मात्र साक्षी ही है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अकर्तृनय से अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता नहीं है, केवल साक्षी ही है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक कर्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्त्ता होता है और एक अकर्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता न होकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, साक्षी रहता है। भगवान आत्मा के इन कर्तृधर्म और अकर्तृधर्म को विषय बनानेवाले नयों को ही क्रमश: कर्तृनय और अकर्तृनय कहते हैं।

परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले ये दोनों ही धर्म भगवान आत्मा में एक साथ ही रहते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर भले ही ये परस्पर विरोधी प्रतीत हों, पर इनके एक आत्मा में एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि अनेकान्तात्मक भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वरूप है।

प्रश्न – पहले अगुणीनय से भी भगवान आत्मा को साक्षी बताया गया था और अब यहाँ अकर्तृनय में भी साक्षी बताया जा रहा है। इन दोनों साक्षीभावों में क्या अन्तर है ?

उत्तर – सम्पूर्ण जगत को साक्षीभाव से देखने-जानने के स्वभाववाला होने से भगवान आत्मा तो सम्पूर्ण जगत का ही साक्षी है; अत: यहाँ प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का साक्षीपन बताया गया है। अगुणीनय में, प्राप्त होनेवाले उपदेश का साक्षीभाव बताया गया है और यहाँ अकर्तृनय में, अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का साक्षीभाव बताया जा रहा है और आगे चलकर अभोक्तृनय में, अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दु:ख का साक्षीभाव बताया जायगा।

तात्पर्य यह है कि **अगुणीनय में गुणीनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है, अकर्तृनय में कर्तृनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है और अभोक्तृनय में भोक्तृनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है।**

भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ।।४०।। अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ।।४१।।

इसे और अधिक स्पष्ट करें तो इसप्रकार कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा गुणीनय से गुणग्राही है अर्थात् उपदेश को ग्रहण करनेवाला है और अगुणीनय से गुणग्राही नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है; कर्तृनय से अपने आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि भावों का कर्त्ता है और अकर्तृनय से उनका कर्त्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जानने वाला है। इसीप्रकार भोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भोक्ता है और अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भी भोक्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से जानने-देखनेवाला है।

इसप्रकार अगुणीनय के साक्षीभाव में गुणग्राहित्व का निषेध है, अकर्तृनय के साक्षीभाव में रागादिभाव के कर्तृत्व का निषेध है और अभोक्तृनय के साक्षीभाव में सुख-दुःख के भोक्तृत्व का निषेध है। इसप्रकार यहाँ गुणीनय-अगुणीनय, कर्तृनय-अकर्तृनय एवं भोक्तृनय-अभोक्तृनय - इन छह नयों के माध्यम से भगवान आत्मा के गुणग्राहित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं इन तीनों के विरुद्ध अगुणग्राहित्वरूप साक्षीभाव, अकर्तृत्वरूप साक्षीभाव एवं अभोक्तृत्वरूप साक्षीभाव को समझाया जा रहा है ।।३८-३९।।

इसप्रकार कर्तृनय और अकर्तृनय की चर्चा के उपरान्त अब भोक्तृनय और अभोक्तृनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य भोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी के समान सुख-दुःखादि का भोक्ता है और अभोक्तनृत्य से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य के समान केवल साक्षी ही है ।।४०-४१ ।।"

जिसप्रकार यदि कोई रोगी हितकारी अन्न को खाता है तथा वैद्य के बताये अनुसार पथ्य का सेवन करता है तो सुख भोगता है और यदि अहितकारी अन्न को खाता है तथा कुपथ्य का सेवन करता है तो दुःख भोगता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भोक्तृनय से अपने सदाचरण-दुराचरण से उत्पन्न सुख-दुःख को, हर्ष-शोक को भोगता है।

तथा जिसप्रकार हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले, पथ्य-कुपथ्य का सेवन करनेवाले रोगी को देखनेवाला वैद्य उसके सुख-दुःख को भोगता तो नहीं है, परन्तु साक्षीभाव से जानता अवश्य है; ठीक उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख को, हर्ष-शोक को भोगता तो नहीं, पर साक्षीभाव से जानता अवश्य है।

क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ।।४२।।

ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ।।४३।।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक भोक्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपनी भूल से अपने में ही उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता है और एक अभोक्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता तो नहीं, मात्र साक्षीभाव से जानता-देखता ही है।

भगवान आत्मा के इन भोक्तृ और अभोक्तृ धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः भोक्तृनय और अभोक्तृनय हैं। शेष सब कर्तृनय और अकर्तृनय के प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, तदनुसार इन भोक्तृनय और अभोक्तृनय के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण सर्वत्र समान ही पाया जाता है।

इन कर्तृ-अकर्तृ और भोक्तृ-अभोक्तृ नयों का प्रतिपाद्य मात्र इतना ही कि यह भगवान आत्मा राग-द्वेषादि भावों को करता भी है और उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख को भोगता भी है तथा इन सबका साक्षीभाव से ज्ञाता-द्रष्टा भी रहता है; अतः कर्ता-भोक्ता के साथ-साथ अकर्ता-अभोक्ता भी है ।।४०-४१।।

इसप्रकार भोक्तृनय और अभोक्तृनय की चर्चा के उपरान्त अब क्रियानय और ज्ञाननय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य, क्रियानय से खम्भे से टकरा जाने से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर निधान मिल गया है जिसे – ऐसे अंधे के समान, अनुष्ठान की प्रधानता से सधने वाली सिद्धि वाला है और ज्ञाननय से, मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीद लेने वाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी के समान, विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।।४२-४३।।"

एक अंधा व्यक्ति सहज धार्मिक भावना से प्रेरित होकर मन्दिर जा रहा था। रास्ते में अचानक वह एक खम्भे से टकरा गया, जिससे उसका सिर फूट गया और बहुत-सा खराब खून निकल जाने से उसे एकदम स्पष्ट दिखाई देने लगा, उसका अन्धापन समाप्त हो गया। खम्भे से टकराने से उसका सिर तो फूटा ही, साथ ही वह खम्भा भी टूट गया। उस खम्भे

में किसी ने खजाना छुपा रखा था। खम्भे के टूटने से उसे वह खजाना भी सहज ही प्राप्त हो गया।

यद्यपि उस अंधे व्यक्ति ने खजाना और दृष्टि प्राप्त करने के लिए विवेकपूर्वक कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था, वह तो सहज ही धार्मिक भावना से प्रेरित होकर मन्दिर जा रहा था; तथापि बिना बिचारे ही सहज ही उसी खम्भे से टकराने की क्रिया सम्पन्न हो गई, जिसमें खजाना छुपा हुआ था और उसे दुहरा लाभ प्राप्त हो गया - खजाना भी मिल गया और नेत्रज्योति भी प्राप्त हो गई।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ क्रियानय का स्वरूप समझाया गया है।

जिसप्रकार उक्त अंधे पुरुष को बिना समझे-बूझे ही मात्र क्रिया सम्पन्न हो जाने से सिद्धि प्राप्त हो गई, दृष्टि और निधि प्राप्त हो गई; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

तात्पर्य यह है कि क्रियानय से इस आत्मा की मुक्ति मुक्तिमार्ग में चलनेवाले साधक जीवों के योग्य होनेवाली आवश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान की प्रधानता से होती है।

अब मुट्ठी भर चनों में चिन्तामणि खरीद लेनेवाले व्यापारी का उदाहरण देकर ज्ञाननय का स्वरूप समझाते हैं - एक लकड़हारे को जंगल में पड़ा हुआ एक चिन्तामणि रत्न प्राप्त हो गया। लकड़हारा उसकी कीमत तो जानता नहीं था, उसकी दृष्टि में तो वह एक चमकीला पत्थर मात्र था। उस चिन्तामणि रत्न को लेकर वह लकड़हारा अपने घर के कोने में बैठे एक व्यापारी के घर पहुँचा और उस व्यापारी से बोला -

''सेठजी ! यह चमकीला पत्थर खरीदोगे ?''

रत्नों के पारखी सेठजी चिन्तामणि को देखकर मंत्रमुग्ध हो गये; वे उसे एकटक देखते ही रहे कुछ भी न बोल सके। सेठजी के मौन से व्याकुल लकड़हारा बोला -

''क्यों क्या बात है ? खरीदना नहीं है क्या ?''

जागृत हो सेठजी कहने लगे -

''खरीदना क्यों नहीं है ? खरीदेंगे, अवश्य खरीदेंगे। बोलो, क्या लोगे ?''

''दो मुट्ठी चने से कम में तो किसी हालत में नहीं दूँगा'' -

- अकड़ता हुआ लकड़हारा बोला तो अचंभित होते हुए सेठजी के मुँह से निकला -

"बस, दो मुट्ठी चने !"

"हाँ, दो मुट्ठी चने।"

सेठजी ने अपने को सँभाला और कहने लगे :-

"दो मुट्ठी चने तो बहुत होते हैं; एक मुट्ठी चने में नहीं दोगे ?"

यद्यपि सेठजी दो मुट्ठी चने तो क्या, दो लाख स्वर्णमुद्राएँ भी दे सकते थे; तथापि उन्हें भय था कि एकदम 'हाँ' कर देने से काम बिगड़ सकता है; अत: उन्होंने एक मुट्ठी चने की बात सोच-समझकर हिलाने-डुलाने के लिए ही कही थी; पर लकड़हारा बोला -

"अच्छा लाओ, एक मुट्ठी चने ही सही इस मुफ्त के पत्थर के।"

इसप्रकार वह अमूल्य चिन्तामणि रत्न उन सेठजी को अपने घर के कोने में बैठे-बैठे बिना कुछ किये विवेक के प्रयोग से सहज ही उपलब्ध हो गया।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ ज्ञाननय को समझाया गया है।

जिसप्रकार घर के कोने में बैठे-बैठे ही सेठ ने अपने विवेक के बल से मात्र मुट्ठी भर चनों में चिन्तामणि रत्न को प्राप्त कर लिया; उसीप्रकार ज्ञाननय से यह भगवान आत्मा विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञाननय से इस आत्मा की मुक्ति विवेक की प्रधानता पर आधारित है।

उक्त कथन का आशय यह कदापि नहीं है कि किसी को क्रिया से मुक्ति प्राप्त होती है और किसी को ज्ञान से। जब भी किसी जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, तब दोनों ही कारण विद्यमान रहते हैं; क्योंकि अनन्त धर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक क्रिया नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और एक ज्ञान नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

इन क्रियाधर्म और ज्ञानधर्म को विषय बनानेवाले नय की क्रमश: क्रियानय और ज्ञाननय हैं।

व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ।।४४।। निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरुक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ।।४५।।

यद्यपि इस बात को विगतनयों की चर्चा में अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि यहाँ भिन्न-भिन्न आत्माओं की बात नहीं है अपितु एक ही आत्मा में उक्त दो-दो के जोड़ेवाले नयों को घटित करना है, तथापि 'प्रधानता' शब्द का प्रयोग कर यहाँ क्रियानय और ज्ञाननय के प्रकरण में तो अतिरिक्त सावधानी बरती गई है।

यहाँ 'क्रिया' या 'अनुष्ठान' शब्द से शुद्धभाव के साथ रहनेवाला शुभभाव एवं तदनुसार आचरण अपेक्षित है तथा 'विवेक' शब्द से शुद्धभाव अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपेक्षित है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जब भगवान आत्मा साधकदशा में होता है, तब उसके भूमिकानुसार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव भी होता है और शुभभावरूप रागभाव भी रहता है तथा उसका आचरण भी भूमिकानुसार होता ही है।

मुक्ति की प्राप्ति के कारणों के संदर्भ में जब नयविभाग से चर्चा होती है तो कहा जाता है कि ज्ञाननय से मुक्ति की प्राप्ति विवेक (रत्नत्रयरूप वीतरागभाव) की प्रधानता से होती है और क्रियानय से अनुष्ठान (महाव्रतादि के शुभभाव एवं महाव्रतादि के पालनरूप क्रिया) की प्रधानता से होती है। **तात्पर्य यह है कि मुक्ति के मार्ग में उपस्थिति तो दोनों कारणों की अनिवार्य रूप से होती है, पर ज्ञाननय से विवेक को प्रधानता प्राप्त है और क्रियानय से अनुष्ठान को प्रधानता प्राप्त है ।।४२-४३।।**

ज्ञाननय और क्रियानय की चर्चा के उपरान्त अब व्यवहारनय और निश्चयनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य व्यवहारनय से अन्य परमाणु के साथ बँधनेवाले एवं उससे छूटनेवाले परमाणु के समान बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है और निश्चयनय से बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप से परिणत बध्यमान और मुच्यमान परमाणु के समान बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है ।।४४-४५।।"

कोई भी पुद्गलपरमाणु जब बँधता या छूटता है तो उसमें अन्य पुद्गल-परमाणुओं की

अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम्।।४६।। शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरूपाधिस्वभावम्।।४७।।

अपेक्षा अवश्य होती है। यही तो कहा जाता है कि यह परमाणु इस परमाणु से बँधा या इस परमाणु से छूटा। इसीप्रकार इस भगवान आत्मा के बँधने या मुक्त होने के प्रसंग में कर्म की अपेक्षा आती है। बँधने में तो कर्म की अपेक्षा है ही, छूटने में भी कर्म की अपेक्षा होती है; क्योंकि जिसप्रकार यह कहा जाता है कि कर्मों से बँधा, उसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि कर्मों से छूटा। इसप्रकार बँधने और छूटने दोनों में ही कर्म की अपेक्षा रहती है।

बंध और मोक्ष - इन दोनों में ही आत्मा और कर्म - इन दोनों की अपेक्षा आने के कारण कहा गया है कि यह भगवान आत्मा व्यवहारनय से बंध और मोक्ष द्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

यदि निश्चय से विचार करें तो जिसप्रकार प्रत्येक परमाणु बँधने और छूटने योग्य अपने स्निग्ध और रूक्षत्व गुण के कारण स्वयं अकेला ही बँधता और छूटता है। उसके बँधने और छूटने में अन्य कोई कारण नहीं है; उसीप्रकार निश्चयनय से यह भगवान आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से ही बँधता-छूटता है, उसे बंधन एवं मुक्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं है।

इसीलिए यहाँ कहा गया है कि निश्चयनय से यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

इस अनन्त धर्मात्मक भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक व्यवहार नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है और एक निश्चय नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है। भगवान आत्मा के इन व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म को विषय बनाने वाले नयों को क्रमशः व्यवहारनय और निश्चयनय कहते हैं।

व्यवहार और निश्चयनयों की जो परिभाषाएँ अन्य प्रकरणों में आती हैं, उनसे इन व्यवहार-निश्चयनयों का कोई संबंध नहीं है, उन्हें इन पर घटित करना उचित नहीं है; क्योंकि ये नय तो भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में से एक-एक धर्म को विषय बनानेवाले एक-एक नय हैं।।४४-४५।।

व्यवहारनय और निश्चयनय की चर्चा के उपरान्त अब अशुद्धनय और शुद्धनय की चर्चा करते हैं –

''आत्मद्रव्य अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र के समान सोपाधिस्वभाववाला है और शुद्धनय से केवल मिट्टी के समान निरुपाधिस्वभाववाला है।।४६-४७।।''

जिसप्रकार मिट्टी अपने सोपाधिस्वभाव के कारण घट, रामपात्र आदि पर्यायों में परिणमित होती है और निरुपाधिस्वभाव के कारण मिट्टीरूप ही रहती है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अपने सोपाधिस्वभाव के कारण रागादिरूप परिणमित होता हुआ अशुद्ध होता है और निरुपाधिस्वभाव के कारण सदा शुद्ध ही रहता है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक अशुद्ध नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा विकारी भावरूप परिणमित होता है और एक शुद्ध नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा सदा एकरूप ही रहता है। इन अशुद्ध और शुद्ध धर्मों को सोपाधिस्वभाव और निरुपाधिस्वभाव भी कहते हैं। भावरूप परिणमित होना ही सोपाधिस्वभाव है और सदा एकरूप रहना ही निरुपाधिस्वभाव है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा अशुद्ध भी है और शुद्ध भी है। अशुद्धधर्म के कारण रागादिरूप परिणमित होता है; अतः अशुद्ध है और शुद्धधर्म के कारण सदा एकरूप रहता है; अतः शुद्ध है। इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा अशुद्धनय से सोपाधिस्वभाववाला है और शुद्धनय से निरुपाधिस्वभाववाला है।

भगवान आत्मा के इन सोपाधिस्वभाव व निरुपाधिस्वभाव अर्थात् अशुद्धधर्म व शुद्धधर्म को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः अशुद्धनय व शुद्धनय हैं।

अशुद्धनय के माध्यम से यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारीभाव भी पर के कारण उत्पन्न नहीं होते, उनकी उत्पत्ति के कारण भी आत्मा में ही विद्यमान हैं। यदि आत्मा में अशुद्धधर्म नामक धर्म नहीं होता तो दुनिया की कोई भी शक्ति उसे रागादिभावरूप परिणमित नहीं करा सकती थी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह भगवान आत्मा अशुद्धनय से सोपाधिस्वभाववाला अर्थात् अशुद्ध है और शुद्धनय से निरुपाधिस्वभाववाला अर्थात् शुद्ध है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है।

इसप्रकार ४७ धर्मों के माध्यम से भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले ४७ नयों का संक्षिप्त स्वरूप कहा।

तदुक्तम् –

“जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।।
परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो।।”

एवमनया दिशाप्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरुप्यमाणमुदन्वदन्तरालमिलद्धवलनीलगाङ्गयामुनोदकभारवदनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेणाशक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम्।

युगपदनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाणं तु समस्ततरङ्गिणीयपयःपूरसमवायात्मकैकमकराकरवदनन्तधर्माणां वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्येकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यम्।।

इसलिए कहा है –

“जितने वचनपंथ हैं, उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय (परमत) हैं। परसमय अर्थात् मिथ्यामतियों के वचन सर्वथा अर्थात् अपेक्षा बिना कहे जाने से मिथ्या हैं और स्वसमय जैनियों के वचन कथंचित् अर्थात् अपेक्षा सहित होने से सम्यक् हैं।”

इसप्रकार उक्त ४७ नयों के कथनानुसार एक-एक धर्म में एक-एक नय के व्यापने पर अनन्तधर्मों में व्यापक अनन्त नयों से निरूपण किये जाने पर, समुद्र के भीतर मिलनेवाले सफेद और नीले गंगा-जमुनी जल-समूह के समान, अनन्त धर्मों को परस्पर अतद्भाव मात्र से पृथक् करने में अशक्य होने से आत्मद्रव्य अमेचक (एक) स्वभाववाला, एक द्रव्य में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से एकान्तात्मक (एक धर्मरूप) है।

किन्तु युगपत् अनंत धर्मों में व्यापक ऐसे अनंत नयों में व्याप्त एक श्रुतज्ञान प्रमाण से जलसमूह के समुदायरूप एक समुद्र के समान, अनंत धर्मों को वस्तुरूप से पृथक् करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य मेचक (अनेक) स्वभाववाला, अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से अनेकान्तात्मक (अनेक धर्मरूप) है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार एक नदी के जल को जाननेवाले ज्ञानांश से देखा जाय तो समुद्र एक नदी के जलस्वरूप दिखाई देता है; उसीप्रकार एक नय से देखा जाय तो आत्मा एक धर्मस्वरूप दिखाई देता है; परन्तु जिसप्रकार एक ही साथ सभी नदियों के जल को जाननेवाले ज्ञान से देखा जाय तो समुद्र सभी नदियों के जलस्वरूप

(शालिनी)

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मस्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः॥१९॥

इत्यभिहितमात्मद्रव्यमिदानीमेतदवाप्तिप्रकारोऽभिधीयते – अस्य तावदात्मनो नित्यमेवानादिपौद्गलिककर्मनिमित्तमोहभावनानुभावघूर्णितात्मवृत्तितया तोयाकरस्येवात्मन्येव क्षुभ्यतः क्रमप्रवृत्ताभिरनन्ताभिर्ज्ञप्तिव्यक्तिभिः परिवर्तमानस्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु प्रवृत्तमैत्रीकस्य शिथिलतात्मविवेकतयात्यन्तबहिर्मुखस्य पुनः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतमनुवर्तमानस्य दूरत एवात्मावाप्तिः।

अथ यदा त्वयमेव प्रचण्डकर्मकाण्डोच्चण्डीकृताखण्डज्ञानकाण्डत्वेनानादिपौद्गलिक-

दिखाई देता है; उसीप्रकार एक साथ सभी धर्मों को जाननेवाले श्रुतज्ञानप्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। इसप्रकार एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाण से देखने पर अनेकान्तात्मक है।

अब इसी आशय का कलश लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

स्याद्वादमय नयप्रमाण से दिखे न कुछ भी अन्य।
अनंतधर्ममय आत्म में दिखे एक चैतन्य॥१९॥

इसप्रकार यदि हम स्यात्काररूपी लक्ष्मी के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से देखे तो और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मों वाले निज आत्मद्रव्य को भीतर से शुद्ध चेतनमात्र ही देखते हैं।

इसप्रकार आत्मद्रव्य की चर्चा हुई; अब उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हैं; जो इसप्रकार है – अनादि पौद्गलिककर्मनिमित्तक मोहभावना के प्रभाव से चक्कर खाती आत्मपरिणति वाला आत्मा समुद्र की भांति क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनंत ज्ञप्तिव्यक्तियों (ज्ञानपर्यायों) से परिवर्तन को प्राप्त होता है; इसलिए उसकी मैत्री ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप ज्ञेयभूत बाह्य पदार्थव्यक्तियों के प्रति वर्तती है। यही कारण है कि शिथिल आत्मविवेकवाला वह अत्यन्त बहिर्मुख आत्मा पौद्गलिक कर्मों के निर्माता राग-द्वेष के द्वैतरूप परिणमित होता है; इसलिए उस अज्ञानी आत्मा को आत्मप्राप्ति अत्यन्त दूर है।

परन्तु जब वही आत्मा प्रचंड कर्मकाण्ड द्वारा प्रचण्डीकृत अखण्ड ज्ञानकाण्ड से अनादि

कर्मनिर्मितस्य मोहस्य वध्यघातकविभागज्ञानपूर्वकविभागकरणात् केवलात्मभावानुभावनिश्चलीकृतवृत्तितया तोयकर इवात्मन्येवातिनिष्प्रकम्पस्तिष्ठन् युगपदेव व्याप्यानन्ताज्ञप्तिव्यक्तीरवकाशाभावान्न जातु विवर्तते, तदास्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु न नाम मैत्री प्रवर्तते, ततः सुप्रतिष्ठितात्मविवेकतयात्यन्तमन्तर्मुखीभूतः पौद्‌गलिककर्मनिर्मापकराद्वेषद्वैतानुवृत्तिदूरीभूतो दूरत एवानुभूतपूर्वमपूर्वज्ञानानन्दस्वभावं भगवन्तमात्मानवाप्नोति। अवाप्नोत्वेव ज्ञानान्दात्मानं जगदपि परमात्मानमिति।

भवति चात्र श्लोकः –

पौद्‌गलिक कर्म रचित मोह को वध्य आत्मा और घातक मोह से भेदविज्ञानपूर्वक विभक्त करने से केवल आत्मभावना के प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से, समुद्र की भांति अपने में ही निश्चल रहता हुआ एक साथ ही अनन्त ज्ञप्ति-व्यक्तियों (ज्ञानपर्यायों) में व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण परिवर्तन को प्राप्त नहीं होता; तब ज्ञप्तिव्यक्तियों की निमित्तरूप ज्ञेयभूत बाह्यपदार्थ व्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री नहीं होती; इसलिए सुप्रतिष्ठित आत्मविवेक के कारण अत्यन्त अन्तर्मुख आत्मा पौद्‌गलिक कर्मों के निर्माता राग-द्वेषरूप परिणमन से दूर होता हुआ अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।

जगत भी ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को अवश्य प्राप्त करे।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यद्यपि कर्मोदयनिमित्तक मोह भावना के कारण अज्ञान अवस्था में यह भगवान आत्मा ज्ञान के ज्ञेय बननेवाले बाह्य पदार्थों में एकत्व-ममत्व धारण करता है, उनका कर्ता-भोक्ता बनता है; इसप्रकार मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। यही कारण है कि उक्त अज्ञानी आत्मा को भगवान आत्मा की प्राप्ति अत्यन्त दूर है; तथापि जब वही आत्मा प्रचंड कर्मकाण्ड (आत्मध्यानरूप क्रिया) से प्रचंडीकृत अखण्ड ज्ञानकाण्ड से आत्मा और मोह के बीच भेदविज्ञान करके ज्ञान में ज्ञात होनेवाले अनंत बाह्य पदार्थों में एकत्व-ममत्व नहीं करता; उनका कर्ता-भोक्ता नहीं बनता; इसप्रकार मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होता; तब सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष भावों का अभाव करता हुआ भगवान आत्मा को परिपूर्ण रूप से प्राप्त करता है।

टीका के उक्त अंश के अन्त में जगत के मंगल की कामना करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि सारा जगत उक्त ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को अवश्य प्राप्त करे।

अब यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रंथाधिराज प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र तीन छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिनमें से प्रथम छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

आनन्दामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-
निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम्।।
स्यात्कारङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्।
स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिदं जनाः।।२०।।
व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां।
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैकं सकलात्मकशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः।।२१।।

(हरिगीत)

आनन्द अमृतपूर से भरपूर जो बहती हुई।
अरे केवलज्ञान रूपी नदी में डूबा हुआ।।
जो इष्ट है स्पष्ट है उल्लसित है निज आतमा।
स्याद्‌चिह्नित जिनेन्द्र शासन से उसे पहिचान लो।।२०।।

आनन्दामृत के पूर से भरपूर वर्तती हुई केवलज्ञानरूपी नदी में निमग्न जगत को देखने में समर्थ, महासंवेदनारूपी लक्ष्मी से युक्त, उत्तम रत्नकिरणों के समान स्पष्ट और इष्ट, उल्लसित स्वतत्त्व रूप निज भगवान आत्मा को सम्पूर्ण जगत; जिनेन्द्र भगवान के स्याद्वादांकित शासन का आश्रय लेकर प्राप्त करे।

उक्त छन्द में आचार्यदेव सम्पूर्ण जगत को मंगल-आशीर्वाद देते हुए प्रेरणा दे रहे हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम भी स्याद्वादांकित जिनागम का सहारा लेकर निज भगवान आत्मा को प्राप्त कर सकते हो; इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के लिए इस दिशा में सतत प्रयास करो।

अब इस दूसरे छन्द में आचार्यदेव अपनी स्थिति स्पष्ट करते हैं। दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

वाणिगुंफन व्याख्या व्याख्येय सारा जगत है।
और अमृतचन्द्र सूरि व्याख्याता कहे हैं।।
इसतरह कह मोह में मत नाचना हे भव्यजन!।
स्याद्‌विद्याबल से निज पा निराकुल होकर नचो।।२१।।

(मालिनी)

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्।
चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य।।

आत्मा सहित सम्पूर्ण विश्व व्याख्येय है, व्याख्या करने योग्य है; वाणी का गुंफन व्याख्या है और आचार्य अमृतचन्द्र व्याख्याता अर्थात् व्याख्या करनेवाले हैं; हे जगतजनो! इसप्रकार कहकर मोह में मत नाचो; किन्तु स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्धज्ञान की कला के द्वारा इस एक शाश्वत स्वतत्त्वरूप निज भगवान आत्मा को प्राप्त कर अव्याकुल रूप से नाचो, परमानन्द परिणति को प्राप्त करो।

देखो, यहाँ आचार्यदेव इतनी महान टीका लिखकर भी लिखने के श्रेय से सर्वथा अलिप्त रहकर, इसका कर्ता उन्हें कहे जाने को मोह में नाचना बता रहे हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में तो निज भगवान आत्मा का ज्ञान-ध्यान ही एकमात्र ऐसा कार्य है; जिसे वे करना चाहते हैं, करते हैं और करने योग्य स्वीकार करते हैं।

शब्दों द्वारा लिखी गई इस टीका का कर्ता उनको कहना तो मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का कथन है; क्योंकि इस टीका के निर्माण में वे स्वयं तो निमित्त भी नहीं हैं; किन्तु उनका योग और उपयोग भी मात्र निमित्त ही है; इस टीका का उपादान कर्ता तो पौद्गलिक वर्गणायें हैं।

उक्त कथन के माध्यम से आचार्यदेव न केवल अपना निस्पृह भाव व्यक्त कर रहे हैं; अपितु एक परम सत्य का उद्घाटन भी कर रहे हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यों का कर्ता-धर्ता नहीं है; प्रत्येक द्रव्य स्वयं के परिणमन का कर्ता-धर्ता स्वयं है। एक द्रव्य की परिणति को दूसरे द्रव्य की कहना मात्र उपचार ही है, उपचरित कथन ही है। ऐसा होने पर भी पर के कर्तृत्व के अहंकार में डूबा यह अज्ञानी जगत न केवल स्वयं को पर का कर्ता-धर्ता मानना है; अपितु लगभग सभी द्रव्यों को एक-दूसरे का कर्ता मानता है। उसकी यह मान्यता अज्ञान है, मोह में नाचना है। यहाँ उसी मान्यता का निषेध किया गया है।

इस तत्त्वप्रदीपिका टीका को समाप्त करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव अन्त में जो छन्द लिखते हैं; उसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

चैतन्य का गुणगान तो उतना ही कम जितना करो।
थोड़ा-बहुत जो कहा वह सब स्वयं स्वाहा हो गया।।

5487

अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्।
अपरमिह न किंचित्तत्त्वमेकं परं चित्॥२२॥
समाप्तेयं तत्त्वदीपिका टीका।

निज आतमा को छोड़कर इस जगत में कुछ अन्य ना।
इक वही उत्तम तत्त्व है भवि उसी का अनुभव करो॥२२॥

इसप्रकार इस परमागम में अमन्दरूप से बलपूर्वक जो कुछ थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है; वस्तुत: वह सब अग्नि में होमी गई वस्तु के समान स्वाहा हो गया है। हे चेतन आत्मा! आज तुम उस चैतन्य को ही प्रबलरूप से अनुभव करो; क्योंकि इस जगत में उसके समान उत्तम कोई अन्य पदार्थ नहीं है; वह चेतन ही परम तत्त्व है, उत्तम तत्त्व है; परमोत्तम तत्त्व है।

जिसप्रकार अग्नि में होमी गई घृतादि सामग्री को अग्नि इसप्रकार खा जाती है कि मानो कुछ होमा ही नहीं गया हो। उसीप्रकार अनन्त महिमावंत चेतन आत्मा का चाहे जितना प्रतिपादन किया जाये, उसकी कितनी भी महिमा गाई जाये; तथापि वह समस्त प्रतिपादन एवं सम्पूर्ण महिमा, उस महिमावंत पदार्थ के सामने कुछ भी नहीं है। अत: अब विशेष कुछ कहने से क्या लाभ है ? हम सभी को उक्त स्वतत्त्व में ही समा जाना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि अनंत महिमावंत निज भगवान आत्मा के प्रतिपादन का तो कोई पार नहीं है; वह तो अपार है; अत: अब उसमें ही अटके रहने से कोई लाभ नहीं है; अत: अब तो स्वयं में समा जाना ही श्रेयस्कर है।

यद्यपि आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में भी तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान एक परिशिष्ट दिया गया है; तथापि उसमें शेष बातें तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान होने पर भी ४७ नयों की चर्चा नहीं है। उसके स्थान पर अत्यन्त संक्षेप में निश्चय-व्यवहार नयों से आत्मा की चर्चा की गई है; जो मूलत: पठनीय है।

जिसप्रकार नाटक समयसार में कविवर पण्डित बनारसीदासजी अन्त में गुणस्थानाधिकार अपनी ओर से जोड़ देते हैं; ठीक उसीप्रकार यहाँ पण्डित देवीदासजी प्रवचनसारभाषाकवित्त में प्रवचनसार की मूल विषयवस्तु समाप्त होने के बाद बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की चर्चा विस्तार से करते हैं; जो मूलत: पठनीय है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका में परिशिष्ट के अंतर्गत सैंतालीस नय का प्रकरण समाप्त होता है।

ज्ञान-ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीकाकार के अन्तिम उद्गार

(कुण्डलिया)

निज आतम ही ध्येय है निज आतम श्रद्धेय।
निज आतम ही ज्ञान है निज आतम ही ज्ञेय।।
निज आतम ही ज्ञेय-ध्येय-श्रद्धेय सभी कुछ।
निज आतम ही मैं हूँ मेरा और नहीं कुछ।।
सुखमय मेरा अनेकान्तमय शुद्धातम ही।
एकमात्र आराध्य साध्य बस निज आतम ही।।१।।

(दोहा)

यह निचोड़ इस ग्रंथ का है अनंत सुखदाय।
सुनो, गुनो, चिन्तन करो, तन्मय हो मन लाय।।२।।
दो हजार अर आठ सन् तीस मार्च रविवार।
जयपुर में पूरण हुई यह टीका सुखकार।।३।।

5487

• • •

स्वभाव पवित्र है, हुआ नहीं है। जो पवित्र होता है, उसके आश्रय से पवित्रता प्रगट नहीं होती। जो स्वयं स्वभाव से पवित्र है, जिसे पवित्र होने की आवश्यकता नहीं, जो सदा से ही पवित्र है; उसके आश्रय से ही पवित्रता प्रगट होती है। वही परमपवित्र होता है, वही पतित-पावन होता है; जिसके आश्रय में पवित्रता प्रगट होती है, पतितपना नष्ट होता है। त्रिकाली ध्रुवतत्त्व पवित्र हुआ नहीं है, वह अनादि से पवित्र ही है, उसके आश्रय से ही पर्याय में पवित्रता, पूर्ण पवित्रता प्रगट होती है। वह परमपदार्थ ही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

पवित्र पर्याय सोना है, पारस नहीं है। परमशुद्धनिश्चयनय का विषय त्रिकाली ध्रुव पारस है, जो सोना बनाता है, जिसके छूने मात्र से लोहा सोना बन जाता है। सोने को छूने से लोहा सोना नहीं बनता, पर पारस के छूने से वह सोना बन जाता है। पवित्र पर्याय के, पूर्ण पवित्र पर्याय के आश्रय से भी पर्याय में शुद्धता प्रगट नहीं होती। पर्याय में पवित्रता त्रिकाली शुद्धद्रव्य के आश्रय से प्रगट होती है।

अतः ध्यातापुरुष भावना भाता है कि मैं तो वह परमपदार्थ हूँ, जिसके आश्रय से पर्याय में पवित्रता प्रगट होती है। मैं प्रगट होनेवाली पवित्रता नहीं; अपितु नित्य, प्रकट, परमपवित्र पदार्थ हूँ। मैं सम्यग्दर्शन नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है। मैं सम्यग्ज्ञान भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। मैं चारित्र भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसमें रमने का नाम सम्यक्चारित्र है। ध्यातापुरुष अपना अहं ध्येय में स्थापित करता है; साधन में नहीं, साध्य में भी नहीं।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१०८

श्री प्रवचनसार की वर्णानुक्रम गाथा सूची

	गाथा	पृष्ठ
अ		
अइसयमादसमुत्थं	१३	१८
अजधारचारविजुत्तो	२७२	५०८
अट्ठे अजधागहणं	८५	८५
अट्ठेसु जो ण मुज्झदि	२४४	४७४
अत्थं अक्खणिवदिदं	४०	५८
अत्थि अमुत्तं मुत्तं	५३	८६
अत्थित्तणिच्छिदस्स	१५२	३०९
अत्थि त्ति य णत्थि त्ति	११५	२४१
अत्थो खलु दव्वमओ	९३	१७८
अधिगगुणा सामण्णे	२६७	४९८
अधिवासे व विवासे	२१३	४११
अपदेसं सपदेसं	४१	५८
अपदेसो परमाणू	१६३	३२२
अपयत्ता वा चरिया	२१६	४१३
अपरिच्चतसहावेणुप्पाद	९५	१८९
अप्पडिकुट्ठं उवधिं	२२३	४२७
अप्पा उवओगप्पा	१५५	३१३
अप्पा परिणामप्पा	१२५	२५९
अब्भुट्ठाणं गहणं	२६२	४९५
अब्भुट्ठेया समणा	२६३	४९५
अयदाचारो समणो	२१८	४१९
अरसमरूवमगंधं	१७२	३३२
अरहंतादिसु भत्ती	२४६	४७९
अववददि सासणत्थं	२६५	४९८
अविदिदपरमत्थेसु	२५७	४८९
असुभोवयोगरहिदा	२६०	४९३
असुहोदयेण आदा	१२	१६
असुहोवजोगरहिदो	१५९	३१७
आ		
आगमचक्खू साहू	२३४	४५७
आगमपुव्वा दिट्ठी	२३६	४६०
आगमहीणो समणो	२३३	४५५
आगासमणुणिविट्ठं	१४०	२९०
आगासस्सवगाहो	१३३	२७८
आदा कम्ममलिमसो	१२१	२५३
आदा कम्ममलिमसो घरेद	१५०	३०८
आदा णाणपमाणं	२३	३३
आदाय तंपिलिंगं	२०७	४०४
आपिच्छ बंधुवग्गं	२०२	३९३
आहारे व विहारे	२३१	४४८
इ		
इंदियपाणो य तधा	१४६	३०४
इहलोगणिरावेक्खो	२२६	४३६
इह विविहलक्खणाणं	९७	१९८
उ		
उदयगदा कम्मंसा	४३	६२
उप्पज्जदि जदि णाणं	५०	७८
उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते	१०१	२१३
उप्पादट्ठिदिभंगा	१२९	२७०
उप्पादो पद्धंसो	१४२	२९४
उप्पादो य विणासो	१८	२७
उवओगमओ जीवो	१७५	३४८
उवओगविसुद्धो जो	१५	२१
उवओगो जदि हि	१५६	३१३
उवकुणदि जो वि	२४९	४८१
उवयरणं जिणमग्गे	२२५	४३४
उवरदपावो पुरिसो	२५९	४९२
ए		
एक्कं खलु तु भत्तं	२२९	४४२
एक्को व दुगे बहुगण	१४१	२९२
एगंतेण हि देहो	६६	१०६
एगम्हि संति समये	१४३	२९४

	गाथा	पृष्ठ
एगुत्तरमेगादी	१६४	३२२
एदे खलु मूलगुणा	२०९	४०६
एयग्गगदो समणो	२३२	४५२
एवं जिण जिणिंदा	१९९	३७९
एवं णाणप्पाणं	१९२	३७०
एवं पणमियं सिद्धे	२०१	३९०
एवं विदिदत्थो	७८	१३५
एवंविहं सहावे	१११	२३४
एस सुरासुरमणुसिंद	१	५
एसा पसत्थभूदा	२५४	४८७
एसो त्ति णत्थि	११६	२४३
एसो बंधसमासो	१८९	२६५
ओ		
ओगाढगाढणिचिदो	१६८	३२९
ओरालिओ य देहो	१७१	३३१
क		
कत्ता करणं कम्मं	१२६	२६१
कम्मत्तणपाओग्गा	१६९	३२९
कम्मं णामसमक्खं	११७	२४६
कालस्स वट्टणा से	१३४	२७८
किच्चा अरहंताणं	४	६
किध तम्हि णत्थि	२२१	४२५
किं किंचण त्ति तक्क	२२४	४२९
कुलिसाउहचक्कधरा	७३	१२२
कुव्वं सभावमादा	१८४	३५८
केवलदेहो समणो	२२८	४४०
ग		
गुणदोधिस्स विणयं	२६६	४९८
गेण्हदि णेव ण	१८५	३५९
गेण्हदि णेव ण मुंचदि	३२	४६
च		
चत्ता पावारंभं	७९	१३७
चरदि णिबद्धो णिच्चं	२१४	४११

	गाथा	पृष्ठ
चारित्तं खलु धम्मो	७	१०
छ		
छदुमत्थविहिद	२५६	४८९
छेदुवजुत्तो समणो	२१२	४०९
छेदो जेण ण विज्जदि	२२२	४२५
ज		
जदि कुणदि कायखेदं	२५०	४८३
जदि ते ण संति	३१	४३
जदि ते विसयकसाया	२५८	४९२
जदि पच्चक्खमजादं	३९	५६
जदि संति हि पुण्णाणि	७४	१२२
जदि सो सुहो	४६	६९
जधजादरूवजाद	२०५	४००
जध ते णभप्पदेसा	१३७	२८६
जस्स अणेसणमप्पा	२२७	४३९
जस्स ण संति	१४४	२९७
जं अण्णाणी कम्मं	२३८	४६४
जं केवलं ति णाणं	६०	९७
जं तक्कालियमिदरं	४७	७१
जं दव्वं तण्ण गुणो	१०८	२२९
जं परदो विण्णाणं	५८	९३
जं पेच्छदो अमुत्तं	५४	८८
जादं सयं समत्तं	५९	९५
जायदि णेव स णस्सदि	११९	२४९
जिणसत्थादो अट्ठे	८६	१६०
जीवा पोग्गलकाया	१३५	२८२
जीवो परिणमदि	९	१२
जीवो पाणणिबद्धो	१४८	३०६
जीवो भवं भविस्सदि	११२	२३७
जीवो ववगदमोहो	८१	१४७
जीवो सयं अमुत्तो	५५	९०
जुत्तो सुहेण आदा	७०	११४
जे अजधागहिदत्था	२७१	५०७

	गाथा	पृष्ठ
जे णेव हि संजाया	३८	५६
जे पज्जयेसु णिरदा	९४	१८२
जेसिं विसयेसु रदी	६४	१०३
जो इंदियादिविजई	१५१	३०८
जो एवं जाणित्ता	१९४	३७२
जो खलु दव्वसहावो	१०९	२३२
जो खविदमोहकुलसो	१९६	३७४
जो जाणदि अरहंतं	८०	१४०
जो जाणदि जिणिंदे	१५७	३१५
जो जाणदि सो णाणं	३५	५०
जो णवि जाणदि एवं	१८३	३५७
जो ण विजाणदि	४८	७३
जो णिहदमोहगंठी	१९५	३७२
जो णिहदमोहदिट्ठी	९२	१७०
जोव्हाणं णिरवेक्खं	२५१	४८४
जो मोहरागदोसे	८८	१६४
जो हि सुदेण	३३	४७
ठ		
ठाणणिसेज्जविहारा	४४	६३
ण		
ण चयदि जो दु	१९०	३६८
णत्थि गुणो त्ति व	११०	२३३
णत्थि परोक्खं	२२	३२
णत्थि विणा परिणामं	१०	१४
ण पविट्ठो णाविट्ठो	२९	४१
ण भवोभंगविहीणो	१००	२११
णरणारयतिरिय	११८	२४७
णरणारयतिरियसुरा	१५३	३१०
णरणारयतिरिय	७२	१२०
ण वि परिणमदि ण	५२	८१
ण हवदि जदि सद्दव्वं	१०५	२२२
ण हवदि समणो त्ति	२६४	४९७
ण हि आगमेण	२३७	४६२

	गाथा	पृष्ठ
ण हि णिरवेक्खो	२२०	४२२
ण हि मण्णदि जो	७७	१३१
णाणप्पगमप्पाणं	८९	१६४
णाणप्पमाणमादा	२४	३५
णाणं अट्ठवियप्पो	१२४	२५६
णाणं अत्थंतगयं	६१	९९
णाणं अप्प त्तिं मिदं	२७	३९
णाणी णाणसहावो	२८	४१
णाहं देहो ण मणो	१६०	३१८
णाहं पोग्गलमइओ	१६२	३२१
णाहं होमि परेसिं संति	१९१	३६८
णाहं होमि परेसिं	२०४	३९९
णिग्गंथं पव्वइदो	२६९	५०१
णिच्छिदसुत्तत्थपदो	२६८	५०१
णिद्धत्तणेण दुगुणो	१६६	३२६
णिद्धा वा लुक्खा वा	१६५	३२२
णिहद धणघादिकम्मो	१९७	३७७
णो सद्दहंति सोक्खं	६२	९९
त		
तक्कालिगेव सव्वे	३७	५४
तम्हा जिणमग्गादो	९०	१६६
तम्हा णागं जीवो	३६	५१
तम्हा तह जाणित्ता	२००	३८१
तम्हा दु णत्थि कोई	१२०	२५२
तम्हा समं गुणादो	२७०	५०३
तह सो लद्धसहावो	१६	२२
तं सब्भावणिबद्धं	१५४	३११
तिक्कालणिच्चविसमं	५१	७८
तिमिरहरा जइ दिट्ठी	६७	१०९
ते ते कम्मत्तगदा	१७०	३३१
ते ते सव्वे समगं	३	६
ते पुण उदिण्णतण्हा	७५	१२५
तेसिं विसुद्धदंसण	५	६

	गाथा	पृष्ठ
द		
दव्वट्ठिएण सव्वं	११४	२३९
दव्वं अणंतपज्जय	४९	७६
दव्वं जीवमजीवं	१२७	२६६
दव्वं सहावसिद्धं	९८	२०३
दव्वाणि गुणो तेसिं	८७	१६२
दव्वादिएसु मूढो	८३	१५१
दंसणणाणचरित्तेसु	२४२	४७२
दंसणणाणुवदेसो	२४८	४८१
दिट्ठा पगदं वत्थुं	२६१	४९५
दुपदेसादी खंदा	१६७	३२६
देवदजदिगुरुपूजासु	६९	११४
देहा वा दविणा	१९३	३७०
देहो य मणो	१६१	३१८
ध		
धम्मेण परिणदप्पा	११	१५
प		
पक्खीणघादिकम्मो	१९	२९
पयदम्हि समारद्धे	२११	४०९
पप्पा इट्ठे विसये	६५	१०६
परदव्वं ते अक्खा	५७	९३
परमाणुपमाणं वा	२३९	४६७
परिणमदि चेदणाए	१२३	२५६
परिणमदि जदा	१८७	३६१
परिणमदि जेण	८	११
परिणमदि णेयमट्ठं	४२	६०
परिणमदि सयं	१०४	२२०
परिणमदो खलु	२१	३२
परिणामादो बंधो	१८०	३५४
परिणामो सयमादा	१२२	२५४
पविभत्तपदेसत्तं	१०६	२२३
पंचसमिदो तिगुत्तो	२४०	४६९
पाडुब्भवदिय	१०३	२१८
पाणाबाधं जीवो	१४९	३०६
पाणेहिं चदुहिं	१४७	३०४
पुण्णफला अरहंता	४५	६६
पोग्गलजीवणिबद्धो	१२८	२६९
फ		
फासो रसो य गंधो	५६	९०
फासेहि पुग्गलाणं	१७७	३५०
ब		
बालो वा वुड्ढो	२३०	४४६
बुज्झदि सासणमेयं	२७५	५११
भ		
भणिदा पुढवि-	१८२	५५९
भत्ते वा खमणे	२१५	४१३
भंगविहूणो य	१७	२५
भावेण जेण जीवो	१७६	३४८
म		
मणुआसुरामरिंदा	६३	१०३
मणुवो ण होदि	११३	३२७
मरदु व जियदु	२१७	४१६
मुच्छारंभविजुत्तं	२०६	४००
मुज्झदि व रज्जदि	२४३	४७४
मुत्ता इंदियगेज्झा	१३१	२७३
मुत्तो रूवादिगुणो	१७३	३४४
मोहेण व रागेण	८४	१५१
र		
रत्तो बंधदि कम्मं	१७९	३५२
रयणमिह इंदणीलं	३०	४३
रागो पसत्थभूदो	२५५	३८९
रूवादिएहिं रहिदो	१७४	३४४
रोगेण वा छुधाए	२५२	४८६
ल		
लिंगग्गहणे तेसिं	२१०	४०८
लिंगेहिं जेहिं दव्वं	१३०	२७३

5487

	गाथा	पृष्ठ
लोगालोगेसु णभो	१३६	२८४

व

	गाथा	पृष्ठ
वण्णरसगंधफासा	१३२	२७५
वदसमिदिंदियरोधो	२०८	४०६
वदिवददो तं देसं	१३९	२८८
वंदणणमंसणेहिं	२४७	४७९
विसयकसाओगाढो	१५८	३१५
वेज्जावच्चणिमित्तं	२५३	४८६

स

	गाथा	पृष्ठ
स इदाणिं कत्ता	१८६	३६१
सत्तासंबद्धेदे	९१	१६८
सदवट्ठिदं सहावे	९९	२०६
सद्दव्वं सच्च गुणो	१०७	२२७
सपदेसेहिं समग्गो	१४५	३०३
सपदेसो सो अप्पा	१८८	३६४
सपदेसो सो अप्पा	१७८	३५०
सपरं बाधासहिदं	७६	१२७
सब्भावो हि सहावो	९६	१९४
समओ दु अप्पदेसो	१३८	२८६
समणं गणिं गुणड्ढं	२०३	३९३

	गाथा	पृष्ठ
समणा सुद्धुवजुत्ता	२४५	४७७
समवेदं खलु दव्वं	१०२	२१६
समसत्तुबंधुवग्गो	२४१	४७०
सम्मं विदिदपदत्था	२७३	५०९
सयमेव जहादिच्चो	६८	१०९
सव्वगदो जिणवसहो	२६	३७
सव्वाबाधविजुत्तो	१९८	३७७
सव्वे आगमसिद्धा	२३५	४५९
सव्वे वि य अरहंता	८२	१४९
संपज्जदि णिव्वाणं	६	९
सुत्तं जिणोवदिट्ठं	३४	४८
सुद्धस्स य सामण्णं	२७४	५१०
सुविदिदपयत्थसुत्तो	१४	१९
सुहपरिणामो पुण्णं	१८१	३५४
सेसे पुण तित्थयरे	२	५
सोक्खं वा पुण दुक्खं	२०	२९
सोक्खं सहावसिद्धं	७१	११७
हवदि व ण हवदि	२१९	४२०
हीणो जदि सो आदा	२५	३५

●●●

असफलता के समान सफलता का पचा पाना भी हर एक का काम नहीं है। जहाँ असफलता व्यक्ति को, समाज को हताश, निराश, उदास कर देती है, उत्साह को भंग कर देती है; वहीं सफलता भी संतुलन को कायम नहीं रहने देती। वह अहंकार पुष्ट करती है, विजय के प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती है। कभी-कभी तो विपक्ष को तिरस्कार करने को भी उकसाती नजर आती है।

पर सफलता-असफलता की ये सब प्रतिक्रियाएँ जनसामान्य पर ही होती हैं, गंभीर व्यक्तित्ववाले महापुरुषों पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। वे दोनों ही स्थितियों में सन्तुलित रहते हैं, अडिग रहते हैं।

—सत्य की खोज, पृष्ठ-२३३

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

०१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधनी टीका	५०.००
०२. समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००
०३. समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००
०४. समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००
०५. समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००
०६. समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००
०७. समयसार का सार	३०.००
०८. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००
०९. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३५.००
१०. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२	३५.००
११. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-३	२५.००
१२. प्रवचनसार का सार	३०.००
१३. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	१०.००
१४. पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
१५. परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००
१६. जिनवरस्य नयचक्रम्	१०.००
१७. चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००
१८. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	१५.००
१९. धर्म के दशलक्षण	१६.००
२०. क्रमबद्धपर्याय	१५.००
२१. बिखरे मोती	१६.००
२२. सत्य की खोज	१६.००
२३. अध्यात्मनवनीत	१५.००
२४. आप कुछ भी कहो	१०.००
२५. आत्मा ही है शरण	१५.००
२६. सुक्ति-सुधा	१८.००
२७. बारह भावना : एक अनुशीलन	१२.००
२८. दृष्टि का विषय	१०.००
२९. गागर में सागर	७.००
३०. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१०.००
३१. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००
३२. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
३३. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००
३४. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
३५. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००
३६. मैं कौन हूँ	५.००
३७. निमित्तोपादान	३.५०
३८. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
३९. मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
४०. रीति-नीति	३.००
४१. शाकाहार	२.५०
४२. भगवान ऋषभदेव	४.००
४३. तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
४४. चैतन्य चमत्कार	४.००
४५. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
४६. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
४७. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
४८. अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
४९. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१.५०
५०. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
५१. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
५२. बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
५३. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.००
५४. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
५५. समयसार पद्यानुवाद	३.००
५६. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
५७. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
५८. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
५९. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
६०. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
६१. अर्चना जेबी	१.००
६२. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
६३. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
६४. बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
६५. बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
६६. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
६७. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
६८. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
६९. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
७०. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	६.००

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१६००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती सुशीलाबेन अजितप्रसादजी जैन, दिल्ली।

१५००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री जमनालालजी जैन, जयपुर।

११००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती निर्मलाबेन उम्मेदभाई शाह हस्ते दिलीपभाई, मुम्बई ● पू. बापूजी रामजीभाई ट्रस्ट, मुम्बई ● श्रीमती मीना अरविन्दभाई दोशी गोंडल, मुम्बई ● श्रीमती अनुपमाबेन रमेशभाई शाह, मुम्बई ● श्रीमती रंजनाबेन रमेशभाई दोशी, मुम्बई ● श्री प्रवीणभाई पोपटलाल व्होरा, मुम्बई ● श्री रमेशभाई मंगलजी मेहता, मुम्बई ● श्री कैलाशचन्दजी छाबड़ा, मुम्बई ● श्रीमती शारदाबेन रत्तीलालजी घीया हस्ते अशोकभाई, मुम्बई ● श्रीमती भारतीबेन रजनीकान्त कोठारी, मुम्बई ● श्रीमती वसुमती मुकुन्दराय खारा, मुम्बई ● श्रीमती प्रमिलाबेन मधुभाई ज्वेरी, मुम्बई।

१०००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री भैरुदानजी दुगड़, सरदारशहर ● श्रीमती सूरजदेवी सेठी, जयपुर।

६००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री तालाकसी लवजी शाह, मुम्बई।

५००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती प्रेमलता अभयकरणजी सेठिया, सरदारशहर ● श्रीमती कस्तूरीदेवी पुंगलिया, सरदारशहर ● स्व. धापूदेवी ध.प. स्व. ताराचन्दजी गंगवाल जयपुर की पुण्य स्मृति में ● श्रीमती मोना भारिल्ल, मुम्बई ● श्री दि. जैन मुमुक्षु मंडल, कोलकाता ● श्रीमती दीपिका बहन अनिलभाई दोशी, मुम्बई ● श्रीमती नीरू बेन विजयभाई कापड़िया, मुम्बई ● श्रीमान कान्तिभाई रामजीभाई मोटाणी, मुम्बई ● श्रीमती वसुमति बेन बखारिया, मुम्बई ● श्रीमती जागृती शैलेषभाई, मुम्बई ● श्रीमती इन्दिराबेन रमेशचंदजी मेहता, मुम्बई ● श्री वाडीलाल चर्तुभुज गांधी परिवार, मुम्बई ● श्रीमती कोकिलाबेन हिम्मतलाल हरिलाल शाह, मुम्बई ● श्री गुलाबचन्द माणकचंद जवोलिया, मुम्बई ● श्री अशोककुमार रतनलाल जैन, मुम्बई।

४००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती शान्तिबाई धनकुमारजी जैन, सूरत।

३००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती सुनीताबेन नितिनभाई शाह, मुम्बई ● श्रीमती निमिषा शाह ध.प. राजेन्द्रकुमारजी शाह, मुम्बई ● श्रीमती मीना बेन मुकेशजी शाह, मुम्बई ● श्रीमती भावनाबेन सचिन शाह, मुम्बई ● श्रीमती स्मिता बेन दीपकभाई दोशी, मुम्बई ● श्री दिनेशचंद केशवलालजी शाह, जलगांव।

२५०० रुपये प्रदान करने वाले ● स्वयं जैन पुत्र श्री सेमल जैन, कोल्हापुर ● स्व. मणिकान्तभाई मुम्बई की स्मृति में हस्ते जयन्तिबेन, मुम्बई ● श्रीमती मनन जयवंतभाई मेहता, मुम्बई।

२१०० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती कमला लुणावत, सरदारशहर ● स्व. प्रभाबेन केशवलाल वोरा परिवार, कोलकाता ● श्री कन्हैयालाल कमलकुमारजी दुगड, सरदारशहर वाले, दिल्ली।

२००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती मालतीदेवी नथमलजी झांझरी, जयपुर ● एक मुमुक्षु बहन, मुम्बई ● श्रीमती नीता आनन्दकुमारजी वरया, ललितपुर ● श्रीमती चंद्रकांता बेन अमृतलाल डी कोठारी, मुम्बई ● श्रीमती अलकाबेन मनीषभाई, मुम्बई।

१५०१ रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती विजय जैन ध.प. पं. सुरेशचन्दजी जैन, जयपुर ● श्री प्रेमचन्दजी जैन महावीर टेन्ट हाउस, अजमेर।

१२५० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री प्रवीणचंद छोटालालजी, सूरत ● श्रीमती सुशीलाबेन जयंतीलालजी गाला, मुम्बई।

११०० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री रिषभकुमारजी जैन, खुरई ● श्रीमती सरोजदेवी ध.प. इन्द्रचंदजी कटारिया, जयपुर ● श्री प्रवीणकुमार संजयकुमारजी छाबड़ा, सीकरवाले ● श्री मनोहर स्वीतकर कुंदकुंद स्वाध्याय मंदिर, इतवारी नागपुर ● श्रीमती राजेश गुरहा ध.प. श्री प्रेमचन्दजी गुरहा, रायपुर।

१००० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री कमलचन्दजी मुसरफ, जयपुर ● श्री पी.सी. सेठी हस्त कमलचन्दजी मुसरफ, जयपुर ● श्रीमती रेनू ध.प. कैलाशचन्दजी सेठी, जयपुर ● श्री चांदमल ललितकुमारजी जैन, लूणदा ● श्री सनतकुमारजी जैन, भोपाल ● श्रीमती लीलावती बेन शाह, मुम्बई ● श्री महेन्द्रकुमार रतिलालजी शाह, मुम्बई ● श्री प्रकाशचन्द अमितकुमारजी जैन, जयपुर ● एक मुमुक्षु बहन, मुम्बई ● एक मुमुक्षु हस्ते रसिकलालजी, थाणा ● श्रीमती नलिनी दोशी, मुम्बई ● श्री हसमुखभाई छोटालाल शाह, मुम्बई ● श्रीमती कमलाबेन ध.प. सुरेन्द्रकुमारजी तलाटी हस्ते ललितकुमारजी, मुम्बई ● श्रीमती पदमा राजेन्द्रकुमारजी चौधरी, किशनगढ।

८५० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती कमलप्रभा ध.प. स्व. श्री श्रीपालजी बड़जात्या सुपुत्र अशोककुमार विजयकुमार बड़जात्या, इन्दौर।

६०० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री नेमीचन्दजी पहाड़िया, पीसांगन।

५०० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री मनोहरलालजी गांधी, नीमच ● श्री मथुरालालजी जैन, इन्दौर ● श्रीमती ताराबेन विमला शाह, मन्जू जैन, प्रीति सेठी ● श्री प्रमोद दीपकजी गंगवाल, जयपुर ● श्री महावीरकुमारजी चौधरी, भीलवाड़ा ● स्व. श्री धर्मचन्दजी अशोकनगर की स्मृति में हस्ते डॉ. के.एल. जैन, जयपुर ● श्रीमती हर्षप्रभा जैन ध.प. भगवतीलालजी जैन ● श्री मनीष जैन, जयपुर ● श्री वीतराग-विज्ञान प्रभावना मण्डल, कानपुर ● श्री महावीरप्रसादजी सरावगी, कोलकाता ● श्री शशिकांतभाई सचिनभाई बालचंद शाह, मुम्बई ● श्रीमती रश्मिबेन शशीवदन दिल्ली वाले, भावनगर ● श्रीमती शोभना जैन सुरेन्द्रकुमारजी सालगिया, मुम्बई ● श्रीमती कैलाशबेन विनुभाई शाह, मुम्बई ● श्रीमती मंजुलाबेन रसिकलाल शाह, मुम्बई ● श्री पंकजभाई अम्बालालजी सिंघवी, अहमदाबाद ● श्रीमती जयाबेन गडिया, मुम्बई ● श्रीमती प्रतिमाबेन छेड़ा, मुम्बई ● श्रीमती वंदनाबेन राजेन्द्रकुमारजी महाजन, नासिक ● श्रीमती प्रज्ञाबेन अनिलभाई सेठ, मुम्बई ● श्री डायालाल मणिलालजी शाह, अहमदाबाद ● गुप्तदान ● श्री प्रियंक अतुल टीवड़िया, मुम्बई ● श्रीमती बीना संदीपकुमारजी, मुम्बई ● श्री स्वप्निल महेन्द्रजी नांदगांवकर, कारंजा ● श्रीमती हेमलता गप्पूलालजी जैन, आष्टा ● श्री राकेशजी पाण्डया गोहाटी वाले, जयपुर ● श्री शान्तिलालजी चौधरी, भीलवाड़ा।

२५० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री अशोककुमारजी जैन, सरधना।

२०० रुपये प्रदान करने वाले ● श्रीमती विमला बड़जात्या, जयपुर ● श्रीमती सूरजदेवी दिल्ली वाले, जयपुर ● श्री ऋषभकुमार दिंगबरराव गोसावी, नासिक ● श्रीमती पुनीता कटारिया, जयपुर ● श्री रवि जैन रानी जैन, जयपुर ● श्रीमती चन्द्राबेन, जयपुर ● श्रीमती स्वाति जैन, छिन्दवाड़ा ● श्री विनोदकुमार फूलचन्दजी मेहता, मुम्बई।

१०० रुपये प्रदान करने वाले ● श्री जम्बूकुमारजी सोनी, इन्दौर।

कुल राशि : ३,५२,४०४.००